

ISSN 0974 - 883

गुरुकुल-शोध-भारती

षाणमासिकी शोधपत्रिका

मूल्याङ्कित शोधपत्रिका
(A Refereed Research Journal)

अंक १९, मार्च २०१३



सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

कुलपिता, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय



स्वामी श्रद्धानन्द जी

१८५६-१९२६

गुरु

ISSN 0974 – 8830

॥ओ३म्॥

गुरुकुल-शोध-भारती

षाण्मासिकी शोधपत्रिका

मूल्याङ्कित शोधपत्रिका

(A Refereed Research Journal)

अंक १९, मार्च २०१३



सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४

एक प्रति का मूल्य रु० ७५.०० पचहत्तर रुपये

वार्षिकमूल्य रु०१५०.०० एक सौ पचास रुपये

पञ्च-वार्षिकमूल्य रु०५००.०० पाँच सौ रुपये (ग्राहक बनने हेतु **कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार,** के नाम धनादेश बनवाकर **पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार,** नाम प्रेषित करें।) दूरभाष:-01334-214404

प्रकाशनीय शोधलेख शोधलेख विषयक दिशानिर्देश अन्तिम से पूर्व पृष्ठ में दिये गये हैं।

विषयसूची

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ01-11) ISSN 0974 – 8830

संस्कृति का प्रथम आलेख

प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री[1]

समाज, साहित्य और संस्कृति परस्पर एक-दूसरे के साथ इस प्रकार अनुस्यूत हैं कि एक के विना दूसरे का अस्तित्व सम्भव नहीं है। तथापि साहित्य और संस्कृति का मूल समाज है, इस सत्य को स्वीकार करने में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं है। समाज की संवेदनाएँ साहित्य के रूप में मुखरित होती हैं और समाज के उदात्त और उपयोगी अनुभव संस्कृति का रूप धारण कर लेते हैं। समाज यह चाहता है और उसकी यह अपेक्षा स्वाभाविक भी है कि उसने अपने जीवनकाल में जो संजोया है, वह आगे आने वाली पीढ़ियों को यथावत् मिले, जिससे उनका जीवन अधिक सुखी और उन्नत हो सके। एतदर्थ ऐसे अनुभव परम्परा और साहित्य के माध्यम से परवर्ती समाज को मिलते रहे हैं। विरासत में मिलने वाली यह थाती साहित्य के माध्यम से कहीं अधिक अच्छी प्रकार से सुरक्षित करके आगे बढ़ायी जाती रही है।

इस देश की आर्ष परम्परा यह मानती है कि वेद अपौरुषेय है, इस कारण इससे उत्पन्न होने वाली संस्कृति अपौरुषेय अर्थात् ईश्वरीय है। इस विषय में यह भी ध्यातव्य है कि संस्कृति शब्द का प्रथम प्रयोग वेद में हुआ है, यह देखना और जानना महत्त्वपूर्ण हो सकता है कि वेद में संस्कृति शब्द किस विशिष्ट अभिधेय का अभिधान करने के लिये प्रयोग किया गया है। यजुर्वेद कहता है-

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम।
सा प्रथमा सँस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोऽअग्निः।।[2]

उक्त मन्त्र में ऋषि उद्घोष करता हुआ कहता है कि हे देव सोम! हम तेरे अखण्ड अर्थात् अक्षय, पराक्रम सम्पन्न, ज्ञानैश्वर्य के देने वाले हों। वह संस्कृति प्रथमा अर्थात् श्रेष्ठ है, इसलिये विश्व के द्वारा वरणीय है। वैदिक संस्कृति के वरणीय होने के कारण को स्पष्ट करता हुआ ऋषि कहता है कि वह परमात्मा वरुण, मित्र और अग्नि है, इसलिये वह प्रथम है। कहने का आशय यह है कि ईश्वर के प्रथम होने से वेद प्रतिपादित संस्कृति भी विश्ववारा है। प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि परमेश्वर को प्रथम और वरणीय क्यों माना जाये। मन्त्र स्पष्ट करता है कि वह वरुण, मित्र और अग्नि है। उक्त नामों में ईश्वर का प्राथम्य और उसके वरणीयत्व होने का रहस्य निहित है।

---

१. प्रोफेसर एवं सम्पादक गुरुकुल शोधभारती, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

2. यजु.7.14

परमेश्वर के जलरूप का नाम वरुण है, जिस प्रकार जल सभी प्राणियों के जीवन का आधार होने से वरणीय है, उसी प्रकार प्रथमा संस्कृति वही हो सकती है, जो समस्त प्राणिजगत् के जीवन का आधार बन सके। इसी प्रकार परमात्मा के सूर्यरूप का नाम मित्र है, जो सूर्य के समान सबको जगाने और आगे बढ़ाने का काम करती है, वही संस्कृति कहलाने योग्य है। मन्त्र में संस्कृति को रूपायित करते हुए परमेश्वर के प्रथम होने का एक आधार अग्नि भी है, अग्नि का आशय अग्रणी से है,[3] जो आगे बढ़कर पथ प्रशस्त करता है, चेतना को उच्च से उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करता है, मनुष्य के अन्तस् में अवस्थित शक्तियों का उद्बोधन करता है, जिसके कारण मनुष्य देवत्व को उपलब्ध होता है, वह चेतनाशक्ति मन्त्र में अग्नि नाम से अभिहित की गयी है।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति-एक ही सत् है, उसको अनेक नामों से पुकारा गया है। भारतीय संस्कृति में अनुस्यूत इस शाश्वत सत्य को वेद ने रेखाङ्कित किया है। तदनुसार पूर्वोक्त मन्त्र का देवता सोमरूप ईश्वर है, वह शान्ति और निर्माण का देवता है। संस्कृति को रूपायित करने के लिये इससे अधिक उपयुक्त देव की कल्पना नहीं की जा सकती थी। क्योंकि संस्कृति की आवश्यकता शान्ति की स्थापना और उसके माध्यम से मनुष्य में निहित क्षमताओं के विकास के लिये ही है।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि शान्ति के वातावरण को निर्मित करते हुए जल के समान सबके द्वारा स्वीकरणीय, मित्र अर्थात् सूर्य के समान हित की भावना से ओतप्रोत और जो अग्नि के समान आगे बढ़कर अन्तश्चेतना को जागृत करने वाली हो, वह संस्कृति वरणीय है।

मानव के उद्भव और विकास के इतिहास पर दृष्टिपात करने पर विदित होता है कि क्रमश: उसका चेतना का स्तर उच्च से उच्चतर और उदात्त से उदात्ततर होता रहा है। इसका कारण यह रहा है कि उसने शारीरिक बल की तुलना में मानसिक और आत्मिक शक्तियों के विकास पर ध्यान केन्द्रित किया है। यही विशेषता उसको अन्य प्राणियों से विशिष्ट सिद्ध करती है। जहाँ अन्य प्राणी आज विकास की दृष्टि से उसी सोपान पर खड़े दिखायी देते हैं, जहाँ उनके आदिम पूर्वज थे, वहीं मनुष्य ने चेतना के स्तर पर विकास के अनेक सोपान पार किये हैं। इस चेतना को वेद ने अग्नि नाम से सम्बोधन किया है। विश्व साहित्य के प्रथम आलेख में इस सत्य को रेखाङ्कित किया गया है। इसलिये ऋग्वेद का ऋषि सर्वप्रथम अग्नि के महत्त्व को निरूपित करते हुए कहता है-

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म्।
होता॑रं रत्न॒धात॑मम्।।[४]

उक्त मन्त्र में अग्नि नाम से उद्बोधन करते हुए चेतना को पुरोहित, यज्ञ का देव, ऋत्विज्, होता और रत्नधाता कहा गया है। चेतना को इतने विशेषणों से अभिहित करने का कारण यह है कि यह अन्तश्चेतना ही व्यक्ति को उन्नति का मार्ग दिखाती है, वही जीवनरूपी यज्ञ का देव है, समय-समय पर यह अग्निदेव ही ऋत्विज् बनकर यजन करता है, होता बनकर दिव्य शक्तियों का

---

3. निरु.7.
4. ऋ01.1.1

आह्वान करता है और वही समस्त रत्नों का धारण करने वाला है।

व्यक्ति की चेतना जितनी उदात्त से उदात्ततर होती चली जाती है, उतना ही वह परिष्कृत होता चला जाता है, मानव मन का यह परिष्कार ही वस्तुतः संस्कृति है। ऐसी उदात्त स्थिति में स्थित व्यक्ति के चित्त में उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्[5] की संस्कृति साकार होने लगती है, फिर वह स्व-पर भेद से ऊपर उठ जाता है और कहने लगता है-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति॥
यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्वमनुपश्यतः॥[६]

एकत्व के इसी भाव को अपने संदेश में आत्मसात् किये हुए गीता कहती है-

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥[7]

विद्वान् ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में समान रूप से सुख-दुःख का अनुभव करने वाला मनुष्य पण्डित है।

महाभारत में महर्षि व्यास धर्म का सार प्रतिपादित करते हुए कहते हैं-

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥[8]

धर्म का सार सुनो और सुनकर उस पर आचरण करो। जिस आचरण (व्यवहार) को तुम अपने लिये नहीं चाहते हो, वह अन्यों के साथ कभी मत करो।

यदि मानव उक्त व्यवहार को अपने जीवन में आत्मसात् कर ले, तो फिर जीवन के अधिकांश दुःखों का विलय किया जा सकता है। जो कार्य बड़े-बड़े संसाधनों और महान् उद्योगों के द्वारा भी संभव नहीं हो पा रहा है, वह अनायास ही सिद्ध किया जा सकता है।

यह जीवन दुःख भोगने के लिये नहीं है और न किसी को दुःखी करने के लिये ही है। विस्तृत साहित्य का अवगाहन और उसमें से अमूल्य रत्नों को महाभारत और पुराणसाहित्य के रूप में देने वाले महर्षि वेदव्यास अपने जीवन का सार प्रस्तुत करते हुए कहते हैं-

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥[9]

---

5 पञ्चतन्त्र

6. यजु040.6-7

7. गीता-महा0भीष्मपर्व-27.18

8. महा0

जो जीवन का मर्म विद्वानों ने करोड़ों ग्रन्थों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है, उसे मैं आधे श्लोक में कहता हूँ। दूसरों के कल्याण का कार्य करना ही पुण्य अर्थात् धर्म है और दूसरों को दुःख देने वाले कार्य करना ही पाप अर्थात् अधर्म है।

ऊपर बताये गयी सरणि का निर्बाध पालन हो जाये और जीवनयापन में भी किसी प्रकार की असुविधा न हो, ऐसे मार्ग का निर्देश करता हुआ नीतिशास्त्र कहता है-

अकृत्वा परसन्तापमगत्वा खलमन्दिरम्।
अनुल्ल्यङ्घ्य सतां मार्गो यदल्पमपि तद्बहु॥

दूसरे का शोषण और दुष्ट का आश्रय न लेते हुए तथा सज्जनों के मार्ग पर चलते हुए जो मिल जाये, वही बहुत मानना चाहिये।

यह जो ऊपर प्रस्तुत किया गया है, वह केवल सिद्धान्त तक सीमित नहीं है। हमारे देश के प्रबुद्ध वर्ग ने उसको जीया है। छान्दोग्योपनिषद् में उल्लेख आता है कि अश्वपति राजा के पास प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल आदि मुनि आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है, यह पूछने के लिये आये, उस समय दान स्वीकार करने का आग्रह करते हुए राजा अश्वपति ऋषियों से कहते हैं[10]-

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥[11]

मेरे राज्य में न कोई चोर है, न कोई कृपण है और न कोई शराबी है। यज्ञ न करने वाला भी कोई नहीं है, अविद्वान् भी नहीं है, न कोई चरित्रहीन है। जब कोई दुश्चरित्र पुरुष नहीं है तो दुश्चरित्रा स्त्री के होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

महाभारत में महाराज अश्वपति के विषय में बताया गया है-

न मे राष्ट्रे विधवा ब्रह्मबन्धुर्न ब्राह्मणः कृपणो नोत चोरः।
न पारजायी न च पापकर्मा न च भयं विद्यते राक्षसेभ्यः॥[12]

मेरे राष्ट्र में कोई विधवा नहीं है, ब्राह्मण धर्म का पालन करने में असमर्थ कोई ब्राह्मण नहीं है, न कोई चोर है, ना ही दूसरे की स्त्री से सम्बन्ध रखने वाला व्यभिचारी पुरुष है, कोई ऐसा भी नहीं है जो पापकर्म में लिप्त रहता हो, और साथ ही राक्षसों का भय भी मेरे राज्य में नहीं है।

शान्तिपर्व में महाराज युधिष्ठिर पितामह भीष्म से दण्डनीति के विषय में प्रश्न करते हैं। उत्तर में भीष्म दण्डनीति के सम्यक् पालन का लाभ बतलाते हुए कहते हैं-

---

9. महा.
10. छान्दोग्य. 5.11.1-5
11. छान्दोग्य. 5.11.5
12. महा.शान्ति.78.26

व्याधयो न भवन्त्यत्र नाल्पायुर्दृश्यते नरः।
विधवा न भवन्त्यत्र नृशंसो नाभिजायते॥[13]

दण्डनीति के सम्यक् पालन करने से मनुष्य को व्याधियाँ नहीं होती हैं, न कोई अल्पायु मरता है, इसका एक लाभ यह भी है कि स्त्रियाँ विधवा नहीं होती हैं, साथ ही कोई क्रूर आचरण नहीं कर सकता है।

उपर्युक्त पंक्तियों में वैदिक संस्कृति का एक चित्र प्रस्तुत किया गया है, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि यदि शीर्ष पर विराजमान मनुष्य एकत्व का अनुभव कर लेता है, अपने समान सबको देखता है, तो फिर उसकी दृष्टि में कोई छोटा या बड़ा नहीं रह जाता। वह सबके साथ वही व्यवहार करता है, जो उसे स्वयं अपने लिये अच्छा लगता है। जब कोई संस्कृति के संस्कारों से परिष्कृत हो जाता है तब उसे यह सिखाने की आवश्यकता नहीं है कि उसे मिल-बाँटकर संसाधनों का भोग करना चाहिये। ऋग्वेद कहता है-

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥[14]

स्वार्थी और अविवेकी व्यर्थ ही अन्न का ग्रहण करता है। तथ्य यह है कि यह उसका जीवन नहीं है, अपितु मृत्यु है, क्योंकि इस प्रकार का घोर स्वार्थी न अपना भला करता है और न मित्रों का। केवल अपने खाने-पीने का ध्यान रखने वाला अन्न नहीं खाता, पाप खाता है।

गीता में भी कहा गया है-

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥[१५]

जो यज्ञशेष का भोग करते हैं, वे समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं, जबकि इसके विपरीत केवल अपने लिये पकाने वाले पाप का ही भोग करते हैं।

न वा उं देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते॥[१६]

प्रभु ने मृत्यु का कारण केवल भूख को नहीं बनाया है, जो खाते हैं, वे भी मरते हैं। देने वाले का धन नष्ट नहीं होता, अपितु वह एक प्रकार से उसकी भविष्यनिधि में जमा होता है। स्मरण रक्खो विना त्याग किये तुम अपने हितैषी नहीं बन सकते।

---

13 महा.शान्ति.70.11
14. ऋ010.117.6
15 गीता-3.13
16. ऋ010.117.1

केवलाघो भवति केवलादी-का जो उद्घोष हमारी संस्कृति के आदिकाल में सुनायी देता है, वह वहीं तक नहीं रह जाता, हमारे देश के महापुरुषों ने युग के अनुरूप भाषा में उसे पुनःपुनः उपस्थापित किया है। गुरु नानकदेव कहते हैं-**वंड खाओ, खण्ड खाओ** कि जो मिल बाँटकर खाता है, वह मीठा खाता है, उसके जीवन में माधुर्य का समावेश हो जाता है। यह हमारी संस्कृति की यज्ञीय भावना है। शतपथ-ब्राह्मण कहता है-**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**[17] कि यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म है। वेद ने इससे भी आगे बढ़कर कह दिया-**अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः**[18]-यह यज्ञ इस संसार की नाभि है। अपने में दूसरे का दर्शन करना ही तो यज्ञ है। जो व्यक्ति अपने हितों को गौण बनाकर समाज के लिये समर्पित हो जाता है, उसका जीवन यज्ञमय हो जाता है। इसलिये यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म बताया गया है। **अतिथिदेवो भव**[19] का सन्देश भी इसमें सुना जा सकता है। जब सब **वसुधैव कुटुम्बकम्** है तब अतिथि कैसे पराया हो सकता है।

यज्ञ करने का एक लाभ यह भी है कि वह व्यक्ति सभी प्रकार के ऋणों से उर्ऋण हो जाता है। वेद कहता है-

अनृणा अस्मिन् अनृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान्पथो अनृणा आ क्षियेम॥[20]

मृत्यु के समय यदि व्यक्ति ऋणमुक्त नहीं है तो वह लौटकर पुनः आ जाता है। जैसे लोक में अधमर्ण को बन्धन में रहना होता है। इसलिये इस लोक को सफल बनाने के लिये बाल्यकाल से ही बालक को **मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद**[२१] का पाठ पढ़ाया जाता है। इन कर्तव्यों का वह कदाचिद् भूल न जाये, इसलिये शिक्षा संस्कार करते समय यज्ञोपवीत के बन्धन से उसे आबद्ध कर दिया जाता था। अतः वेद में प्रार्थना की गयी है कि जब इस संसार से विदा हों तो सब प्रकार के ऋण उर्ऋण हो जायें।

वैदिक संस्कृति का प्रमुख स्वर कर्मवाद का उद्घोष है। कर्म के समग्र सिद्धान्त का प्रतिपादन करता हुआ यजुर्वेद कहता है-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥[२२]

इस संसार में मनुष्य को निष्काम कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहने की कामना

---

17. शत.ब्रा.7.2.2.4
18. ऋ01.164.35
19. तैत्तिरीय आरण्यक-7.11.2-3
20. अथर्व. 6.117.3
21. शत.ब्रा.14.5.8.2
22. यजु. 40.2

करनी चाहिये। इस प्रकार निष्काम कर्मों को करता हुआ मनुष्य कर्म के बन्धनों से लिप्त नहीं होता। यदि वह इससे भिन्न सकाम कर्मों को करता हुआ जीवन जीता है, तो वह कर्म के बन्धन में पड़ जाता है।

वेद के उक्त सिद्धान्त को और अधिक प्रखरता और स्पष्टता से प्रतिपादित करते हुए गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुभूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।[२३]

हे अर्जुन! तेरा केवल कर्म करने में ही अधिकार है, फल में नहीं। तू कभी कर्मफल की इच्छा न करे और कभी ऐसा भी न हो कि फल की वासना के परित्याग से तू कर्म करना ही छोड़ दे।

उक्त कर्म के सिद्धान्त के प्रारम्भिक अंश को स्वीकार कर लेने पर व्यक्ति कर्म से विरत भी हो सकता है। उस सम्भावना के निराकरण के लिये भगवान् को द्वितीय पङ्क्ति कहनी पड़ी है। इसके अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति कितना ही समर्थ क्यों न हो, वह अपने आप में पूर्ण नहीं है। कर्म करते समय दूसरे के विना सहयोग के कार्य पूर्ण नहीं हो सकता। इस तथ्य को ध्यान में रखकर केवल कर्म करने के अधिकार पर बल दिया गया है।

यह विशेषता मात्र भारतीय संस्कृति की है, जिसमें कर्म करने के साथ फल की इच्छा के परित्याग को समझाया गया है। उक्त भावना से किया गया कर्म, कर्म न रहकर अकर्म हो जाता है। जिस प्रकार जल वाष्प बनने पर जल नहीं रहता, बहुत कुछ ऊपर उठ जाता है, उसी प्रकार निष्काम भाव से कर्म करने वाला कर्म के बन्धन से आगे निकलकर बन्धनमुक्त हो जाता है।

जहाँ वेद सकारात्मक रूप से कर्म के महत्त्व का प्रतिपादन कर कर्म करने के लिये प्रेरित करता है, वहीं कर्म न करने वाली की गर्हा करता हुआ उसे प्रताड़ित करने का निर्देश देता है-

अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः।
त्वं तस्यामित्रहन् वधर्दासस्य दम्भय।।[२४]

हे इन्द्र! कर्महीन मनुष्य दस्यु है, वह मनन न करने वाला है तथा अकरणीय कर्म कर्ता है और ऐसा मनुष्य अमानुष है, उसे मनुष्य कहा ही नहीं जा सकता। इसलिये हे इन्द्र! ऐसे मनुष्य का तू वध कर, तू उसका नाश कर।

उक्त मन्त्र में कर्म न करने वाले को दस्यु शब्द से अभिहित किया गया है। दस्यु का अर्थ उपक्षय करने वाला है। ऐसा मनुष्य संसार का ही नहीं अपना भी क्षय करने वाला है। जो विना

23. गीता-2.47
24. ऋ010.22.8

कर्म किये जीना चाहता है, विना श्रम किये खाना चाहता है और विना यज्ञ किये एकाकी भोग करना चाहता है, वह दस्यु नहीं तो और क्या है? ऐसे व्यक्ति को वेद अमन्तु नाम से सम्बोधित करता है। मनुष्य की प्रथम विशेषता उसका विचारशील होना है, जो दस्यु है, वह अमननशील ही तो है। यदि मनन करता तो फिर वह निरुद्देश्य या भ्रष्ट लक्ष्य के लिये प्रयत्न न करता। इसलिये वेद ऐसे व्यक्ति को अमानुष पद से अभिहित करता है। संसार के लिये भारस्वरूप व्यक्ति को वेद दण्डित करने का आदेश देता है। इस प्रकार वेद की दृष्टि में पुरुषार्थ न केवल जीवन यापन के लिये आवश्यक है, अपितु मानुष बनने की भी यह एक आवश्यक शर्त है।

प्रायः भारतीय संस्कृति के विषय में यह धारणा रही है कि यह व्यक्ति को निष्क्रिय बनाती है, कर्म से विरत कर देती है, उसे कर्म करने के लिये प्रेरित नहीं करती। उनका यह कथन बहुत गलत भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मध्यकालीन सन्त यह कहते हुए सुनायी पड़ जाते हैं-

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये सबके दाता राम॥

लेकिन उक्त कथन निश्चित रूप से भारतीय संस्कृति का मूल स्वर नहीं है। जिस परिस्थिति और भावभूमि में यह कहा गया है, उसको ध्यान में रखने पर भी कदाचिद् ही उसका औचित्य सिद्ध किया जा सके। इसके विपरीत वैदिक संस्कृति उद्योग और स्वावलम्बन को सुखी जीवन का आधार मानती है। अथर्ववेद उच्च स्वर से निनाद करता हुआ कहता है-

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि॥ [२५]

हे पुरुष! तुझे जीवन में निरन्तर ऊपर उठना है, मैंने जीवन जीने के लिये तुझे दक्षता प्रदान की है, हम जीवन में ऊपर उठते हुए अनश्वर सुख को प्राप्त करें। इसलिये तुझे ज्ञान प्रदान किया है।

जीवन का लक्ष्य निरन्तर उन्नति के पथ पर आरूढ़ होना है, उसकी प्राप्ति का साधन ऐसा प्रयोगात्मक ज्ञान है, जिस पर चलकर मनुष्य मोक्ष तक की यात्रा कर सकता है। परन्तु जीवन को मात्र आदर्शों के सहारे नहीं जिया जा सकता। इसलिये वेद में लौकिक जीवन को सुखी बनाने के लिये आजीविका के लिये अपेक्षित कला में प्रवीण होना चाहिये।

प्रेम और शत्रुता में से जीवन किसके आश्रय चलाया जाना चाहिये, इस विषय में अथर्ववेद का अभिमत है-

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ [26]

---

25. अथर्व.8.1.6

वेद में भगवान् स्वयं कहते हैं कि मैंने तुमको समान हृदय, समान मन विद्वेष से रहित बनाया है। इसलिये तुम लोग एक-दूसरे को इस प्रकार प्रेम करो, जैसे गाय नवजात वत्स को चाहती है। मनुष्य के लिये स्पष्ट संदेश है कि जिस प्रकार कुछ भी अपेक्षा न करती हुई गाय बछड़े को चाहती है, उसी प्रकार हम लोगों को परस्पर प्रेमभाव से रहना चाहिये।

समाज के प्रति दृष्टिकोण कैसा होना चाहिये, इसको प्रतिपादित करने का उपरान्त परिवार के प्रति व्यवहार को निर्दिष्ट करते हुए वेद कहता है-

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥[27]

पारिवारिक आदर्श का चित्रण करता हुआ अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि पुत्र पिता के आदर्शों का अनुकरण करने वाला और माता के समान मन वाला होना चाहिये। जहाँ तक पत्नी के व्यवहार का प्रश्न है, इस विषय में वेद कहता है कि उसे मधुमती और शान्तिप्रद वाणी का प्रयोग करना चाहिये, जिससे परिवार में शान्ति का वातावरण निर्मित हो सके।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारं उत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥[28]

परिवार में महाभारत का वातावरण न बने इसलिये वेद का कथन है कि भाई भाई के साथ द्वेष न करे और बहिन बहिन के साथ द्वेष न करे। सम्यक् व्यवहार वाले तथा समान कर्मों वाले होकर हम कल्याणकारक वाणी को बोलें।

समाज में किस प्रकार की सामाजिकता अर्थात् समरसता होनी चाहिये, इसका निरूपण करता हुआ वेद का ऋषि कहता है-

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥[29]

एक ही पानी पीने का स्थान हो, एक ही अन्न सेवन करने का स्थान हो, एक जुए में मैं तुमको साथ-साथ जोतता हूँ। परस्पर मिलकर चलते हुए अग्नि की उपासना किया करो, जिस प्रकार रथ की नाभि में अरे लगे होते हैं, उसी प्रकार तुम मिलकर सम्पूर्ण कार्यों को किया करो।

ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त में कुछ और स्पष्टता के साथ उक्त वक्तव्य देता हुआ वेद का ऋषि कहता है-

---

26. अथर्व.3.3.1
27 अथर्व.3.3.2
28 अथर्व.3.3.3
29. अथर्व.3.3.6

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते॥[३०]
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥[३१]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वैदिक संस्कृति सबको साथ लेकर चलने की संस्कृति है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जिस प्रकार संकीर्णता और अनुदारता दृष्टिगोचर हो रही है, वह भारतीय संस्कृति का मूल स्वर नहीं है।

वेद स्वस्ति पन्था का निरूपण करता हुआ कहता है-

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताऽघ्नता जानता संगमेमहि॥[32]

उपर्युक्त मन्त्र के द्वारा वेद निर्देश देता है कि हम सूर्य और चन्द्रमा के समान कल्याण के मार्ग पर चलते रहे हैं। साथ चलने की आवश्यक शर्त है-दान, अहिंसा तथा एक-दूसरे को जानना। इन तीन अर्हताओं के पूर्ण होने पर ही साथ-साथ चलना संभव है।

उपर्युक्त मन्त्र में कहे गये चार सूत्र सभ्य और संस्कृत समाज के निर्माण के लिये परम आवश्यक है। प्रथम जिस ओर ध्यान आकर्षित किया गया है, वह यह है कि हमें सूर्य और चन्द्र के समान अपने दायित्व का निर्वाह करते रहना चाहिये। जिस समाज में लोग अपने-अपने दायित्व का निर्वाह स्वेच्छा से करते हैं, वहाँ न जाने कितनी समस्याएँ जन्म लेने से वञ्चित रह जाती हैं। यही समाज और राष्ट्र की उन्नति के लिये प्रथम आवश्यक योग्यता है।

द्वितीय स्थान पर वेद ने ददता को स्थान दिया है। समाज हमें क्या दे रहा है, इसके मुकाबले हम समाज को क्या दे रहे हैं, यह चिन्तन बहुत आवश्यक है। समाज से हम केवल लेते चले जायें और देने की इच्छा न करें, तो उससे उत्पन्न होने वाली रिक्तता की पूर्ति करना असम्भव हो जायेगा। आज हम पर्यावरण के विनाश से चिन्तित हैं, उसके मूल में जो कारण है, वह यही है कि हम प्रकृति को देने के स्थान पर कैसे निरन्तर दोहन करते चले जायें, इस दिशा में प्रयास करते रहे हैं और उसका भयावह परिणाम हमारे सामने है। इसलिये वेद का आदेश है कि केवल ग्रहणभाव से काम चलने वाला नहीं है।

तृतीय स्थान पर वेद ने अघ्नता अर्थात् अहिंसा को रक्खा है। हिंसा से किसी भी समस्या का समाधान नहीं हो सकता। हिंसा हिंसा को ही जन्म देती है। विनाश से केवल विनाश ही पैदा

---

30. ऋ010.191.1.
31. ऋ010.191.3
32. ऋ05.51.15

हो सकता है, निर्माण नहीं। चेतन हो या फिर जड़ जगत् सबके प्रति आत्मवत् व्यवहार किये जाने की आवश्यकता है।

चतुर्थ स्थान पर वेद ने जानता अर्थात् ज्ञान को रक्खा है। समाज में एक-दूसरे को जानते हुए अर्थात् दूसरे की आवश्यकताओं को समझते हुए हम चलें, तभी उन्नति हो सकती है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वैदिक संस्कृति आत्मचेतना का पथ प्रशस्त करती हुई जीवन को सुख-शान्ति से परिपूर्ण देखने में विश्वास करती है। इसलिये इसमें समन्वय की जितनी शक्ति है, वह विश्व की अन्य संस्कृतियों में उतनी नहीं है। हम जीवन का प्रारम्भ चेतना के जागरण से करते हैं और उसकी पूर्णता शान्ति में देखते हैं। इसलिये कर्म की समाप्ति पर शान्तिपाठ किया जाता है।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ012-16) ISSN 0974 – 8830

वेदों में पर्यावरण के प्रति चेतना के स्वर

प्रो० मनुदेव बन्धु[१]

वेदों का महत्त्व-सृष्टि के प्रारम्भ में परमकारुणिक जगदीश्वर ने सम्पूर्ण प्राणिमात्र के कल्याण के लिये ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का ज्ञान दिया। यह ज्ञान अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा नामक चार ऋषियों के माध्यम से हमें मिला। यह ज्ञान हमें परम्परा से उपदेश और श्रवण तथा गुरु-शिष्य के माध्यम से मिला। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेद की महिमा के सम्बन्ध में लिखा है-**वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।**[२] मनु महाराज की दृष्टि में नास्तिक वही है जो वेद की निन्दा करता है।[३] मैक्समूलर ने ऋग्वेद को संसार की सबसे प्राचीन पुस्तक माना है। सम्पूर्ण ज्ञान का खजाना इसमें है। वेदों का खजाना स्वाध्याय और परिश्रम से प्राप्त होता है। संसार में जितनी विद्यायें हैं; उन सभी का मूल स्रोत वेदों में विद्यमान है। वेद शाश्वत और सनातन हैं। इसमें सम्पूर्ण मानवता के कल्याण तथा उसकी उन्नति हेतु सभी प्रकार के उपदेश हैं। हमारे ऋषि-मुनि भविष्य में होने वाली समस्याओं से भी परिचित थे। प्रसंगानुसार पर्यावरण प्रदूषण की समस्या का समाधान भी वेदों में विराजमान है।

पर्यावरण क्या है?-पर्यावरण-प्रदूषण आज एक विकट समस्या बना हुआ है। इसका मूलकारण है-सृष्टि अथवा प्रकृति के शाश्वत नियम की अवहेलना अथवा सृष्टि के संरक्षणार्थ परमात्मा द्वारा बनायी गयी शाश्वत व्यवस्था के प्रतिकूल आचरण। **सृष्टेः संरक्षणार्थं भूमिं परितो यद् आवरणम् ओतं-प्रोतं परिवेष्टितं च परब्रह्मणा, तदस्ति पर्यावरणम्**-पर्यावरण शब्द के इस व्युत्पत्तिपरक अर्थ से यह सुस्पष्ट है कि इस पृथिवी पर स्थित अग्नि, वायु, जल, पृथिवी और आकाश से हमारा शरीर बनता है। इनका शुद्ध होना अनिवार्य है। भूमि पर स्थित जल, नदी, झरने, सरोवर, वन, उपवन, पुष्प, फलयुक्तवृक्ष, वृक्षों पर क्रीड़ा करने वाले नाना वर्ण के पक्षी, पुष्प-फल और ओषधियों की गन्ध से सुगन्धित वायु, हम सबके ऊपर फैला हुआ तारों और नक्षत्रों से युक्त आकाश, सूर्य, चन्द्रमा आदि ग्रह-नक्षत्र सभी तत्त्व प्राणपोषक पर्यावरण के अभिन्न अङ्ग हैं, जिससे यह चराचर जड़-चेतन भौतिक जगत् परिव्याप्त है। सभी चराचर प्राणी इसी भौतिक पर्यावरण में आश्रित रहते हुए जीवन धारण करते हैं, क्योंकि ऋषियों की ऐसी अवधारणा है कि इन सभी प्राकृतिक तत्त्वों को भी परमात्मा ने मनुष्यों के लिये इनके साथ ही उत्पन्न किया है। सभी भूतों का शरीर भी इन्हीं प्राकृतिक तत्त्वों से बना है। अतः इसे पञ्चभौतिक शरीर कहते हैं। इसको प्रदूषणरहित और सुरक्षित रखने के लिये पर्यावरण के सभी तत्त्वों को स्वच्छ और सुरक्षित रखना परमावश्यक है।

ब्रह्माण्डीय पर्यावरण में शान्ति हेतु प्रार्थना-वेदों के तत्त्वज्ञों को पता था कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में पूर्ण

---

१ प्रोफेसर वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२ आर्यसमाज का तीसरा नियम।।

३ नास्तिको वेदनिन्दकः, मनुस्मृति २.६।।

शान्ति और पूर्ण पवित्रता के बिना हमारा कल्याण सम्भव नहीं है। अतः उन्होंने यजुर्वेद के वैदिक शान्तिपाठ से जगन्नियन्ता से प्रार्थना की-

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳशान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥[४]

हे जगत्पते! हे कर्मफलप्रद भगवन्! द्युलोक मुझे शान्ति दे, अन्तरिक्षलोक मुझे शान्ति दे, वनस्पतियाँ मेरा कल्याण करें, जल मेरा कल्याण करे, ओषधियाँ मुझे स्वस्थ जीवन दें, ब्रह्म (वेदविद्या) मुझे पूर्ण शिक्षित एवं विद्वान् बनाये, सभी मेरे गुरुजन और परिजन मेरा मंगल करें। मुझे शान्ति ही शान्ति प्राप्त हो। हे जगदाधार! हे सृष्टिनियामक प्रभो! आज आप द्वारा निर्मित शान्ति मुझे प्राप्त हो।

त्रिविध दुःख एवं पर्यावरण-आर्यजन प्रतिदिन हवन एवं सत्संग के पश्चात् शान्तिपाठ करते हैं। मन्त्र पूर्ण होने के बाद तीन बार 'ओ३म्' शान्तिः शान्तिः शान्तिः बोलते हैं। तीन बार शान्ति शब्द का उच्चारण तीन प्रकार के दुःख दूर करने के लिये है। प्रथम आध्यात्मिक दुःख, द्वितीय आधिभौतिक दुःख और तृतीय आधिदैविक दुःख। ये तीनों दुःख पर्यावरण से जुड़े हुए हैं। आध्यात्मिक दुःख शारीरिक और मानसिक नाम से दो प्रकार का होता है। इसे ही आधि-व्याधि कहते हैं। मनुष्यों और विषैले जन्तुओं तथा हिंसक पशुओं से होने वाले दुःख को आधिभौतिक दुःख कहते हैं। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, गर्मी, सर्दी, बरसात, भूकम्प एवं सुनामी से होने वाले दुःख को आधिदैविक दुःख कहते हैं। ये तीनों दुःख मानव को तथा प्राणियों को स्वाभाविक रूप से पीड़ित करते हैं। अतः वैदिक ऋषि इन दुःखों को दूर करने के लिये सदा प्रयासरत रहते हैं। सांख्यदर्शन के प्रणेता कपिल मुनि की घोषणा है-

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः[५] इन तीन प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही अत्यन्त पुरुषार्थ है। प्रकृति-पुरुष के विवेकज्ञान से, निष्काम कर्म से तथा अष्टाङ्गयोग के अभ्यास से त्रिविध दुःखों से पूर्णमुक्ति मिल सकती है। इन दुःखों का सीधा सम्बन्ध हमारे पर्यावरण प्रदूषण से है। इस उपदेश में हमें पर्यावरण-प्रदूषण के प्रति चेतना के स्वर परिलक्षित होते हैं। सांख्यकारिका के लेखक ईश्वरकृष्ण तो एकदम आगे बढ़कर कहते हैं-तस्माद् दुःखं स्वभावेन[६] अर्थात् हमें दुःख स्वभाव से मिलता है। इसे दूर करने का सतत प्रयास करना चाहिये। ट्रक के पीछे लिखा रहता है-सावधानी हटी दुर्घटना घटी। यदि हम दुःख दूर करने का प्रयास नहीं करेंगे तो दुःख हमारे जीवन में बने रहेंगे। महर्षि पतञ्जलि इन दुःखों को दूर करने के लिये एक नयी विधि का प्रतिपादन करते हैं-

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः[७] इन दुःखों को हम अभ्यास और वैराग्य से दूर कर सकते हैं। गीता में श्रीकृष्ण अपने परम शिष्य अर्जुन को कुछ इस प्रकार का उपदेश देते हैं-

असंशयं महाबाहो मनोदुर्निग्रहं चलम्।

---

४ यजुर्वेद ३६.१७॥

५ सांख्यदर्शन १.१॥

६ तस्माद्दुःख स्वभावेन, सांख्यकारिका॥

७ अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः, योग०द०

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येन च गृह्यते।।[८]

हे अर्जुन! निस्सन्देह मन अतिचञ्चल और दुर्निग्रह है। हे कुन्तीपुत्र! यह मन अभ्यास और वैराग्य से वश में हो जाता है। यहाँ पर यह चिन्तनीय है कि सभी प्रकार के दुःख मन में होते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, माया और ममता ये सभी मनोविकार हैं। इन्हीं से मानसिक प्रदूषण फैलता है। इनसे बचने का उपाय वैराग्यपूर्वक अभ्यास है।

वृक्ष एवं पर्यावरण-जब पर्यावरण पर चर्चा होती है, तब-तब वृक्ष का नाम अपने आप आ जाता है। इन दोनों में चोली-दामन का साथ है। एक के बिना दूसरा अपूर्ण है। दार्शनिक भाषा में कहूँ तो वृक्ष और पर्यावरण में समवायी सम्बन्ध है। वृक्ष, वनस्पतियाँ और ओषधियाँ वातावरण से विषाक्त वायु का सेवन करते हैं और बदले में हमें प्राणवायु देते हैं। वृक्ष सम्पूर्ण पर्यावरण का स्वाभाविक रूप से शोधन करते हैं और हमें शुद्ध और पवित्र वातावरण देते हैं। वृक्षों से हमें और हमारे पशुओं को पर्याप्त मात्रा में भोजन और लकड़ी प्राप्त होते हैं। वृक्ष की महिमा पर एक कवि की दो पंक्तियाँ याद आ रही हैं-

पतझडों की कहानियाँ पढ़ना सारा मंजर किताब सा होगा।
आसमाँ भर गया परिन्दों से पेड़ कोई हरा गिरा होगा।।
रास्ता किस जगह नहीं होता सिर्फ हमको पता नहीं होता
बरसो मौसम के मिजाज झेले हैं, पेड़ यूँ ही बड़ा नहीं होता।।

वेदों में वृक्ष की उपमा प्रकृति से दी गयी है। रूपकालंकार में वेद ने बड़ी ही सौन्दर्यपूर्ण भाषा में वृक्ष की महिमा का बख न किया है। मन्त्र में इस प्रकार है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।।[९]

ऋषि दयानन्द जी ने इस मन्त्र में त्रैतवाद की परिकल्पना करके प्रकृति (पर्यावरण) के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। प्रकृतिरूपी वृक्ष पर सुन्दर पंखों वाले, समान आयु वाले और परस्पर मित्रभाव वाले दो सुन्दर पक्षी बैठे हैं। उनमें से एक उस प्रकृति रूपी वृक्ष के स्वादिष्ट फलों का सेवन करता है और दूसरा पक्षी केवल द्रष्टा रूप में विराजमान है। फलभोग करने वाला जीवात्मा है और केवल साक्षीमात्र से देखने वाला परमात्मा है।

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि विश्वा।।[१०]

वह वन कौनसा है? वह वृक्ष कौन सा है? जिससे द्युलोक और पृथिवीलोक का निर्माण हुआ है। हे मनीषियो! तुम लोग अपने मन से पूछो किसने इस विशाल ब्रह्माण्ड को धारण किया है और कौन इस विशाल ब्रह्माण्ड में विराजमान है? इसमें अभिधाशक्ति से अर्थ करें तो वृक्ष और वन के महत्त्व पर प्रकाश

---

८ गीता ६.३५।।
९ ऋग्वेद १.१६४.२०।।
१० यजुर्वेद १७.२०।।

डाला गया है। आज के विज्ञान के अनुसार भूमि पर कम से कम तीस प्रतिशत वन का भाग होना चाहिये।

यस्यां वृक्षा वनस्पतयो ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छा वदामसि।। [११]

भूमि को सुव्यवस्थित और सुस्वस्थ रखने के लिये भूमि पर वृक्षों और वनस्पतियों का प्रचुर मात्रा में होना अनिवार्य है। वृक्ष और वनस्पति हमें बाढ़ और अकाल से बचाते हैं। अपनी लकड़ी देकर देश को समृद्ध करते हैं। देश के निवासियों को भोजन देकर उनका पेट भरते हैं। ओषधि देकर देश के लोगों को नीरोग और स्वस्थ रखते हैं। वृक्ष और वनस्पति हमें भूकम्प और सुनामी से बचाते हैं। वृक्ष की लकड़ियों से और वनस्पतियों की सामग्री से हम लोग अग्निहोत्र करते हैं। इससे पर्यावरण शुद्ध होता है।

वनस्पतिं वन आस्थापयध्वम्[१२] हे मानव! तुम लोग वन में वनस्पतियों का आरोपण करो। वनों में वृक्षारोपण करो। अपने निवास के आस-पास वृक्षारोपण करके पर्यावरण को शुद्ध और पवित्र करो।

प्रकृति एवं पर्यावरण-यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् प्रकृति का विकार है। अग्नि, वायु, जल, पृथिवी और आकाश आदि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकृति का विकृत रूप है। इसे सृष्टि कहते हैं। सांख्यदर्शन के अनुसार-

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थाप्रकृतिः। सत्त्वरजस्तमसां विषमावस्थाविकृतिः।। [१३]

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की समान अवस्था का नाम प्रकृति है, इसे ही प्रधान कहा जाता है। इसे प्रधान इसलिये कहते हैं क्योंकि यही प्रकृति सम्पूर्ण चराचर जगत् को अपने में धारण करती है। इसकी विषम अवस्था विकृति है। पुरुष और प्रकृति के मेल से सृष्टि का निर्माण होता है। तैत्तिरीयोपनिषद् का कथन है-

तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः आकाशद्वायुर्वायोरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधय ओषधिभ्योऽन्नमन्नाद्रेतो रेतसः पुरुषः स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।। [१४]

उस आत्मा (परमात्मा) ने प्रकृति से आकाश उत्पन्न किया। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधि से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष की उत्पत्ति हुई। यह पुरुष अन्न-रसमय है। इसी पुरुष (मानव) का परमकर्त्तव्य है कि वह पर्यावरण को शुद्ध करे।

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्।। [१५]

अदिति (प्रकृति) ही सब कुछ है। प्रकृति ही हमारी माता है। यही हमारा पिता है और यही हमारा पुत्र है। क्योंकि यही द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथिवी के रूप में सबको उत्पन्न करने वाली है। इसलिये हमारे

---

११ अथर्ववेद १२.१.२७।।

१२ वनस्पतिं वन आस्थापयध्वम्, ऋग्०१०.१०१.११।।

१३ सांख्यदर्शन।।

१४ तैत्तिरीयोपनिषद् २.१।।

१५ अथर्ववेद ७.६.१।।

शरीर में विकृतिजन्य रोग भी वही दूर करती हैं।

शिक्षा संस्थान एवं पर्यावरण-पर्यावरण का सम्बन्ध हमारी शिक्षा से भी है। गुरुकुलों, विद्यालयों और शिक्षा संस्थानों का निर्माण कहाँ होना चाहिये। इस सम्बन्ध में वेदों में स्पष्ट रूप से दिशा-निर्देश है। यजुर्वेद का मन्त्र चिन्तन योग्य है-

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत।।[१६]

पर्वतों की तलहटी में और नदियों के संगम पर धीर, वीर, गम्भीर वेद के विद्वान् उत्पन्न होते हैं अर्थात् यहाँ पर गुरुकुलों (शिक्षा संस्थानों) की स्थापना करनी चाहिये। ईश्वर प्रकृति से सृष्टि का निर्माण करता है। प्रकृति की सुरक्षा करने का पूर्ण उत्तरदायित्व हम सब पर है।

उपसंहार

संसार का प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है। जीने के लिये उत्तम रोटी, उत्तम कपड़ा और उत्तम मकान चाहिये। उत्तम अग्नि, वायु, जल, पृथिवी और आकाश चाहिये। प्रदूषण को दूर करने के लिये पर्यावरण को शुद्ध करना चाहिये। स्वच्छ वातावरण और प्रकृति के स्पर्श से हम स्वस्थ और बलवान् रह सकते हैं। वृक्षारोपण के साथ-साथ अग्निहोत्र करने की परम्परा का भी पालन करना चाहिये।

---

१६ यजुर्वेद २६.१९।।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ017-22) ISSN 0974 – 8830

ऋग्वेद में नैतिक मूल्य

डॉ. उमा जैन[१]

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है समाज में व्यवस्था बनाये रखने के लिए तथा उसको उच्छृंखल अथवा मर्यादाहीन होने से बचाये रखने के लिए विद्वानों ने अपने अनुभव और ज्ञान के आधार पर कुछ नियम निर्धारित किये हैं जिससे हमारे अपने चारों ओर का वातावरण स्वच्छ, स्वस्थ, सुन्दर और आकर्षक बन सके। श्री अरविन्द के अनुसार नैतिक जीवन का लक्ष्य मानवता का कल्याण है। यह कल्याण मात्र लौकिक ही नहीं, अपितु आध्यात्मिक भी है जो कि कोई पारलौकिक उपलब्धि नहीं है, यह इसी पृथ्वी पर सम्भव है।[२] नैतिक मूल्यों का लक्ष्य है मानव के समक्ष उच्च से उच्च ध्येय को उपस्थित करना। नैतिकता का सर्वोच्च आदर्श किसी विशेष नियम को मानना नहीं, प्रत्युत एक निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए चेष्टा करना है, जो अपने आचरण को विवेकयुक्त बनाता है। ऋग्वैदिक देवताओं की चारित्रिक विशेषताओं को देखकर ऐसा लगता है कि इनके स्तोता सत्य, ऋत, अहिंसा, दान एवं लोक-कल्याण की नैतिक भावनाओं से ओत-प्रोत थे। इसलिए उन्होंने अपने देवताओं को भी इन गुणों से आरोपित किया है।

ऋग्वैदिक देवता प्राय: किसी न किसी प्राकृतिक पदार्थ या दृश्य के मानवीकृत रूप हैं। वे स्वयं व्रतनिष्ठ है तथा प्राणी मात्र को व्रत एवं सदाचार की प्रेरणा प्रदान करते हैं। वैदिक ऋषियों ने देवताओं से जिन नैतिक आदर्शों की प्रेरणा ली है तथा उन पर दृढ़ता से चलने की इच्छा व्यक्त की है, वे मानव-जाति की अमूल्य धरोहर है। ऋग्वैदिक ऋषियों ने देवताओं की स्तुति करते समय उन्हें सत्य आचरण से युक्त बताते हुए मित्रावरुण को 'सत्यधर्मा' कहा है- **'सत्यधर्माणा परमे व्योमनि।'**[३] राजा वरुण तो मनुष्यों के सत्य और असत्यों को देखते हुए घूमते हैं।[४] द्यावापृथिवी की स्तुति में तुम सत्य से युक्त हो जाओ[५] कहा है। इसी प्रकार यम-यमी संवाद में एक स्थान पर अपने उद्गार प्रकट करते हुए यम यमी से कहता है कि 'हम सत्य वक्ता है, असत्य कभी नहीं बोलते।'[६] एक अन्य मन्त्र में तो सूर्य को सत्य का विस्तार करने वाला कहा है- **'सत्यं तातान सूर्य:।'**[७] देवताओं के चरित्रों में चित्रित सत्य की इन उद्भावनाओं में हमें ऋग्वैदिक नैतिक मूल्यों का परिचय मिलता है। जिनसे प्रेरणा प्राप्त कर ऋषिगण मानव में सत्य का प्रसार करने के लिए उत्सुक रहे होंगे। उन्होंने 'सत्य' को इतना महत्त्व दिया कि उसे विश्व का नियन्त्रण एवं संचालन करने वाला

---

१ रीडर संस्कृत-विभाग, मु०ला० एण्ड जयना० खे० गर्ल्स कॉलेज, सहारनपुर।

२ डॉ. दिवाकर पाठक, भारतीय नीतिशास्त्र पृ० १२५

३ ऋग्वेद ५.६३.१

४ ऋग्वेद ७.४९.३

५ ऋग्वेद ३.५४.३

६ ऋग्वेद १०.१०.४

७ ऋग्वेद १.१०५.१२

मान लिया- सत्य के द्वारा ही पृथिवी स्तम्भित है- **सत्येनोत्तभिता भूमिः।**[८]

यह मन्त्र इस बात का प्रतीक है कि ऋग्वेद कालीन समाज में सत्य नैतिक मूल्य के रूप में स्थापित हो चुका था। सत्य बोलना उस समय पवित्र कृत्य माना जाता होगा। एक ऋषि ने तो धरती एवं आकाश को भी सत्य बोलने वाला बताया है।[९] इस प्रकार ऋग्वेद में 'सत्य' को विश्व का मौलिक तत्त्व माना गया है। जिसके प्रति निष्ठा भी व्यक्त की गयी है कि 'मेरा हृदय तथा विचार सत्य से युक्त हो।'[१०] एक अन्य मन्त्र में सत्य बोलने तथा सत्य कर्म करने का आदेश दिया गया है।[११] सत्य के विषय में वैदिक ऋषियों का तो यह विश्वास था कि अन्त में सत्य की विजय होती है और असत्य पराजित हो जाता है। ज्ञानी व्यक्ति को यह सुविदित है कि सत्य एवं असत्य वचन परस्पर प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। उनमें जो सत्य है, सोम उसकी रक्षा करते हैं और असत्य को मार देते हैं।[१२] ऋग्वेद में असत्यवादी को पापी कहा गया है।[१३] अन्यत्र सत्य को दबाने वाले को नष्ट करने की प्रार्थना की गयी है।[१४] सत्यवादी को ही परलोक में देवत्व-प्राप्ति या स्वर्ग-प्राप्ति सम्भव थी। सत्य का महत्त्व दर्शाते हुए कहा गया है कि यदि तुला में एक ओर सत्य तथा दूसरी ओर एक हजार अश्वमेघ यज्ञ रखे जायें तो भी सत्य का पलड़ा ही भारी रहेगा।

ऋग्वेद में नैतिक मूल्यों में अहिंसा की उदात्त भावना के भी दर्शन होते हैं। प्राणियों के प्रति सद्भावना एवं अहिंसा की भावना को ही देवताओं की दया प्राप्ति का साधन माना गया है। एक स्थान पर इन्द्र से कामना की गयी है कि हम अहिंसक होकर तुम्हारी सहानुभूति प्राप्त करें।[१५] ऋग्वेद में धन की कामना भी अहिंसात्मक रूप में की गयी है और वह धन लोक-कल्याण का साधक माना है। एक मन्त्र में इन्द्र को सम्बोधित करते हुए प्रार्थना की है कि हमें ऐसी विपुल समृद्धि प्राप्त हो जो कि कल्याणकारिणी, अहिंसित तथा शत्रुओं को तारने वाली हो।[१६] इससे प्रतीत होता है कि ऋषि लोक-अहिंसा की भावना के बिना धन-सम्पत्ति भी अवांच्छनीय समझते थे। ऋग्वैदिक ऋषियों ने तो देवताओं से हिंसा रहित बुद्धि की कामना की है कि यही सारी समृद्धियों की उपलब्धि का साधन है। अश्विन् देवताओं को सम्बोधित करते हुए ऋषि कहता है- हे अश्विनो! मुझे सरल, अहिंसक एवं धनाभिलाषिणी बुद्धि प्राप्त कराओ।'[१७]

ऋग्वेद में मनुष्य एवं पशु आदि सभी की हिंसा का निषेध किया गया है। इस सम्बन्ध में रुद्र से प्रार्थना की गयी है- हे रुद्र! आप हमारे न तो वृद्धों का वध करें और न ही युवकों, बच्चों एवं गर्भस्थ

---

८ ऋग्वेद १०.८५.१
९ ऋग्वेद ३.५४.४
१० ऋग्वेद १०.१२८.४
११ ऋग्वेद ८.६२.१२
१२ ऋग्वेद ७.१०४.१२
१३ ऋग्वेद ४.५.५
१४ ऋग्वेद १०.८.१२
१५ ऋग्वेद ७.२०.८
१६ ऋग्वेद ६.२२.१०
१७ ऋग्वेद ७.६७.५

शिशुओं का। आप हमारे माता-पिता और हमारे प्रिय शरीरों की भी हिंसा न करें। हे रुद्र! हमारी छोटी आयु वाले पुत्रों की हिंसा न करें, हमारी गौ एवं अश्वों की भी हिंसा न करो, हमारे वीरों का वध न करो, हम हवि से युक्त होकर तुम्हारा आह्वान करते हैं।'[१८] देवताओं की स्तुतियों में उनसे हिंसक को दण्ड देने की प्रार्थनाएं भी की गयी हैं। अग्नि देवता को सम्बोधित करते हुए कहा है- 'हे अग्ने! आप हमें पापों से बचाओ और जो लोग हिंसक है उन्हें अपने अत्यन्त तप्त तेल से भस्म कर डालो।'[१९] सोम देवता से हिंसक के विनाश की बात कही गयी है- **अप सोम मृधो जहि।**[२०] इस प्रकार हिंसक के प्रति घृणा एवं उसको दण्ड देने की भावनाएं भी ऋग्वेद में विद्यमान हैं। ऋग्वेद में हिंसा के प्रति घृणा की भावना के दर्शन होते हैं। सर्वत्र अहिंसा ही परम धर्म है, अहिंसा ही परम तप है और अहिंसा ही परम सत्य है। इसी के द्वारा धर्म का प्रादुर्भाव होता है। जिसके महत्त्व का मूल हमें ऋग्वेद में देखने को मिलता है।

नैतिक मूल्यों के अन्तर्गत मैत्री की उदात्त भावनाओं का उल्लेख भी ऋग्वेद में है। मित्रता प्राप्त करने की अभिलाषा से स्तोता देवताओं की स्तुति करते हुए कहता है कि 'हम देवताओं की मित्रता प्राप्त करें।'[२१] क्योंकि मित्रता देवताओं की हो या मनुष्यों की, वह मानव-कल्याण की साधिका एवं जीवनोपयोगी है। अग्निदेव से प्रार्थना करते हुए कहा है- 'तुम उसी प्रकार कल्याण करने वाले बनो जिस प्रकार मित्र कल्याण करता है।'[२२] मित्र ही एक सच्चा मार्ग दर्शक होता है, यही उसकी अर्थात् मित्रता की कसौटी होती है। सन्मार्ग दिखाने हेतु सोमदेव से प्रार्थना की हे- 'तुम वैसे ही मार्ग दर्शक बनो जैसे मित्र अपने मित्र को सच्चा मार्ग दिखाता है।'[२३] मित्र ही मित्र के प्रति अच्छी भावनाएं रखता है। मैत्री पवित्र हृदय की प्रतीक है। ऋषि अग्निदेव से उत्तम मन रखने की प्रार्थना करता हुआ कहता है- 'हे अग्ने! तुम हमारे प्रति उसी प्रकार उत्तम मन वाले हो, जिस प्रकार मित्र-मित्र के लिए होता है।'[२४] मित्र प्रेम की साक्षात् प्रतिमा होता है इसलिए अग्निदेव को मित्र की भाँति प्रिय बताया है।[२५] जिसका त्याग श्रेयस्कर नहीं है। मित्र की उपयोगिता बताते हुए ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा है- 'जो मित्र को पहचानने वाले मित्र का त्याग कर देता है उसको वाणी में भाग नहीं मिलता अर्थात् उसे वाणी का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता, वह जो कुछ सुनता है सब व्यर्थ है, वह व्यक्ति पुण्य के मार्ग को कभी नहीं जान सकता।[२६] अत: मित्र मानव श्रेय का सच्चा मार्ग है।

ऋग्वेद में व्यक्तिगत मैत्री ही नहीं समाज एवं प्राणी मात्र के प्रति भी अतिशय उदार भावनाओं के दर्शन होते हैं। यह विश्व मैत्री और विश्वबन्धुत्व की भावना अग्निदेव की स्तुति में दिखाई पड़ती है जहाँ पर

---

१८ ऋग्वेद १.११४.७,८
१९ ऋग्वेद ७.१५.१३
२० ऋग्वेद ९.४.३
२१ ऋग्वेद १.८९.२
२२ ऋग्वेद १.५८.६
२३ ऋग्वेद ९.१०४.५
२४ ऋग्वेद ३.१८.१
२५ ऋग्वेद ८.८४.१
२६ ऋग्वेद १०.७१.६

अग्नि को मानव मात्र का बन्धु, मित्र, प्रिय एवं सखा कहा है।[२७] एक अन्य मन्त्र में तो विशाल पृथ्वी को ही बन्धु कहा गया है- **'बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्'**[२८] इस बन्धुत्व की भावना से लोक-कल्याण की भावना का प्रादुर्भाव होता है। वैदिक ऋषियों ने नदी, पर्वत आदि से लोक-कल्याण की नैतिक प्रेरणा भी ली थी। ऋग्वेद के एक मन्त्र में तो पर्वतों से निकलने वाली नदियां मानों कल्याण बुद्धि की याचना करती हुई बह रही हैं।[२९] परस्पर एक-दूसरे के कल्याण एवं रक्षा के लिए तत्पर रहना ही लोकाभ्युदय का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। इस कल्याणकारिणी बुद्धि और कल्याणकारक धन को प्राप्त करने की अग्निदेव से प्रार्थना की गयी है।[३०] सब एक दूसरे पुरुष की सब ओर से रक्षा करें।[३१] यह रक्षा की भावना मानवमात्र के लिए ही नहीं अपितु सम्पूर्ण द्विपाद एवं चतुष्पाद 'पशुओं' के कल्याण की भी कामना की गयी है।[३२] कि 'हमारे द्विपाद तथा चतुष्पाद प्राणियों को सुख दीजिए, उन्हें जल तथा भोजन देते हुए सबको कल्याण प्रदान कराइये।[३३]

इसके लिए सबका मन, वचन, कर्म से एकमत अर्थात् एकरूप होना आवश्यक है। जैसे देवता एकमत होकर हवि आदि ग्रहण करते हैं उसी प्रकार हम भी एक साथ मिलकर चलें, बोलें तथा सबके मन समान हों।[३४] इसके साथ ही मानवों की मन्त्रणाओं, समितियों, विचारों तथा चिन्तनों में भी एकता एवं समानता लाने की प्रार्थना की है।[३५] यह एकता, समानता, सहृदयता एवं संगठन विश्व को परिवार मानने की भावना का जनक कहा जा सकता है। जिसमें दान, परोपकार का विशेष योगदान होता है। इन्द्र देवता से दान करने की प्रार्थना करते हुए ऋषि कहता है- हे इन्द्र! तुम दांये बांये दोनों हाथों से दान करो।[३६] और अपनी स्वयं की इच्छा भी प्रकट की है- मैं अश्व, गौ आदि का दान करूँ।'[३७] यह दानशीलता समाज एवं सद्गृहस्थ में भी होनी चाहिए। पूषन् देवता की स्तुति करते हुए ऋषि कहता है- हमको ऐसे गृहपति दो जो मानव हितैषी, वीर एवं दानी हो।[३८] ऋग्वेद में राजाओं के भी दानी होने के संकेत मिलते हैं।[३९] इस काल में धाता को श्रेष्ठ माना गया है और उसके प्रति सम्मान की भावना भी व्यक्त की गयी है। एक मन्त्र में उत्तम

---

२७ ऋग्वेद १.७५.४
२८ ऋग्वेद १.१६४.३३
२९ ऋग्वेद १.७३.६
३० ऋग्वेद ३.५७.६
३१ ऋग्वेद ६.७५.१४
३२ ऋग्वेद ८.१८.६, १०.२५.६, ७.५४.१
३३ ऋग्वेद १०.३७.११
३४ ऋग्वेद १०.१९१.२
३५ ऋग्वेद १०.१९१.३
३६ ऋग्वेद ८.८१.६
३७ ऋग्वेद १०.११९.१
३८ ऋग्वेद ६.५३.२
३९ ऋग्वेद १०.३१.४

दानी के लिए अतिथि सत्कार की भावना का वर्णन है- **'आतिथ्यमस्मै चक्रमा सुदाव्ने।'**[४०] दानी व्यक्ति ही स्वर्ग में अधिष्ठित होता है।[४१] और मोक्ष का भी अधिकारी बनता है।[४२] निर्धन ब्राह्मणों को दान देने वाले की देवता रक्षा करते हैं।[४३] ऋत्विज् एवं सज्जन व्यक्ति को दान देने पर दानी को अक्षय अन्न एवं यश प्राप्त होता है।[४४] यज्ञ में दक्षिणा देने वाले को दक्षिणा स्वयं ही अश्व, गौ, सोना, चांदी प्रदान करती है, दक्षिणा अन्न प्रदान करती है जो कि हमारी आत्मा है। ज्ञानी व्यक्ति दक्षिणा को ही अपना कवच बनाता है।[४५] ऋग्वेद के 'दक्षिणासूक्त' में उदार दानी व्यक्ति द्वारा दुग्धवती गाय, तीव्रगामी अश्व, सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित वधू, सुरा, सुन्दरी, सुन्दर रथ एवं सजे-सजाये स्वच्छ घर तथा युद्धों में विजय की प्राप्ति का वर्णन है।[४६] इस तरह दानी व्यक्ति के अभ्युदय एवं वृद्धि की बात मरुतों से भी कही गयी है- दान देने वाला वृद्धि को प्राप्त हो।[४७] और दान देने की इच्छा वाले को भी अभीष्ट सम्पादन एवं अभ्युत्थान की प्राप्ति हेतु अग्नि देवता से प्रार्थना करता हुआ ऋषि कहता है- हे अग्ने! तुम दानी व्यक्ति की सब ओर से रक्षा इस प्रकार करो जैसे दृढ कवच 'युद्ध में' रक्षा करता है।[४८]

समाज में दान की हुई सम्पत्ति कहीं अनाचरण का कारण न बन जाए, इसलिए ऋषियों ने सदाचरणशील, निर्धन एवं विद्वान् व्यक्तियों को ही दिया गया दान प्रशस्त बताया है, क्योंकि सुपात्र में दिया गया दान ही सफल होता है। ऋग्वेद में अनुदार एवं अदानशील को घृणित एवं हेय मानते हुए ऋषि कहता है कि अनुदारमना व्यक्ति का अन्न प्राप्त करना व्यर्थ है। जो न देवता को 'हवि द्वारा' खिलाता है, न मित्र को, स्वयं अकेला खाने वाला केवल पाप को खाता है।[४९] ऐसे अदानी व्यक्ति को दान देने के लिए प्रेरित करने हेतु पूषन् देवता से प्रार्थना की गयी है- 'हे दीप्तिमन् पूषन्! दान देने की इच्छा न करने वाले को दान के लिए प्रेरित करो और कृपण व्यापारी के मन को भी कोमल बना दो।'[५०] अन्यत्र अदानशील व्यक्तियों की सम्पत्ति हरण का भी संकेत है।[५१]

अन्ततोगत्वा ऋग्वेद में सत्य, अहिंसा, मैत्री 'विश्वबन्धुत्व' लोक कल्याण, संगठन, उदारता एवं दानशीलता समाज के सुख एवं समृद्धि की आधारशिला माने गये हैं। अत: ऋषियों ने इन मानवीय गुणों की

---

४० ऋग्वेद १.७६.३
४१ ऋग्वेद १.१२५.५
४२ ऋग्वेद १.१२५.६
४३ ऋग्वेद ४.५०.९
४४ ऋग्वेद १.४०.४
४५ ऋग्वेद १०.१०७.७
४६ ऋग्वेद १०.१०७.९-११
४७ ऋग्वेद १.१६७.८
४८ ऋग्वेद १०.१५१.२, १.३१.१५
४९ ऋग्वेद १०.११७.६
५० ऋग्वेद ६.५३.३
५१ ऋग्वेद ८.८१.७

भूरि-भूरि प्रशंसा तथा इन गुणों से संयुक्त व्यक्ति की सुरक्षा एवं उन्नति की कामना तथा उनसे पराङ्मुख को दण्डित कर नैतिक मूल्यों की स्थापना की है। जिनको जीवन में अपनाने पर इहलोक और परलोक को विजित किया जा सकता है और सर्वत्र सुख समृद्धि, आनन्द एवं शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाएगा।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ023-35) ISSN 0974 – 8830

ऋग्वेदीय-आचार-मीमांसा

डॉ० योगेश शास्त्री[१]

आचरति एनम् अनेन वा इति इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो कुछ भी किया जाए, वह आचार कहलाता है। आचार शब्द आङ् उपसर्ग पूर्वक[२] चर् धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। चर् धातु के दो अर्थ गति और भक्षण[३] धातु पाठ में उपलब्ध होते हैं। 'गति' शब्द का अर्थ है ज्ञान गमन और प्राप्ति। अत: तात्विक अर्थ में जो खाने के लिए गतिमान् है, वह पशु और जो ज्ञान-गमन प्राप्ति के निमित्त भक्षण करता है, वह मनुष्य है।

वैदिक आश्रम और वर्ण व्यवस्था भी गमनशीलता का पर्याय है। ईश्वर प्राप्त्यर्थ गतिमान् रहना ही आचार है। वेदों में चर् धातु का प्रयोग आचार के लिए ही हुआ है।

ऋग्वेद में 'चर्' धातु के प्रयोग द्वारा करणीय कर्म को करने और अकरणीय कर्म के निषेध की आज्ञा भी प्राप्त होती है। ऋग्वेद में हिंसा न करने और आपस में फूट न डालने[४] का वर्णन स्पष्टत: 'स्वस्ति' पथ पर अनुसरण करने का मार्ग प्रशस्त करता है। जो हमें सूर्य-चन्द्रवत् कल्याण पथ का अनुसरण और दानी, अहिंसनीय और ज्ञानवान् बनने की प्रेरणा देता है।[५]

यजुर्वेद के इस मन्त्र द्वारा सत्यव्रती बनने की प्रार्थना की गई है।

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतातसत्यमुपैमि।।[६]

अर्थात्- हे व्रतों के स्वामी अग्नि देव! मैं व्रत ग्रहण करूँगा, मैं अनृत में हटकर सत्य को ग्रहण करने का सामर्थ्य प्राप्त करूँ। हे अग्निस्वरूप परमेश्वर आप मुझे दुराचार से पृथक् कर सुचरितता प्रदान करो।[७]

ऋग्वेद में देवों के आचरण को आदर्श माना गया है। देव सदैव सत्य दानादि व्रतों के पालक हैं।[८]

---

१. (विद्यालय-विभाग), गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२ आङ् मर्यादाभिविध्यो:। वा०-२.१.१३, आङ् मर्यादावचने। पा०व्या० १.४.८९
३ चर गत्यर्थे भक्षणे च - पा०व्या० धातुपाठ - भ्वादिगण, पृष्ठ १२
४ नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि। ऋ०१०.१३४.७
५ स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव। पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि।। ऋग्वेद ५.५१.१५
६ यजुर्वेद - १.५
७ परिमाग्ने दुश्चरिताद् बाधस्व मा सुचरिते भज।। यजु० - ४.२८
८ ऋग्वेद - ५.६७.४

मनुष्य को भी उनके आचरण का अनुकरण करने वाला श्रेष्ठ मानव माना जाता है।[९]

ऋग्वेद में आचरण का स्पष्टत: उल्लेख है। जैसे- सत्यपालक देवगण मनुष्यों के मध्य सत्य और अनृत का विचरण करते हैं[१०], उसी प्रकार ऋग्वेद असत्यवादी को दण्डित करने का आदेश भी देता है।[११]

ऋग्वेद के सूर्या सूक्त में सोम के साथ सूर्य की पुत्री सूर्या का आदर्श विवाह रूपक रूप में वर्णित है, जिसमें देवता भाग लेते हैं। सोम और सूर्या के आदर्श विवाह का मनुष्यों को भी अनुकरण करने की प्रेरणा दी गई है। आज की वैदिक विवाह विधि में इन मन्त्रों का उल्लेख प्राप्त होता है। बृहद्देवताकार के मत में- 'ये ही वैवाहिक मन्त्र मनुष्यों के भी विवाह के लिए कहे गये हैं।[१२] इस प्रकार ऋग्वेद में देवों और मनुष्यों की आचार पद्धति को एक समान बताया गया है। सत्य, ऋत अहिंसा, मैत्री भावना, अभय, स्वस्ति, विवेक बुद्धि, दानशीलता, यश, पाप-राहित्य, पवित्रता आदि को ऋग्वेद में आचार-मीमांसा के रूप में सर्वप्रथम वर्णित किया गया है। आचार-मीमांसा को परिपुष्ट करने के लिए ऋग्वेद में वर्णित इन घटकों पर चिन्तन करना आवश्यक है।

निरुक्तकार आचार्य यास्क ने ऋत का अर्थ उदक, सत्य एवं यज्ञ किया है।[१३] आचार्य सायण ने भी ऋग्भाष्य में ऋत को कर्मफल- स्तोत्र एवं गत्यर्थक वाचक स्वीकार किया है।[१४]

ऋग्वेद विविध नैतिक मूल्यों का वर्णन सत्य को लक्ष्यार्थ करके करता है। विश्वेदेवा सूक्त में ाचार के अन्तर्गत प्रार्थना की गयी है, कि 'जिस सत्य का आचार ऋषि एवं देवगण करते हैं, मेरा मन भी उस सत्य से युक्त हो।'[१५] ऋग्वेद में ही एक स्थान पर सोम को सत्य कान्ति से युक्त तथा सत्य कर्मकारक वर्णित किया गया है। नवम मण्डल के ११३वें सूक्त में ऋषि कश्यप कहते हैं- कि सत्य कर्म करते हुए, श्रद्धा से युक्त होकर, सत्य वाणी बोलते हुए सोमदेव याज्ञिक द्वारा इन्द्र से प्रार्थना की गयी है-

ऋतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन्त सत्यकर्मन्।
श्रद्धा वदन्त सोम राजन्धात्रा सोम परिष्कृत इन्द्रायेन्दो परिस्रव।।[१६]

ऋग्वेद सप्तम् मण्डल के ४९वें सूक्त में वरुण देव की स्तुति करते हुए उन्हें सत्य एवं मिथ्या के साक्षी के रूप में वर्णित करते हुए कहा गया है-

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्।

---

९ यत् देवा अकुर्वन् तत् करवाणि। अर्थात् जो देव करते हैं, वैसा मैं करूँगा। यह मानवों के व्यवहार की प्रणाली है, जो देव करते हैं, वह मनुष्यों को करना योग्य है। शत०ब्रा०

१० ऋ०५.६५.२

११ यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्। ऋ०७.४८.३

१२ मन्त्रा वैवाहिका ह्येते निगद्यन्ते नृणामपि। 'ऋग्वेद में आचार' (आचार्य सत्यप्रिय)

१३ ऋतमित्युदकनाम-निरुक्त २.२५, सत्यं वा यज्ञं वा। निरुक्त- ४.१९

१४ ऋतस्य सत्यस्यावश्यं भाविन: कर्मफलस्य- ऋ०१.२.८

१५ ऋ०१०.१२८.४

१६ ऋ०९.११३.४

मधुश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु॥[१७]

वैदिक ऋषियों के मत में ऋत का अनुसरण मनुष्य को पापरहित करता है और समस्त दुःखों का नाशक है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में आदित्यों से प्रार्थना है कि ऋत अर्थात् सत्य पर चलने से मार्ग सुगम एवं निष्कण्टक होता है।[१८] तैत्तिरीय संहिता में वर्णन है कि- ऋत की पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशाओं और स्वर्ग लोक में सर्वत्र विजयी होती है।[१९]

ऋग्वेद में मित्रावरुणौ को ऋत से बढ़ने वाले ऋत युक्त वर्णित कर कहा गया है कि- मित्रावरुणौ सत्य से बढ़े हुए यज्ञ को सम्पन्न करते हैं।[२०] तथा इसी सूक्त में प्रार्थना है कि- मैं उन मित्रावरुणौ का आह्वान करता हूँ, जो सत्य अर्थात् ऋत के द्वारा यज्ञ की वृद्धि और प्रकाश का पालन करते हैं।[२१]

ऋग्वेद में आचार के अन्तर्गत सप्त मर्यादाओं को विवेचित किया गया है। जिनमें अस्तेय, व्यभिचाराभाव, ब्रह्महत्या न करना, गर्भपात न कराना, मद्यपान न करना, बार-बार दुराचार न करना और पाप करके उसे छिपाने के लिए अनृत भाषण का अभाव।[२२] इन सप्त मर्यादाओं को क्रान्तदर्शी ऋषियों ने मानव जीवन के साफल्त्य के लिए व्यवहृत किया था।

निरुक्त में वर्णित सुरापान, जुआं खेलना, स्त्री व्यसन, मृगया, कठोर दण्ड, कठोर वचन और दूसरे पर मिथ्या दोषारोपण ये सप्त मर्यादा मनुष्यों के कार्य भक्षण कर जाने से 'मर्यः अदाः' कहलाते हैं। अर्थात् चोरी, गुरु-स्त्री-गमन, ब्रह्महत्या, सुरापान, दुष्कर्म का बार-बार सेवन और पाप करके असत्य भाषण निरुक्तकार ने भी इन सात मर्यादाओं का आचरण अर्थात् आचार-मीमांसा का अंग बताया हैं।[२३]

मानवीय जीवन में आचार-विचार-प्राण रूप में हैं, प्रज्ञा-प्रक्षालित विचार स्वतेज में हमारा जीवन जब आलोकित होता है, तो आचार की शुद्धता बलवती होती है और आचारनिष्ठ व्यक्ति को ही कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध होता है। वह कदापि, दुराचार के पथ का गमन नहीं कर सकता, क्योंकि वह स्वयं प्रार्थना करता है कि- मेरा मन कल्याणकारी संकल्प वाला हो।[२४] मानव का लक्ष्य असत् से सत् की ओर अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व के मार्ग पर चलना है।

ऋग्वेद में **ऋत** नैतिक शाश्वत नियम के रूप में प्रतिष्ठित है[२५] तथा ऋत एवं सत्य की सन्निधि तपं

---

१७ ऋ०७.४९.३
१८ ऋ०१.४१.४
१९ तै०सं० ३.३.५.१९
२० ऋ०१.२.८
२१ ऋ०१.२३.५
२२ ऋ०१०.५.६ अथर्व० ५.१.६
२३ स्तेयं तल्पारोहणं ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां सुरापानं दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवां पातकेऽनृतोद्यमिति। निरुक्त - ६.२७
२४. यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति। दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ३४.०१
२५ असतो मा सद्गमय, तसमो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमय॥

से प्रभूत मानी गयी है।[२६] वैदिक ऋषियों का मत है कि 'ऋत' मार्ग का अनुसरण करने से मनुष्य पाप में लिप्त नहीं होता तथा उसके समस्त दुःख विनष्ट हो जाते हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र में आदित्यों से प्रार्थना है कि- ऋत का अनुगमन न करने वाले के समस्त मार्ग सुगम एवं कष्टरहित कर दो।[२७]

ऋग्वेद के नवम मण्डल में सोम को ऋत के द्वारा ही उत्पन्न वर्णित कर सोम को स्वयं ऋत रूप कहा गया है[२८] क्योंकि दुराचारी व्यक्ति 'ऋत' के मार्ग को पार नहीं कर सकते।[२९] ऋग्वेद में सूर्य को भी ऋत के द्वारा ही स्थापित माना गया है।[३०] और देवों को भी ऋत का धारणकर्त्ता कहा गया है।[३१] ऋग्वेद में इन्द्र कहता है कि 'ऋत' मुझे शक्तिमान् बनाता है।[३२] तथा सविता देव भी 'ऋत' का ही पालन करते हैं।[३३]

ऋग्वेद के एक मन्त्र से स्पष्ट होता है कि वचन और कर्म उभयतः ही ऋत एवं सत्य के पालन की प्रतिज्ञा पर बल देते हैं।[३४] क्योंकि ऋत का मार्ग प्राकृतिक शक्तियों एवं सुख का साधन है। ऋत के अनुसार आचरण करने वाले के लिए हवाएँ माधुर्ययुक्त होती है, तथा नदियाँ भी माधुर्य बहाती है।[३५]

ऋग्वेद में वर्णन है कि सदाचारी व्यक्ति अपने अराध्य से ऋत के द्वारा दुराचरणों से निवृत्ति की प्रार्थना करते हुए कहते हैं- हे मित्रावरुणौ, जैसे नौका द्वारा नदी पार की जाती है, उसी प्रकार हम ऋत पथ द्वारा दुराचरणों से पार हो जायें।[३६] अमरत्व की प्राप्ति का साधन भी ऋत है क्योंकि ऋत की नाभि से अमृत उत्पन्न होता है।[३७] ऋत विकास की चरमावस्था में नैतिकता और सदाचार का द्यौतक है। ऋत अपने में अलौकिकता एवं दार्शनिक गाम्भीर्यता संजोय हुए हैं और सत्य लौकिक व्यवहारिक जगत् का आचार है। देवी जगत् का सत्य ऋत है क्योंकि प्राकृतिक जगत् का ऋत ही मानवीय जगत् में नैतिक आचार के रूप में 'सत्य' कहलाता है।[३८]

सत्य

ऋग्वैदिक आचार-मीमांसा के अन्तर्गत द्वितीय घटक सत्य है। मानवीय जीवन में सुख सम्पत्ति की इच्छाओं का नियन्त्रण ऋत और सत्य द्वारा ही होना चाहिये। ऋग्वेद में कहा गया है कि- मन के विचार

---

२६ ऋ०१०.१९०.१

२७ ऋ०१.४१.४

२८ ऋ०७.१०८.८

२९ ऋ०९.७३.६

३० ऋ०१०.६२.३

३१ ऋ०६.१५.११

३२ ऋ०९.१०.४

३३ ऋ०१.२४.१

३४ ऋ०१.११३.४

३५ ऋ०१.९०.६, यजुर्वेद १३.२७, तै०सं० ४.२.१.३ एवं मै०सं० २.७.१६

३६ ऋ०७.६५.३

३७ ऋ०९.७४.४

३८ ऋग्वेद के दार्शनिक तत्व (डॉ० गणेशदत्त शर्मा)

सत्य से युक्त हो[३९] एवं वचन और कर्म भी सत्य की प्रतिज्ञा से युक्त हों।[४०]

ऋग्वेद में ऋत और सत्य को सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा के तप से उत्पन्न कहा गया है, और इसी सत्य और ऋत के द्वारा रात्रि समुद्र प्रादुर्भूत बताये गये हैं। यजुर्वेद में भी वर्णन है, कि मैं अनृत को छोड़कर सत्य को ग्रहण करता हूँ।[४१]

ऋग्वेद में विश्व का नियन्त्रक एवं संचालक सत्य को माना गया है। ऋग्वेद कहता है कि- जिस पर द्युलोक, दिन-रात तथा समस्त जगत् आश्रित है, जिसके कारण प्रतिदिन सूर्योदय होता है और जल प्रवाहित होता है, ऐसा सत्य वचन हमारी रक्षा करें।[४२]

अथर्ववेद में वर्णन है कि- ऋत, सत्य, दीक्षा, तप, ब्रह्म एवं यज्ञ पृथिवी को धारण करते हैं।[४३] क्योंकि ये सभी गुण पृथिवी पर स्थित प्राणियों के लिए आवश्यक हैं। सूर्य को भी सत्य का विस्तारक माना गया है।[४४]

ऋग्वेद में विश्वेदेवा सूक्त में नैतिक मूल्यों का वर्णन करते हुए कहा गया है- ऋषिगण स्वयं भी सत्य का आचरण करने के लिए **'सत्या मनसो मे अस्तु'**[४५] अर्थात् मेरा मन सत्य से युक्त हो यह प्रार्थना करते हैं।

ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थान पर साम को सत्य कान्ति से युक्त तथा सत्य कर्म कारक कहा गया है। ऋषि कहता है कि- सत्य कर्म करते हुए श्रद्धा युक्त सत्य वचन बोलते हुए हम वेद पथ का अनुसरण करें-

ऋतं वदन्नृद्युम्न सत्यं वदन्तसत्यकर्मन्।
श्रद्धा वदन्त सोम राजन्धात्रा सोम परिष्कृत इन्द्रायेन्दो परिस्रव।।[४६]

ऋग्वेद के ही सप्तम मण्डल में वरुण देव की स्तुति करते हुए ऋषि उन्हें सत्य एवं मिथ्या के साक्षी के रूप में वर्णित करता है।

या सां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यान्नृते अवपश्यन्जनानाम्।।[४७]

पंचम मण्डल में मित्रावरुण को **सत्य धर्माणं परमे व्योमनि**[४८] में सत्यधर्मा कहा गया है।

---

३९ ऋ०१०.१२८.४
४० ऋ०१.११३.४
४१ यजुर्वेद १.५०
४२ ऋ०१०.३७.२
४३ अथर्ववेद - १२.१.१
४४ ऋ०१.१०५.१२
४५ ऋ०१०.१२८.४
४६ ऋ०९.११३.४
४७ ऋ०७.४९.३
४८ ऋ०५.६३.०१

न यत्पुरा चकृमा कद्धनूनमृता वदन्तो अनृतं रूपेण।

अर्थात्- यम-यमी संवाद में यम स्वयं कहते हैं कि हम सत्यवादी हैं, असत्य वचन नहीं बोलते[४९]-**सत्येनोत्तभिता भूमिः** अर्थात्- सत्य से यह भूमि स्तम्भित है।[५०]

तैत्तिरीय संहिता में अग्नि को सत्यों का मित्र कहा गया है। विश्वदेव सत्यरूप सविता की स्तुति का संकल्प है।[५१] यजुर्वेद सत्य की प्राप्ति श्रद्धा द्वारा वर्णित करता है। इस धरातल पर सत्य को सर्वश्रेष्ठ आचार के रूप में वर्णित किया गया है, क्योंकि सत्य का आधार यह शरीर अर्थात् व्यक्ति ही है।

अंहिसा

सत्य के साथ अंहिसा को भी आचार-मीमांसा का मुख्यतम घटक माना गया है। ऋग्वेद में इन्द्र से कामना की गयी है, कि हम अहिंसक होकर जीवन में पुरुषार्थ द्वारा लक्ष्य को प्राप्त करें अर्थात् उसकी सहानुभूति प्राप्त करें[५२] क्योंकि देवताओं की कृपा प्राप्त करने के लिए सत्य के साथ-साथ अंहिसा भी अत्यावश्यक है। ऋग्वेद के सप्तम् मण्डल में वर्णन है कि- हे अश्विन् आप हमें सरल, अहिंसक एवं धनाभिलाषिणी बुद्धि प्रदान करें।[५३]

अहिंसा का यह भाव ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के निम्न मन्त्रों में भी दृष्टिगत् होता है-

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा नः उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्ररीरिषः।।
मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र मामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे।।[५४]

अथर्ववेद में उस शत्रु को हिंसित करने का वर्णन है, जो हमसे द्वेष करता है या जिससे हम द्वेष करते हैं।[५५]

ऋग्वेद में इन्द्र से प्रार्थना रूप में वर्णन है कि- हे बलवान्! इन्द्र तुम अमरणशील हो। मनुष्यगण सदैव तुम्हारा भजन करते हैं, वे किसी प्राणी की हिंसा नहीं करते क्योंकि बुद्धि ही समस्त सुख समृद्धि का कारण है। इसलिए हे अश्विनौ! मुझे सरल, अहिंसक एवं धनाभिलाषिणी बुद्धि प्राप्त कराओ।[५६]

ऋग्वेद के ही एक अन्य मन्त्र में प्रार्थना है कि- हे विशाल किरण युक्त अग्नि! हमें राक्षसों से

---

४९ ऋ०१०.१०.४
५० ऋ०१०.८५.१
५१ ऋ०५.८२.७ एवं तै०सं० ३.४.११.५
५२ ऋ०७.२०.८
५३ प्राचीमु देवाश्वीना धियं मेऽमृध्रां सातये कृतं वसूयुम्। य० ७.६७.५
५४ ऋ०१.११४.७,८
५५ अथर्व० २.१९-२३
५६ वही - ७.६७.५

बचाओ, धन, दान न करने वाले धूर्त से रक्षा करो, हिंसक पशु एवं हननेच्छु शत्रु से त्राण करो।[५७] क्रोध को भी शत्रु मानकर (बृहस्पति) को उसकी रक्षा करने वाला कहा गया है। आचार की पूर्णता हेतु मानव की हिंसा से रहित भावना को नैतिक मान्यता प्रदान की गयी है। वेद केवल हिंसकों से ही रक्षा का उपदेश नहीं देता, अपितु चारों दिशाओं, पापियों, दुष्टों एवं प्रतिपक्षी और प्रकट रूप से प्रतिपक्षी न होकर जो हमसे द्वेष करता है, उनसे रक्षा एवं उन्हें देवगण नष्ट कर दें ऐसी प्रार्थना करता है।[५८] हे इन्द्र, हमारे शत्रुओं को काटों।[५९] ऋग्वेद में विद्वानों के लिए भी आदेश है कि- हे उत्तम रीति से विद्या प्राप्त करने वाले विद्वान् जो मनुष्यों के मध्य में वीर जितेन्द्रिय बहुत धन से युक्त, दुधारू गाय आदि के हिंसकों का हनन करते हैं, वे विद्वान् तेरे प्रिय हों।[६०]

आचार-मीमांसा में अंहिसात्मक भावना का दृढ़ स्थान है। व्यक्तिगत जीवन में अहिंसा का भाव दृढ़ होने पर ही मानव परिवार, समाज एवं राष्ट्र में अहिंसा के भाव को स्थापित कर सकता है। सच्चरित्र, संयमी और दयालुजन ही अहिंसा के पात्र हैं।

मैत्री

आचार-मीमांसा में मैत्री की दृढता अत्यावश्यक है। वेद में मानव अपनी मित्रता की कल्पना देवताओं से करता है, क्योंकि उत्तम मित्र सुखदायी होता है। अग्नि को उत्तम मित्र की भाँति सुखदाता कहा गया है।[६१] मूर्ख मित्र से बुद्धिमान् शत्रु को श्रेयस्कर माना गया है। अतः मूर्ख मित्र को त्यागने से हानि नहीं होती है। परन्तु विद्वान् मित्र को त्यागने से बहुत हानि होती है। ऋग्वेद में वर्णन है कि- जो विद्वान् मित्र को छोंडकर वाणी निष्फल हो जाती है, वह जो कुछ सुनता है, व्यर्थ ही सुनता है। वह सत्कर्म का मार्ग नहीं जान सकता।[६२] विद्वान् मित्र अपने मित्र का सदैव मंगल ही चाहता है।

मैत्री की भावना मानव में उदात्तता को उत्पन्न करती है तथा सभी के प्रति मित्रवत् दृष्टि को समन्वित करती है। यजुर्वेद में वर्णन है कि- 'हे अविद्या अन्धकार के नाशक जगदीश्वर या विद्वान् जिससे सब प्राणी मित्र की ङ्कङ्गृश्च्छ से मुझे अच्छी प्रकार देखें, तथा मैं भी मित्र की ङ्कङ्गृश्च्छ से सब प्राणियों को देखूँ! हम परस्पर मित्र दृष्टि रखें, उस अवस्था में तू हमें स्थिर कर। यथा-

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।।[६३]

कल्याण (मानव) की अभिलाषा है। इसलिए ऋग्वेद में इन्द्र को कल्याण करने वाला कहा गया

---

५७ यजुर्वेद - २.५३
५८ अथर्व० - १.१९.४
५९ अथर्व० २०.४३, ऋ०८.४५.४
६० ऋ०७.१६.७
६१ ऋ०१.५८.६
६२ ऋ०१०.७.६
६३ अथर्व०१९.१५.६

है।[६४]

भारतीय संस्कृति की विशेषता है कि- उसमें विश्वबन्धुत्व की भावना को प्रमुखता प्रदान की गयी है। 'अग्नि' को ऋग्वेद में मनुष्यों को भ्रातृभाव रखने वाला कहा गया है-

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः। सखा सखिभ्यः ईड्यः।[६५]

ऋग्वेद में सूर्य को समस्त शक्तियों का नियामक मानकर पृथिवी को भी माता के रूप में वर्णित किया गया है-

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्'[६६]

ऋग्वेद में देवताओं को भी मैत्री भाव के लिए प्रदर्शित किया गया है। प्रथम मण्डल में वर्णन है कि- सन्मार्ग की प्रेरणा देने वाले देवों की कल्याणकारी सुबुद्धि तथा उनका आदर अनुदान हमें प्राप्त होता रहे। हम देवों की मित्रता प्राप्त कर उनके समीपस्थ रहें तथा वे देवगण हमारे जीवन को दीर्घायु से युक्त करें- यथा-

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो निवर्तताम्।
देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं देवा नः आयुः प्रतिरन्तु जीवसे।।[६७]

ऋग्वेद के नवम मण्डल में भी- सोम को पथ-प्रदर्शक माना गया है तथा इन्द्र से भी श्रेष्ठ पथ प्रदर्शन की कामना की गयी है।

स नो मदानां पत इन्दो देवप्सरा असि। सखेव सख्ये गातुवित्तमो भव।।[६८]

ऋग्वेद में मैत्री भाव को आचार-मीमांसा का अंग माना गया हैं क्योंकि अपने साथी के समीप आने पर जो मित्र होकर भी उस मित्र को अन्नदान नहीं करते ऐसे कृपण मनुष्य का परित्याग करना ही श्रेयसकर बताया गया है। उसका गृह निवास के योग्य नहीं होता तथा ऐसे समय में किसी श्रेष्ठ स्वामी के पास जाना ही श्रेयस्कर होता है, यथा-

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात् प्रेयान्न तदोकोअस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्।।[६९]

अर्थात्- जो समय पर मित्र की रक्षा सहायता नहीं करता वह परित्याग करने के योग्य है।

अभय

मानवीय जीवन में अभयता का अत्यन्त महत्त्व है। विचारों की हेयता और संकीर्णता के कारण ही

---

६४ ऋ०१.५३.११
६५ ऋ०१.७५.४
६६ ऋ०१.१६४.३३
६७ ऋ०१.८९.२
६८ ऋ०९.१०४.०५
६९ ऋ०१०.११७.४

जीवन भयग्रस्त हो जाता है। अथर्ववेद कहता है कि- अन्तरक्षि हमें अभयता प्रदान करे, आकाश-पृथिवी हमको अभयता वाली रक्षा दें। चारों दिशायें हमें निर्भयता देवें।[७०] आगे एक अन्य मन्त्र में वर्णन है कि- मित्रों से अभय प्राप्त हो, शत्रुओं से हम भयभीत न हों। प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार के शत्रु हमारे भय के कारण न बनें। दिवस, रात्रि और सब दिशायें हमें अभय प्रदान करती हुई, मित्र के समान हित करने वाली हों।[७१]

'यजुर्वेद' में भी वर्णन है कि जहाँ-जहाँ हमारे लिए जैसी भी स्थिति उत्पन्न हो, वहाँ हमें सभी प्रकार से अभय प्रदान कीजिए। प्रजा और पशुओं की ओर से भी अभयता प्रदान कीजिये।[७२]

अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड में अन्तःकरण की पवित्रता हेतु आचार को लक्ष्य करके वर्णन किया गया है- जैसे देवलोक और पृथिवी न तो कभी भयभीत होते है, और न हिंसित ही, उसी प्रकार हे मेरे प्राणों, तुम भी भयभीत न होओं।[७३] जिस प्रकार सूर्य-चन्द्रमा, दिन-रात, ब्राह्मण-क्षत्रिय, सत्य-असत्य, उत्पन्न और उत्पद्यमान जैसे कभी भयभीत नहीं होते, वैसे ही प्राणों की निभर्ययता का वर्णन भी अथर्ववेद में प्राप्त होता है।[७४]

ऋग्वेद के एक मन्त्र में अभयता का वर्णन करते हुए कहा गया है- 'हे द्यावापृथिवी! इस देश में अभय होवें, चन्द्र सूर्य हमारे लिए निर्भयता देवें, यह विस्तृत अन्तरिक्ष हमें भय रहित करें तथा सप्तर्षि (विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वशिष्ठ और कश्यप) की हवियां भी हमारे लिए निर्भयता लावें।[७५]

ऋग्वेद में अग्नि से प्रार्थना की गयी है- हे अग्ने! तुम हमें दृष्ट और अदृष्ट भयों से बचाओ।[७६]

ऋग्वेद में एक स्थान पर वर्णन है कि- इन्द्र की मित्रता भय से रहित करती है।[७७]

ऋग्वेद में वरुणदेव से प्रार्थना की गयी है कि- मेरे समीप से भय दूर कर दो क्योंकि भय के आने पर तुम्हारा ही आश्रय निर्भयता प्रदान करता है।[७८]

यज्ञ में भी अग्नि को प्रज्ञवलित करके निर्भयता, सुख एवं कल्याण की कामना की गयी है, क्योंकि अग्नि ही मनुष्य को सुपथ पर ले जाने वाला है।

इसलिए ऋग्वेद में अभयता को आचार मीमांसा का सोपान माना गया है, और दृष्ट-अदृष्ट भय, दिशाओं के भय, शत्रु-जनित भय, दुःखजनित भय, देव भय, प्राकृतिक भय, दारिद्र्य आदि के भय से

---

७० अथर्ववेद १०.११७.६
७१ अथर्ववेद १९.१५.५
७२ यजुर्वेद ३६.२२
७३ अथर्ववेद २.१५१.१-६
७४ अथर्ववेद २.१५.१-६
७५ ऋग्वेद १०.१३.७
७६ ऋग्वेद १०.७.७
७७ ऋग्वेद २.२८.६
७८ ऋग्वेद १०.६३.७

बचने की प्रार्थना की गयी है, तथा निर्भयता की स्थिति को प्राप्त करके ही मनुष्य सत्कर्मों में प्रवृत्त होता है।

दान

भारतीय संस्कृति में दान का अत्यन्त महत्त्व है। इसी कारण गृहस्थ जीवन को श्रेष्ठता प्रदान की गयी है, क्योंकि गृहस्थ आश्रम में परिवार से लेकर दान आदि के द्वारा दूसरों का भी पालन-पोषण होता है। इस उदात्त भावना की सृष्टि वेदों द्वारा ही की गयी है।

ऋग्वेद में पूषन् देवता से प्रार्थना की गयी है- 'हे पूषन्! आप हमें मनुष्यों के हितैषी, पर्याप्त धन दान करने वाले दानवीर एवं प्रशंसनीय गृहस्थ के समीप ले चलें-

अभि नो नर्यं वसु वीरं प्रयतदक्षिणम्। वामं गृहपतिं नय।।[७९]

ऋग्वेद के दशम मण्डल के १०७वें सूक्त में सृष्टि रचना यज्ञ के बाद सृष्टि संचालन, पोषण, यज्ञीय क्रम में दान देने अर्थात् प्राप्त विभूतियों को सद्भावना पूर्वक लोक मंगल में प्रयुक्त करने का विवरण एवं महत्त्व दिया गया है। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में ही दान की महत्ता को वर्णित किया गया है तथा कहा गया है कि- दानी मनुष्य स्वर्ग के उच्च पदों पर विराजमान होते हैं। जो अश्व का दान करते हैं, वे सूर्य के साथ सुशोभित होते हैं। जो सुवर्ण के दाता हैं, वे परम पद को प्राप्त करते हैं। जो वस्त्रों का दान करते हैं, वे सोम को प्राप्त करते हैं। देवताओं को श्रद्धा भावना के साथ प्रदत्त द्रव्यादि का दान पुण्य कर्मों की वृद्धि करने वाला होता है।[८०]

दानवीरों का आमन्त्रण प्रथम होता है, उन्हें प्रधान माना जाता है। दक्षिणादाता दानी ग्रामाध्यक्ष सबके आगे-आगे गतिमान् होते हैं। जो सबसे पहले मनुष्यों के बीच दक्षिणा प्रदान करते हैं, वे ही सबके पालक राजा की संज्ञा को प्राप्त करते हैं, यथा-

दक्षिणावान् प्रथमो हूत एति दक्षिणावान् ग्रामणीरग्रमेति।
तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय।।[८१]

ऋग्वेद में दानदाता को तत्वज्ञानी और ब्रह्म की संज्ञा दी गयी है। जो दक्षिणा के रूप में अश्व, गौ, स्वर्ण, रजत आदि मन को प्रसन्न करने वाला धन दान करते हैं, तथा दक्षिणा के रूप में ही जीव के उपयोगी अन्न आदि का दान करते हैं उनकी यह दान की भावना कवच का कार्य करती है। उदारतापूर्वक दान देने वाले व्यक्ति कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होते और नहीं वे दुर्गति को प्राप्त करते हैं। वे दुःख, क्लेशों तथा बाधाओं से मुक्त रहते हैं। पृथिवी का स्वर्गीय सुख उन्हें दान भाव से ही प्राप्त होता है।[८२] दान भी सुपात्रों को ही दिया जाना चाहिये क्योंकि ऋग्वेद कहता है- जो राजा निर्धन ब्राह्मणों को दान देता है, देवता उसकी रक्षा करते हैं।[८३] यहाँ आचार-मीमांसा के अन्तर्गत दान को भी कर्त्तव्य कर्म के रूप में वर्णित किया गया है।

---

७९ ऋग्वेद ६.५३.२

८० ऋग्वेद १०.०७.२-३

८१ ऋग्वेद १०.१०७.५

८२ ऋग्वेद १०.१०७.७-८

८३ ऋग्वेद ४.५०.९

कल्याण (स्वस्ति)

वेदों में लोक कल्याण के तत्त्व भी निहित हैं। ऋषिगण देवताओं से ऐसी बुद्धि की याचना करते हैं जो विश्व कल्याणकारिणी एवं धन प्रदान करने वाली हो-

तामस्मभ्यं प्रमतिं जातवेदो वसो शस्व सुमतिं विश्वजन्याम्।[८४]

ऋग्वेद में कल्याण की भावना केवल प्राणियों के लिए ही नहीं अपितु पशु- पक्षियों के लिए भी है। ऋषि यह प्रार्थना करता है कि- माता अदिति हमारे पशुओं की निरन्तर सुरक्षा करें-

अदितिर्नो दिवा पशुमदितिर्नक्त मद्वया:।[८५]

ऋग्वेद में मानव के लिए आदेश है- यह मेरा मन कल्याणकारी विचारों वाला हो।[८६] चारों ओर से हमारे मार्ग शत्रुओं से रहित हो और हमें कल्याणप्रद मार्ग की प्राप्ति हो और हम भद्र से श्रेय की ओर चलें अर्थात् हमारा निरन्तर कल्याण होवें।[८७]

ऋग्वेद में आचार-मीमांसा की यह कल्पना कल्याण के रूप में सभी की हित साधक है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में वर्णन है कि- समस्त प्राणियों के कल्याण तथा विश्व के स्वास्थ्य एवं आरोग्य हेतु हम कल्याणकारी अग्निदेव से याचना करते हैं।[८८]

विवेकशीलता

मानव सांसारिक प्राणियों में श्रेष्ठ हैं, इसलिए उसके पास धी, मेधा अर्थात् विवेकी बुद्धि है। संसार में अन्य प्राणी भी जीवन जीते हैं, परन्तु उनको सम्यक्तया जीने के लिए ईश्वर ने बुद्धि नहीं दी है। मानवेतर प्राणी, आहार, निद्रा, भय और मैथुन में मनुष्य से समानता रखते हैं, लेकिन यदि मनुष्य विवेकशीलता पूर्वक धर्माचरण नही करता तो पशुवत् ही माना जाता है। अत: मनुष्य नैतिक आचार- मीमांसा के द्वारा सद्बुद्धि के प्रयोग से दुर्बुद्धि को पृथक् कर सुपथ पर चलकर मानवीय जीवन श्रेष्ठ करता है। इसलिए ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के अष्टादश सूक्त में सद्बुद्धि की प्राप्ति एवं दुर्बुद्धि को दूर करने की प्रार्थना की गयी है। गायत्री मन्त्र में भी **धियो यो न: प्रचोदयात्** के द्वारा विवेकी बुद्धि की कामना की गयी है, जो अग्निवत् सदैव सत्य कथन, सत्यनिष्ठा और कर्म में पवित्रता को प्रदान करती है।

यश

यश भी आचार-मीमांसा का प्रमुख घटक है। ऋग्वेद में वर्णन है कि- 'हे इन्द्र! सभी प्राणियों का बल और यश बढ़ाओ।[८९] यश मानव को मित्रवत् प्रेरित करता है। यश के द्वारा अन्नादि की प्राप्ति होती है।

---

८४ ऋग्वेद ३.५७.६

८५ ऋग्वेद ८.१८.६

८६ यजुर्वेद ३४.१-६

८७ अथर्व १२.१.४७

८८ ऋग्वेद १.११४.७

८९ ऋग्वेद १.१०३.३

अथर्ववेद के एक मन्त्र में वर्णन है- हे इन्द्र हमें इतना यशस्वी करो कि हमारे शत्रु भी हमारे यश को गावें।[१०] आचरित व्यवहार से ही यश प्राप्ति होती है।

पापराहित्य

पाप और पुण्य दो प्रकार के कर्म हैं। पाप दुष्कर्म और पुण्य सत्कर्म कहलाते हैं। ऋग्वेद कहता है कि- 'ऋत के पथ को दुष्कर्मी पार नहीं कर सकते।[११] ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल में प्रार्थना है कि- हे सविता देव! अज्ञानतावश ऐश्वर्य के कारण गर्वयुक्त होकर हमने आपके या मनुष्यों के प्रति जो पाप किया है, इस यज्ञ में आप हमें निष्पाप करें।[१२]

यजुर्वेद में दिन और रात में किये गये पापों से छुड़ाने की प्रार्थना भी की गयी है।[१३] ऋग्वेद में पाप से रहित रहना भी आचार मीमांसा का घटक है। सुख, कर्मशीलता, माधुर्यता एवं पवित्रता का आचरण भी मानवीय जीवन का मधुरिम आचार है तथा वेद में इन आचारों का वर्णन पदे-पदे कर्त्तव्य-मीमांसा के रूप में परिलक्षित होता है।

उपसंहार

वेद ज्ञान के अनुपम भण्डार हैं। ऋग्वेद मानवीय उत्तमता को परिपुष्ट करने का सर्वोत्तम आधार नैतिक मूल्यों को मानता है। ऋग्वेद मात्र स्तुति या मन्त्रपरक ग्रन्थ नहीं है, अपितु जीवन के यथार्थ दर्शन को प्रस्तुत भी करता है।

आज वर्तमानिक वातावरण में भी ऋग्वेद की प्रासंगिकता अधिक है, सत्य और अहिंसा आदि गुणों की आवश्यकता तो सदैव रहती ही है।

आज पाश्चात्य संस्कृति अति बलवती होती जा रही है। मीडिया, इन्टरनेट आदि के हस्तक्षेप से जनसामान्य वैश्विक स्तर पर उन्नतिशील हो रहा है, परन्तु आचार- मीमांसा में पीछे रह गया है। स्वार्थ पूर्ति हेतु मिथ्याभाषण, छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेष एवं दूसरे के अधिकारों का हनन मानव की सहज प्रवृत्ति बन गयी है। मानव-मानव के खून का प्यासा सा दिखाई देता है।

ऐसे समय में ऋग्वेद में वर्णित ज्ञान-मीमांसा (आचार-मीमांसा) ही मानवीयता को संरक्षित कर सकती है तथा ऋत, सत्य, अहिंसा, मैत्रीभाव, अभयता, दान, कल्याण, विवेकशीलता, यश एवं पाप साहित्य की पवित्र भावना ही मानव मात्र में विश्व-बन्धुत्व की उदात्त भावना को जागृत कर सम्पूर्ण विश्व के समक्ष **आत्मनः प्रतिकूलानी परेषां न समाचरेत्** का उदाहरण प्रस्तुत कर सकती है। चाहे सुनामी की लहरों से पीड़ित देशों की सहायता हो या जापान की परमाणु सम्बन्धी दुर्घटना हो अथवा विश्व शान्ति का प्रश्न हो, वेदानुकूल आचार रखने वाले सदैव विश्वबन्धुत्व की भावना से औतप्रोत रहते हैं। जिसका प्रमुखतम कारण

---

१० अथर्व- २०.६८.६

११ ऋग्वेद ९.७३, ६

१२ ऋग्वेद, ४.५४.३

१३ यजुर्वेद २०.१५

वेद में वर्णित आचार-मीमांसा है। दूसरे देशों पर संकट के समय भी वेदानुकूल आचरण करने वाले प्राणी सदैव मित्रवत् व्यवहार को ही बल देते हैं।

ऋग्वेद में जिन नैतिक मूल्यों (आचार-मीमांसा) का वर्णन है, वह वर्तमान सन्दर्भ में अति महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि आचार्य बलदेव उपाध्याय ने वैदिक साहित्य के इतिहास में लिखा है कि- वेद ज्ञान के वे मानसरोवर हैं, जहाँ से ज्ञान की विमल धारायें विभिन्न मार्गों से बहकर भारत को ही नहीं अपितु समस्त विश्व को उर्वर बनाने में सक्षम हैं। अत: ऋग्वेदीय आचार-मीमांसा मानव मात्र में उदात्त भावना को परिपुष्ट करती है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।।
अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।
मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लौष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषुः यः पश्यति सः पण्डितः।।
सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवाभागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ036-42) ISSN 0974 – 8830

वेद और कुरआन की दृष्टि में आर्थिक व राजनैतिक व्यवस्था

डॉ० बी० नाज[1]

वेद और कुरआन पूरी मानवता के हितैषी ग्रन्थ हैं। इनमें अर्थोपार्जन हेतु परिश्रम एवं भागदौड़ को व्यक्ति एवं समाज दोनों के कल्याण हेतु आवश्यक बताया गया है। कुरआन में कहा गया है- 'दिन को रोशन बनाया ताकि तुम रोजी तलाश करो'[2] रोजी तलाश करने का तात्पर्य व्यापार कृषि द्वारा अर्थोपार्जन अन्न की प्राप्ति कृषि से ही संभव है। कृषि के लिये भूमि व वर्षा दोनों आवश्यक है, अत एव ऋग्वेद में कहा गया है 'द्यूत आदि दुर्गुणों को छोड़कर सुख के लिये कृषि करो।'[3] कुरआन में है- 'जमीन को बराबर करके अनाज फल और खुशबूदार फल पैदा किये'[4] इन आयतों एवं मन्त्रों से स्पष्ट होता है कि ईश्वरीय आदेशानुसार सामाजिक व्यवस्था को सुखकर बनाने हेतु कृषि आवश्यक है। कृषि करने से पहले जमीन को बराबर किया जाता है, फिर उसमें बीज बोये जाते, अनाज, फल, सब्जियां उगायी जाती हैं। पानी के अभाव में कृषि असंभव है अत: अथर्ववेद में भूमि व पर्जन्य को नमस्कार किया गया है।[5] कुरआन में वर्षा सम्बन्धी अनेक आयतें प्राप्त होती हैं जैसे बारिश से जमीन हरी भरी हो जाती है, जिसमें विभिन्न प्रकार के अनाज मेवे, फल व सब्जियां उगती हैं, पशुओं हेतु चारा उगता है, बारिश से चश्मा जारी होता है। अनाज उगता है फिर चूरा-चूरा हो जाता है।[6] यहाँ चूरा-चूरा कहने का तात्पर्य है कि खेती पकने के बाद उसकी कटाई मड़ाई आदि की जाती है ताकि वह खाने योग्य बन सके, वेदों में सिंचाई के साधन के रूप में वर्षा जल के अतिरिक्त नदियों, तालाबों, कुंओं कुल्या (नहरों) से सिंचाई के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। यजुर्वेद में कृषि के दो भेदों का उल्लेख है- 'कृष्टपच्य और अकृष्टपच्य'[7] कृष्टपच्य अर्थात् जुते खेत में कृषि द्वारा उत्पन्न अन्न, अकृष्टपच्य बिना जुती भूमि में उत्पन्न अन्न जैसे जंगली धान, फल-फूल आदि मुख्यत: जौ, चावल, माष तिल आदि की खेती होती थी।

अर्थव्यवस्था को सदृढ़ बनाने में पशुओं का विशेष योग होता था, ऋग्वेद, अथर्ववेद व कुरआन में

---

१ विभागाध्यक्ष संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय, बिलासपुर (रामपुर)

२ कुरआन-सूरा-१७ बनी ईसराइल आयत नं. १२

३ अक्षैर्मा दीव्य: कृषिमित् कृषस्व (ऋग्वेद १०, ३४, १७)

४ कुरआन सूरा ५५ अर रहमान आयत नं. १०, १२

५ भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे। (अथर्ववेद १२, १, ४२)

६ कुरआन सूरा ७ अल-आराफ् आयत नं. ५७, सूरा २९ आयत नं. ६३, सूरा ३५ फातिरिन आयत नं. २७, नम्ल सूरा ५७ हदीद आयत नं. २०, सूरा ७८ नबा आयत नं. १५, १६, सूरा २२ अलहज्जि आयत नं. ६३, सूरा ४३ जुमार आयत नं. २१

७ कृष्टपच्याश्च मे कृष्टपच्याश्च मे। (यजुर्वेद १८,१४)

पशु संवर्धन सम्बन्धी कई सूक्त व आयतें प्राप्त होती हैं।[८] पशु संपदा दैनिक जीवन का अभिन्न अंग थी, कृषि कार्य के अतिरिक्त पशुओं से दूध, दही, घी, मक्खन जैसी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। साथ ही ये यातायात के साधन के रूप में प्रयोग होते थे। व्यापारिक समान को लाने ले जाने में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। कुरआन में ऊँट-घोड़े खच्चर, बकरी, गधों व हाथियों का उल्लेख मिलता है।[९] जो दूध प्राप्त करने सवारी करने व सामान इधर-उधर पहुँचाने के काम आते थे, इसके अतिरिक्त ऊँट व बकरी का मांस खाया भी जाता था।

वेदों में गाय का बहुत महत्त्व बताया गया है। ऋग्वेद में कहा गया है-'गायें आई व हमारा कल्याण हुआ'[१०] अथर्ववेद में गाय को अवध्या बताते हुये उसमें वर्चस् (कान्ति) तेज, भग (ऐश्वर्य) यश पयस् (दूध) सरसता'[११] आदि गुण बताये गये हैं। यजुर्वेद में स्पष्ट कहा गया है- **अभयं नः पशुभ्यः**[१२] अर्थात् पशु निर्भय रहे, इसके अतिरिक्त पशुओं के कई लाभ भी वेद और कुरआन में बताये गये हैं। जैसे बैलों का कृषि में उपयोग, भेड़ आदि के ऊन से वस्त्रों का निर्माण, मृत पशुओं की खालों से खेमे (टैण्ट) मशक वर्ग (कवच) जूते आदि का निर्माण, घोड़ों व ऊंटों के द्वारा रथ संचालन व युद्ध में भाग लेना आदि।

विभिन्न उद्योग

वेदों एवं कुरआन के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उस समय विभिन्न उद्योग-धन्धे प्रचलित थे। उस समय शिल्प एवं उद्योग को आदर की दृष्टि से देखा जाता था, कृषि पर आधारित उद्योग-धन्धे स्थापित किये गये थे। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि एक ही परिवार के व्यक्ति विभिन्न उद्योग करते एवं प्रेम से रहते थे। एक मन्त्र में कहा गया है 'मै कारु (शिल्पी कवि) हूँ पिता भिषक् (वैद्य) है और माता चक्की पीसती है। घर की आय के लिये हम विभिन्न काम करते हैं।[१३] आरम्भिक युग में उद्योग-धन्धे अत्यन्त सरल होते थे। लोग अधिकतर काम अपने हाथों से ही करते थे। कृषि से प्राप्त कच्चे माल से चटाई, वस्त्र आदि बनाये जाते थे। वेदों एवं कुरआन में सूती ऊनी एवं रेशमी वस्त्रों का वर्णन है। जानवरों के बालों से ऊन बनायी जाती थी। वेदों में सूती वस्त्रों को 'वासस' ऊनी को 'ऊर्णायु' और रेशमी को 'तार्प्य' कहते थे। स्त्रियाँ प्रायः वस्त्र बुनने का काम करती थीं। अथर्ववेद में एक सुंदर रूपक के द्वारा बुनाई का वर्णन है। वर्ष चक्र एक करघा है, दिन और रात्रि दो स्त्रियाँ है, ये वर्ष रूपी वस्त्र बुनती हैं। ६ ऋतुऐं, ६ खूटियां हैं, रात्रि

---

८ अथर्ववेद २, २६, ३-१४ ऋग्वेद १०-१०१, ४, कुरआन सूरा ६ आयत नं. १४३, सूरा २ अल बकरा आयत नं. १६४, सूरा ४२ आयत नं. २९

९ कुरआन सूरा १६ अननूहल आयत नं. १८, सूरा ८८ अल-गाशिया आयत नं. ७, सूरा १०५ अलफिल् आयत नं. १

१० आ गावो अग्मन् उत् भद्रमक्रन् (ऋग्वेद ६, २८, १)

११ अथर्ववेद १४, २, ८३-८८।

१२ यजुर्वेद ३६-२२

१३ कारुरहं ततो भिषग् उपलप्रक्षिणी नना। नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिम॥ (ऋग्वेद ९, ११२, ३)

जाना है एवं दिन आना'[१४] इसके अतिरिक्त, रथकार या त्वष्टा अर्थात् बढ़ई अपने हस्तकौशल के लिये प्रशंसनीय माने जाते थे। ये रथ गाड़ी स्वधिति, (कुल्हाड़ी) परशु (कुल्हाड़ा), वासी (वसूला) बनाते थे। इनको मनीषिण: (कुशल कारीगर) कहा गया है।[१५] इसके अतिरिक्त हिरण्यकार (सुनार), चर्मकार, मणिकार, पेशिता, नक्काशी या कढ़ाई का काम करने वाले सूचीकर्म (सिलाई का काम करने वाले) आंजनीकार (सुरमा या अंजन) बनाने वाजे भिषक् (वैद्य) वणिक् (व्यापारी) मधु निर्माण आदि अच्छे व्यवसाय थे। शहद की मक्खी के लिये वेदों में सरघा शब्द है, उनसे प्राप्त शहद को सारघ-मधु कहते थे।[१६] इस्लाम में भी कृषि के अतिरिक्त खजूर के पत्तों से चटाईयां व वस्त्र बुनने, रंगने, विभिन्न प्रकार की कलात्मक दस्तकारी की वस्तुयें तैयार करने का कार्य किया जाता था। कृषि कर्म एवं विभिन्न उद्योगों से उत्पन्न सामान के क्रय-विक्रय के लिये व्यापार ही एकमात्र साधन था। अथर्ववेद में आठ मन्त्रों का एक पूरा सूत्र वाणिज्य से सम्बद्ध है,[१७] इसमें इन्द्र को एक व्यापारी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। व्यापारी को धन्धा अर्थात् श्रीवृद्धि का साधन बताया गया है।[१८] क्रय हेतु पण तथा क्रय-विक्रय हेतु प्रतिपण शब्द है। व्यापार लाभ के लिये किया जाता था। विविध उद्योगों से तैयार वस्तुओं को स्थल व जलमार्ग से दूसरे स्थानों पर ले जाया जाता था। स्थलमार्ग से पशुओं व यानों का उपयोग किया जाता था व जल मार्ग से समुद्रों में नौकाओं या पोतों से सामान भेजा जाता था, ऋग्वेद में उल्लेख है कि ये पोत तीन दिन और तीन रात लगातार चलते थे इनमें छ: घोड़े वाले तीन रथ थे।[१९] षडश्वै: से ज्ञात होता है कि इनमें छ: अश्वशक्ति वाले ६ इंजन होते थे, शतपद्भि: में पानी से काटने वाले सौ पहियों का ज्ञान होता है। कुरआन कहता है- समस्त संसाधनों पर समस्त मानवता का अधिकार है जो किसी भी प्रकार के ईश्वरीय कर के बिना ही मानवता को अर्पित है जो जितना प्रयास करेगा उसके अनुसार ही बदला पायेगा, क्योंकि हर प्रकार की वित्तीय गतिविधि का आधार श्रम है, पूंजी नहीं[२०] अपने परिश्रम व योग्यता के बल पर व्यक्ति विभिन्न कामों को कर सकता है। जीवन की सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने के लिये मनुष्यों के प्रयास व परिश्रम करने पर कुरआन बल देता है' अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने अपने व अपने बीवी बच्चों के लिये जीवन सामग्री जुटाने के प्रयासों को गरिमा प्रदान करते हुये इसे 'अल्लाह के मार्ग में किया हुआ प्रयास बताया। उस समय लोग थल व जल दोनों मार्गों से व्यापार करते थे। काफिलें ऊँटो पर सामान लादकर दूसरे देशों या नगरों को जाते थे। अपने यहाँ का उत्पादित अथवा तैयार सामान वहाँ बेचकर वहाँ से अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुयें लाते थे। वेदों और कुरआन से ज्ञात होता है कि वस्तु विनिमय अधिकांशत: क्रय-विक्रय का आधार था। कुछ बहुमूल्य चीजें मूल्य से भी दी जाती थीं। कुछ सामान पशुओं के बदले भी खरीदा जाता था। समुद्र

---

१४ अथर्ववेद (१०, ७, ४२)

१५ कर्मारा ये मनीषिण:। (अथर्ववेद ३, ५, ६)

१६ यजुर्वेद ३०-७, ३०-१७, ३०-१२, ३०-१४, ३०-१०, ३८-६

१७ अथर्ववेद ३-१५, १ से ८।

१८ अथर्ववेद ३-१५, १।

१९ समुद्रस्य पारे, त्रिभी रथै: शतपद्भि: षडश्वै: (ऋग्वेद १, ११६, ४)

२० कुरआन सूरा २० ताहा आयत नं. १५।

व्यापार नौकाओं द्वारा होता था। कुरआन में पैगम्बर(सल्ल०) के घर की स्त्रियों के अतिरिक्त अन्य महिलाओं द्वारा व्यापार के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। कुरआन में आमदनी के स्रोत की पवित्रता को अनिवार्य ठहराया गया और गलत ढंग से एक दूसरे का माल खाने को अपनी हत्या करना जैसा बताया गया है।[२१] पवित्र एवं हलाल तरीके से कमाया गया धन ही इस प्रकार खर्च किया जाये कि मानवता का कल्याण हो। पूंजीवादी व्यवस्था का इस्लाम घोर विरोधी है वह चाहता है कि धन का प्रसार केवल कुछ लोगों तक सीमित न हो, अधिक से अधिक लोग इसका लाभ उठायें, जकात (अनिवार्य दान) सदका खैरात (स्वैच्छिक दान) द्वारा राष्ट्रीय धन संसाधन एवं दौलत को ऊपर से नीचे प्रवाहित होने का प्रावधान किया गया है, आर्थिक वर्ग, संघर्ष की आंच से समाज को बचाये रखने हेतु उत्पादन के संसाधनों पर समस्त समाज का अधिकार दिया गया। साथ ही व्यापार में ईमानदारी बरतते हुये सही नाप व तौल का विधान किया गया, 'जब नापकर दो तो नाप-पूरी रखो और वजन सही तराजू से करो तबाही है डंडी मारने वालों के लिये जो नापकर लोगों से लेते हैं तो पूरा लेते हैं और जब उन्हें नापकर या तौलकर देते हैं तो कम देते हैं।[२२]

अत: ये दोनों धर्म पूर्णतया ईमानदारी से व्यक्तियों को अपनी-अपनी योग्यता व क्षमता के बल पर धन कमाने, व्यापार करने रखने, व खर्च करने की स्वतन्त्रता प्रदान करते हुये आर्थिक सदृढ़ता प्रदान करते हैं।

राजनैतिक व्यवस्था-मानवीय जीवन से सम्बन्धित कोई भी विषय या क्षेत्र ऐसा नहीं है जिसका वर्णन इन ग्रन्थों में न आया हो। कुरआन की एक आयत में आता है-'हमने इस किताब में कोई चीज नहीं छोड़ी है'[२३] इसी प्रकार वेदों में मानव जीवन के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है, चाहे वह भौतिक हो सामाजिक हो अध्यात्मिक हो अथवा राजनीतिक, राज्य व्यवस्था कैसी हो? राजा कैसा हो? राज्य का उद्देश्य क्या है? इस पर इन दोनों ही ग्रन्थों में मन्त्रों व आयतों के माध्यम से प्रकाश डाला गया है। वैसे तो ईश्वर ही इस संसार का और इसमें निवास करने वालों का सृष्टा, पालक एवं स्वामी है, राज्य और शासन उसी का है, उसे आज्ञा देने एवं निषेध करने का अधिकार है। ईश्वरीय विधि ईशदूतों के माध्यम से ग्रन्थों (वेद एवं कुरआन) के रूप में हमें मिली है। यही वह मूलभूत विधान या शरीयत है, जिसके आधार पर राज्य स्थापित होता है। उस समय की राज्य व्यवस्था को चलाने हेतु विशिष्ट गुणों से युक्त एक व्यक्ति होता है जिसे राजा या खलीफा कहा जाता था। मनुस्मृति के अनुसार 'विधाता ने इन्द्र, मरुत्, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर के प्रमुख अंशों से युक्त राजा की सृष्टि की'[२४] कुरआन में है- 'ईमान लाने वालों और अच्छे कर्म करने वालों से अल्लाह का वादा है कि वह उन्हें जमीन में खलीफा बनायेगा'[२५] खलीफा शब्द अरबी भाषा के खिलाफत से बना है। खिलाफत का अर्थ है प्रतिनिधित्व, अत: खलीफा का अर्थ है

---

२१ कुरआन सूरा ४ अल-निसा आयत नं. २९।

२२ कुरआन सूरा १७ बनी इसराईल आयत नं. ३५, सूरा ८३ अत्-ततफीफ आयत नं. १ से ६।

२३ कुरआन सूरा ६ अन आम आयत नं. ३८।

२४ मनुस्मृति (६-९६, ७-४१५)।

२५ कुरआन सूरा २४ अल-नूर आयत नं. ५५।

प्रतिनिधि अर्थात् राजा या शासक इस पृथ्वी पर ईश्वर की तरफ से नियुक्त किया गया प्रतिनिधि है। राज्य व समाज का कुशलता पूर्वक संचालन करना, प्रजा व राज्य के हितार्थ काम करना तो उसका उत्तरदायित्व है ही साथ ही साथ उसका यह भी कर्तव्य है कि वह ऐसी व्यवस्था स्थापित करें कि प्रजा उस सर्वोच्च सत्ता की ओर से विमुख न हो। वह स्वयं भी राज्य का संचालन ईश्वर द्वारा प्रदत्त विधानों के आधार पर करे। महाभारत में भी कहा गया है कि राजा को सदा धर्म के साथ प्रजा का पालन करना चाहिए।[२६] राजा के धर्म परायण होने से वहाँ की सारी प्रजा धर्मशील होती है। दोनों ही धर्म ग्रन्थों में शासक से यही अपेक्षा की गयी है कि वह स्वयं ईश्वरीय विधानों पर चले और प्रजा को भी उस पर चलाये। वेदों और कुरआन के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि राजा का पद वंश या वर्ग परम्परा के आधार पर नहीं होता था, बल्कि प्रजा के द्वारा राजा का निर्वाचन होता था। अथर्ववेद के एक मन्त्र में स्पष्ट उल्लेख है कि- 'पांचों दिशाओं से आयी हुई ये प्रजायें तुझे राज्य के लिये निर्वाचित करती हैं।'[२७] अत: राजा के निर्वाचन की कसौटी गुण व वीरता आदि होते थे, न कि वंश परम्परा। कुरआन में है- 'अल्लाह ने मनुष्य को जमीन में अधिकार देकर बसाया व अपना खलीफा बनाया है कि देखें कि तुम कैसे कर्म करते हो'[२८] अत: शासक उन समस्त व्यक्तियों की इच्छा से बनेगा जिन्हें यह विश्वास होगा कि वह व्यक्ति उनकी ओर से प्रतिनिधित्व सम्बन्धी कार्यों का भली भांति सम्पादन करेगा कुरआन में स्पष्ट तौर पर कहा गया है कि जो राजा ईश्वरीय विधानों पर नहीं चलता वह विधर्मी है। वेदों में राजा के निर्वाचन के पश्चात् राज्याभिषेक सम्बन्धी वर्णन मिलते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में राज्यभिषेक के समय राजा के द्वारा ली जाने वाली शपथ का भी उल्लेख है- 'मैं सत्यनिष्ठा के साथ शपथ लेता हूँ, कि जिस रात्रि में मेरा जन्म हुआ और जिस रात्रि में मेरी मृत्यु होगी, उन दोनों के मध्य मैंने जो भी ईष्टापूर्ण (पुण्य-कर्म) किये हो वे सब नष्ट हो जायें और मैं स्वर्ग, समस्त शुभ कर्म आयु और संतान से वंचित हो जाँऊ, यदि मैं किसी भी प्रकार से देश और जनता के प्रति द्रोह करूँ'[२९] अत: शासक की नियुक्ति पूरी तरह से जांच परख-कर होनी चाहिए, अयोग्य व्यक्ति को कभी शासक नहीं बनाना चाहिए। महाभारत शान्तिपर्व में भीष्म पितामह युधिष्ठिर को राजनीति सम्बन्धी उपदेश देते हुये कहते हैं कि-हे पुत्र! जिस प्रकार समुद्र में टूटी हुई नौका त्याग दी जाती है। उसी प्रकार जनता को चाहिए कि वह अहितकर उपदेश देने वाले आचार्य व रक्षा न कर सकने वाले राजा को त्याग दे।'[३०] वैदिक व इस्लामी राज्य में राजा के कर्तव्यों का भी स्पष्ट उल्लेख है, यजुर्वेद में **कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा, रय्यै त्वा, पोषाय त्वा**[३१] कहकर चार शब्दों अर्थात् (कृषि की उन्नति, जन कल्याण, आर्थिक, समुन्नित एवं पोष अर्थात् देश की सदृढ़ता) में राजा के कर्तव्य बता दिये गये हैं। अथर्ववेद का कथन है राष्ट्र को सदृढ़ बनाओ और सौभाग्य की ओर ले जाओ

२६ महाभारत अनुशासन पर्व अ. १४५।

२७ त्वा विशो वृणतां राज्याय, त्वामिमा: प्रदिश: पञ्च देवी:, अथर्ववेद ३, ४, २

२८ कुरआन सूरा २ अल-बकरा ७, एवं १० आयत नं. ३० एवं सूरा १०-अल यूनुस आयत नं०१४।

२९ ऐतरेय ब्राह्मण ८, १५

३० महाभारत शान्तिपर्व।

३१ यजुर्वेद ९,२२

राष्ट्र की सुदृढ़ता से ही आर्थिक अभ्युदय होगा।[३२] ऋग्वेद में है-'व्यापार और शिक्षा को संरक्षण दें, व्यापारियों और विद्वानों की रक्षा करें, कठोरता से कर वसूले जिससे अर्थव्यवस्था ठीक रहे।'[३३] इसी प्रकार इस्लामी राज्य में राजा का कर्तव्य है, सद्गुणों की स्थापना विकास व वृद्धि, समस्त साधनों पर सबका हक स्वीकारते हुये शक्तियों का उपयोग करते हुये दुर्गुणों को रोकना जीवन के प्रत्येक अंग में स्वयं नैतिक सिद्धान्तों का पालन करते हुये ऐसी नीति निर्धारित करना जो सत्य, न्याय एवं सन्मार्ग पर आधारित हो। शक्ति को अत्याचार के स्थान पर न्याय स्थापना का साधन बनाना, लेने एवं देने के मानदण्ड को समान रखते हुये अधिकार के साथ कर्तव्यों को पूर्ण करना मिथ्याभाषण कपटाचार से बचते हुये सच्चाई व निष्पक्षता पूर्ण कार्य करना। कुरआन में है- 'न्याय करो, लोगों के साथ अच्छा बर्ताव करो'[३४] कुरआन राज्य में एक ऐसी अर्थव्यवस्था का पक्षधर है जो ब्याज, घूस, रिश्वतखोरी एवं धांधली से रहित हो।

राजा या शासक को उसके प्रशासन में सहायता करने हेतु मन्त्रिपरिषद् के उल्लेख भी हमें वेदों एवं कुरआन में प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद में मन्त्रिमण्डल के लिये 'समिति' शब्द का प्रयोग है'[३५] ब्राह्मण ग्रन्थों में राजा के सहायकों के लिये राजकृत शब्द है और इनकी संख्या ११ बतायी गयी है।[३६] कुरआन में है- 'हे नबी आप अपने कामों में मन्त्रणा कर लिया करो, (राज्य का) काम आपसी मश्विरों (सलाह) से चलता है।'[३७] वेदों में समिति (मन्त्रिमण्डल) का कार्यक्षेत्र न्याय-विधान तक ही सीमित न होकर पूरे राष्ट्र की राजनीतिक सामाजिक, आर्थिक व्यवस्थाओं से सम्बद्ध था। सभी समस्याओं का हल करना एवं उन पर अपना निर्णय देना राज्य में अन्याय, अत्याचार व अराजकता को रोकना था।'[३८] कुरआन में भी- देश का शासन प्रबन्ध परामर्शदात्री समिति की सम्मति से करने को उल्लेख मिलते हैं।

इन ग्रन्थों में विकेन्द्रीकृत शासन व्यवस्था के भी उल्लेख प्राप्त होतें है, राज्य व्यवस्था उत्तम प्रकार से संचालित हो सके इसके लिये ग्रामसभा से लेकर केन्द्रीय सभा तक होती थी, सभा के अध्यक्ष के लिये सभापति शब्द है। सभा का मुख्य कार्य विवादग्रस्त विषयों को निपटाना, न्याय की व्यवस्था ठीक करना था। शासन तभी सुचारू ढंग से चलता है जब शासन का प्रत्येक अंग अपने से ऊपर वाले का आज्ञा पालक हो। कुरआन में है-'अल्लाह का आदेश मानो रसूल का आदेश मानों और जो तुम्हारे अधिकारी लोग हैं' अपने शासकों का आज्ञापालन करना चाहिये।[३९]

राज्य की विदेश नीति के सम्बन्ध में व पड़ोसी राज्य के साथ व्यवहार के सम्बन्ध में कुरआन में

---

३२ अथर्ववेद-७, ३५, १, १३, १, ३४
३३ ऋग्वेद-१, ५४, ११ तथा ७, ६, ५
३४ कुरआन सूरा १६ अल-नहल आयत नं. ९०
३५ ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह (अथर्ववेद-६, ८८, ३)
३६ शतपथ-ब्राह्मण ५, ३, १, ६
३७ कुरआन सूरा २ अल-बकरा आयत नं. १५९, सूरा ४२ अश-शूरा आयत नं. ३८
३८ अथर्ववेद ५, १९, १५।
३९ कुरआन सूरा ४ अल-निसा आयत नं. २९, ५९।

है- 'जो तुम पर ज्यादती करे तुम उस पर उतनी ही ज्यादती कर सकते हो'[४०] अर्थात् यदि पड़ोसी राज्य तुम्हारे विरुद्ध जाये तुमसे युद्ध करे या राज्य की सीमाओं में अनावश्यक हस्तक्षेप करे या तुम्हारे शत्रु के साथ मिलकर धोखा करे तो तुम्हारा आचरण भी उसके साथ उतना ही बदलेपूर्ण कार्यवाही वाला होना चाहिए। इसके विपरीत संधि का समझौता होने पर तुम्हें समझौते के विरुद्ध नहीं जाना चाहिए। कुरआन में है- 'दुश्मन समझौता करना चाहे तो तुम भी समझौते के लिये तैयार हो जाओ' महाभारत में भी विदेश नीति के सम्बन्ध में इसी प्रकार के विचार मिलते हैं, जो संधि लायक हो उससे संधि करो, जो विरोधी हो उसका डटकर मुकाबला करो, साथ राज्य के भीतरी शत्रुओं से (कपटाचारियों) से भी सावधान रहने को कहा गया है।

इस प्रकार आर्थिक एवं राजनैतिक दोनों ही क्षेत्रों में इन ग्रन्थों में ऐसी व्यवस्था के उल्लेख प्राप्त होते हैं जो सर्वकल्याण, समानता व न्याय पर आधारित हो। ईश्वरीय विधान के अनुसार संचालित इस व्यवस्था में ईशभय, बन्धुत्व, प्रेमयुक्त वातावरण में मनुष्य भौतिकवादी व्यवस्था के दुर्गुणों से बचते हुये तनावमुक्त जीवन यापन करे और उस ईश्वर के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुये असीम संतुष्टि का अनुभव करे। यदि वर्तमान अति भौतिकवादी के चुँगल में इन ग्रन्थों की शिक्षाओं का गम्भीरतापूर्वक मनन किया जाये तथा जीवन की क्षणभंगुरता का समझते हुये मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य को समझा जाये तो अधिकांश समस्याओं का निराकरण सम्भव है।

---

४० कुरआन सूरा २ अल-बकरा आयत नं. १९४। कुरआन सूरा ८ अनफाल आयत नं. ६१।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ043-56) ISSN 0974 – 8830

महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य में धन तथा उसके उपयोग

डॉ० सत्यदेव निगमालङ्कार[१]

पाणिनीय धातुपाठ में **धन धान्ये** धातु पठित है[२], जो उत्पन्न करना, पैदा करना और फलना, बौर लगना अर्थों को बताती है।[३] **धन** धातु को **अच्** प्रत्यय होकर **धनम्** पद सिद्ध होता है।[४] **धनम्** पद के **द्रव्यम्, वित्तम्, स्वापतेयम्, रिक्थम्, ऋक्थम्, धनम्, वसु, हिरण्यम्, द्रविणम्, द्युम्नम्** ये दस नपुंसकलिङ्ग में और **अर्थः, राः, विभवः** ये तीन पुल्लिङ्ग में पर्यायवाची पठित हैं।[५] यद्यपि 'धनम्' पद सांसारिक सम्पत्ति के लिये प्रसिद्ध है तथा उसी अर्थ को मानकर **दधन्ति धान्यादिकमुत्पादयतीति धनम्** अथवा **दधाति सुखमिति धनम्** ये निरुक्तियाँ की गयी हैं। इसी प्रसिद्धि के कारण उद्‌भट्ट ने कहा है-

धनैर्निष्कुलीनाः कुलीना भवन्ति, धनैरापदं मानवा निस्तरन्ति।

धनेभ्यः परो नास्ति बन्धुर्हि लोके, धनान्यर्जयध्वं धनान्यर्जयध्वम्॥

धन-सम्पदा के द्वारा निम्न कुल के व्यक्ति कुलीन बन जाते हैं, मनुष्य आपत्ति से पार हो जाते हैं, इसके बिना संसार में बन्धु नहीं हैं, अतः धन कमाओ, धन कमाओ।

विश्वकोष में **धनम्** पद गोधन का भी वाचक है।[६] उस समय में 'गो' का धन सर्वोपरि और सर्वोत्तम माना जाता रहा। मेदिनीकोषकार की भी यही मान्यता है।[७] लोक में कुछ काल ऐसा भी आया जब धन शब्द गोधन, गजधन, अश्वधन, रधन तथा सन्तोषधन में ख्यात हुआ। रहीम खानखाना ने इसी ओर सङ्केत दिया है।[८] काशकृत्स्न धातुपाठ के टीकाकार ने **धन** धातु अन्नवाची मानी है और **धनम्** का अर्थ **भाग्य** किया।[९] यद्यपि उन्होंने 'धनम्' को द्रव्यवाची भी माना है किन्तु पुल्लिङ्ग में 'धनः' पद पशुवाची भी दर्शाया है।[१०] हरिवंश पुराण में '**धनम्**' को स्नेहपात्र तथा गोधन का वाचक मानकर प्रयोग किया है।[११] वस्तुतः धन

---

१. अध्यक्ष-श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गु०कां०वि०वि०, हरिद्वार)

२. धातुपाठ-३.२१

३. पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत संस्कृत-धातु-कोषः।

४. नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः। अष्टा०-३.१.१३४

५. अमरकोषः-२.९०

६. धनं तु गोधने वित्ते०॥८५.१॥

७. मेदिनी-८३.१२

८. गोधन गजधन वाजिधन और रत्नधन खान। जब आवे सन्तोषधन सब धन धुरि समान॥

९. काशकृत्स्न धातुपाठ २.७७

१०. काशकृत्स्न धातुपाठ १.२०६; धनः पशुः धनम् द्रव्यम्॥

११. अनुजग्मुश्च गोपालाः कालयन्तो धनानि च॥ ७३.३३॥

जीवन का एक आवश्यक साधन है[१२] जिसके सहारे व्यवहारोपयोगी कार्य सम्पन्न होते हैं। इसके छियालिस पर्यायवाची-**द्रविणम्, द्रव्यं, वित्तं, स्वापतेयं, रिक्थम्, ऋक्थम्, वसु, हिरण्यम्, द्युम्नम्, अर्थः, राः, विभवः, काञ्चनम्, लक्ष्मीः, भोग्यम्, सम्पत्, वृद्धिः, श्रीः, व्यवहार्यं, रैः, भोगः, स्वं, मघं, रेक्णः, वेदः, वरिवः, श्वात्रं, रं, रयिः, क्षत्रं, भगः, मीलु, गयः, इन्द्रियं, रायः, राधः, भोजनं, तना, नृम्णं, बन्धुः, मेधाः, यशः, ब्रह्म, क्षवः, वृत्रं, वृत्तम्** पदों से ही ज्ञात होता है कि यह विभिन्न स्थलों में सहायक और जीवन का अविभाज्य फल है, जो अनिच्छन्नपि हमसे दूर नहीं हो सकता है।[१३] वैदिककोश निघण्टु में इन पदों को अट्ठाईस पदों में निबन्धित किया है और **रेक्णः, मिढुम्, तना** इन पदों को भी माना है।[१४] वेद में एकवचन में 'मेधा' पद धन का वाचक है और बुद्धि का भी। चारों वेदसंहिताओं में 'धनम्' पद के **धनम्, धनस्य, धना, धनात्, धनानाम्, धनानि, धनाय, या, धने, धनेन, धनेषु, धनैः**-ये बारह रूप लगभग एक सौ सतासी मन्त्रों में प्रयुक्त हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा रचित वेदभाष्य में विभिन्न स्थलों पर धन की चर्चा अनेक रूपों में की गयी है। वे धन और ऐश्वर्य में किञ्चित् भेद दर्शाते हैं। यथा पुरोहित यजमान का ऐश्वर्य बढ़ाता है और यजमान पुरोहित का धन-**यथा पुरोहितो यजमानस्यैश्वर्यं वर्द्धयति, तथा यजमानोऽपि पुरोहितस्य धनं वर्द्धयेत्।**[१५] वस्तुतः पुरोहित ऐश्वर्यसम्पन्न और यजमान धनसम्पन्न होता है। इसी दृष्टि से ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला सर्वथा पुरुषार्थी और सुशिक्षित वाणी से युक्त होने वाला चाहिए, तभी ऐश्वर्य की वृद्धि होती है। यतोहि जो पूर्व में ऐश्वर्य प्राप्त करता है, वही अन्यों को उसे दे सकता है।[१६] ऐश्वर्य की वृद्धि का हेतु आप्तजनों का सत्कार करना है, जिससे व्यक्ति गुणवान् भी बनता है।[१७] विद्या और विनय की उन्नति सबसे श्रेष्ठ ऐश्वर्य को उत्पन्न करती है।[१८] प्रचुर ऐश्वर्य की प्राप्ति धर्मयुक्त कर्मों द्वारा ही सम्भव मानी गयी है।[१९] दुष्टों के साथ खिन्नता और उत्तम मनुष्यों के साथ मित्रता अगणित ऐश्वर्य-प्राप्ति का हेतु है।[२०] पृथ्वी, सूर्य और वायु की विद्या से ईश्वर, जीव और प्राणों को जानना तथा इस विद्या को पढ़ाकर परीक्षा करके विद्वानों को पुरुषार्थी बनाना अनेकविध ऐश्वर्य की वृद्धि का हेतु है।[२१] जो मनुष्य सभी प्राणियों का हितैषी होता है, वह बहुत

---

१२. हलायुधकोशः।

१३. हलायुधकोशः।

१४. निघण्टु २.१०॥

१५. यजु०२०.७० का भावार्थ।

१६. क ऐश्वर्यं वर्द्धितुं शक्नुयादिति प्रश्नस्य यः सर्वथा पुरुषार्थी सुशिक्षितया वाचा युक्तश्चेति। कुतो य आदावैश्वर्यं प्राप्नुयात्स एवान्येभ्यो दातुमर्हेत्॥ ऋग्०४.२४.१०

१७. ये मनुष्या आप्तानां सत्कारं कुर्वन्ति, ते तूर्णं गुणवन्तो भूत्वैश्वर्ययुक्ता भवेयुः॥ ऋग्०४.३१.८

१८. हे मनुष्याः! यथाऽऽकाशे सूर्यो महानस्ति, तथैव विद्याविनयोन्नत्या सर्वोत्कृष्टमैश्वर्यं जनयतेति॥ ऋग्०४.३१.१५

१९. हे मनुष्याः! यदि यूयं शक्तिं वर्धयित्वा धर्म्येण कर्मणैश्वर्यादिप्राप्तेरभिलाषं वर्धयेयुस्तर्हि युष्मान् पुष्कलमैश्वर्यं प्राप्नुयात्॥ ऋग्०७.२०.९ का भावार्थ।

२०. य उत्तमैः पुरुषैः सहाभिसन्धिं दुष्टैः सह वैमनस्यं रक्षन्ति, तेऽसङ्ख्यमैश्वर्यमाप्नुवन्ति॥ ऋग्०७.३२.६

२१. ऋग्०७.३५.६ का भावार्थ।

ऐश्वर्य प्राप्त करता है।[२२] कार्य के प्रति निरन्तर सन्नद्ध रहना ऐश्वर्य का हेतु और अनेक रों का प्रापक माना गया है।[२३]

इस प्रकार महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऐश्वर्य और धन में भेद करते हुए ऐश्वर्य के हेतु पुरुषार्थ, सुशिक्षित वाणी, आप्तजनों का सत्कार, विद्या और विनय की उन्नति, धर्मयुक्त कर्म, दुष्टों से खिन्नता, सज्जनों से मित्रता, पृथ्वी, सूर्य और वायु की विद्या द्वारा ईश्वर, जीव और प्राणों का जानना, सभी प्राणियों का हितकारी बनना तथा कार्य के प्रति निरन्तर लगे रहना माना है, तभी मनुष्य ऐश्वर्यसम्पन्न बन सकता है।

धन प्राप्त करने के विभिन्न उपाय हैं। वायु और सूर्य से सब पदार्थों के क्षण आदि व्यवहार सम्भव होते हैं, और विद्वान् पुरुष इन दोनों से अनेक कार्यों को सिद्ध करके धन को प्राप्त करते हैं।[२४] धन की कामना की पूर्ति परमेश्वर की उपासना और विद्वानों का सङ्ग का करना महर्षि ने माना है- **नहि मनुष्याणां परमेश्वरोपासनेन विद्वत्सहवासेन च विना धनकामपूर्तिर्भवितुं शक्या।**[२५] धन-प्राप्ति का एक हेतु कालविभाग है, मनुष्यों के द्वारा प्रात:काल से लेकर कालविभाग के अनुरूप व्यवहार करके ही सुख के सब साधन और सुख प्राप्त किये जा सकते हैं। इसलिये मनुष्यों को ऐसा नित्य करना चाहिये।[२६] इसी स्थिति को सोचते हुए महर्षि ने धन कमाने के उपाय पर कालविभाग का महत्त्व बताते हुए लिखा-

यथेषुकृता सेना शत्रून् विजयते, तथा धनस्य सदुपायं शीघ्रमेव कुर्यात्। कालविशेषेषु दिनेषु कार्याणि रात्रिभागेषु नोत्पद्यते।[२७]

मनुष्य को उस कर्म का अनुष्ठान निरन्तर करते रहना चाहिए, जिससे अतुल धन-धान्य प्राप्त होता हो।[२८] सम्माननीय बनने के लिये धन-धान्य की प्राप्ति होना अवश्यम्भावी है और धन-धान्य की प्राप्ति का एक साधन महर्षि ने अग्नि प्रधान दिव्य पदार्थों का व्यवहार की सिद्धि के लिए सम्यक् प्रयोग करना बताया है।[२९] वस्तुतः सम्यक् सिद्ध किया गया अग्नि धन-प्राप्ति का निमित्त होता है।[३०] बहुत प्रय करना धनप्राप्ति का

---

२२. ये मनुष्याः सूर्यवच्छुभगुणकर्मप्रकाशिता मनुष्यादिहितं कुर्वन्ति, ते बह्वैश्वर्यं प्राप्नुवन्ति॥ ऋग्०७.४५.१

२३. मनुष्या इहैश्वर्यप्राप्तये सततमुत्तिष्ठेरन् परस्परं सम्मत्या पृथिव्यादेः सकाशाद्रत्नानि प्राप्नुयुः॥यजु०११.२१ का भावार्थ।

२४. ऋग्०१.२३.६ का भावार्थ।

२५. ऋग्०१.७८.२ का भावार्थ।

२६. मनुष्यैः प्रात:कालमारभ्य कालविभागयोग्यान् व्यवहारान् कृत्वैव सर्वाणि सुखसाधनानि सुखानि च कर्त्तुं शक्यन्ते। तस्मादेतन्मनुष्यैर्नित्यमनुष्ठेयम्॥ ऋग्०१.९२.१३ का भावार्थ।

२७. ऋग्०१.१८४.३

२८. ये कर्मणाऽतुलानि धनधान्यानि प्राप्यन्ते, तस्यानुष्ठानं मनुष्याः सततं कुर्वन्तु॥ ऋग्०१.१८८.२ का भावार्थ।

२९. यदि मनुष्या अग्निप्रधानान् दिव्यान् पदार्थान् व्यवहारसिद्धये सम्प्रयुञ्जीरन् तर्हि त ऐश्वर्याढ्या भूत्वा मान्या जायन्त इति वेद्यम्। ऋग्०१.१८८.११ का भावार्थ।

३०. यथा संसाधितोऽग्निर्धनप्राप्तिनिमित्तो जायते॥ ऋग्०३.२.६ का भावार्थ।

कारण है और यह प्रय मनुष्य को धनाढ्य बना देता है।[३१] धन-प्राप्ति का एक उपाय राजपुरुषों के साथ कभी विरोध न लेना भी है और न्यायपूर्वक कमाये गये धन का अन्यायपूर्ण व्यवहार में खर्च न करना भी है। इससे ज्ञात होता है कि विपरीत परिस्थितियाँ आ जाने पर भी परमात्मा की आज्ञा में जो लोग विद्यमान रहते हैं, धन की स्थिरता उन्हीं के पास रहती है।[३२] अतुल लक्ष्मियों की प्राप्ति चार कारणों से सम्भव है[३३]-१. शरीर का स्वस्थ रहना। २. बुद्धि का पवित्र होना। ३. धर्मात्मा आप्त विद्वानों का सङ्ग करना। ४. जितेन्द्रियता से पूर्ण आयु को प्राप्त करना। विद्वानों की सेवा सम्पूर्ण ऐश्वर्यों को प्राप्त कराती है।[३४] जब मनुष्य के सामने अनेक प्रकार की बाधाएं उठ खड़ी हों, तब वह अनेक उपायों का उपयोग करें। इस प्रकार पुरुषार्थ से विघ्नों को हटाकर लक्ष्मी और शान्ति को निरन्तर बढ़ाना चाहिये।[३५] महर्षि ने धन कमाने के लिये धर्मयुक्त पुरुषार्थ का होना माना है-**हे मनुष्याः! यदि यूयं धनमिच्छत, तर्हि धर्म्येण पुरुषार्थेन योग्यां क्रियां सततं कुरुत**॥[३६]

कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि विद्वान् व्यक्ति धनवान् नहीं होता- **विद्वान् धनीर्भूपतिः दीर्घजीवी।** किन्तु महर्षि दयानन्द ने वेदमन्त्र के भावार्थ में विद्वान् व्यक्ति को धनाढ्य होने का उपाय स्पष्ट बताया है- **ये मनुष्या इह सृष्टिस्थानां पदार्थानां सुपरीक्षया संयोगवियोगाभ्यां श्रेष्ठान् पदार्थान् कर्माणि च निष्पादयन्ति, ते विद्वद्वरा धनाढ्यतमाश्च जायन्ते।**[३७] अर्थात् जो मनुष्य इस संसार में सृष्टि के पदार्थों की उत्तम परीक्षा से संयोग और विभाग के द्वारा श्रेष्ठ पदार्थों का निर्माण करते और अच्छे कार्य करते हैं, वे उत्तम विद्वान् और सबसे अधिक धनाढ्य होते हैं।

संसार में अतुल लक्ष्मी की प्राप्ति उन्हें ही होती है, जो विद्युत् के समान सामर्थ्य को बढ़ाते हैं।[३८] अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा में प्रयशील मानव धन को प्राप्तकर सकता है।[३९] दान देने से धन की वृद्धि की चर्चा भी महर्षि ने की है।[४०] परस्पर विरोध करकें धन की हानि होती है और मेलमिलाप के माध्यम से पुरुषार्थ द्वारा धन की उपलब्धि होती है।[४१] सम्पत्तियाँ उसी मनुष्य के पास आकर स्थिर होती हैं, जो

---

३१. य उत्तमधनलाभाय बहु प्रयतन्ते, ते धनाढ्या जायन्ते-ऋग्०२.७.१॥ धनैश्वर्योन्नतये सर्वदा प्रयतन्ते ते पुष्कलं वैभवं प्राप्नुवन्तीति॥ ऋग्०१.१४.१२॥

३२. ऋग्०२.२७.१७ का भावार्थ।

३३. ऋग्०३.१.५ का भाव।

३४. ये मनुष्या अविदुष उपेक्ष्य विदुषः सेवन्ते, ते सर्वैश्वर्यमाप्नुवन्ति॥ ऋग्०३.१.१६ का भावार्थ।

३५. यदा मनुष्यस्यानेकविधा बाधाः समुत्थिताः स्युस्तदाऽनेकानुपायान् युञ्जीत। एवं पुरुषार्थेन विघ्नानि निवार्य श्रीबले सततं वर्धनीये- ऋग्०३.३०.३ का भावार्थ।

३६. ऋग्०४.२४.११ का भावार्थ।

३७. ऋग्०४.३३.९ का भावार्थ।

३८. ये विद्युद्वत्सामर्थ्यं वर्द्धयन्ति, ते धीमन्तो भूत्वाऽतुलां श्रियं जगति लभन्ते॥ ऋग्०४.४३.३

३९. ये मनुष्याः प्रयत्नेनाऽप्राप्तस्य प्राप्तिं लब्धस्य रक्षणं कुर्वन्ति, ते वत्सान् गाव इव धनमाप्नुवन्तीति-ऋग्०५.३३.१०

४०. ये धार्मिका राज्ञा रक्षिताः प्रशंसितधनयुक्ता दातारः सन्ति, त एव यशस्विनो भूत्वा धनाढ्या जायन्ते- ऋग्०५.४२.८

४१. मनुष्यैर्विरोधं विहाय सम्प्रयोगेणोद्यमं कृत्वा विजयधनादिकं प्रापणीयम्-ऋग्०५.६४.६ का भावार्थ।

धार्मिक और उद्योगी होता है।[४२] धनाढ्य विद्वानों को सम्मानित करना राजा का कार्य है, यतोहि उनको सम्मानित करने से निरन्तर लक्ष्मी बढ़ती है।[४३] धन की वृद्धि में सहायक भूमि और विद्युत् भी है, जिनके माध्यम से व्यक्ति धनवान् बन सकता है।[४४] धनवान् बनने के कतिपय उपाय और भी हैं जैसे सूर्य के समान प्रतापी होना, वायु के समान बलवान् होना तथा विद्या, विद्वज्जन, विनय और शूरवीरों का रक्षक होना- ऐसा करने पर व्यक्ति शत्रुओं को जीतकर तथा कीर्तिमान् बनकर धनवान् बनता है।[४५] सज्जनों की समीपता और दुष्टों की दूरी होने से सम्पत्ति की वृद्धि होती है।[४६] भूगर्भ विद्या का ज्ञान मनुष्य को सुवर्णादि पदार्थों से परिपूर्ण कर देता है। अतः महर्षि ने लिखा है-

मनुष्यैः सुसाधनैः पृथिवीं खनित्वाऽग्निना संयोज्य सुवर्णादीनि निर्मातव्यानि, परन्तु पूर्वं भूगर्भतत्त्वविद्यां प्राप्येवं कर्त्तुं शक्यमिति वेदितव्यम्॥ मनुष्यैर्भूगर्भाग्निविद्यया पार्थिवान् पदार्थान् सुपरीक्ष्य सुवर्णादीनि रान्युत्साहेन प्राप्तव्यानि। ये खनितारो भृत्या सन्ति तान् प्रति तद्विद्योपदेष्टव्या। मनुष्या इहैश्वर्यप्राप्तये सततमुत्तिष्ठेरन्, परस्परं सम्मत्या पृथिव्यादेः सकाशाद्रत्नानि प्राप्नुयुः।[४७]

अग्नि आदि पदार्थों से सम्पत्तिशाली बनने की चर्चा महर्षि दयानन्द ने अनेकत्र की है। उनका कथन है कि अच्छी प्रकार जाने गये और कर्मों में लगाये गये लक्ष्मी प्राप्त कराने वाले अग्नि आदि पदार्थों से मनुष्य सम्पत्तिशाली बन सकता है। अग्नि के द्वारा पृथिवीस्थ पदार्थों से भी धन प्राप्त किया जा सकता है। विद्या और युक्ति से सेवन किया गया अग्नि प्रचुर धन तथा धान्य प्रदान करता है। वैश्य जन अग्नि आदि की विद्याओं से अपने लोगों के लिये और राजकीय जनों के लिए समस्त धन संगृहीत करते हैं।[४८]

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने धर्मपूर्वक धन आदि पदार्थों के संचय करने के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि जो धर्मपूर्वक धन आदि पदार्थों का संचय करते हैं, उनके अतुल धन, उत्तम प्रजाएँ और सुशील सन्तान होते हैं। जो विद्वत्ता और दृढ़ परिपक्वता प्राप्त करके अध्यापक तथा उपदेशक बनते हैं, वे दुःख नहीं देखते हैं।[४९] जो धार्मिक लोग धर्माचरण से धन कमाते हैं, वैसे ही सब लोग धन कमावें।[५०] जो धर्माचरण से धन के द्वारा धन को बढ़ाते हैं। वे प्रशंसा प्राप्त करते हैं।[५१] जैसे उत्तम वैद्य अपने और अन्यों के शरीरों की रक्षा करके उन्हें बढ़ाते हैं, वैसे सबको धर्म की रक्षा करके उसे बढ़ाना चाहिये, जिससे इस संसार

---

४२. यथा नद्यो वेगेन समुद्रं प्राप्य स्थिरा भवन्ति, तथैव धार्मिकमुद्योगिनं श्रियं सेवन्ते- ऋग्०६.१९.५ का भावार्थ।
४३. हे राजादयो जनाः! युष्माभिः स्वकीयराज्ये बहवो धनाढ्या विद्वांसः सत्कृत्य रक्षणीया येन सततं श्रीर्वर्धेत- ऋग्०६.४४.१
४४. हे मनुष्याः! मिलितयोर्भूमिविद्युतोः सकाशाद् यूयं धनानि प्राप्नुत-ऋग्०६.५७.३ का भावार्थ।
४५. ऋग्०६.६८.७ के भावार्थ का भाव।
४६. मनुष्यैः सज्जनानां निकटे दुष्टानां दूरे स्थित्वा श्रीरुन्नेया-ऋग्०७.३४.१८।
४७. यजु०११.११, ११.१९ तथा ११.२१ का भावार्थ।
४८. यजु०११.२४; २५; १५.२१; ३० का भावार्थ
४९. ऋग्०२.२.१२ का भावार्थ।
५०. यजु०१७.५६ का भावार्थ।
५१. यजु०२०.६९ का भावार्थ।

में अनुपम सुख होवे।[५२] हे मनुष्यो! यदि तुम धर्मयुक्त व्यवहार से लक्ष्मी सञ्चित कर लो, तो जल और अग्नि के द्वारा चलाये गये रथ के समान तुम शीघ्र सब सुखों को प्राप्तकर सकते हो।[५३] जो मनुष्य इस संसार में विद्या और धर्म के द्वारों को खोलकर और पदार्थ-विद्या का सम्यक् सेवन करके ऐश्वर्य बढ़ाते हैं, वे अनुपम सुख पाते हैं।[५४] हे विद्वान् मनुष्यो! जैसे जल समुद्रों को पूर्ण करके और जन्तुओं की रक्षा करके मोती आदि र उत्पन्न करता है, वैसे तुम धर्म से धनकोष को प्रपूर्ण करके और अन्य दरिद्रों को रक्षा करके यश को बढ़ाओ।[५५] जो मनुष्य धर्मयुक्त पुरुषार्थ से धन आदि सञ्चित करते हैं, वे सूर्य-किरणों के समान प्रसिद्ध यशवाले हो जाते हैं।[५६]

महर्षि ने धन हेतु परमात्मा से प्रार्थना करते हुए लिखा- हे जगदीश्वर! आपकी कृपा और अत्यन्त पुरुषार्थ से जिस धन के द्वारा बहुत सुख सिद्ध करने वाली सेनाएँ प्राप्त होती हैं, उसे आप हममें नित्य स्थापित करो।[५७]

धन की इच्छा करना अपराध नहीं है। महर्षि ने इसलिये लिखा है-**मनुष्यैः सदा धनाढ्यत्वमेषणीयं प्रमादो नैव कर्त्तव्यः॥** ऋग्०५.५४.१३ का भावार्थ॥ अर्थात् मनुष्यों को सदा धनसम्पन्नता की इच्छा करनी चाहिये और आलस्य नहीं करना चाहिये॥

धन से सबका हित करना मनुष्यों का उद्देश्य होना चाहिए।[५८] इस संसार में जैसे आप्तजन धर्मयुक्त व्यवहार से ऐश्वर्य बढ़ाकर उसे सबके उपकार वाले कार्य में खर्च करते हैं, और जैसे सत्य के जिज्ञासु लोग विद्वानों से याचना करते हैं वैसे सब मनुष्य अपने ऐश्वर्य को उत्तम कार्य में खर्च करें और विद्वानों से विद्याओं की याचना करें।[५९] जो धन पावें वे अन्यों का सत्कार करें।[६०] धनवान् लोगों को न ही अन्यायपूर्ण व्यवहार में न्याय से कमाये धन को खर्च करना चाहिये।[६१] धर्म से अर्जित धन से अनाथ-पालन, विद्या और धर्म की वृद्धि, औषध वितरण एवं मार्गशुद्धि करके अपनी प्रशंसा सब दिशाओं में फैलानी चाहिये।[६२] इस संसार में जो धनाढ्य हो वह प्रेमपूर्वक निर्धनों से उद्योग करवाके निरन्तर उन्हें पाले। और जो उत्तम क्रिया में उन्नति करते हैं, उनको धन्यवाद से और धन आदि के दान से प्रोत्साहित करे।[६३] हे मनुष्यो! जैसे दाता लोग उत्तम

---

५२. यजु०२१.५७ का भावार्थ।
५३. यजु०२१.५५ का भावार्थ।
५४. यजु०२८.५ का भावार्थ।
५५. यजु०२८.४४ का भावार्थ।
५६. ऋग्०५.६१.१२ का भावार्थ।
५७. ऋग्०१.९.८ का भावार्थ।
५८. ऋग्०१.१७.६ का भावार्थ।
५९. ऋग्०१.१३६.४ का भावार्थ।
६०. ये धनमाप्नुयुस्ते परेषां सत्कारं कुर्युः-ऋग्०१.७७.५
६१. ऋग्०२.२७.१७ के भावार्थ का भाव।
६२. ऋग्०६.४४.८ का भावार्थ।
६३. ऋग्०७.१६.६ का भावार्थ।

दान देते हैं, और पौत्र-पर्यन्त धन-धान्य और पशु आदि को बढ़ाते हैं, वैसे सबको व्यवहार करना चाहिये।[६४]

धन से मनुष्य को सम्मान भी प्राप्त होता है। इसीलिये महर्षि ने लिखा-ईश्वरस्याज्ञास्ति ये जनाः पुरुषार्थिनो भूत्वा धार्मिकाः परोपकारिणो भवन्ति, त एव पूर्णमैश्वर्यरक्षणं कृत्वा सर्वत्र सत्कृता जायन्ते।[६५]

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदभावार्थ में धन का सम्बन्ध संसार के व्यवहार के समान सुख से जोड़ा है। उन्होंने अनेकों मन्त्रभावार्थों में धन से सुख-प्राप्ति की चर्चा की है। इस प्रकार लिखा-

मनुष्यैर्ब्रह्मचर्येण विषयलोलुपतात्यागेन भोजनाच्छादनादि-सुनियमैश्च-विद्याचक्रवर्त्ति-श्रीयोगेन समग्रस्यायुषो भोगार्थं सन्धेयम्। यत ऐहिकं परमार्थिकं च दृढं विशालं सुखं सदैव वर्धते। न ह्येतत् केवलमीश्वरस्य प्रार्थनयैव भवितुमर्हति, किन्तु विविधपुरुषार्थापेक्षं वर्त्तत एतत्। ईश्वरस्यानन्तसौभगत्वाद्धार्मिकस्य सभासेनान्यायाधीशस्य चक्रवर्त्ति-सुखैश्वर्ययुक्तत्वादेतौ समाश्रित्य मनुष्यैरसङ्ख्यातानि विद्यासुवर्णादिधनानि प्राप्य बहुसुखभोगः कर्त्तव्यः कारयितव्यश्चेति। येऽत्र गोवत् सुखप्रदाः प्राणवत् प्रियाः प्रजासु वर्त्तन्ते, तेऽतुलमानन्दमाप्नुवन्ति। यथा सूर्य आकाशे मेघमुन्नीय सर्वान् सुखयति, तथा सत्पुरुषस्यैश्वर्यं वर्द्धमानं सत् सकलानानन्दयति। ये परमेश्वरादीनां पदार्थानां विज्ञानेनाऽहिंसादिलक्षणे व्यवहारे वर्त्तित्वा युक्ताहारविहाराः सन्त ऐश्वर्यमुन्निनीषन्ति, ते सर्वतः सुखिनो जायन्ते। ये सुहृदो भूत्वा प्रयेनैश्वर्यमिच्छन्ति, ते सुखदुःखनिन्दादिकं सोढ्वा विद्वत्सङ्गं कृत्वाऽऽनन्दं वर्धयेयुः। ये धनादिकं प्राप्यान्येभ्यो यथासुपात्रं सद्व्यवहारं च विज्ञाय ददति, ते सेक्ता कुम्भमिव सर्वान् पूर्णसुखान् कुर्वन्ति। ये सूर्यवन्नियमेन धर्म्यकार्याणि साध्नुवन्ति, वायुरिव सततं प्रयं कुर्वन्ति, ते बह्वैश्वर्यं लब्ध्वाऽऽनन्दन्ति। यदि सत्पुरुषैः सहाऽऽनुकूल्येन वर्त्तित्वा, परस्परानुभूत्या पशुधनादिभिरिच्छामलं कुर्युस्ते सदा सुखिनः स्युः। मनुष्यै राज्ञो राजपुरुषेभ्यश्च धनोन्नतिः सदा कार्या, येन बहुविधं सुखं भवेदिति। ये साहसेन पुरुषार्थयन्तो वीरसेनां गृहीत्वैश्वर्यप्राप्तये प्रयतन्ते, त एव सुखिनो भवन्तीति। ये मनुष्या धनाद्यैश्वर्येण धर्मविद्ये उन्नयन्ति, त एव बहुसुखधना भवन्ति। विद्वानग्निना पृथिवीस्थपदार्थेभ्यो धनं प्राप्य सुमार्गे सत्पात्रेभ्यो दत्त्वा विद्याप्रचारेण सर्वान् सुखयेत्।[६६]

धर्मयुक्त धन कौनसा है ? इसके उत्तर में महर्षि दयानन्द ने लिखा है कि जिस धन से पुष्टि, विद्या तथा विद्वानों का सत्कार, वेदविद्या की प्रवृत्ति और सबका उपकार होवे वही धर्मयुक्त धन है, अन्य नहीं।[६७]

धन से मनुष्य **श्रीमान्, धनपति, लक्ष्मीवान्** कहलाता है। जो रागद्वेषरहित और गुणों के ग्रहण करने वाले मनुष्य होते हैं, वे दूसरों को भी अपने समान बनाकर दाता होते हुए श्रीमान् बनते हैं। जो ब्रह्मचर्य और विद्या से धर्मयुक्त कार्य करके शुद्ध अन्तःकरण और आत्मा से य करें, वे धनपति बन सकते हैं। जो मनुष्य

---

६४. ऋग्०७.१८.२२ का भावार्थ।
६५. ऋग्०१.८.९ का भावार्थ।
६६. ऋग्० १.९.७; १.४२.६; १.१५३.४; १.१७३.८; ३.२८.५; ३.३०.१; ३.३२.१५; ३.४४.३; ३.५०.४; ४.३७.८; ५.२०.४; ६.४४.२; यजु०११.२५ का भावार्थ।
६७. ऋग्०१.१४२.१२ का भावार्थ।

अन्यों के प्रति अपने समान व्यवहार करके, उनके साथ सुख को स्वीकार करके और सुवर्ण आदि धन की वृद्धि करके, तृप्त होते हुए बलिष्ठ बनते हैं, वे ही लक्ष्मीवान् होते हैं। जो मनुष्य उषावेला के समान विद्या के प्रकाश की ओर अभिमुख हुए और सूर्य के समान धर्माचरण की कामना करते हुए, प्रय के साथ ऐश्वर्य की कामना करें, वे सब प्रकार से श्रीमान् बनकर निरन्तर बढ़ते हैं। हे मनुष्यो! आप लोग अग्नि आदि पदार्थों से दरिद्रता को नष्ट करके लक्ष्मीवान् होवें। जो मनुष्य सूर्योदय से पहले उठकर, जब तक शयनकाल हो तब तक प्रय करते हैं, वे दुःख और दरिद्रता को समाप्त करके सुखी और श्रीमान् बनते हैं। विद्वान् मनुष्यों को इस संसार में सुबुद्धि और पुरुषार्थ से श्रीमान् बनकर अन्यों को भी धनवान् बनाना चाहिये। जो शीघ्र सुख देनेवाले और बुद्धि बढ़ाने वाले पदार्थों का सेवन करते हैं वे संसार में श्रीसम्पन्न बनते हैं। हे मनुष्यो! तुम अग्नि आदि पदार्थों की विद्या से श्रीमान् बनकर, सच्चे भाव से सब अनाथों का पालन करो और दुष्टों की ताड़ना करो। जो मनुष्य शरीर और आत्मा से बलिष्ठ होकर और शस्त्रास्त्र विद्या में निपुण होकर उत्तम यान आदि साधनों से सम्पन्न होते हुए, पुरुषार्थ करते हैं, वे लक्ष्मीवान् बनते हैं। जो मनुष्य धन आदि ऐश्वर्य से धर्म और विद्या की उन्नति करते हैं, वे ही बहुत सुखी और धनवान् होते हैं। जो मनुष्य सूर्य के समान सबके धनों को बढ़ाकर, उन्हें सुपात्रों को देते हैं, वे धनपति बनते हैं। जो मनुष्य संसार के रचयिता अनादि ईश्वर को तथा जगत् के अनादिकारण को गुण-कर्म-स्वभावों के साथ जानकर उपासना करते हैं और उपयोग करते हैं, वे चिरजीवी और धनवान् बनते हैं। जैसे विद्या और युक्ति से सेवन किया गया धन प्रचुर धन तथा धान्य प्रदान करता है, वैसे ही सेवा किया गया पुरुषार्थी जन मनुष्यों को लक्ष्मीवान् बनाता है। यदि मनुष्य आकाश के समान चञ्चलता-रहित, आनन्ददाता, एकमात्र प्रसन्न स्वभाव वाले, आज्ञा का अवश्य पालन करवाने वाले और पुरुषार्थी होवें, तो इस संसार में वे लक्ष्मीवान् क्यों न हों। जो मनुष्य सूर्य के समान नियमपूर्वक प्रवृत्त रहकर, शरीर को निरोग और आत्मा को विद्वान् बनाकर, पूर्ण ब्रह्मचर्य करके, स्वयं वरण की हुई हृदय को प्रिय स्त्री से विवाह करके उसमें सन्तान उत्पन्न करके तथा उनको सुशिक्षित करके विद्वान बनाते हैं, वे धनपति बनते हैं।[६८]

महर्षि दयानन्द ने धन द्वारा परोपकार करने का स्पष्ट निर्देश दिया है, यतोहि परोपकारी व्यक्ति प्रिय बनते हैं-**ये धनाढ्या धनेन परोपकारं कुर्युस्ते सर्वेषां प्रिया जायन्ते। हे मनुष्याः! त एवात्र जगति परोपकाराय वर्त्तन्ते, ये न्यायेन द्रव्योपार्जनमाचरन्ति।**[६९]

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने धन-प्राप्ति होने के उपरान्त उसका सर्वोत्तम प्रयोग संसार के उपकार में लगाना है। इस उपकार से दाता के घर में धन स्थिर हो जाता है- **तस्यैव कुलाद्धननाशो न भवति, योऽन्येभ्यः सुपुत्रेभ्यो जगदुपकाराय प्रयच्छति हे मनुष्या! यः सत्यन्यायेन स्वांशं भुक्त्वा प्रजायाः सुखवर्धनायाऽन्यायं दुष्टांश्च हन्ति, स समृद्धो भवति।**[७०]

यद्यपि धन किसी भी परिश्रमशील मनुष्य के पास चला जाता है। किन्तु वह परिश्रमशील मनुष्य

---

६८. ऋग्०२.६.४; ३.१९.३; ३.४४.२; ५.५४.१०; यजु०१२.४१; ऋग्०५.६१.११,५.४१.५; ५.५७.६; ६.४४.२; ७.४५.३;- यजु०१२.२५; १५.२१; २१.५७; २५.४६ का भावार्थ।

६९. ऋग्०२.९.४; ५.६१.१६ का भावार्थ।

७०. ऋग्०२.९.५; ३.५०.१ का भावार्थ।

सज्जन है अथवा दुर्जन? इसका निर्णय उसके द्वारा प्रयुक्त धन से होगा। महर्षि इस निर्णय को इस प्रकार बताते हैं-**सज्जनानां धनमन्येषां सुखाय दुष्टानां च दुःखाय भवति।**[७१] अर्थात् सज्जनों का धन अन्यों के सुख के लिये और दुष्टों का धन अन्यों को दुःख देने के लिये हुआ करता है।

धन कमाकर उसका उपयोग मात्र स्वार्थ हेतु निम्नकोटि के लोग किया करते हैं, परोपकार में उसका उपयोग करने वाला मनुष्य जैसे वायु के आधार पर स्थित सूर्य आदि लोक जलवर्षा आदि के द्वारा सबको आनन्दित करते हैं, वैसे ही लक्ष्मी अर्जित करने वाला पुरुष सबको सुभूषित करता है।[७२]

दुःखों के विनाश का एक साधन ऐश्वर्य की वृद्धि भी होता है, किन्तु यह साधन तभी सफल होता है जब मनुष्य अपने हाथों से परिश्रमशील करके ऐश्वर्य की प्राप्ति करे। अतः महर्षि लिखते हैं-**येऽश्वैरिव स्वाङ्गुलिभिः कर्माणि कृत्वैश्वर्यमुन्नयन्ति, ते क्षीणदुःखा जायन्ते। सर्वेषां मनुष्याणामियं योग्यताऽस्ति, यदप्राप्तस्यैश्वर्यस्य पुरुषार्थेन प्राप्तिस्तद्रक्षोन्नती कृत्वा धार्मिकान् मनुष्यान् सङ्गत्यैतेन सत्कृत्य च धर्ममनुष्ठाय विज्ञानमुन्नीय दुःखबन्धनान् मुक्ता भवन्तु।**[७३]

धन के विषय में महर्षि का चिन्तन अपार दार्शनिक एवं व्यावहारिक है। कई बार मनुष्य संस्थान आदि को चलाने हेतु धनी लोगों के पास जाकर अपार धन की याचना कर बैठते हैं, किन्तु वहाँ से उसे बहुत कम धन की उपलब्धि होती है। तथा कई बार उसे धनीजनों के पास से न याचना करके पर भी बहुत धन उपलब्ध हो जाता है। सम्भवतः जीवन के इस कडुवे सत्य का अवलोकन कर महात्मा ने कहा था-**बिन मांगे मोती मिले, मांगे मिले न भीख अर्थात्** बिना मांगने पर कई बार आशातीत धन की उपलब्धि होती है और मांगने पर दो रोटी के योग्य आहार भी नहीं मिलता। महर्षि ने भी इस लौकिक व्यवहार को वेदों में देखकर लिखा-**ये धनाढ्यान् प्राप्यासङ्ख्यान् पदार्थान् याचन्ते, ते स्वल्पं लभन्ते, ये च न याचन्ते, ते बहु प्राप्नुवन्ति।**[७४] भाव यह है कि जो लोग धनाढ्य जनों के पास पहुँचकर अगणित पदार्थ मांगते हैं, वे थोड़ा पाते हैं और जो नहीं मांगते हैं, बहुत पाते हैं।

धन का आदान-प्रदान संसार में नित्य चलता रहता है। धनी मनुष्य के पास जो आज धन है, वह दान देने से पुनः उसी के पास लौटकर आता रहता है। प्रस्तुत मन्त्र का भावार्थ इसी भाव को प्रकट कर रहा है-हे धनाढ्य! तव सकाशाद्वयं गवादीन् प्राप्याऽन्येभ्यो दद्मः। अस्माकं धनं भवन्तं प्राप्नोतु।[७५] ऐश्वर्यशाली मनुष्य के लिये महर्षि स्पष्ट आदेश देते हैं कि वह अन्यों को धन-धान्य आदि देवे- **ऐश्वर्यवान्मनुष्योऽन्येभ्यो धनधान्यादिकं दद्याद्।**[७६]

धन को बढ़ाने का एक उपाय व्यापार है, जो व्यापार गाड़ी आदि यानों द्वारा दूर देश में जाकर हजारों मनुष्यों के साथ सन्धि करके किया जाता है, इस प्रक्रिया से मनुष्य धन, धान्य और पशुओं से युक्त

---

७१. ऋग्०२.१४.१२ का भावार्थ।
७२. ऋग्०३.३८.४ का भावार्थ।
७३. ऋग्०४.६.९; यजु०५.३९ का भावार्थ।
७४. ऋग्०४.३२.१७ का भावार्थ।
७५. ऋग्०४.३३.९ का भावार्थ।
७६. ऋग्०५.३१.८ का भावार्थ।

हो जाते हैं-

ये मनुष्याः शकटादियानचालनकुशला अनेकैः सहस्रैः पुरुषैः सह सन्धिं कुर्वन्ति, ते धनधान्यपशुयुक्ता जायन्ते।[७७]

जो विद्युत् के समान, उषावेला के समान और ऋषि के समान धनकोश का सञ्चय करते हैं, वे प्रतिष्ठित होते हैं। दरिद्रता का वे ही नाश कर पाते हैं, जो मनुष्य-शरीर का आश्रय लेकर लक्ष्मी का अन्वेषण करते हैं। यदि मनुष्य सब ओर से बल बढ़ावे तो, वे लक्ष्मीवान् क्यों न हो सकें। वे ही लक्ष्मीवान् हैं, जो आलस्य त्यागकर सदा शुभ कर्म के लिये प्रय करते हैं। जैसे पशुपालक लोग पशुओं को पालकर समृद्ध होते हैं, वैसे ही पुरुषार्थी दरिद्रता को नष्ट करके धनपति बनते हैं। जो लोग विद्वानों के समान प्रय करते रहते हैं, वे इस संसार में प्रचुर लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं।[७८]

इस प्रकार महर्षि ने वेदभाष्यभावार्थ में धन द्वारा प्रतिष्ठित होने की दिशा, दरिद्रता के विनाश का उपाय, और लक्ष्मीवान् बनने का मार्ग, सरल शब्दों में निर्दिष्ट किया है।

महर्षि ने धर्मयुक्त पुरुषार्थ से प्राप्त धन को ही अपना मानने की बात कही। अन्याय से प्राप्त धन अपना नहीं है। ज्ञानी जनों के मार्ग को पाखण्डयुक्त उपदेश से दूषित न करने की प्रेरणा दी है तथा जिस रीति से धर्मयुक्त पुरुषार्थ के द्वारा धन प्राप्त हो सके, वैसा प्रय करने को कहा है। उन्होंने उसी का धन सफल माना है, जिसने न्याय से कमाया है और धर्मयुक्त व्यवहार में उसका व्यय किया है। दरिद्रता उनके पास नहीं आती है, जो सच्चे भाव से परमेश्वर की उपासना करके न्याययुक्त व्यवहार से धन प्राप्त करना चाहते हैं और जो सदा आप्तजनों का सङ्ग करते हैं।[७९]

अन्याय की रीति से धनोपार्जन करने से मनुष्य की आयु समाप्त होने लगती है। जो मनुष्य दुष्ट आचरण और दुष्टों के सङ्ग को त्यागकर, परमेश्वर और आप्तजनों की सेवा करते हैं, वे धनधान्य से युक्त होते हुए, चिरजीवी बनते हैं।[८०]

स्वयं ऐश्वर्य प्राप्त करना बहुत उत्तम है, किन्तु अन्यों को भी ऐश्वर्य प्राप्त करा देना उत्तमोत्तम है, किन्तु यह कार्य वही कर सकता है जो स्वयं शोभनीय वेश और आचरण में विराजमान रहता है, वही ऐश्वर्य प्राप्त करके, अन्यों को प्राप्त करा सकता है।[८१]

जब मनुष्य धन का संग्रह करता है, तब उसे चुराने के लिये चोरों की गिद्धदृष्टि उस पर होती है, उसी से बचाव का साधन महर्षि बताते हुए लिखते हैं-**यदि मनुष्या वायुविद्युतौ सूर्यनिमित्ते विज्ञायोपयुज्य धनानि सञ्चिनुयुस्तर्हि स्तेननाशकाः स्युः।**[८२] अर्थात् मनुष्य वायु और विद्युत् को सूर्य का निमित्त जानकर

७७. ऋग्०५.२७.१ का भावार्थ।

७८. ऋग्०५.५९.८; ६०.४; ६.१५.३; ६.२९.३; यजु०१८.५६ का भावार्थ।

७९. ऋग्०७.४.७; ७.१५.५; ७.३७.८ का भावार्थ।

८०. यजु०३५.१६ का भावार्थ।

८१. यजु०१२.१०९ का भावार्थ।

८२. यजु०२८.१७ का भावार्थ।

और उनका उपयोग करके धनों को सञ्चित करें तो, वे चोरों के नाशक हो सकें।

अपरिमित धन का सञ्चय करने वाले और उस धन को संसार के उपकार-कर्त्ता सुपात्रों को देने वाले मनुष्य की कोई स्पर्धा नहीं कर सकता है, वे अजेय होते हैं। ऐश्वर्य को बढ़ाने के लिए मनुष्य को सत्य का आचरण, परमेश्वर की उपासना और विद्वानों की संगति बहुत आवश्यक है। समस्त कामनाओं को मनुष्य तभी पूर्ण कर सकता है, जब वह धन प्राप्त करके, उसे अच्छे कर्मों में खर्च करे।[८३]

संस्कृतभाषा में एक लोकोक्ति प्रसिद्ध है जिसका भाव है कि सूर्योदय तथा सूर्यास्त काल में जो शयन करता है, वह यदि स्वयं चक्रपाणि भगवान् विष्णु भी क्यों न हो उसे लक्ष्मी त्याग देती है।[८४] महर्षि दयानन्द ने उस सन्धिवेला में शयन और आलस्य त्यागकर ईश्वर का ध्यान करने का निर्देश देते हुए पुरुषार्थी बनकर सूर्य, चन्द्रमा और सन्ध्या के समान प्रय करने को कहा। जिससे प्रचुर लक्ष्मी प्राप्त होवे-**ये पुरुषार्थिनो मनुष्याः सूर्यचन्द्रसन्ध्यावन्नियमेन प्रयतन्ते, सन्धिवेलायां शयनाऽऽलस्यादिकं विहायेश्वरस्य ध्यानं कुर्वन्ति, ते पुष्कलां श्रियं प्राप्नुवन्ति।**[८५]

आगे पुनः उन्होंने कहा-काल की स्थूल और सूक्ष्म गति को विद्वानों के संग से जो मनुष्य जान जाते हैं और एक क्षण भी व्यर्थ नहीं गवाते हैं, वे विचित्र ऐश्वर्य प्राप्त कर लेते हैं-

ये मनुष्या विद्वत्सङ्गेन कालस्य स्थूलसूक्ष्मगती विज्ञायैकक्षणमपि व्यर्थं न नयन्ति, ते विचित्रमैश्वर्यमाप्नुवन्ति।[८६]

धन प्राप्त करने का एक साधन पूर्ण युवावस्था में गृहस्थ में प्रवेश करना भी है। समाज में बाल्यावस्था में विवाह प्रथा प्रचलित रही। जिससे शरीर में अनेक रोग तथा बाल-विधवा आदि कुप्रथाओं की उत्पत्ति होती है। महर्षि ने इस सामाजिक कुप्रथा के विनाश के लिए भरपूर विरोध किया। अपने वेदमन्त्र भावार्थ में भी उन्होंने इस कुप्रथा से होने वाले अनिष्टों का संकेत दिया तथा युवावस्था में विवाह के लाभों का वर्णन किया- **ये मनुष्याः पूर्णयुवावस्थायां विद्याः समाप्य सुशीलतां स्वीकृत्यातीवोत्तमाः सन्तः सुशीलाः स्त्रियः स्वीकृत्य च प्रयतन्ते,. ते ऐश्वर्यं प्राप्यानन्दिता भवन्ति। ये मनुष्याः सूर्यवन्नियमेन वर्तित्वा शरीरमरोगमात्मानं विद्वांसं संसाध्य पूर्णं ब्रह्मचर्यं कृत्वा स्वयं वृतां हृद्यां स्त्रियं स्वीकृत्य तत्र प्रजा उत्पाद्य सुशिक्ष्य विदुषीः कुर्वन्ति, ते श्रियः पतयो जायन्ते।**[८७] अर्थात् जो मनुष्य पूर्ण युवावस्था में विद्याएं प्राप्त करके तथा सुशीलता अपनाकर अत्यन्त उत्तम होते हुए सुशील स्त्रियों से विवाह करके प्रय करते हैं, वे ऐश्वर्य प्राप्त करके आनन्दित होते हैं। जो मनुष्य सूर्य के समान नियमपूर्वक प्रवृत्त रहकर, शरीर को निरोग और आत्मा को विद्वान् बनाकर, पूर्ण ब्रह्मचर्य करके, स्वयं वरण की हुई हृदय को प्रिय स्त्री से विवाह करके तथा उनको सुशिक्षित करके विद्वान् बनाते हैं, वे धनपति बनते हैं।

---

८३. ऋग्०२.१९.४; यजु०२७.४१; २५.२५ का भावार्थ।
८४. सूर्योदये चास्तमिते शयानं विमुञ्चति श्रीर्यदि चक्रपाणिः॥
८५. यजु०२१.५० का भावार्थ।
८६. यजु०२१.२५ का भावार्थ।
८७. ऋग्०५.६०.५; यजु०२५.४९ का भावार्थ।

महर्षि की दृष्टि में वर्तमान समय में यथार्थ पुरुषार्थ करने वाला मनुष्य धनपति बन जाता है, किन्तु जो धनपति बनने के बाद भी विद्वानों का सङ्ग नहीं करता है वह धनहीन होते हुए दरिद्रता को भोगता है- **ये वर्त्तमाने समये यथार्थं पुरुषार्थं कुर्वन्ति ते धनपतयो भवन्ति, ये च विद्वत्सङ्गं न कुर्वन्ति, ते धनहीनाः सन्तो दारिद्र्यं भजन्ते।**[८८]

धन को स्थिर रखने का उपाय महर्षि ने विद्वानों से सद्गुणों की याचना करना लिखा है- **हे मनुष्याः! विद्वद्भ्यः सद्गुणान् भवन्तो याचेरंस्तर्हि स्वयं प्रजा धनाढ्या भवेयुः॥**[८९]

धन के साथ साथ महर्षि ने अनेकत्र ऐश्वर्य शब्द का प्रयोग भी किया है। धन तथा ऐश्वर्य के सामान्य अन्तर को हमने पूर्व में ही महर्षि दयानन्द के शब्दों में दिखाया है। उन्होंने इस ऐश्वर्य की प्राप्ति और वृद्धि का हेतु भी निरन्तर पुरुषार्थ होना माना है। वे लिखते हैं-**नहि प्रतिदिनं सततं पुरुषार्थेन विना मनुष्याणामैश्वर्यप्राप्तिर्जायते तस्मादेव तैर्नित्यं प्रयतितव्यं यत ऐश्वर्यं वर्धेत। सर्वैः पुरुषार्थेन विद्वत्प्रज्ञां प्राप्य महदैश्वर्यं सञ्चेतव्यम्। ये पुरुषार्थिनो जना दस्य्वादीन् दुष्टान् निवार्य श्रेष्ठान् रक्षणे सन्दध्युस्ते जगत्यैश्वर्यं लभन्ते। य इह सर्वेषां बलपराक्रमवर्धकाः साधनोपसाधनयुक्ताः पृथक् मिलित्वा वा प्रयतन्ते, तेऽन्नाद्यैश्वर्ययुक्ता भवन्ति। ये धनवत्सर्ववर्धकाः सन्ति, ते परमेश्वर्यं लब्ध्वा प्रयतन्ते। त एव श्रीकरा जना भवन्ति, य आलस्यं त्याजयित्वा पुरुषार्थेन सह योजयन्ति। ये ब्रह्मचर्यमाचरन्ति, तेषामैश्वर्यप्रापकं सामर्थं जायते। येऽन्योन्यस्य रक्षां विदधाति, ते सदा सुखिनो भवन्तीति। मनुष्यैः श्रीप्राप्तय उद्योगः सदैव कर्त्तव्यो यथा विद्वांसो धनलब्धये प्रयतेरंस्तद्वदनुप्रयतितव्यम्। ये पुरुषार्थेन महदैश्वर्यं प्राप्य धनं सुरक्ष्याऽऽनन्दं भुञ्जते, ते सदैव वर्द्धन्ते। यदि मनुष्या ऐश्वर्यवर्धनाय प्रयतेरंस्तर्हि सत्यं परमात्मानं विदुषश्च सेवेरन्। य उत्साहेनैश्वर्यमुन्नेतुमिच्छन्ति, ते सकलैश्वर्यं प्राप्य सर्वत्र सत्कृता ये चालसास्ते दरिद्रत्वेनाऽभिभूताः सदा तिरस्कृता भवन्ति।**[९०]

अन्त में महर्षि ने पुरुषार्थ से ऐश्वर्य को प्राप्त करने का आदेश देते हुए लिखा-**मनुष्यैर्यथा युक्ताः पुरुषाः सर्वैश्वर्यमाप्नुवन्ति, तथैव वयं सर्वानन्दं प्राप्नुयामेतीच्छा कार्या।**[९१] अर्थात् मनुष्यों को 'जैसे पुरुषार्थ में लगे हुए मनुष्य समस्त ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ही हम सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त करें' ऐसी इच्छा करनी चाहिये।

ऐश्वर्यप्राप्ति के कतिपय उपायों की चर्चा महर्षि दयानन्द ने विभिन्न वेदमन्त्रभावार्थों में करते हुए कहा कि जो शत्रुओं को जीतते हुए, अतिथियों का सत्कार करते हुए और धार्मिकों को विद्याएं प्रदान करते हुए वर्त्तमान हैं, वे सूर्य जैसे मेघ को वैसे सम्पूर्ण ऐश्वर्य को धारण करते हैं। जैसे वायु और विद्युत् सबमें व्यापक होकर सब वस्तुओं का सम्पर्क करते हैं, वैसे सज्ज्नों को ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए सब साधनों का उपयोग करना चाहिये। जो सूर्य और वायु के समान सबका उपकार करते हैं, वे लक्ष्मीसम्पन्न बनते हैं। जो

---

८८. ऋग्०४.३३.११ का भावार्थ।

८९. ऋग्०५.३.६ का भावार्थ।

९०. ऋग्०१.९२.१५; १.१४२.४; २.१५.९; २.१७.३; ६.२३.५; ७.२०.१०; यजु०१७.५६; २०.७६; २७.२२; ऋग्०४.१५.२ का भावार्थ।

९१. ऋग्०४.४१.१० का भावार्थ।

विद्वान् लोग सबके मित्र होकर बहुत जनों के साथ सुधरे हुए भोजन करते हैं और विद्यावृद्ध विद्वानों के साथ संवाद करते हैं, वे समर्थ और ऐश्वर्यवान् बनते हैं। जिसके अधिकार में समस्त विद्याएं हैं और जो उत्पन्न हुए शत्रुओं को मारता है, वह दिव्य ऐश्वर्य को प्राप्त कराने वाला होता है। जो लोग बल चाहते हैं, दुष्टों को ताड़ना देकर धर्मात्माओं को सुखी करते हैं और सदैव सबकी उन्नति चाहते हैं, वे अगणित ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं। जो मनुष्य सुख के लिये बहुत साधन संगृहीत करते हैं, वे ऐश्वर्य पाकर प्रसन्न रहते हैं। जो विद्वान् इस विविध आकृतियों वाले संसार के कारणभूत अव्यक्त को जानता है और इस विश्व के निर्माण करने वाले परमात्मा की प्रशंसा करता है, वही ऐश्वर्यसम्पन्न बनता है। जो ऐश्वर्य को चाहें, वे अवश्य बल और बुद्धि को बढ़ावें। हे मनुष्यो! विद्वानों के द्वारा रक्षित और प्रबुद्ध किये जाते हुए तुम लोग, लक्ष्मी को तथा उत्तम मनुष्यों के सहाय्य से समस्त ऐश्वर्यों को प्राप्त करो। हे विद्वानो! तुम शरीर और आत्मा की पुष्टि करने वाले पदार्थों को जानकर और उनका उपयोग करके ऐश्वर्य प्राप्त करो। जो विद्वानों को धन प्रदान करता है तथा जिसकी रक्षा आप्तजन करते हैं, वह सदा रक्षित होकर बढ़ता हुआ सम्पूर्ण ऐश्वर्यों वाला हो जाता है। जो पूर्ण विद्वानों के साथ कर्म, उपासना और ज्ञान की विद्या तथा उत्तम क्रिया को ग्रहण करके उनका सेवन करते हैं, वे सब ओर से रक्षित होते हुए महान् ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं। ऐश्वर्य की कामना वाले मनुष्यों को कभी भी विद्वानों की सेवा तथा संगति को त्यागकर और वसन्त आदि ऋतुओं के यथोचित विज्ञान तथा सेवन को छोड़कर वर्त्ताव नहीं करना चाहिये।[९२]

इस प्रकार महर्षि ने ऐश्वर्यप्राप्ति के हेतु शत्रुविजय, अतिथि-सत्कार, विद्यादान, साधनों का उपयोग, उपकार, मित्रता, वृद्ध विद्वानों से चर्चा, प्रकृतिज्ञान, परमेश्वर-प्रशंसा, धनदान, ऋतुज्ञान और विज्ञान आदि दर्शाये हैं। ऐश्वर्य की प्राप्ति में ये सब कहीं न कहीं कारण अवश्य हैं।

महर्षि ने धन के स्थान पर कहीं कहीं 'श्री' शब्द का भी प्रयोग किया है। इस श्री की प्राप्ति में हेतु दर्शाते हुए उन्होंने लिखा है-

हे मनुष्याः! यावद्युष्माकं दृढाङ्गानि शरीराणि पवित्राः प्रज्ञाः धर्मात्मनामाप्तानां विदुषां सङ्गो जितेन्द्रियत्वेन पूर्णमायुर्न भवति, तावदतुलाः श्रियो विद्याश्च न भवन्तीति वेद्यम्।[९३] **ये मनुष्या धनेन सैन्यं श्रेष्ठतां प्रजामारोग्यं बलं च वर्धयन्ति, ते सर्वदाऽग्रश्रियो भवन्ति।**[९४] अर्थात् हे मनुष्यों! जब तक तुम्हारे दृढ़ अंगों वाले शरीर, पवित्र बुद्धियाँ, धर्मात्मा आप्त विद्वानों का संग और जितेन्द्रियता से पूर्ण आयु नहीं होती, तब तक अतुल श्री और विद्याएँ नहीं होती हैं, ऐसा जानना चाहिये। जो मनुष्य धन से सेना श्रेष्ठता, प्रजा, स्वास्थ्य और बल बढ़ाते हैं, वे सदा नवीन नवीन श्री वाले होते हैं।

इसी प्रकार उन्होंने अन्यत्र भी लिखा-यथा ऋद्धिसिद्धयः पूर्णां श्रियं कुर्वन्ति तथात्मवान् पुरुषः परमेश्वरे भूराज्ये च सुप्रकाशते।[९५]

---

९२. ऋग्०१.१३०.७; १.१३५.४; १५८.१; १७०.५; १७६.३; २.१.६; ३.३०.१८; ६२.१३; ५.४०.१; ४.२.१८; ६.५५.६; ७.७.७; यजु० ३७.१३; ऋग्०१.१०९.३ का भावार्थ।

९३. ऋग्०३.१.५ का भावार्थ।

९४. ऋग्०३.१६.३ का भावार्थ।

९५. ऋग्०१.१४४.६ का भावार्थ।

अन्त में महर्षि के इन आशीर्वादात्मक वचनों को प्रकाशित करना चाहता हूँ-

ये पूर्णविद्यावाप्तौ विद्वांसावाश्रयन्ति, ते धनधान्यैश्वर्यैः पूर्णा जायन्ते। ये धनमाप्नुयुस्ते परेषां सत्कारं कुर्युः। ये क्रियाकुशलाः शिल्पिन ऐश्वर्यमाप्नुयुस्ते सर्वैः सत्कर्त्तव्याः स्युः।[९६]

अर्थात् जो लोग पूर्ण विद्या वाले दो आप्त विद्वानों का आश्रय लेते हैं, वे धन-धान्य आदि ऐश्वर्यों से पूर्ण हो जाते हैं। जो धन पावें वे अन्यों का सत्कार करें। जो क्रियाओं में निपुण शिल्पी लोग ऐश्वर्य प्राप्त करें, वे सबके द्वारा सम्माननीय होवें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कोषकारों ने जिस धन शब्द के विभिन्न पर्यायवाची दर्शाते हुए उसकी महत्ता प्रकट की है, महर्षि दयानन्द सरस्वती ने उस धन को धर्मपूर्वक कमाते हुए परोपकार में लगाने का आदेश दिया है। उन्होंने धन और ऐश्वर्य में यत्किञ्चित् भेद भी माना है। धनप्राप्ति हेतु उन्होंने अनेक उपायों के साथ पुरुषार्थ और धर्म को मुख्य माना है। लोक में प्रचलित विभिन्न किंवदन्तियों को उन्होंने वेद भावार्थ में सरल शब्दों में दिखाया है। धन से होने वाले सुख सम्मान, प्रतिष्ठा, यश, स्वास्थ आदि का स्थान-स्थान पर वर्णन किया है। मनुष्य धन होने से ही श्रीमान्, धनपति और लक्ष्मीवान् कहलाये तो शोभा देता है। परोपकार हेतु निर्मित संस्थानों में धनदान के आदेश महर्षि ने दिये हैं। धन प्राप्त हो गया किन्तु वह धन स्थिर कैसे रहे इस पर महर्षि का मन्तव्य धनी पुरुषों के लिये आवश्यक अनुकरणीय है। इस धन की चर्चा करते हुए उन्होंने समाज में पूर्ण युवावस्था में विवाह होवे ऐसा निर्देश भी दिया है जिससे धन पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ता है। इस प्रकार धन तथा उसके उपयोग के विषय में महर्षि दयानन्द के विचार समाज में नई चेतना को प्रस्फुरित करने वाले हैं।

---

९६. ऋग्०१.१३९.३ का भावार्थ।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ057-62) ISSN 0974 – 8830

महर्षिदयानन्दस्य वेदविषयकमवदानम्

दीप नारायण[1]

वेद भारतीय संस्कृति के प्राण हैं, चाहे वेद को मानने वालों की कितनी भी शाखा-प्रशाखायें हो गई हैं, जिनमें परस्पर पर्याप्त मतभेद भी हैं, पुनरपि उन सबका मूलाधार वेद ही होने से वे वेदों के प्रति अनास्था-भाव नहीं रख सकते। क्योंकि विभिन्न मतमतान्तरों में अनेकता में भी एकता की झलक स्पष्ट रूप में दिखाई देती है। आज के गवेषक विदेशी विद्वानों को भी विश्व के पुस्तकालय की प्राचीनतम पुस्तक वेद को ही मानना पड़ा है। प्राचीन समस्त ऋषि-मुनियों ने वेदों को अपौरुषेय स्वतः प्रमाण माना है। धर्मशास्त्र के प्रथम रचयिता महर्षि मनु ने तो स्पष्ट घोषणा की है-

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।[2]

अर्थात् धर्म जानने की इच्छा रखने वालों के लिये वेद ही परम प्रमाण है परन्तु ऐसे परम पवित्र वेदों को भी वाममार्ग से प्रभावित कलुषित वृत्ति वालों तथा स्वार्थी लोगों ने काल्पनिक मिथ्या बातों को वैदिक बताकर निन्दित करने में कोई कम प्रयास नहीं किया। मानो वेद के भानु को घोर काली घटाओं से ऐसा आच्छन्नतकर दिया कि लोग वेदों के सत्यज्ञान को भूलकर मिथ्या बातों को मानने लगे। धन्य हैं वे महर्षि दयानन्द, जिन्होंने जन्मजन्मान्तरों के संचित सुसंस्कारों के कारण अथवा मोक्ष से पुनरावृत्त होने के कारण असत्यान्धकार में भी सत्य के प्रकाश को स्वयं प्राप्त किया और उस दिव्य प्रकाश से समस्त अविद्या को दूर करके वैदिक ज्योत्स्ना को फिर से प्राप्त कराया और स्पष्ट घोषणा की-

१. 'वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।'[3]

२. 'सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।'[4]

इस प्रकार महर्षि दयानन्द ने वेद को सर्वोत्तम, परिपूर्ण, सबके लिए सुखप्रद एवं ईश्वरोक्त माना है। जिसकी उत्पत्ति काल १९६०८५३११२ वर्ष है।

वेद की परिभाषा- विद् ज्ञाने, विद् सत्तायाम्, विद् विचारणे, विद्लृ लाभे, विद् चेतनाख्यानेषु च इन अर्थों में प्रयुक्त है। विद् ज्ञाने + घञ् प्रत्यय (हलश्च)[5] से निष्पन्न है। महर्षि दयानन्द व्युत्पत्ति करते हुए

---

१ (शोधच्छात्र, सर्वदर्शनविभाग), श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठ, (मानित-विश्वविद्यालय) नवदेहली-१६ **Emial-deepnarayanskt@gmail.com** Mob. : ९९९०६८६८३३

२ मनु.२.१३

३ आर्यसमाज का नियम सं. ३

४ आर्यसमाज का नियम सं. १

५ पा. अष्टाध्यायी ३.३.१२१

लिखते हैं-'**वेत्ति चराचरं जगत् स जगदीश्वरः विदन्ति येन स ऋग्वेदादिर्वा।**'[६] '**विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः।**'[७]

वेदों का महत्त्व

वेदों के अनेक भाष्य होते हुए भी महर्षि दयानन्द की दृष्टि वेदभाष्य पर क्यों गई ? इसका समाधान यह हो सकता है कि-सायण आदि के वेदभाष्य वेद, धर्म, ऋषि, निरुक्त आदि की परम्परा से कोशों दूर थे। सायण, महीधर, उव्वट, रावण, मैक्डोनल, तिलक, मैक्समूलर, विण्टरनिट्ज आदि वेदों के यथार्थ स्वरूप एवं वेदार्थ तक नहीं पहुँच पाये थे। उनकी ऋषि बुद्धि नहीं थी। अर्थ का अनर्थ दीखता है, उनके भाष्य में। वैज्ञानिकता, निरुक्ति आदि का अभाव है। लोगों पर उनके भाष्यों का गलत असर पड़ता है। जिससे मनुष्य का अहित होता है।

महर्षि दयानन्द अपने वेदभाष्य के सम्बन्ध में अनेक स्थानों पर लिखते हैं-

(क) जब मेरा वेदभाष्य पूर्ण हो जाएगा, तो यह पूर्णतया सिद्ध हो जाएगा कि मेरे सिद्धान्त वेदानुकूल हैं।[८]

(ख) मैं वेदों में कोई बात युक्ति विरुद्ध वा दोष को नहीं देखता और उन्हीं पर मेरे सिद्धान्त वेदानुकूल हैं।[९]

(ग) परमात्मा की कृपा से मेरा शरीर बना रहा और कुशलता से वह दिन देखने को मिला कि वेदभाष्य पूर्ण हो जाए तो निस्सन्देह आर्यावर्त देश में सूर्य का सा प्रकाश हो जाएगा कि जिसको मेटने और झांपने का किसी को सामर्थ्य न होगा, क्योंकि सत्य का मूल ऐसा नहीं है कि जिसको कोई सुगमता से उखाड़ सके।[१०]

(घ) इस वेदभाष्य से वेदों का जो सत्य अर्थ है वह सब सज्ञन लोगों के आत्माओं में यथावत् प्रकाशित होगा। तथा वेदों के ऊपर लोगों ने मिथ्या जो व्याख्यान किए हैं, उनकी निवृत्ति भी इस भाष्य से अवश्य होगी।[११]

(ङ) यह भाष्य ऐसा होगा कि जिससे वेदार्थ से विरुद्ध अब के बने भाष्य और टीकाओं में वेदों में भ्रम से जो मिथ्या दोषों के आरोप हुए हैं, वे सब निवृत्त हो जायेंगे और इस भाष्य से वेदों का जो सत्य अर्थ है सो संसार में प्रसिद्ध होगा कि वेदों के सनातन अर्थ को सब लोग यथावत् जान लें।[१२]

---

६ यजुर्वेद २.२१

७ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (वेदोत्पत्तिविषयः)

८ भ्रान्ति निवारण, पृ. ३

९ भ्रान्ति निवारण, पृ. ४

१० भ्रान्ति निवारण, पृ. ४

११ पत्र और विज्ञापन, पृ. ३६

१२ ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृ. २

(च) जो यह मेरा भाष्य बनता है सो तो वेद, वेदांग, ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थों के अनुसार होता है। क्योंकि जो-जो वेदों के सनातन व्याख्यान हैं, उनके प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है। यही इसमें अपर्वूता है।[१३]

वेदार्थ ज्ञान के लिए महर्षि लिखते हैं-जो कोई भूमिका के बिना केवल वेद ही लिया चाहे सो नहीं मिल सकते।[१४] अत: वेद-भाष्य पढ़ने से पूर्व ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका की रचना महर्षि की अनुपम देन है। क्योंकि वेद विषयक पौराणिक मान्यताएँ जिनसे पाश्चात्य ही नहीं भारतीय विद्वान् भी भ्रमित हुए एवं वेदों का गौरव ही कम नहीं हुआ वरन् 'वेद सत्य विद्याओं का पुस्तक है, ईश्वरोक्त है इसमें भी भ्रान्ति हुई। साथ ही सायणादि की अनर्गलता जैसे-मन्त्रों के प्रतिपाद्य विषय मुख्य देवता के विषय में मौन रहना, वेदों को अपौरुषेय मानकर भी उसमें अनित्य इतिहास मानना, इन्द्रादि देवों को ईश्वर तुल्य समझना, स्वर्ग-नरकादि लोक विषेषों की कल्पना तथा ईश्वर के साकारवाद को मानकर जड़-पूजा का मानना आदि। अनेक सायण की मिथ्या मान्यताएँ उनके भाष्य में मिलती हैं।

जबकि महर्षि ने अपने वेदभाष्य में ऋषियों की मन्त्रार्थ शैली को अपनाया है जिससे मिथ्या मतों का खण्डन स्वत: ही हो जाता है। महर्षि अपने वेदभाष्य की शैली का स्पष्टीकरण करते हुए भूमिका के अन्त में लिखते हैं-

मन्त्रार्थभूमिका ह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च।
पदार्थान्वयभावार्था: क्रमाद् बोध्या विचक्षणै:।।

अर्थात् विषय, मन्त्र, पदच्छेद, पदार्थ, अन्वय, भावार्थ, क्रम में वेदभाष्य है। सायणादि का भाष्य निरुक्तमूलक नहीं है और न ही उनमें वह योग्यता है। **न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा।**[१५] अर्थात् मलीन अन्त:करण वाले हैं, उन्हें वेदार्थ करने का अधिकार नहीं है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि निरुक्तादि के सिद्धान्तों को छोड़ दिया। निरुक्तसम्मत वैदिक पद आख्यातज होते हैं जबकि सायणभाष्य में रूढ़ अर्थ भी किए हैं। वैदिककोष निघण्टु, ब्राह्मणादि को आधार न बनाकर लौकिक अर्वाचीन अमरकोषादि को आधार बनाया है। ऋषियों को ऐतिहासिक न मानकर मन्त्रार्थ में सहायक मानना, वेदों को अपौरुषेय मानकर वसिष्ठादि को व्यक्ति विषेष मानकर मन्त्रार्थ करना इत्यादि परस्पर विरुद्ध मान्यताएँ हैं।

महर्षि ने इनकी मौलिक कमियों को गंभीरता से लिया और वेदार्थ का स्वस्थ स्वरूप स्थापित किया जो वेद, निरुक्त एवं ऋषिमूलक था।

स्वामी जी लिखते हैं-'यह भाष्य प्राचीन आचार्यों के भाष्य के अनुकूल बनाया जाता है। परन्तु जो रावण, उव्वट, सायण और महीधर आदि के भाष्य बनाए हैं **'गणानां त्वा गणपति:'**[१६], ये सब मूलमन्त्र और ऋषिकृत व्याख्यानों से विरुद्ध हैं। मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता। क्योंकि उन्होंने वेदों की सत्यार्थता और

---

१३ ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, भाष्यकरणशंकासमाधान
१४ ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृ. १८
१५ निरुक्त १३.१२
१६ ऋ. वे. भा. भू. पृ. २५२, २५३, महीधर भाष्य द्रष्टव्य

अपूर्वता कुछ भी नहीं जानी। और जो मेरा भाष्य बनता है, वह तो वेद, वेदांग, ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थों के अनुसार है। क्योंकि जो-जो वेदों के सनातन व्याख्यान हैं, उनके प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है। यही इसमें अपूर्वता है।[१७]

महर्षि मनु ने वेद को धर्म का मूल कहा है-**'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'**[१८] और **'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'**।[१९] अतः दयानन्द ने वेदधर्म को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। महर्षि दयानन्द की वेद विषयक प्रमुख मान्यता यह है कि-वेद स्वतःप्रमाण नित्य एवं अपौरुषेय है।

(क) तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥[२०]

(ख) यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वांगिरसो मुखम्
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥[२१]

(ग) एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य
निःष्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरसः।[२२]

(घ) अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम्।
दुदोहयज्ञसिध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्।

इत्यादि प्रमाणों से वेद की नित्यता शाश्वत ईश्वर से प्रादुर्भूत होने से सिद्ध है। साथ ही यह वेद ईश्वर का वचन होने से स्वतः प्रमाणशास्त्र है। किसी अन्य प्रमाण की वेदों की प्रामाणिकता के लिए आवश्यक नहीं है। **'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्'**[२३] धर्मप्रवचनशास्त्र होने से नित्य निर्दोष ईश्वर का वचन होने से वेद की स्वतःप्रामाण्यता है।

'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्'[२४] अर्थात् मन्त्र और यजुर्वेद के प्रामाण्य की भांति वेद का भी स्वतः प्रामाण्य है क्योंकि वह परमपुरुष, पूर्ण आप्त ईश्वर द्वारा उपदिष्ट है। **'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'**।[२५] **'यः पूर्वेषामपि सृष्ट्यादावुत्पन्नानामग्निवाय्वादित्यांगिरो ब्रह्मादीनां प्राचीनानामस्मदादीनामिदानीन्तनानामग्रे भविष्यतां च सर्वेषामेव ईश्वर एव गुरुरस्ति। गृणाति**

---

१७ ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, भाष्यकरणशंकासमाधान
१८ मनुस्मृति
१९ मनु.९.१३
२० यजुर्वेद ३१.७
२१ अथर्व. का. १०, प्रपा. २३, अनु. ४, म. २०
२२ श. कां. १४, अ. ५
२३ वै. सू. १.१.३ (वेदनित्यत्वविषयः, ऋ. भा. भू.)
२४ ऋ. भा. भू. २.१.६९
२५ यो. सू. १.२६

वेदद्वारोपदिषति सत्यानर्थान् स गुरुः। स च सर्वदा नित्योऽस्ति तत्र कालगतेरप्रचारत्वात्। न स ईश्वरो ह्यविद्यादिक्लेशैः पापकर्मभिः तद्वासनया च कदाचिद्युक्तो भवति। यस्मिन् निरतिशयं नित्यं स्वाभाविकं ज्ञानमस्ति तदुक्तत्वाद्वेदानामपि सत्यार्थनित्यत्वे वेद्ये इति।'[२६]

'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्'[२७] **वेदानां निजशक्त्यभिव्यक्तेः पुरुषसहचारिप्रधानसामर्थ्यात् प्रकटत्वात् स्वतःप्रामाण्यनित्यत्वे स्वीकार्ये इति।**[२८] **शास्त्रयोनित्वात्**[२९] **अत एव च नित्यत्वम्**[३०] **अत ईश्वरोक्तत्वान्नित्यधर्मकत्वाद्- वेदानां स्वतःप्रामाण्यं सर्वविद्यावत्त्वं सर्वेषु कालेष्वव्यभिचारित्वान्नित्वं च सर्वैर्मनुष्यैर्मन्तव्यमिति सिद्धम्। .... वेदोऽपि .... सर्वा विद्याः प्रकाशयतीत्यवधेयम्।**[३१] **स पर्य्यागाच्छुक्रम् ...... शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।**[३२] इत्यादि प्रमाणों से वेद की स्वतःप्रमाण्यता, नित्यता एवं अपौरुषेयता सिद्ध होती है। यह श्रेय केवल स्वामी दयानन्द को ही है।

महर्षि दयानन्द की वेदविषयक अवदान एक यह भी है कि वे वेदों में पशु हिंसा, अश्लीलता का निषेध करते हैं। जबकि सायण, महीधर आदि का वेदभाष्य हिंसा एवं अश्लीलता पूर्ण है। **गणानां त्वा गणपति** द्रष्टव्य है। महर्षि की एक विषेषता यह भी है कि वेदों में वे लौकिक मानवीय इतिहास जादू-टोना का निषेध करते हैं जबकि सायणादि लौकिक इतिहासादि की कल्पना करते हैं।

सायण आदि निरुक्तपद्धति (यौगिकवाद) को न मानकर रूढ़ि अर्थ लेते हैं जबकि महर्षि प्रत्येक मन्त्र को निघण्टु / निरुक्त, व्याकरण आदि कसौटियों से सार्थक व्याख्या आह्लादक करते हैं।

त्रैतवाद

विभिन्न विद्वान् अनादि तत्त्वों को कोई अद्वैत मानता है तो कोई विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत तो कोई द्वैत मानता है। जबकि दयानन्द त्रैतवाद का डंके की चोट पर सफल प्रतिपादन करते हैं। **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।।**[३३]

मुक्ति

महर्षि दयानन्द योगाभ्यास, वेदादि शास्त्रों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष (**मुंचन्ति पृथग्भवन्ति जनाः यस्यां सा मुक्तिः**) की प्राप्ति और त्रिविध दुःखों से पूर्णतः छुटकारा मानते हैं।

---

२६ ऋ. भा. भू. (वेदनित्यत्वविषयः)
२७ सां. द. ५.५१
२८ ऋ. भा. भू. (वेदनित्यत्वविषयः)
२९ वे. षा. १.१.३
३० वे. षा. १.१.२९
३१ ऋ. भा. भू. (वेदनित्यत्वविषयः)
३२ यजुर्वेद ४०.८
३३ ऋ. १.१६४.२०, अथर्व. ९.९.२०, स. प्र. ८

सगुण-निर्गुण

महर्षि दयानन्द ईश्वर उपासना के लिए सगुणनिर्गुणोपासना की दोनों पद्धतियों का विधान करते हैं। ईश्वर को दया, न्याय आदि गुणों से युक्त मानकर सगुणोपासना का निर्देश देते हैं वहीं ईश्वर को आकार-प्रकार-विकारादि गुणों से रहित मानकर निराकार, निर्विकारादि निर्गुणोपासना का प्रावधान करते हैं।

स्वर्ग-नरक- सुख विषेष को स्वर्ग एवं दुःख विशेष को नरक मानते हैं।

वर्णाश्रमव्यवस्था, विवाह, स्त्रीशिक्षा, नारी सत्कार, परस्पर प्रीति, धर्म-कर्म, सदाचार, ज्ञान-कर्मोपासना-विज्ञानकाण्डयुक्त चतुर्वेद को श्रेष्ठ मानते हैं। इस प्रकार महर्षि दयानन्द का वेदविषयक योगदान-अवदानों का विवेचन अनुसन्धेय है।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ063-70) ISSN 0974 – 8830

आचार्य रामनाथ वेदालंकार के सामवेद-भाष्य पर एक विहंगम दृष्टि

डॉ. जितेन्द्र कुमार[१]

कोई भी भाष्यकार अथवा व्याख्याकार अपने पूर्ववर्त्ती भाष्यों और व्याख्याओं को ध्यान में रखकर ही उससे अधिक आगे अथवा न्यूनताओं को पूरा करने के उद्देश्य से भाष्य या व्याख्या लिखने में प्रवृत्त होता है। वेद-भाष्यों एवं व्याख्याओं के सन्दर्भ में भी यह बात उचित तथा सटीक दिखायी देती है।

उन्नीसवीं शताब्दी में वेद-भाष्यों के क्रम में एक बड़ा उल्लेखनीय परिवर्तन आया। अभी तक वेद-भाष्य संस्कृत में ही विद्वानों, ऋषियों, तत्त्वद्रष्टा मनीषियों के उपलब्ध हुए थे, परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदों का भाष्य संस्कृत में ही न करके जन-मन की भाषा, भारत की भाषा, हिन्दी में भी व्याख्या करके वेदों को सर्वजनसुलभ कराकर नूतन एवं क्रान्तिकारी वेद-व्याख्या का पथ प्रशस्त किया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का वेद-भाष्य अनेक नवीनताओं और विशेषताओं से संयुक्त यदि हो पाया तो इसके पीछे भी पूर्ववर्त्ती भाष्यकार ही हैं। पूर्ववर्त्ती स्कन्दस्वामी, उद्गीथ, वेंकट-माधव, आनन्दतीर्थ, आत्मानन्द, आचार्य सायण, उव्वट, महीधर आदि विद्वानों के स्कन्धों पर आरोहण करके अथवा बैठकर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने दूर तक देखा है तथा दूरदृष्टि एवं सूक्ष्मदृष्टि पायी है तब यह भाष्य अनेक नवीनताओं और विशेषताओं से समन्वित हो सका है। यह वैसे ही है जैसे एक पुत्र अपने पिता के कन्धों पर बैठकर इस अद्भुत और चमत्कारिक जगत् के दर्शन करता है तथा रोमांचित एवं प्रहर्षित होता है वही पुत्र आगे चलकर एक वैज्ञानिक, इन्जीनियर, डॉक्टर, उत्तम शिल्पकार आदि बनता है तो इसमें पिता का भी योगदान रहता ही है। अनेक बार हम उस योगदान की चर्चा न करके कहीं न कहीं चूक कर ही जाते हैं जिससे हमें बचना चाहिये। यह हमारे लिए बहुत गौरव का विषय है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने वेद-भाष्य और व्याख्या से परवर्त्ती भाष्यकारों अथवा व्याख्याकारों को वेदार्थ की अभिनव दृष्टि से अभिषिक्त किया है।

प्रकृत शोध-लेख के शीर्षक से सम्बद्ध सामवेद के प्राचीन तीन भाष्यकार आचार्य माधव, भरत स्वामी और आचार्य सायण ही उपलब्ध होते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेद-भाष्य सुलभ होने के पश्चात् वेदार्थ के अध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्ति में निरन्तर प्रवृद्धि हुयी है एवं होती जा रही है। यही कारण है कि सामवेद के जहाँ प्राचीन तीन भाष्यकारों के ही नाम सुलभ होते हैं वहीं अर्वाचीन भाष्यकारों और व्याख्याकारों के रूप में लगभग दश (१०) की संख्या विद्यमान है। सामवेद के आर्य भाषा-भाष्यों में पं. जयदेव शर्मा विद्यालंकार, स्वामी ब्रह्ममुनि, पं. विश्वनाथ विद्यालंकार, पं. श्रीपाद् दामोदर सातवलेकर, पं. वैद्यनाथ शास्त्री, पं. हरिशरण सिद्धान्तालंकार की व्याख्यायें उल्लेखनीय हैं। उक्त व्याख्याकारों से पूर्व पं. तुलसीराम स्वामी संस्कृत और हिन्दी दोनों में सामवेद का उत्कृष्ट भाष्य कर चुके थे। 'सामसंस्कार भाष्य' नाम से संस्कृत और हिन्दी में सामवेद का एक उत्तम अध्यात्म-भाष्य स्वामी भगवदाचार्य ने भी किया है।

---

१. प्राध्यापक, संस्कृत विभाग, श्री प्र.सिं.बा.राज. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, शाहपुरा, भीलवाड़ा (राज.)

सामवेद संहिता की एक भूमिका सहित, सटिप्पण हिन्दी-व्याख्या महामण्डेलश्वर स्वामी गंगेश्वरानन्द उदासीन के नाम से सद्गुरु गंगेश्वर-इण्टरनेशनल-वेद मिशन, बम्बई से दो भागों में प्रकाशित हुआ है। इसमें प्रत्येक मन्त्र के तीन-तीन अर्थ किये गये हैं। प्रथम आचार्य सायण के अनुसार द्वितीय आत्मयाजी अर्थ तथा तृतीय पं. जयदेव विद्यांलकार की व्याख्या का ही समर्थन करता प्रतीत होता है। सामवेद का एक उल्लेखनीय अंग्रेजी भाषा में अनुवाद संस्कृत टिप्पणियों के साथ पं. धर्मदेव विद्यावाचस्पति विद्यामार्त्तण्ड द्वारा भी प्रणीत है।

उपर्युक्त सभी सामवेद पर व्याख्याओं एवं भाष्यों के विद्यमान रहने पर भी पूर्व ऋषियों की परम्परा का वेदार्थ में निर्वाह करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती की वेद-भाष्य पद्धति का आश्रय ग्रहण कर उसे और अधिक व्यापक रूप प्रदान करने वाले तथा स्वामी जी का अविकल अनुमोदन एवं सम्पूर्ण समर्थन करते हुए वैदिक वाङ्मय से सम्पुष्ट आध्यात्मिक एवं जीवनोपयोगी व्यावहारिक सामवेद के मन्त्रों के सुरुचिसम्पन्न, पठनीय एवं प्रामाणिक अर्थ आचार्य डॉ. रामनाथ वेदालंकार ने संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में किये हैं।

आचार्य रामनाथ वेदालंकार के सामवेद-भाष्य की सबसे महत्त्वपूर्ण और बड़ी विशेषता यह है कि इसमें **जिन मन्त्रों के अर्थ ऋग्वेद और यजुर्वेद में स्वामी दयानन्द सरस्वती जी द्वारा व्याख्यात हैं उन पर भी न केवल भाष्य किया है अपितु स्वामी जी के अर्थों के टिप्पणियों में इंगित तथा उद्धृत करते हुए उससे भिन्न अर्थों को स्वामी जी की ही शैली में करके वेदार्थ की व्यापक दृष्टि को आविष्कृत किया है।** जिससे आचार्य जी स्वामी जी के अनुवादक मात्र होने से न केवल बच गये हैं अपितु नये तत्तद् विषय-परक मन्त्रार्थों के उद्भावक और स्वामी जी के प्रसिद्ध वाक्य **'वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है'** के याथातथ्य रूप में उद्गाता भी दिखायी देने लगे हैं। यास्क मुनि ने अपने निरुक्त में जिन मन्त्रों की व्याख्या लिखी है उन मन्त्रों पर भी व्याख्यान करते हुए आचार्य श्री ने निरुक्त की शैली का तो आश्रय लिया ही है परन्तु वेद मन्त्रों का उससे पृथक् अर्थ प्रस्तुत करके अपनी ऊहा का भलीभाँति से प्रदर्शन भी किया है। मैं यहाँ स्पष्ट करना चाहता हूँ कि इसका अर्थ आचार्य रामनाथ वेदालंकर जी को निरुक्तकार यास्क और स्वामी दयानन्द सरस्वती से अधिक उदात्त एवं उत्कृष्ट बताना अथवा सिद्ध करना अभिप्राय नहीं है अपितु निःश्रेणी का अनुसरण करके ऋषि परम्परा का निर्वहण और सम्पोषण सम्प्रति भी वेदों के भाष्य ऋषियों द्वारा प्रदत्त सूत्र शैली को ध्यान में रखकर अधिक व्यापक तथा विस्तार पूर्वक आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक अर्थ प्रस्तुत किये जा रहे हैं, इस ओर ध्यान आकृष्ट करना उद्देश्य है।

आचार्य जी अपने सामवेद-भाष्य की भूमिका में स्वयं लिखते हैं कि- **'स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के अपने भाष्य में पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दोनों दृष्टियाँ सम्मुख रखी हैं। उसी का अनुसरण हमने भी अपने इस सामवेद-भाष्य में किया है। सामवेद का उपासना से विशेष सम्बन्ध होने के कारण पारमार्थिक या अध्यात्म व्याख्या तो हमने प्रत्येक मन्त्र पर ही की है उसके साथ अनेक स्थलों पर ब्रह्म-क्षत्र, राजा-प्रजा, आचार्य-शिष्य, सेनापति-सैनिक, गृहपति-गृहजन, प्राण-इन्द्रिय, भौतिक सूर्य, भौतिक अग्नि, भौतिक वायु, आयुर्वेद, धनुर्वेद, शिल्प आदि से सम्बद्ध व्यावहारिक अर्थों का दर्शन भी किया है। इसी कारण भाष्य में दो अर्थ अनेक मन्त्रों के हो गये हैं। कुछ मन्त्र तीन, चार या पाँच दृष्टियों से भी व्याख्यात हुए हैं। सामवेद की इस व्याख्या में ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों का**

प्रतिपादन हुआ है।'[2]

आचार्य रामनाथ वेदालंकार की सामवेद-भाष्य के साथ संलग्न ७४ पृष्ठीय भाष्य-भूमिका के आद्योपान्त पढ़ने से सामवेद के एवं आचार्य जी के भाष्य के विषय में अत्यन्त विस्तृत, प्रामाणिक और प्रायः सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त हो जाती है।

आचार्य जी ने अपने सामवेद-भाष्य के प्रथम मन्त्र पर ही तीन अर्थ किये हैं। जब कि यह मन्त्र ऋग्वेद-(६.१६.१०) पर स्वामी दयानन्द सरस्वती के द्वारा विद्वत्-पक्ष में ही व्याख्यात है। आचार्य जी ने प्रथम अर्थ परमात्मा परक द्वितीय अर्थ विद्वान् परक तथा तृतीय अर्थ राजा परक सप्रमाण एवं युक्तियुक्त संगति के साथ प्रस्तुत किया है। मन्त्रार्थ निम्न प्रकार से उद्धृत है।

'तत्र प्रथमः परमात्मपरः। हे (अग्ने) सर्वाग्रणीः, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वसुखप्रापक, सर्वप्रकाशमय, सर्वप्रकाशक परमात्मन्! (गृणानः) कर्त्तव्यानि उपदिशन् त्वम् (वीतये) अस्माकं प्रगतये, अस्माकं विचारेषु, कर्मसु च व्याप्तये, हृदयेषु सद्गुणानां प्रजननाय, अस्मासु स्नेहितुम्, कामक्रोधादीनां च, बहिः प्रक्षेपणाय (हव्यदातये) होतुं दातुं योग्यं द्रव्यं हव्यं सद्बुद्धि-सत्कर्म सद्धर्म- सद्धनादिकं तस्य दातये दानाय च (आ याहि) आगच्छ (होता) शक्त्यादिप्रदातादौर्बल्यादिहर्त्ता च सन् (बर्हिषि) हृदयान्तरिक्षे (नि सत्सि) निषीद॥

अथ द्वितीयो विद्वत्परः। हे (अग्ने) विद्वन्! (गृणानः) यज्ञविधिं यज्ञलाभांश्चोपदिशन् त्वम् (वीतये) यज्ञस्य प्रगतये (हव्यदातये) हविषां यज्ञाग्नौ दानाय च (आयाहि) आगच्छ। (होता) होमनिष्पादकः सन् (बर्हिषि) दर्भासने (नि सत्सि) निषीद। एवं यजमानानामस्माकं यज्ञं निरूपद्रवं संचालयेत्यर्थः।

एवं तृतीयो राजपरः। हे (अग्ने) अग्रणीः राजन्! त्वम् (गृणानः) राजनियमान् शब्दयन् घोषयन् (वीतये) राष्ट्रस्य प्रगतये, स्वप्रभावेन प्रजासु व्याप्तये, प्रजासु राष्ट्रियभावनाया विद्यान्यायादीनां च प्रजननाय, आभ्यान्तराणां बाह्यानां च शत्रूणां निरसनाय वा, (हव्यदातये) राष्ट्रहितार्थं देहमनोराजकोषादिकं वा सर्वं किञ्चिद् हव्यं कृत्वा तस्य दातये उत्सर्जनाय च (आ आहि) आगच्छ। (होता) राष्ट्रयज्ञस्य निष्पादकः सन् (बर्हिषि) राज्यासने राजसभायां वा (नि सत्सि) निषीद।

भावार्थः- यथा विद्वान् पुरोहितो यज्ञासने स्थित्वा यज्ञं संचालयति, यथा राजा राजसभायां स्थित्वा राष्ट्रमुन्नयति, तथैव परमात्माग्निरस्माकं हृदयान्तरिक्षे स्थित्वास्माकं महत् कल्याणं कर्त्तुं शक्नोतीत्यसौ सर्वैरानन्तव्यः। सर्वेषां जनानां हृदये पूर्वमेव विराजमानोऽपि परमात्मा जनैर्विस्मृतत्वाद् अविद्यमानकल्प इति पुनरप्याहूयते। सर्वे जनाः स्वहृदि तस्य सत्तामनुभवेयुः, ततः सत्कर्मसु प्रेरणां च गृहीण्युरित्याशयः॥[3]

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उक्त मन्त्र पर विद्वानों के पक्ष में इस प्रकार व्याख्यान किया है।

(अग्ने) विद्वन्! (आ याहि) आगच्छ (वीतये) विद्यादिशुभगुणव्याप्तये (गृणानः) स्तुवन्

---

२ सामभाष्य-भूमिका पृष्ठ सं. ६७-६८ डॉ. रामनाथ वेदालंकार

३ ओ३म् अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि॥ (क.) सामवेद-(१.१.१) भाष्य-डॉ. रामनाथ वेदालंकार।

(हव्यदातये) दातव्यदानाय (नि) (होता) दाता (सत्सि) समवैषि (बर्हिषि) उत्तमायां सभायाम् इत्यादि।[४]

उक्त दोनों मन्त्रार्थों की तुलना करने पर यह सुस्पष्ट होता है कि आचार्य जी ने स्वामी जी से प्रेरणा प्राप्त कर अपने सामवेद-भाष्य को अधिक व्यापक अर्थ प्रदान करने वाला एवं ऋषियों की अविच्छिन्न परम्परा को पुनरुज्जीवित करने वाला तथा स्पष्टता एवं विशदता के साथ प्रस्तुत करने वाला बनाया है।

सामवेद के प्रथम मन्त्र की शब्दशः तुलना अधोलिखित प्रकार से द्रष्टव्य है-

स्वामी जी मन्त्रागत पद (अग्ने) का अर्थ विद्वान् करते हैं तो आचार्य जी परमात्मा, विद्वान् और राजा अर्थ देते हैं। (वीतये) पद का अर्थ स्वामी जी विद्यादिशुभगुणों की व्याप्ति के लिए लिखते हैं तो आचार्य जी हमारी प्रगति के लिये, हमारे विचारों और कर्मों में व्याप्त होने के लिये, हृदयों में सद्गुणों को उत्पन्न करने के लिये, हमारे में स्नेह भरने के लिये, और कामक्रोधादि दुर्गुणों को बाहर फेंकने के लिए, यज्ञ की प्रगति के लिये, राष्ट्र की प्रगति के लिये, अर्थ करते हैं। (गृणानः) शब्द का स्वामी जी अर्थ स्तुति करते हैं तो आचार्य जी कर्त्तव्यों का उपदेश करते हुए, यज्ञविधि और यज्ञ के लाभों का उपदेश करते हुए, राजनियमों को बताते हुए एवं उद्घोषणा करते हुए अर्थ लिखते हैं। (हव्यदातये) का व्याख्यान स्वामी जी देने योग्य दान के लिये करते हैं वहीं आचार्य जी सद्बुद्धि-सत्कर्म-सद्धर्म-सद्धनादि, देने योग्य हवि के, दान के लिये, हवि का यज्ञाग्नि में दान के लिये, राष्ट्रहित के लिये शरीर, मन, राजकोषादि अथवा सर्वस्व होम करके उसको उत्सर्जन करने के लिये अर्थ प्रकट करते हैं। (होता) का अर्थ स्वामी जी दाता लिखते हैं तो आचार्य जी शक्ति आदि प्रदाता, दुर्बलता आदि का हर्त्ता, होम का निष्पादक, राष्ट्रयज्ञ का सम्पादक अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। (सत्सि) का अर्थ स्वामीजी ने 'समवैषि' किया है तो आचार्य जी ने 'निषीद' यह लिखा है। (बर्हिषि) पद का व्याख्यान स्वामी जी उत्तम सभा में करते हैं वहीं आचार्य जी ने हृदयान्तरिक्ष में, दर्भासन पर, राज्यासन अथवा राजसभा में ऐसा अर्थ व्यक्त किया है।

उक्त सामवेद के प्रथम मन्त्र की स्वामी जी एवं आचार्य जी के अर्थों की तुलना करने पर यह सुस्पष्ट रूप से दिखायी देता है कि **आचार्य जी ने न केवल स्वामी जी की वेदभाष्य शैली का अनुसरण किया है प्रत्युत उसको वैदिक वाङ्मय से सुपुष्ट करते हुए व्यापक अर्थों में विस्तार भी प्रदान किया है। आचार्य जी ने अपने सामवेद भाष्य को शैली, परम्परा, विविधता, व्यापकता, विशदता, सुगमता एवं प्रामाणिकता के साथ सुभूषित करके प्रस्तुत किया है वह हृदयावर्जक है, वह पठनीय है और अन्यों के लिए प्रेरक एवं अनुकरणीय भी मुझे प्रतीत होता है। ऐसा अनेक स्थलों पर दिखायी देता है कि आचार्य जी ने ध्यानावस्थित होकर मानो साक्षात् ईश्वर से ही अन्तःकरण में अर्थोद्घाटन की प्रेरणा प्राप्त कर भाष्य लिखा है।** इससे यह भी कहने में संकोच नहीं है कि ऋषियों की परम्परा का उच्छेद अथवा विच्छेद होना अत्यन्त कठिन है। साधना और अध्ययन रूपी तप में तपा हुआ व्यक्ति ही सम्पूर्ण वैदिक साहित्य एवं संस्कृत साहित्य का आलोडन-विलोडन करके इस प्रकार का वेद-भाष्य लिखने में समर्थ हो पाता है। आचार्य जी की गम्भीर साधना, विस्तृत एवं व्यापक अध्ययन का ही सुपरिणाम यह सामवेद-भाष्य है।

सामवेद के एक अन्य मन्त्र पर अर्थ करते हुए आचार्य जी ने अपने पूर्ववर्त्ती भाष्यकारों विवरणकार

---

४ ऋग्वेद - (६.१६.१०) भाष्य-स्वामी दयानन्द सरस्वती।

माधव, भरत स्वामी, आचार्य सायण, उव्वट, महीधर और स्वामी दयानन्द सरस्वती को उद्धृत कर समीक्षा पूर्वक अपने अर्थ को अभिव्यक्त किया है। इस मन्त्र पर एक भाष्यकार माधव ने इतिहास, भरत स्वामी ने अग्नि को अथर्वा ने मथकर निकाला इत्यादि में अग्नि की उत्पत्ति, आचार्य सायण ने अग्नि को पुष्करपर्ण अर्थात् कमल-पत्र के ऊपर अरणियों से उत्पन्न किया आदि से अग्नि के प्रादुर्भाव का वर्णन, उव्वट और महीधर ने भी लगभग इसी प्रकार के अर्थ से अपने वेद-भाष्य में किये हैं। इन सबका प्रत्याख्यान करके आचार्य रामनाथ वेदालंकार ने यथार्थ अर्थ परिचित कराने का प्रयत्न भी किया है।

मन्त्र एवं मन्त्रार्थ[५] निम्न प्रकार से उदाहरण स्वरूप उद्धृत है।

हे (अग्ने) तेजः स्वरूप परमात्मन्! (अथर्वा) न थर्वति चलति यः सः, स्थितप्रज्ञो योगीत्यर्थः। (त्वाम्) भवन्तं (विश्वस्य) सकलस्य ज्ञानस्य (वाघतः) वाहकात् वाहके इति यावत्। (पुष्करात्-मूर्ध्नः अधि) पुष्करीकतुल्ये मस्तिष्के (निरमन्थत) मथित्वा जनयति। उक्तं च श्वेताश्वतरे- 'स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्यान-निर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्'। श्वेता. २.१४। 'पुष्करपर्णाश्रयेण हि अग्निः उत्पन्नः' इत्यस्याः कथाया अयमेव मन्त्रो मूलम्। यथोच्यते- त्वामग्ने पुष्करादधीत्याह पुष्करपर्णे ह्येनमुपश्रितमन्वविन्दत्। तै.सं. (५.१.४.४) इति।

भावार्थः- यथा खल्वरणिमन्थनेन यज्ञवेदिपुण्डरीके यज्ञाग्निरुत्पाद्यते, तथैव स्थिर-प्रज्ञैर्योगिभिः ध्यानरूपेण मन्थनेन मूर्धपुण्डरीके परमात्माग्निः प्रकटीकरणीयः।[६]

दयानन्दर्षिणा ऋग्वेदभाष्ये यजुर्वेदभाष्ये चायं मन्त्रः सूर्यादिः सकाशाद् विद्युद् ग्रहणपरो व्याख्यातः। यथा- ऋ. ६.१६.१३ मन्त्रभाष्ये भावार्थः- हे विद्वांसो, यथा पदार्थविद्याविदो जनाः सूर्यदेः सकाशाद् विद्युतं गृहीत्वा कार्याणि साध्नुवन्ति तथैव यूयमपि साध्नुत इति।

यजु. १५.२२ मन्त्रभाष्ये च भावार्थः- मनुष्यैः विद्वदनुकरणेनाकाशात् पृथिव्याश्च विद्युत् संगृह्याश्चर्य्याणि कर्माणि साधनीयानि। इति।

विवरणकारस्त्वाह- अत्रेतिहासमाचक्षते। सर्वमिदमन्धं तम आसीत्। अथ मातरिश्वा वायुः आकाशे सूक्ष्ममग्निमपश्यत्, स तममथ्नात् अथर्वा च ऋषिरिति। एष च तन्मन्त्रभाष्यस्य सारः-हे अग्ने अथर्वा ऋषिः त्वां मूर्ध्नः प्रधानभूतात् पुष्करात् अन्तरिक्षात्, विश्वस्य सर्वस्य, वाघतः ऋत्विजो यजमानस्य अर्थाय निरमन्थत नितरां मथितवानिति। वस्तुतस्त्वयं सृष्ट्युत्पत्तिप्रक्रियायाम् अग्नेर्जन्मन इतिहासः। आकाशाद् वायुः वायोरग्निरित्युत्पत्तिक्रमः। आकाशे सूक्ष्मरूपेणाग्निर्विद्यमान आसीत्। तम् अथर्वा परमेश्वरः पूर्वोत्पन्नो वायुश्च तस्मात् निरमन्थत प्रकटी-कृतवानित्यीभिप्रायो ग्राह्यः।

'मूर्ध्नो धारकात् विश्वस्य वाघतः निर्वाहकात्, पुष्काराद्, अन्तरिक्षात्, पुष्करपर्णादित्यपरे' इति भरतस्वामि भाष्याशयः। हे अग्ने, अथर्वा एतसंज्ञ ऋषिः मूर्ध्नः मूर्धवद्धारकात्, विश्वस्य सर्वस्य जगतः वाघतः वाहकात्, पुष्कराद् अधिपुष्करे पुष्करपर्णे त्वां निरमन्थत अरण्योः सकाशादजनयदिति सायणीयोऽभिप्रायः। अत्रापि पुष्करपर्णं न कमलपत्रम्, किन्तु यज्ञवेद्या आकाशः, अथर्वा च स्थिरचित्तत्वेन

---

५ त्वाग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विष्वस्य वाघतः। साम. (१.१.९)

६ सामवेद-भाष्य (१.१.९) आचार्य रामनाथ वेदालंकार

यज्ञं कुर्वाणो यजमानः, असौ अरण्योः सकाशादग्निं जनयतीति तात्पर्यं बोध्यम्।।

उव्वटस्तु यजु. (।।.३२) भाष्ये-'आपो वै पुष्करं प्राणोऽथर्वा। शतपथ (६.४.२.२) इति शातपथीं श्रुतिं प्रमाणीकृत्य 'त्वां हे अग्ने, पुष्कराद् उदकाद् अधि सकाशात् अथर्वा अतनवान् प्राणे निरमन्थत निर्जनितवान् इति व्याचष्टे। तदेव महीधरस्याऽभिप्रेतम्। तत्र प्राणः प्राणवान् परमेश्वरो विद्वान् वा, उदकानि पर्जन्यस्थानि, अग्निश्च विद्युदिति विज्ञेयम्। यद्वा, शरीरस्थः प्राणो भुक्तपीतेभ्यो रसेभ्यो जीवनाग्निं जनयतीति तात्पर्यं बोध्यम्। महीधरेण द्वितीयो वैकल्पिकोऽर्थः पुष्करपर्णेऽग्निमन्थन पर एव कृतः। भाष्यकारैस्तात्पर्यं प्रकाशन विनैव कथा लिखिता याः पाठकानां भ्रमोत्पत्तिनिमित्तं सञ्जाताः।।

वस्तुतस्तु अथर्वनाम्नः कस्यचिद् ऋषेरितिहासोऽस्मिन् मन्त्रे नास्ति, वेदमन्त्राणामीश्वरप्रोक्तत्वात्, सृष्ट्यादौ प्रादुर्भूतत्वात् पश्चादवर्त्तिनाम् ऋष्यादीनां कार्यकलापस्य पूर्ववर्तिनि वेदेऽसम्भवत्वाच्च।।

उपर्युक्त मन्त्रार्थ के उद्धरण से यह प्रमाणित होता है कि आचार्य जी ने अपने सामवेद-भाष्य में पूर्व भाष्यकारों एवं व्याख्याकारों के पक्ष को सुस्पष्ट रूप से प्रस्तुत करके जहाँ उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की है वहाँ वेदार्थ के सम्यक् अवबोध हेतु उनके मत का निरसन करने में भी संकोच नहीं किया है।

आचार्य रामनाथ वेदालंकार द्वारा सामवेद का एक मन्त्र[७] चार प्रकार से व्याख्यात है। इस मन्त्र पर आचार्य यास्क का भी निरुक्त में अर्थ प्राप्त होता है। आचार्य जी ने निरुक्त को उद्धृत करते हुए अपने चार अर्थ प्रस्तुत किये हैं। प्रथम सूर्य और सूर्य-किरणों के पक्ष में, द्वितीय आचार्य और शिष्यों के पक्ष में, तृतीय परमात्मा और जीवात्मा के पक्ष में तथा चतुर्थ राजा और प्रजा के पक्ष में अर्थ लिखे हैं। इसको भी उद्धृत करने के लोभ का संवरण न कर पाने के कारण मन्त्र एवं मन्त्रार्थ अधोलिखित प्रकार से द्रष्टव्य है-

प्रथमः- सूर्य-सूर्यरश्मिपक्षे। (सुपर्णाः वयः) उत्कृष्टपक्षतियुक्ताः पक्षिणः इव सुपतनाः आदित्यरश्मयः (इन्द्रम्) सूर्यम् (उपसेदुः) उपसीदन्तीव। (प्रियमेधाः) प्रिया मेधा बुद्धिप्रदानाख्यं कर्म येषां तादृशाः, यद्वा प्रियः मेधः यज्ञः प्रकाशप्रदानरूपः येषां तथाविधाः। (ऋषयः) दर्शयितारः ते (नाधमानाः) याचमाना इव भवन्ति। यत् हे आदित्य! (निधया इव) पाशसमूहेन इव। (बद्धान्) संयतान् (अस्मान्) नः (मुमुग्धि) मुञ्च। अस्मदद्वारा (ध्वान्तम्) तमः, तमसः आवरणमिति यावत् (अप ऊर्णुहि) अपावृणु, (चक्षुः) प्राणिनां नेत्रम् (पूर्धि) प्रकाशेन पूरय।।

मन्त्रमेतं यास्काचार्य एवं व्याख्यातवान्- वयो वेर्बहुवचनम्। सुपर्णाः सुपतनाः आदित्यरश्मयः। उपसेदुरिन्द्रं याचमानाः। अपोर्णुहि आध्वस्तं चक्षुः। पूर्धि पूरय, देहीति वा। मुञ्च अस्मान् पाशैरिव बद्धान् इति।। निरुक्त-(४.३)

अथ द्वितीयः- आचार्यशिष्य-पक्षे। (सुपर्णाः) ज्ञानकर्मोपासनारूपशोभन पक्षयुक्ताः (वयः) उड्डयनसमर्थाः पक्षिणः इव अधीतविज्ञानप्रचारसमर्थाः शिष्याः (इन्द्रम्) विद्या-ऐश्वर्यवन्तम् आचार्यम् (उपसेदुः) उपसीदन्ति। (प्रियमेधाः) प्रियबुद्धयः प्रिययज्ञाः वा (ऋषयः) वेदादिशास्त्रद्रष्टारः सन्तः ते (नाधमानाः) आचार्यं याचमानाः भवन्ति यत् (निधया इव बद्धान्) पाशैरिवात्र गुरुकुले निगडितवान्

---

७ वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः। अपध्वान्तमूर्णुहि पूर्द्धि चक्षुर्मुमुग्ध्या स्मान्निधयेव बद्धान्।। साम. मन्त्र सं. (३१९)

(अस्मान्) नः (मुमुग्धि) बहिर्गन्तुं मुञ्च, अस्मद्द्वारा (ध्वान्तम्) जगति प्रसृतम् अविद्यान्धकारम् (अप ऊर्णुहि) अपसारय, जनेषु च (चक्षुः) ज्ञानप्रकाशं (पूर्धि) पूरय॥

अथ तृतीयः- परमात्मजीवात्मपक्षे। (सुपर्णाः) ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-प्राण-मनो-बुद्धि (वयः) पक्षिणः इव जीवात्मानः (इन्द्रम्) परमेश्वरम् (उपसेदुः) उपसीदन्ति। (प्रियमेधाः) प्रियप्रज्ञानाः प्रिययज्ञाः वा (ऋषयः) द्रष्टारः ते (नाधमानाः) परमेश्वर याचमानाः भवन्ति, यत्-अस्माकं (ध्वान्तम्) तमोगुणावरणम् (अप ऊर्णुहि) अपसारय, (चक्षुः) ज्ञानप्रकाशं (पूर्धि) पूरय, (निधया इव) पाशसमूहेन वा जन्मजरामरणादिना (बद्धान्) देहे जगति वा निगडितान् (अस्मान्) नः (मुमुग्धि) मुञ्च, मुक्ति-प्रदानेन अनुगृहाण॥

अथ चतुर्थः- राजप्रजापक्षे (सुपर्णाः) विविधसाधनरूपशुभपक्षाः (वयः) कर्मण्याः प्रजाजनाः (इन्द्रं) परमैश्वर्यं वीरं राजानम् (उपसेदुः) उपसीदन्ति। (प्रियमेधाः) प्रियबुद्धयः प्रिययज्ञः वा (ऋषयः) दर्शनशक्तिसम्पन्नाः प्रबुद्धाः ते (नाधमानाः) राजानं याचमानाः भवन्ति, यत् (ध्वान्तम्) राष्टे व्याप्तम् अविद्या भ्रष्टाचारादिरूपं तमः (अप ऊर्णुहि) अपसारय (चक्षुः) सद्विज्ञान-सद्विचार-सदाचारादीनां प्रकाशम् (पूर्धि) पूरय, (निधया इव) पाशसमूहेन इव पापैर्दुर्व्यसनैश्च (बद्धान्) निगडितान् (अस्मान्) प्रजाजनान् (मुमुग्धि) सच्छिक्षण-दण्डादिभिरुपायैः पापेभ्यो दुर्व्यसनेभ्यश्च मोचय॥

अप्रस्तुतप्रशंसालकारः। अप्रस्तुतेन सूर्य-रश्मि-वृत्तान्तेन प्रस्तुतो गुरुशिष्य-परमात्मा जीवात्म-राजप्रजावृत्तान्तो व्यज्यते। 'निधयेव बद्धान्' इत्युत्पेक्षा॥

भावार्थः- कविरुत्पेक्षते यद् रात्रौ सूर्यरश्मयो जालबद्धाः खगा इव सूर्यमण्डले संयता इव भवन्ति, ते तदा सूर्यं याचन्ते इव यदस्मान् मुञ्च येन वयं भूतलं गत्वाऽन्धकारं निवार्य सर्वत्र प्रकाशं प्रसारयेम। तथैव गृहीतविद्याः शिष्या आचार्यं याचन्ते यदस्मान् गुरुकुलाद् विसृज, येन बहिर्गत्वा वयं जगति प्रसृतम् अविद्यान्धकारं निवारयेम। तथैव जीवात्मानः परमात्मानं याचन्ते यज्ज्ञानाञ्जनशलाकयाऽस्माकं चक्षुरुन्मील्य जन्म-जरामरणादिभिर्निगडितानस्मान् मोक्षाधिकारिणः कुरु। तथैव प्रजाजना राजानं याचन्ते यद् राष्ट्रे व्याप्तम् अज्ञानदुराचारादिरूपं तमो विच्छिद्य राष्ट्रपतनकारिभ्यः समस्तेभ्योऽपि दुर्व्यसनेभ्योऽस्मान् मोचयेति[८]।

उक्त मन्त्रार्थ में और यास्क द्वारा निरुक्त में वर्णित सूर्यरष्मि पक्ष के व्याख्यान में अत्यल्प विभेद दिखायी पड़ता है। इस ओर ध्यान आकृष्ट करना अभीष्ट है। मन्त्रागत 'ध्वान्तम्' को आचार्य यास्क ने 'चक्षुः' का विशेषण मानकर उसका 'ध्वस्त' यह अर्थ किया है। किन्तु आचार्य रामनाथ वेदालंकार ने 'ध्वान्त' को 'चक्षु' का विशेषण न मानकर अन्धकार वाचक अलग ही पद स्वीकार करके अधिक सुसंगत अर्थ किया है।

यास्क मुनि ने जहाँ निरुक्त में उपर्युक्त व्याख्या ही की है, वहीं आचार्य जी ने चारों अर्थों में क्रमशः 'ध्वान्तम्' का अन्धकार के आवरण को, संसार में फैले हुए अविद्या के अन्धकार को, तमोगुण के आवरण को, राष्ट्र में व्याप्त अविद्या, भ्रष्टाचार आदि के अन्धकार को हटाने की अथवा दूर करने वाली व्याख्या की है।

---

८ सामवेद-मन्त्र संख्या-पूर्वार्चिक (३१९) आचार्य रामनाथ वेदालंकार

निरुक्त-(४.३) पर आचार्य विश्वेश्वर की टीका को देखने पर ज्ञात होता है कि आचार्य रामनाथ वेदालंकार ने उक्त अर्थ की उद्भावना निम्न टीका के वाक्य से ग्रहण की हो अथवा स्वोपज्ञ प्रतिभा प्रसूत हो अथवा किसी अन्य पूर्ववर्त्ती भाष्यकार के आशय को ग्रहण कर युक्तिपूर्वक अर्थ किया है।

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि निरुक्त के उक्त मन्त्र पर टीका करते हुए लिखते हैं कि- 'यास्क ने इस मन्त्र की व्याख्या की है। इस व्याख्या में मन्त्र के 'ध्वान्त' पद को 'चक्षु' का विशेषण मानकर उसका 'ध्वस्त' यह अर्थ किया है। यदि ध्वस्त को चक्षु का विशेषण न लगाकर अन्धकार वाचक अलग ही पद माना जाय तो अर्थ अधिक अच्छा और भाषा का प्रवाह ठीक रहता है। 'ध्वान्तम् अपोर्णुहि' अन्धकार को नष्ट करो और 'चक्षुः पूर्धि' नेत्रों को सशक्त अर्थात् समर्थ करो यह अर्थ यास्क के अर्थ की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा प्रतीत होता है। अतः हमने मन्त्र का यही अर्थ किया है।[१]

उपर्युक्त उद्धरणों एवं आचार्य जी के सामवेद-भाष्य को ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि आचार्य रामनाथ वेदालंकार का भाष्य न केवल ऋषि परम्परानुमोदित और समर्थित है, अपितु व्यापक अर्थों को प्रकट करते हुए पूर्व भाष्यकारों एवं व्याख्याकारों की समीक्षा भी करता है।

---

१ निरुक्त- ४.३ (यास्क) पृष्ठ ३७२ व्याख्याकार- आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ071-76) ISSN 0974 – 8830

वैदिक साहित्य में प्रतिबिम्बित जीवनदर्शन

डॉ० कुमरपाल[१]

वेद संसार का प्राचीनतम ग्रन्थ है। 'वेद' शब्द ज्ञानात्मक 'विद्' धातु में 'घञ्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदभाष्य भूमिका में वेद का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है- **'विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते 'वेदाः।'** अतः वेद का मूल रूप इस प्रकार है- वेद सत्य विद्या है, वेद ज्ञानियों का विषय है तथा वेद सभी मनुष्यों के लिए उपयोगी हैं। **वेद की चार संहिताएँ-** ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद विश्वविदित हैं। आर्ष परम्परा वैदिक मन्त्रों, ब्राह्मणों तथा आरण्यकों श्रुतियों के रूप में वर्गीकृत करती है। यह पवित्र ज्ञान किसी मानव-मस्तिष्क की उपज नहीं माना जाता। इसका पूर्णरूपेण रूप सृष्टि के आरम्भ से ही वर्तमान और ऋषि के ध्यानस्थ अवस्था के उत्कर्ष पर उसके मस्तिष्क में प्रकट होता है। भारतीय मत के आधार पर वेद ईश्वरीय कृति है। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में भी इसी मत की पुष्टि दृष्टव्य है:-

तस्माद्यसात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।[१]

मनस्मृति में ईश्वर द्वार वेदों का ज्ञान अग्नि, वायु, सूर्य तथा अंगिरा को दिये जाने का वर्णन है-

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्।।'[२]
अध्यापयामास पितृकशिशुरागिंरसः कविः।।'[३]

महर्षि दयानन्द ने वेदों को ईश्वरकृत मानकर उन्हें उतना ही प्राचीन सिद्ध किया है, जितनी कि यह सृष्टि प्राचीन है। उनके अनुसार ईश्वर ने मनुष्यों के कल्याणार्थ वेद को ऋषियों के हृदय मे प्रकाशित किया था।

समस्त अधीनस्थ परम्पराएँ जो वेदों के चतुर्दिक् विकसित हुई, उन स्मृतियों के रूप में वर्गीकृत की गईं जिनकी रचना अतिश्रेष्ठ उत्पत्ति वाले श्रुतियों के विपरीत, मानव लेखकों ने की। श्रुति के मूलसूत्र विस्तृत रूप से वेदों के छः वेदांगों के रूप मे वगीकृत हैं। वैदिक साहित्य के मर्म को स्पष्ट करने का श्रेय वेदांग साहित्य को ही है। वेद के छः अंग हैं- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। स्वर-

---

१. अध्यक्ष संस्कृत विभाग, श्री ब्रजेन्द्र जनता महाविद्यालय, बिसावर, हाथरस (उ० प्र०), निवास- बी:७२४ ट्राँस यमुना कॉलोनी, रामबाग,आगरा (उ० प्र०) २८२००६, मो० नं० ९४५६२७६७८८

१ ऋग्वेद १०.९०.९
२ मनुस्मृति १.२३
३ मनुस्मृति २.१५१

ज्ञान को 'शिक्षा' कहते हैं। 'पाणिनीय शिक्षा' स्वर-ज्ञान को सूचित करने वाला ग्रन्थ है। 'सूत्रग्रन्थों को 'कल्प' के अन्तर्गत रखा गया है। सूत्रग्रन्थों को गृह्यसूत्र, श्रौत्रसूत्र तथा धर्मसूत्र नामक भेदों में विभाजित किया गया है। प्रातिशाख्य ग्रन्थ वैदिक व्याकरण से सम्बद्ध ग्रन्थ हैं। आचार्य यास्क का 'निरुक्तम्' एक निरुक्त ग्रन्थ है। निरुक्त के माध्यम से वेदार्थ का ज्ञान कराया जाता है। '**छन्दोऽनुशासनम्**' ग्रन्थ में छन्दों के लक्षण एवं स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। 'वेदांग ज्योतिष में ज्योतिष-तत्त्व का वर्णन है।

वैदिक आर्यों की संस्कृति यूनानी अथवा रोमन संस्कृति से भी प्राचीन मानी जाती है। किसी भी समाज व जाति की सांस्कृतिक अभिव्यञ्जना तथा उसकी विशेषताएँ ही उसका जीवन दर्शन होता है। अथर्ववेद[४] कहता है कि यह विश्व सबसे प्यारा है।' और एक स्थान पर ऋग्वेद कहता है कि 'किसी संसार की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। हम लोगों को यहीं पर और इसी समय प्रसन्न रहना चाहिए। हम लोगों को आज सुख का आनन्द लेने वाला बनाओ!'[५] आर्य मस्तिष्क ने मृत्यु को विस्मृत अथवा उपेक्षित करने की चेष्टा नहीं की। उसके गम्भीर यथार्थवादी दृष्टिकोण का प्रकटीकरण तब होता है जब वे मृत्यु को 'साथी' अथवा मानव जाति के अदृश्य साथी के रूप में मानते हैं।[६] साथी' शब्द एक पुरुषोचित तथा मृत्यु के प्रति शान्तिपूर्ण दृष्टिकोण की ओर संकेत करता है, जो कि कल्पना अथवा भय से कलुषित नहीं हैं। आरम्भ में वह जिसके लिए प्रार्थना करते हैं, वह आकस्मिक मृत्यु से मुक्ति है। जब उनके जीवन का माधुर्य समाप्त हो जाता है तो वे जीवन का संगीतकक्ष छोड़ने के लिए तत्पर हो जाते थे। परन्तु अपूर्ण गीत दुःखद रूप से अन्यायपूर्ण ज्ञात होता था। वैदिक ऋषि वरुण[७] से प्रार्थना करता है 'जब मैं अपने जीवन का गीत बुन रहा हूँ तो मेरे जीवन का धागा मत टूटने दो और न मेरे कार्य के माप को समय से पूर्व टूटने दो।' वे ऐसे सौ वर्ष के जीवन की प्रार्थना करते थे जो शक्ति से परिपूर्ण तथा आँख, कान तथा बाहुओं की शक्ति और मस्तिष्क की सजगता में अक्षत हो।[८] जब उनके पुत्र स्वयं पिता बन जाते हैं तो वे जाने के लिए तत्पर हो जाते थे।[९]

वेद जीवन तथा उसकी समस्याओं का सामना साहस तथा पुरुषोचित दृढता के साथ करने की प्रेरणा देते हैं। ऋग्वेद[१०] उपदेश देता है: 'सीधे खड़े हो।' अथर्ववेद[११] प्रेरणा देता है: 'शूरवीरों के समान व्यवहार करो।' ऋग्वेद[१२] पुनः कहता है: 'देवता श्रान्त व्यक्तियों के अतिरिक्त किसी अन्य से मैत्री नहीं स्थापित करते, वे आलस्यपूर्ण निद्रा को नहीं पसन्द करते।' ऐतरेय ब्राह्मण कहता है 'इन्द्र उन्हीं लोगों के मित्र हैं जो गतिमान् हैं।' आर्य लोग आपत्तिकाल में सहायतार्थ देवताओं से प्रार्थना करते थे, परन्तु यह

---

४ अथर्ववेद ५, ३०,१७

५ ऋग्वेद,९,८४,१

६ ऋग्वेद ८,१८,२२

७ ऋग्वेद २,२८,५

८ अथर्ववेद १९,६०

९ ऋग्वेद १, ८९,९

१० ऋग्वेद १०.५३.८

११ अथर्ववेद १२.२.२६

१२ ऋग्वेद ४.३३.११; ८.२.१८

प्रार्थना पुरुषोचित होती थी:- हे सर्वशक्तिमान, हे मेघनाद! मैं तुम्हारी स्तुति करता हूँ कि मुझे शक्ति दो।'[१३] कुलीय एकता अस्तित्व के लिए आधारभूत आवश्यकता थी, विशेषकर नवीन प्रदेशों के विजय के आरम्भिक चरण में। 'कंकड़ पत्थर से भरी नदी बह रही है। हे साथियो! साथ मिलकर चलो, तनकर चलो, और इसे पार कर जाओ।'[१४] उस अशान्त समय में जब जातियाँ विशाल संस्था में महाद्वीपों में निर्वासित होती थी, आर्य लोग लड़ाकू लोगों की भाँति अपने शस्त्रों से अत्यधिक प्रेम करते थे। ऋग्वेद में धनुष पर लिखी हुई एक मन्त्र में ये गुण व्यक्त किये हैं: अपने प्रिय मित्र को अपने गले लगाकर वह कान के समीप इस प्रकार जाती है मानो कोई महत्त्वपूर्ण गुप्त बात कान में धीरे से कहना चाहती हो। धनुष के ऊपर चढ़ी हुई प्रत्यंचा एक युवती की भाँति बुदबुदाती है- वह प्रत्यंचा जो युद्ध में योद्धा की रक्षा करती है।'[१५] हम लोगों को योद्धा का सजीव चित्र तब मिलता है जब वह कसी हुई प्रत्यंचा को कान तक खींचकर बाण छोड़ना ही चाहता है। जब जीवन रक्षा के प्रति कृतज्ञता की भावना से संघर्ष समाप्त हो जाता है तो भूमि उर्वरता तथा सौन्दर्य के प्रति सहज ज्ञान उपजता है। 'हे पृथ्वी! पहाड़ियों तथा हिमाच्छादित पर्वतों तथा वन प्रदेशों से परिपूर्ण! भूरी, काली, गुलाबी तथा अन्य सभी रंगों की धरती को मैंने बिना मरे- कटे अथवा घायल हुए जीता और उस पर अपना पैर रखा।'[१६] उन्होंने पाया कि अनुकूल पृथ्वी ने उन्हें पर्याप्त पुरस्कार दिया। जब उन्होंने सिन्धु नदी को एक बार पार कर लिया तो वह एक खाई के समान उनके भूमि की रक्षा करने लगी। उससे पृथ्वी को उर्वरता मिली। 'पोषक लहर के साथ वह आगे बड़ी जो कि हम लोगों के लिए दुर्ग के समान थी। अपने रथ में बैठे हुए योद्धा के समान, यह धारा अन्य सबको निगलती हुई बहती है। पर्वतों से सागर तक यह निर्जल जल से प्रवाहित है। अनेक मनुष्यों को धनी बनाने के लिए यह समृद्धि और तट स्थित निवासियों के लिए शीतल वायु के झोंके लाती है।'[१७] उन्होंने सिन्धु-गंगा के मैदान की उर्वर भूमि के प्रति सच्चे हृदय से श्रद्धांजलि अर्पित की। 'वह भूमि जहाँ सागर, नदियाँ तथा झीलें, जहाँ श्वास लेते तथा सक्रिय रहते हैं।' उन्होंने भूमि का संघर्ष तथा आनन्द, दोनों ही स्वीकार किया। 'जिस पर मनुष्य गाते तथा नृत्य करते हैं, जिस पर मनुष्य युद्ध में टकराते हैं, युद्ध-नाद हो उठता है और नगाड़े बजते हैं।'[१८]

जब आरम्भिक चरण के स्वत्व सम्बन्धी संघर्ष निर्मूल हो गये तो मनुष्य का भूमि के साथ, अधिक उत्पादन के लिए, शान्तिपूर्ण तथा उत्पादक संघर्ष सीमित हो गया। योद्धा कृषक बन गया। 'हे भूमि देवता! जिस प्रकार गाय हमें दूध देती है, उसी प्रकार हम लोगों को मधुर, शुद्ध, मक्खन के समान, सुस्वादु तथा विपुल वर्षा दो! वनस्पतियाँ हम लोगों के लिए मधुर हो जायें। हाँकने वाली छड़ी को प्रसन्नतापूर्वक चलने दो!' ऋग्वेद कृषक जीवन का अच्छा शब्दचित्र देता है। खेतों की सिंचाई करते समय किसान चिड़ियों को डराने के लिए चिल्लाते हैं। मनुष्यों तथा पशुओं के लिए पेयजल एकत्र करने के लिए जलाशय बनाते हैं।

---

१३ ऋग्वेद ८.१३.३३
१४ ऋग्वेद १०.५३.८
१५ ऋग्वेद ६.७५.३
१६ अथर्ववेद १२.१.११
१७ Adolf Kaegi: Life in Ancient India. Pp. 22.23 (Sunil Gupta , Calcutta)
१८ अथर्ववेद १२,१,४१

कूओं में रहट तथा मोटर लगाये जाते हैं। चमड़े के मोट सावधानी से बनाए जाते हैं ताकि उनमें से पानी टपकने न पाये। बैलों की जोड़ी जाती जाती है और हल जमीन को जोतता है। जब फसल तैयार हो जाती है तो अनाज के गट्ठर एकत्र करके गाड़ियों में खेतों से ले जाये जाते हैं।[१९] खेतों में कठिन श्रम ही समृद्धि और सामान्य अभिलाषाओं की सन्तुष्टि का मार्ग समझा जाता था। 'नुकीला, अच्छी प्रकार जोतने वाला, चिकनी मूँठ वाला हल, हमको जानवर, भेड़ गाड़ी खीचने के लिए एक घोड़ा, तथा एक स्वस्थ कुमारी बाला दे।[२०]

विभिन्न प्रकार के व्यवसाय पनपने लगे। परिश्रमी लोगों ने आत्मविश्वास के साथ विभिन्न प्रकार के व्यवसायों को जन्म दिया। 'मुझे दूसरे की कमाई पर न निर्भर रहना पड़े!'[२१] धन से अस्वस्थ व्यक्ति को विरक्ति नहीं मिलती थी, बल्कि ऐसी मान्यता थी कि धार्मिक तथा नैतिक भावना से समृद्धि प्राप्त करने के लिए योग्यता पूर्वक श्रम करे। 'मनुष्य को धन की चिन्ता करनी चाहिए लेकिन उसे न्याय तथा आराधना द्वारा प्राप्त करना चाहिए!'[२२] वेद में रहन-सहन का आशावादी दृष्टिकोण प्रकट होता है, जहाँ ऋषि अपने को सम्मिलित करते हुए समस्त मनुष्यों के उस संसार पर मधुर भाव से दृष्टिपात करता है जो अपनी इच्छाएँ तथा जीविका के साधन, तथा उनकी सन्तुष्टि के माध्यम ढूँढ रहे हैं। मनुष्यों के विचार तथा योजनाओं के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। बढ़ई दरार की कामना करता है ताकि वह उसकी मरम्मत कर सके, चिकित्सक किसी मोच की तलाश करता हुए जिसे वह ठीक कर सके; मैं एक कवि हूँ, मेरे पिता एक चिकित्सक हैं, तथा मेरी माता चक्की में अनाज पीसती है। विभिन्न युकतियों द्वारा धन के लिए उद्यम करते हुए, हम लोग गाय के समान अपनी इच्छाओं का अनुसरण करते हैं।' यही संसार की रीति है।

प्रारम्भिक वैदिक समाज को पूर्णतया आदर्श नहीं मान सकते हैं। अनेक मनुष्य ऐसे थे जो धनोपार्जन के लिए कार्य करने की अपेक्षा जुआ खेलना पसन्द करते थे। ऋग्वेद[२३] में एक स्थान पर जुआरी का विलाप है। जुआ खेलने की उत्तेजना उसके सिर में सोमरस के घूंट के समान जाती है। वह पासे तक उसी प्रकार खिंच आता है जिस प्रकार एक स्त्री अपने प्रेमी के पास। परन्तु समाज में ऐसे व्यसनी अधिक नहीं थे। एक जुआड़ी का अनुभव बताता है कि पासा शीतल होने पर भी जलते हुए अंगारे के समान है जो हृदय को झुलसा देता है। वह जानता है कि उसकी परित्यक्ता पत्नी अत्यन्त दुःख में है तथा उसकी माता अपने आवारा पुत्र के लिए विलाप कर रही है। वह भद्र लोगों के परमर्श का और भगवान् सवितृ का स्वयं स्मरण करता है। 'पाशे को अकेला छोड़ दो। अपने खेतों को जोतो अर्थात् अन्त में कठिन परिश्रम से अर्जित धन का आनन्द लेने के विषय में सोचता है।

बहुत से उपाय हितकर उद्देश्यों के लिए और अपने प्रभाव के लिए मनोवैज्ञानिक निर्देशों पर अवलम्बित थे। एक स्थान पर खाँसी से छुटकारा पाने के लिए कहा गया है: 'जिस प्रकार एक नुकीला बाण

---

१९ ऋग्वेद १०,१०१

२० अथर्ववेद ३.१७

२१ ऋग्वेद २.२८.९

२२ ऋग्वेद १०.३१.

२३ ऋग्वेद १०.३४.१३

तेजी से आगे भागता, उसी प्रकार हे खाँसी! तुम इस विस्तृत पृथ्वी पर आगे की ओर भाग जाओ।'[२६] जादू के द्वारा रोगी को रोग से मुक्ति दिलाई जाती है। वायु के झोंके नीचे की ओर चलते हैं, सूर्य की किरणें नीचे की ओर आती हैं, गाय का दूध नीचे की ओर निकलता है, इसलिए रोग को भी नीचे की ओर आना चाहिए।' कुछ जादू-टोनों के द्वारा मृत्यु के कगार पर खड़े व्यक्तियों को बचाने के लिए होते थे, जिससे वह एक सौ वर्ष तक जीवित रह सके। 'हे मानव! यहाँ से उठो और मृत्यु की कड़ियों को अपने पैर से तोड़ दो। पृथ्वी के जीवन से अलग मत हो और अग्नि एवं सूर्य प्रकाश के दृश्य से ओझल न हों।'[२७]

मनुष्य की मृत्यु या दाहक्रिया के विषय में वेद में वर्णन मिलता है कि 'अपनी धरती माता के गोद में समा जाओ, यह पृथ्वी दूर तक विस्तृत और अत्यन्त कृपालु है। तत्काल खोदी हुई मिट्टी ऊन के समान कोमल है। वह तुम्हें विलय की गोद में सुरक्षित रखे। हे धरती, इसे ग्रहण करने के लिए विस्तृत मुँह खोल दे। इसके ऊपर अधिक दबाव मत डालो इसके लिए सुखदायक बन जाओ। हे धरती! इसे वैसे ही ढक लो जिस प्रकार एक माता अपने बच्चे को अपने वस्त्र के दामन से ढक लेती है।'[२८] इसी प्रकार दाहसंस्कार मनुष्य को प्रकृति की उन्हीं शक्तियों में विलीन कर देता है जिनसे उसका सर्वप्रथम निर्माण हुआ था।

वेद में स्त्रियों का उन्नत स्थान था। वायु देवताओं के वर्णन में स्त्रियों से सम्बन्धित उपमाओं को देखते हैं। 'वे बादलों के आवरण में उसी प्रकार रहते हैं जिस प्रकार स्त्रियाँ घरों में रहती हैं। कभी-कभी वे उसी प्रकार बाहर आकर अपनी अभिप्रेरक उपस्थिति का अनुभव करते हैं, जिस प्रकार यज्ञों में भाग लेते समय अथवा मन्त्रोच्चारण करते समय स्त्रियाँ सुन्दर लगती हैं।'[२९] स्त्री को ऐसे शब्दों से सम्बोधित करते हैं जिससे सौन्दर्य, पवित्रता तथा मंगल का बोध होता है, जैसे कल्याणी, आनन्ददायिनी अथवा सुभगे, सुन्दरी आदि। अग्नि देवता की तुलना घर की ऐसी पत्नी से की गई है जो सभी का आभूषण है। स्त्रियाँ परिप' होने पर ही विवाह किया करती थीं। पूषन् और सूर्या के कवित्वमय वर्णन से प्रेम-विवाह का भी बोध होता है। स्त्रियों को अपना पति चुनने का अधिकार था। एक वैदिक सूक्त बताता है कि अनेक ऐसी कन्याएँ थीं जो कि सुयोग्य व्यक्तियों के बदले धनी व्यक्तियों को वरीयता देती थीं।[३१] परन्तु दूसरे सूक्त से प्रकट होता है कि पुरुष भी अयोग्य विचारों द्वारा ढुलमुल हो जाते हैं। अनेक कुमारियाँ धन के कारण प्रेमियों का लक्ष्य बन जाती हैं।[३२]

ऋग्वेद[३३] में अपाला और घोषा स्त्रियों का वर्णन मिलता है। कुष्ठ रोग से पीड़ित घोषा, जो पति पाने में असमर्थ थी, अश्विनों (वैद्य) से अपने आरोग्य के लिए प्रार्थना करती है वह घर में ही वृद्धा हुई जा रही थी। अतः उन्हें उसे स्वास्थ्य और सौन्दर्य देकर एक समृद्ध मुखिया पति प्राप्त करने में सहायता करनी

---

२६ ऋग्वेद १०.६०

२७ अथर्ववेद ६.१०५

२८ ऋग्वेद १०. १८

२९ ऋग्वेद १+१५७.३

३१ ऋग्वेद१०.९५.१५

३२ ऋग्वेद१०.२७.१२

३३ संस्कृत कविताएँ- जे० बी० चौधरी पृ० ८०-८१ (कलकत्ता,१९३९)

चाहिए तथा लोगों को श्रृंगार सम्बन्धी उपदेश देने दो जिससे वह क्रूर भाग्य द्वारा वंचित रखी गई है। यहाँ वृद्ध स्त्री की तीव्र इच्छाएँ सहृदय पूर्वक निरूपित की गई हैं। अपाला नामक स्त्री चर्मरोग द्वारा पीड़ित होने से पति द्वारा त्याग दी गई। वह इन्द्र को अपना आश्रय मानती है और आरोग्य की प्रार्थना करती हुई पति से पुर्नमिलन चाहती है। इस प्रकार वैदिक कलीन आर्यों ने अपनी कवित्वपूर्ण संवेदनशीलता के द्वारा संसार के लिए सौन्दर्य और भव्यता का सृजन किया और समाज में एक विशेष चेतना प्रदान की।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ077-85) ISSN 0974 – 8830

वैदिक वाङ्मय में नारी

डॉ. आशा सिंह[१]

वस्तुतः आर्यावर्त प्राचीनकाल से ही **'मातृदेवो भव' 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः'** इत्यादि सूक्तियों का समुद्घोषक रहा है। शास्त्रों में भी नारीशक्ति का महान् गौरव दृष्टिगोचर होता है। प्राचीनकाल से ही नारी मातृशक्ति का प्रतीकभूत रही है।

चूँकि ऋग्वेद विश्व के पुस्तकालय का प्रथम ग्रन्थ है, अतः वैदिक वाङ्मय में नारी की स्थिति सम्यक् जानने के लिए सर्वप्रथम ऋग्वेद का अध्ययन-अनुशीलन आवश्यक है और ऋग्वेद में नारी की श्रेष्ठ स्थिति का परिचय प्राप्त होता है। साथ ही वह विविध रूपों में दृष्टिगोचर होती है। नारी के द्वारा ही पुत्री (कन्या), पत्नी और माता[२] के रूप में परिवार के सम्पूर्ण कार्य सम्पादित किये जाने किये की चर्चा है।[३] इसके अतिरिक्त नारियों के अधिकार भी सुनिश्चित होने की बात वेदों में मिलती है। जिससे कि वे अपना पूर्ण विकास करती हुई समाज सेवा के कार्यों में भी सहयोग एवं योगदान दें। वेदों में वर्णित समाज में स्त्री-पुरुष में किसी भी प्रकार का विभेद नहीं होने का उल्लेख है। अन्य कार्यों की भाँति वह वेद के अध्ययन-अध्यापन में भी उसका अधिकार पुरुष के समान ही होने की बात कही गयी है, जैसा कि कहा गया है-

देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्त ऋषयस्तपसे ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन्।[४]

यजुर्वेद में भी ऐसा ही वर्णन प्राप्त होता है।[५] उज्ज्वल भविष्य के निर्माण के लिए छात्र जीवन वेदों में ब्रह्मचर्य काल माना गया है। इस प्रसंग में अथर्ववेद का ब्रह्मचर्य सूक्त प्रमाण है।[६] ब्रह्मचर्य सूक्त में स्पष्ट कहा गया है कि कन्या ब्रह्मचर्य का पालन करके ही विवाह करे। ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन से ही कन्यायें युवक पति को प्राप्त करें-

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।[७]

अन्यत्र यजुर्वेद में यही बात कही गई है।[८] उस समय वेदाध्ययन के लिए सभी व्यक्तियों के लिए यज्ञोपवीत के आवश्यक होने का चर्चा है, अतः नारी के भी यज्ञोपवीत धारण करती हुई यज्ञ कर्म के

---

१ असिस्टेण्ट प्रोफेसर-संस्कृत, राजीव गांधी शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मन्दसौर (मध्यप्रदेश)
२ यजुर्वेद, ४.२०, ६.३४, २३.२१
३. वहीं,१९.१५, ११.६२
४ ऋग्वेद,१०.१०९.४
५. यजुर्वेद,६.१४
६. अथर्ववेद,११.५
७. वही, ११.५.१८
८. यजुर्वेद,२३.३६

सम्पादन में सहयोग देने का उल्लेख है-

शुद्धा पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्र पृथक सादयामि।[९]
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान् स ददातु तन्मे।

इससे स्पष्ट है कि स्त्री-पुरुष दोनों के लिए ही वैदिक संहिताओं में अध्ययन-अध्यापन की बात कही गयी है। ऋग्वेद में कन्याओं का सुन्दर तथा स्वस्थ होना भी आवश्यक कहा गया है। त्वग्दोष से ग्रसित अपाला आत्रेयी को अनेक प्रकार से पतिद्वेष का शिकार होने का उल्लेख मिलता है-

कुवित् पतिद्विषो यतीरिन्द्रेण संगमामहै।[१०]

अतः वह इन्द्र से अपने शरीर को रोगमुक्त करने[११] और उदर के समीपवर्ती प्रदेश गुह्य को उत्तम[१२] बना देने की प्रार्थना करती है। इन्द्र के द्वारा उसे सूर्य के समान तेजस्वी त्वचा प्रदान करने का उल्लेख है-

अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्व्यकृणोः सूर्यत्वचम्।[१३]

कन्या के पाणिग्रहण संस्कार का निर्वाह प्रधान रूप से माता और पिता के द्वारा करने की बात कही गयी है। उन दोनों के अभाव में ज्येष्ठ भ्राता के द्वारा यह कार्य सम्पादित करने की भी चर्चा है, परन्तु संहिता में ऐसा विवरण भी प्राप्त होता है कि जहाँ कन्या के भी अपने जीवन साथी का स्वयं भी वरण करने की चर्चा है-

कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं मित्रं वनुते जने चित्।[१४]

अन्यत्र ऋग्वेद में कहा भी है कि जैसे नदियाँ स्वयं समुद्र को प्राप्त होती है, उसी प्रकार कन्याएँ भी युवकों का वरण करती हैं-

युवतयो युवानं परियन्त्यापः।[१५]

उसके श्वसुर-गृह में श्वसुर, श्वश्रू, ननद तथा देवरों की सम्राज्ञी होने का उल्लेख भी हुआ है-

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु।।[१६]

उसके द्वारा अपने श्वसुर तथा श्वश्रू को भोजन आदि प्रदान कर सेवा करने की भी चर्चा हुई है। उर्वशी अपने श्वसुर को उत्तम भोजन देने का संकेत करती है-

---

९. अथर्ववेद,६.१२२.५
१०. ऋग्वेद,८.९१.४
११. वही, ८.९१.६
१२. वहीं, ८.९१.५
१३. वही, ८.९१.७
१४. वही, १०.२७.१२
१५. वही, २.३५.४
१६. वही, १०.८५.४६

सा वसु दधती श्वशुराय वय उषो।[२७]

वैदिक दृष्टि से तो गृहिणी हो वस्तुतः घर स्वीकार की गई है- **जायेदस्तम्।**[२८]

नारी को वेद आदि सब शास्त्रों के पढ़ने का पूरा अधिकार वैदिक संहिताओं में दिया गया है, तभी तो सन्तानों को शिक्षित किया जा सकता है।[१९] और स्त्री बहुश्रुत होगी तथा सत्यवक्ता, आप्तवक्ता एवं आप्तजनों से सुशिक्षित होगी, तभी विद्या फलवती होती है।[२०] और इसीलिए ऋग्वेद में स्त्री की अत्यन्त आत्मगौरवपूर्ण उद्घोषणा सुनाई पड़ती है कि मैं ज्ञानवती हूँ, घर की प्रमुख एवं शत्रुनाशिका हूँ-

अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी।[२१]

स्त्रियाँ अपने इच्छानुसार रथ का चयन[२२] कर, उस पर आरूढ़[२३] होकर घर से बाहर भ्रमण आदि के लिए जाने की चर्चा है। सभाओं में श्रोत्री, वक्त्री आदि के रूप में जाने के लिए स्वतन्त्र होने का संकेत प्राप्त होता है-

१. गुहा चरन्ती मनुषो न योषा समावती विद्ययेव संवाक्।[२४]

२. विदथमावदासि।[२५]

स्त्रियों के शिल्पकार्य में भी प्रवृत्त होने की चर्चा है। एक मन्त्र में सरकण्डों को कूटकर उनके द्वारा चटाई बनाने का उल्लेख प्राप्त होता है-

यथा नडं कशिपुने स्त्रियो भिन्दन्त्यश्मना।[२६]

यज्ञार्थ ब्रह्मौदन पकाने का कार्य भी स्त्रियों के द्वारा करने का संकेत है।[२७] अथर्ववेद के एक मन्त्र में स्त्रियों के राज्य सभाओं में अपने मन्तव्यों को व्यक्त करने के संकेत मिलते हैं-

१. अहं वदामि नेत्त्वं सभायामह त्वं वद।[२८]

२. यदक्षेषु वदाभ्युतसमित्यां यद्वा वदा अनृतं वितकाम्या।[२९]

---

१७. वही, १०.९५.४
१८. वही, ३.५३.४ एवं श.ब्रा, ३.३.१.१०
१९. वही, १.७१ वां सूक्त।
२०. यजुर्वेद, १३.५७
२१. ऋग्वेद, १०.१५९.२
२२. ऋग्वेद, ४.४३.२
२३. वही, १.१२४.७
२४. वही, १.१६७.३
२५. अथर्ववेद, १४.१.२१
२६. वही, ६.१३८.५
२७. वही, १२.३.४७
२८. वही, ७.३८.४
२९. वही, १२.३.५२

यजुर्वेद के एक मन्त्र से भी स्त्रियों के शासन में भागग्राहिता के संकेत प्राप्त होते हैं।[३०]

राजा के समान नारी के भी राजकार्य में सहायक होने की बात कही गयी है।[३१] राजा के समान नारी के भी न्यायव्यवस्था में हाथ बँटाने की चर्चा है।[३२] नारी की शूरवीरता के विषय में यजुर्वेद में लिखा है कि शूरवीर स्त्रियों की भी सेना होनी चाहिए। स्त्रियों को भी युद्ध करना चाहिए।[३३] स्त्री सेना का उल्लेख ऋग्वेद में भी प्राप्त होता है-

स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे किं मा करन्नबला अस्य सेना:।[३४]

वैदिक कालीन वीरिणी नारियों में एक मनका विश्पला का उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है। विश्पला का राजा खेल की सेना की एक योद्धा स्त्री के रूप में उल्लेख आया है। संग्राम में शत्रुओं द्वारा छिन्नजङ्घा विश्पला को अश्विनी कुमारों ने लोहे की जङ्घा देकर चलने में समर्थ बनाया-

१. युवं सद्यो विश्पलामेतवे कृथ:।[३५]

२. चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितक्म्यायाम्।
सद्यो जङ्घामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्तये प्रत्यधत्तम्।।[३६]

संहिताओं में नारी को सूर्य के समान तेजस्वरूपिणी होने से सूर्या भी कहा गया है। इसमें पराक्रम ही मूलकारण है-

सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा।[३७]

और भी कहा गया है कि यह पराक्रमी सूर्या नारी संग्राम में जा रही है। इसके लिए कवच आदि ले आओ-

शर्मवर्मैतदाहरास्यै।[३८]

नारी के बिना पुरुष के यज्ञ का अधिकारी नहीं होने की बात कही गयी है-

अयज्ञियो वैष योऽपीक:।[३९]

परन्तु पति के बिना भी स्त्री स्वतन्त्र रूप से यज्ञाधिकारिणी हैं। पुरूकुत्स की पत्नी पति की

---

३०. यजुर्वेद,२०.१.१०
३१. वही, १३.१८
३२. वही, १३.१७
३३. वही, १६.४४ एवं १७.४४-४६
३४. ऋग्वेद,५.१०.९
३५. वही, १०.३९.८
३६. वही, १.११६.५
३७. वही, १४.२.३२
३८. वही, १४.२.२१
३९. वही, ३.३.३.१, ५.१.६.१० और तै.ब्रा., २.२.२.६

अनुपस्थिति में इन्द्र एवं वरुण को हवि प्रदान कर प्रसन्न करती है।[४०] अपाला ने इन्द्र के लिए सोमसवन किया[४१] तथा विश्ववारा के यज्ञ में ऋत्विक् कार्य का निर्वहन किया।[४२] अपाला आदि ऋषिकाएँ अग्निहोत्री हैं। ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार अग्निहोत्री वह होता है, जो गार्हपत्य, आहवनीय, दाक्षिणाग्नि, आवसथ्य आदि इन श्रौताग्नियों की विधिवत् रक्षा करता है-

अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।[४३]

ये नारियां भी मृगचर्म पर स्थित होकर अग्निहोत्र करती है-

आरोह चर्मोपसीदाग्निम् तथा इममग्निं सपर्यतु।[४४]

और भी-

इममग्निं गार्हपत्यं सपर्य।[४५]

ऐसा ही यजुर्वेद में वर्णन मिलता है।[४६] जिससे कि उनकी सन्तति भी श्रेष्ठ गुणों से युक्त बनती है तथा ज्येष्ठता व श्रेष्ठता को प्राप्त करती है।[४७] वैदिक संहिताओं में बाल विवाह और परदा प्रथा के प्रचलन के उल्लेख भी नहीं प्राप्त होते हैं थी क्योंकि वृद्ध पितरों तथा अन्य स्त्री-पुरुषों के द्वारा नववधू का दर्शन परदा प्रथा का निषेध करता है।[४८] अथर्ववेद में कन्या के पुंसवन् संस्कार के संकेत मिलते हैं-

आते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम्। आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः।[४९]

ऋग्वेद के एक मन्त्र में विधवा स्त्री के पति के धन को पाने का संकेत किया गया है-

यथा पतिहीना विधवा पतेः धनं प्राप्नोति-परिवृक्तेव पतिविद्यमानट्।[५०]

इससे पति की सम्पति में पत्नी का अधिकार की बात कही गयी है। उसी तरह पिता की सम्पत्ति में भी पुत्री के अधिकार का भी वेदों में उल्लेख प्राप्त होता है-

अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम्।
कृषिं प्रकेतमुप मास्या भरदद्धि भागं तन्वो येन मामहः।[५१]

---

४०. ऋग्वेद,४.४२.९
४१. वही, ८.९१.१
४२. वही, ५.२८.१
४३. अथर्ववेद,१४.१.२१
४४. वही, १४.२.२३
४५. वही, १४.२.१८
४६. यजुर्वेद, ६.२५
४७. वही, ६.३६
४८. अथर्ववेद, १४.२.२८,७३
४९. वही, ३.२३.२-४
५०. ऋग्वेद,१०.१०२.११
५१. वही, २.१७.७

वेदों में बहुविवाह प्रथा के विद्यमान होने के संकेत प्राप्त होते हैं।[५२] मैत्रायणी संहिता में मनु के १० पत्नियाँ की बात आयी है।[५३] याज्ञवल्क्य के आधार पर वेदों में राजाओं के साथ-साथ ब्राह्मणों की भी एकाधिक पत्नियाँ होने के संकेत प्राप्त होते हैं।[५४] अथर्ववेद में विधवा नारी के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण देखने को मिलता है। पति की मृत्यु के पश्चात् सन्तान के लिए और अपनी आजीविका के लिए नवीन पुरुष से विवाह करने की चर्चा आयी है-

अ. इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्।
धर्म पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि।[५५]

ब. को वा शयने विधवेव देवरम् ? देवर: कस्मात् ? द्वितीयो वर उच्यते।[५६]

अथर्ववेद में विधवा विवाह के अतिरिक्त पुनर्विवाह के भी संकेत प्राप्त होते हैं। एकत्र दो मन्त्रों में सम्बन्ध विच्छेद होने पर अथवा अन्य किन्हीं कारणों से दूसरे पुरुष से विवाह करने का उल्लेख प्राप्त होता है-

या पूर्व पतिं वित्वाथान्यं विन्दते परम्।
समानलोको भवति पुनर्भुवापर: पति:।।[५७]

पुनर्विवाह करने वाली स्त्री को अथर्ववेद में पुनर्भू: कहा गया है।[५८] तथा दूसरे पति को दधिषु:।[५९] महानग्नी[६०] अतीत्वरी[६१] तथा रामा[६२] आदि शब्दों के प्रयोग से उन दिनों कुछ व्यभिचारिणी स्त्रियों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। वेदों में व्याभिचारिणी स्त्री को दण्ड की अधिकारिणी भी बताया गया था।[६३]

वैदिक संहिताओं के अध्ययन से अनेक **ब्रह्मवादिनी** नारियों की जानकारी प्राप्त होती है। जिनके त्याग, तपस्या आदि कार्यों से समाज में सुख-सौभाग्य की वृद्धि होने की चर्चा है। और जिनका उज्ज्वल चरित्र सर्वदा सम्पूर्ण मानव समाज को शिक्षा देता है। संहिताओं में विवाहित और अविवाहित ये दो प्रकार की नारियां उपलब्ध होती हैं। विवाह के पश्चात् जिनका अध्ययन अवरुद्ध हो गया था, उन्हें **'सद्योद्वाहा'** और पिता अथवा भाई के घर में अविवाहित रहते हुए जिनका अध्ययन-अध्यापन कार्य निरन्तर प्रचलित होता

---

५२. तै.सं. ५.५.१.४
५३. मै.सं.,१.५.६
५४. बृहदारण्यकोपनिषद, २.४
५५. अथर्ववेद, १८.३.१
५६. निरुक्त,३.१४ एवं ऋग्वेद, १०.४०.२
५७. अथर्ववेद, ९.३.२७-२८
५८. वही, ९.५.२८
५९. वही, १८.३.२
६०. वही, १४.१.३५
६१. यजुर्वेद,३०.१५
६२. तै.सं.,५.६.८.३
६३. यजुर्वेद,२३.२१

रहता हो, उन्हें **'ब्रह्मवादिनी'** नारियां कहे जाने का उल्लेख है। आजीवन कौमार्य व्रत को धारण करती हुई समाज में समादर के साथ इनके द्वारा जनकल्याण के लिए विविध कार्य सम्पादित किये जाने के संकेत भी प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार की विदुषी नारियों को समाज में पुरुष के समान ही ज्ञान के प्रचार-प्रचार का पूर्ण अधिकार का भी उल्लेख है। इनके गुणों का वर्णन[६४] संहिताओं में प्राप्त होता है। वेदों में वर्णित ब्रह्मवादिनी नारियों में लोपामुद्रा,[६५] विश्ववारा आत्रेयी[६६] शश्वती आंगिरसी,[६७] आत्रेयी,[६८] घोषा काक्षीवती,[६९] सूर्या सावित्री,[७०] इन्द्राणी,[७१] उर्वशी,[७२] दक्षिणा प्राजापत्या[७३] सरमा देवशुनी,[७४] जुहू ब्रह्मजाया,[७५] वाक् आम्भृणी,[७६] रात्रि भारद्वजी,[७७] गोधा,[७८] श्रद्धा कामायनी,[७९] यमी वैवस्वती,[८०] सार्पराज्ञी[८१] आदि ऋषिकाएँ हुईं, जिन्होंने भारत राष्ट्र की नारियों के लिए अपने उपदेश देकर अनेक उन्हें कर्तव्य बोध कराया। ब्रह्मवादिनी नारियों में महर्षि कक्षीवान् की पुत्री घोषा के प्रसिद्ध होने की चर्चा हुई है। कुष्ठ रोग से ग्रस्त होने के कारण पितृगृह में विवाह के अयोग्य होने से अविवाहित ही जरावस्था को प्राप्त हो गयी। उसने अपनी तपस्या से अश्विनी कुमारों को प्रसन्न किया। उनकी कृपा से उसका त्वग्रोग नष्ट हो गया और अपने वह दिव्य शरीर को प्राप्त कर युवति बन गई और उसे पति की प्राप्ति हुई-

---

६४. वही, ३७.१२ और ऋग्वेद,७.४०.७
६५. ऋग्वेद,१.१७९.१-२
६६. वही, १.५.२८
६७. वही, ८.१.३४
६८. वही, ८.९१
६९. वही, ८.१०.३९-४०
७०. वही, १०.८५
७१. वही, १०.८६,२-६,९-१०,१५-१८
७२. वही, १०.९५.२,४-५,७,११,१३,१५-१६,१८
७३. वही, १०.१०७
७४. वही, १०.१०८.२,४,६,८,१०,११
७५. वही, १०.१२७
७६. वही, १०.१२५
७७. वही, १०.१३४.७
७८. वही, १०.१४५
७९. वही, १०.१५१
८०. वही, १०.१०.१,३,५,७,११,१३,१०.१५४
८१. वही, १०.१८९

(१) जनिष्ट योषा ....[८२]

(२) घोषायै चित्पितृषदे दुरोगे पतिं जूर्यन्त्या अश्विनावदत्तम्।[८३]

(३) घोषेव शंसमर्जुनस्य नंशे।[८४]

वह उपदेश देती है कि-

यो जनः स्वभार्यारक्षार्थं तत्परः सन् ता यज्ञादिकर्मणि नियुङ्क्ते तन्नार्यः ससुखं समेधन्ते।[८५]

इस प्रकार वेदों में जहाँ ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि जगद्धारक तत्वों की स्तुति की गई है, वही नारी रूप में ज्ञानाधिष्ठात्री सरस्वती, ऐष्वर्याधिष्ठात्री श्री तथा शक्ति अधिष्ठात्री शक्ति की महिमा का भी वर्णन किया गया है-

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतकृतो बभूविथ।[८६]

वस्तुतः वैदिक स्त्री शौर्य वीरतायुक्ता है, घोरा है, अजेया है।[८७] उसका उद्घोष है कि मैं शत्रुरहित हूँ, शत्रुसंहारिका हूँ, विजयिनी हूं-

असपत्ला सपत्नघ्नी जयन्त्यमिभूवरी आवृक्षमन्यासां वर्चो राधो अस्थेयतामिव।[८८]

वस्तुतः कई वैदिक मन्त्रों से वेदों में भावनात्मक दृष्टि से भी नारी का समान रूप से आदर का भाव दृष्टिगोचर होता है। वैदिक मनीषियों ने नारी शिक्षा के समान रूप से महत्त्व के साथ-साथ नारी के लिए सभी क्षेत्रों में समानता का अधिकार देने की बात की है। परिवार में पुरुष की प्रधानता का कारण उसकी पराक्रमशीलता तथा बाह्य समस्याओं से जूझने का सामर्थ्य प्रतीत होता है।

फिर भी ऋचाओं की निर्मात्री और ब्रह्मवादिनी के रूप में न तो उस पर विवाह की अनिवार्यता का बन्धन तथा न ही नारी होने की उसकी विवशता श्रुतियों में स्वीकार की गई थी। स्त्रियों के सम्पत्ति एव विधवाओं को पुनर्विवाह करने का अधिकार प्राप्ति की बात वेदों में कही गयी है। उनके स्वयं विवाह करने के लिये स्वतन्त्र होने का भी उल्लेख हुआ है। धार्मिक कार्य पत्नी के बिना पूर्ण नहीं होने के उल्लेख हैं। जबकि उनके पुरुष के बिना भी यज्ञ करने की चर्चा हुई है। **नारी की पारिवारिक स्थिति पुत्री, माता, पत्नी (सुगृहिणी) के रूपों में देखी जा सकती हैं।** उसके पितागृह से पतिगृह में वधू बनकर श्वसुर, सास, ननद

---

८२. वही, १०.४०.९

८३. वही, १.११७.७

८४. वही, १.१२२.५

८५. वही, ऋग्वेद, १०.४०.१०

८६. वही, सामवेद, उत्तरार्चिक, ४.२.१३.२

८७. ऋग्वेद, १.१६७.४

८८. वही, १०.१५९.५

और देवरों की साम्राज्ञी बनकर आने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। उसकी भूमिका पति और सन्तान के जीवन को उन्नत करने वाली सौहार्दमयी और यशोमयी माता की कही गयी है। **अतः वेदों में वर्णित समाज में पितृप्रधान व्यवस्था के बावजूद विविध रूपों में नारी की स्थिति के गौरवपूर्ण, सम्मानजनक, उत्कृष्ट और समुन्नत होने के संकेत प्राप्त होते हैं** और वैदिकसंहिताओं में एक साधक के रूप में बिना किसी भेदभाव के नारी के सामाजिक, राजनीति, आर्थिक, आध्यात्मिक, युद्धस्थल आदि समस्त क्षेत्रों में अद्भुत उन्नति के संकेत-सूत्र प्राप्त होते हैं।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ086-92) ISSN 0974 – 8830

मन्त्रचिकित्सा एवं प्रयोग

डॉ. नवीन चन्द्र भट्ट[1]

डॉ. ममता ध्यानी

प्रस्तावना : रेडियो, टेलीविजन, राडार की भाँति प्राचीन काल के आविष्कारों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा चमत्कारी खोज थी- मन्त्रविद्या,[2] मन्त्र ध्वनि विज्ञान का सूक्ष्मतम विज्ञान था। इसके अनुसार जो कार्य आधुनिक यन्त्रों के माध्यम से हो सकते हैं वे मन्त्र के प्रयोग से भी संभव है। मन्त्र कुछ शब्दों के गुच्छक मात्र होते हैं। पर ध्वनि शास्त्र के आधार पर उनकी संरचना बताती है कि एक विशिष्ट ताल क्रम एवं गति में उनके उच्चारण से विशिष्ट प्रकार की ऊर्जा उत्पन्न होती है। प्राचीन काल में ऋषियों ने शब्दों की गहराई में जाकर उनकी कारण शक्ति की खोज बीन के आधार पर मन्त्रों एवं छन्दों की रचना की थी।[3] मन्त्रों में शब्दों की स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म एवं कारण शक्ति का अधिक महत्त्व है। मानवी व्यक्तित्व की गहरी परतों मन एवं अन्त:करण को मन्त्र की सूक्ष्म एवं कारण शक्ति ही प्रभावित करती हैं। व्यक्तित्व का रूपान्तरण विचारों में परिवर्तन उसके प्रभाव से ही होता है।[4] शब्दशक्ति या मन्त्र का आध्यात्मिक महत्त्व और भी अधिक है। मन्त्र विद्या की आधारशिला शब्द शक्ति ही है। यद्यपि उसके साथ साधक का चरित्र और मनोबल भी जुड़ा रहता है, परन्तु मूल आधार शब्द से ही बनता है। मन्त्रों में शब्द गुंथन इस प्रकार किया गया होता है कि उससे जपकर्त्ता के शरीर में विशिष्ट प्रकार की शक्ति तरंगें उत्पन्न होती रहती हैं जिनके प्रभाव से निरन्तर प्रभावित रहकर वह अपने सूक्ष्मतम व्यक्तित्व को अति शक्तिशाली बना लेता है।[5] वस्तुत: हम पराध्वनियों के विशाल सागर में रह रहे हैं। जो जाने-अनजाने हमारे शरीर-मन को प्रभावित करती रहती हैं।

सृष्टि का आरम्भ शब्द शक्ति से हुआ माना जाता है। कहा जाता है कि सुदूर हिमालय में अब भी वैदिक ऋचायें सूक्ष्म कणेन्द्रियों के माध्यम से उसी प्रकार सुनी जा सकती हैं; जैसे हजारों वर्ष पूर्व ऋषियों ने सुनी थीं।[6] विज्ञान कहता है कि हम जो कुछ भी बोलते हैं उसका विनाश नहीं होता, वह सूक्ष्म ध्वनि तरंगों के रूप में विद्यमान रहता है।[7] मुख से निकलने वाला हर एक शब्द, प्रत्येक स्वर (चाहे उसका कुछ भी अर्थ हो) हमारे समग्र शरीर को चलायमान कर देता है। हमारी सूक्ष्म नाड़ियाँ झंकृत हो उठती हैं।

---

१. सहायक प्राध्यापक योग शिक्षा विभाग, एस.एस.जे. परिसर, (कु.वि.वि.)

२. शर्मा, आचार्य श्रीराम (१९९८); शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, पृ.सं० १.२

३. तदैव वही पृष्ठ

४. तदैव वही पृष्ठ

५. तदैव पृष्ठ १.८

६. तदैव पृष्ठ १.१०

७. तदैव पृष्ठ १.१०

मुखमण्डल के अवयव विशेष रूप से तनते या ढीले पड़ते रहते हैं। उसके साथ ही नेत्र, कपोल, मुखमण्डल एक विशेष तरह से देदीप्यमान हो उठता है।[८] मन्त्र शक्ति भारतवर्ष की एक चिर परिचित पराशक्ति है और आज भी उसका प्रयोग अनेक रोगों के उपचार और सिद्धियों-सामर्थ्यों की प्राप्ति में किया जाता है। सर्प के काटने जैसे भयंकर विष को गांवों के तांत्रिक ठीक कर लेते हैं। बिच्छू, गोह और कुत्तों के काटने, पाण्डु रोग, मूर्छा, मिर्गी टाइफाइड का इलाज मन्त्र शक्ति से होता है।[९] योगवाशिष्ठ में मन्त्र की चिकित्सा शक्ति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है-

यथा विरेक कुर्वन्ति हरीतक्य: स्वभावत:।
भावनावश्त: कार्य तथा परलवादय:॥[१०]

मन्त्रों का अर्थ एवं स्वरूप

मन्त्र का सामान्य अर्थ ध्वनि कम्पन से है। '**मननात् त्रायते इति मन्त्र:**'[११] मन्त्रों के उपयोग की प्रक्रिया को जपयोग कहा जाता है। मन्त्र ध्वनि तरंग है, जिसमें अद्भुत शक्ति है। जो सूक्ष्म में एक तरंग पैदा करता है। मन्त्र ध्वनिकंपन है। जिसे ५० ध्वनियों में विभक्त किया गया है। मन्त्रयोग शास्त्रों में भी बतलाया जाता है कि हमारे सूक्ष्म शरीर के भीतर जो शक्ति केन्द्र है, जिसे हम चक्र कहते हैं, वे विभिन्न ध्वनियों से स्पन्दित होते हैं, व प्रभावित होते हैं। यह शब्द अक्षर मन्त्रों में मात्र एकाकार का रूप लेते हैं। किसी भी बीज मन्त्र का रूप लेते हैं। इनका अलग-अलग रूप है। मन्त्र जप करते समय इन शक्ति केन्द्रों में चक्रों में ध्यान केन्द्रित करना जरूरी है। यह मन्त्र साधना का एक नियम है।[१२]

मन्त्र क्या है और उससे क्या किया जा सकता है। आचार्य श्री महाप्रज्ञ के अनुसार[१३]- 'मन्त्र एक प्रतिरोधात्मक शक्ति है। मन्त्र एक प्रकार की चिकित्सा है, मन्त्र का शाब्दिक अर्थ करते हुए बताया गया है, '**मननात् त्रायते इति मन्त्र:**' जिसके मनन करने से व्यक्ति को त्राण मिलता है। समस्या का समाधान मिलता है। उसे मन्त्र कहते हैं। मन्त्र ध्वनि के विशिष्ट समूह होते हैं। ये ध्वनि विज्ञान पर आधारित होते हैं। जब हम बोलते हैं तब भिन्न-भिन्न वर्णों के रूप में अनेक ध्वनियां हमारे मुँह से निकलती हैं। ऐसे ही कुछ विशिष्ट वर्णों को, जो एक क्रम में संगृहीत होते हैं, उच्चारण करना मन्त्र कहलाता है। लगातार मन्त्र उच्चारण करते रहने से वातावरण में उन ध्वनि तरंगों का विशेष प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। उसी को मन्त्र का परिणाम कहते हैं।

मन्त्रों का वर्णन वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों में भी हुआ है। मन्त्रयोग के बारे में बहुत सारे ऋषियों,

---

८. तदैव पृष्ठ १.१८
९. तदैव पृष्ठ २.१
१०. योगवासिष्ठ ६/१/८/१/३९
११. शर्मा, आचार्य श्रीराम (१९९८); शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, पृ.सं० १.२
१२. शर्मा, सीमा (२०१२); योग के सिद्धान्त, दूरस्थ शिक्षा संस्थान, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, पृष्ठ १९२
१३. महाप्रज्ञ, आचार्य (१९९३); ऐसो पंच णमुक्कारों, आदर्श साहित्य संघ, राजस्थान, पृष्ठ १३-१५

विद्वानों ने बहुत सारी परिभाषाएं लिखी हैं।

पतञ्जलि के अनुसार- 'तस्य वाचकः प्रणवः'[१४] अर्थात् उस ईश्वर का वाचक प्रणव ओंकार है अर्थात् प्रणव (ॐ) ही सब मन्त्रों का श्रेष्ठ शिरोमणि मन्त्र है। इसी मन्त्र का हमें बार-बार मनन करना चाहिए यह एक विराट् शक्ति है;

शिव संहिता के अनुसार

मन्त्रयोगो हठश्चैव लययोगस्तृतीयकः।
चतुर्थो राजयोगः स्यात्स द्विधाभाववर्जितः॥[१५]

मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग शास्त्र में इन चार प्रकार के योगों का उल्लेख है। इनमें सबसे पहले मन्त्रयोग का वर्णन है। मन्त्रयोग सबसे सरल साधना है। राजयोग, हठयोग, लययोग आदि का स्थान बाद में है।

महर्षि व्यास के अनुसार- इस वाच्य रूप में ईश्वर का वाचक रूप प्रणव के साथ नित्य सम्बन्ध में है। ईश्वर का संकेत तो पहले से नित्य है। यह प्रणव शब्द उस वाच्य, वाचक सम्बन्ध रूप अर्थ को ही प्रकाशित करता है। (व्यास भाष्य)

स्वामी विवेकानन्द जी के अनुसार- मन्त्र में ॐ जाप से साधक के अन्दर जो आध्यात्मिक संस्कार है उन्हें विशेष रूप से उद्दिप्त करने में यह प्रधान सहायक है।[१६]

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा कि- 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' यज्ञों में जप यज्ञ हूँ। अतः मन्त्र जप भी एक प्रकार से यज्ञ ही है।[१७]

भगवान मनु ने अपने अनुभव से कहा है- 'और कुछ करें या न करें केवल जप से ही ब्राह्मण सिद्धि पाता है।'[१८]

गोस्वामी तुलसीदास ने भी जप की महिमा का गान किया है।

नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ।
जपहि नामु जन आरत भारी
मिटहि कुसंकट होहि सुखारी

लिंग पुराण में लिखा है- जप करने वाले का कभी अनिष्ट नहीं होता। यज्ञ राक्षस, पिशाच, भीषण ग्रह उसके पास कभी फटक नहीं सकते। इससे जन्म-जन्मान्तर के पाप नष्ट हो जाते हैं, सुखों व सौभाग्यों की वृद्धि हो जाती है और मुक्ति की प्राप्ति होती है।[१९]

---

१४. योगदर्शन १.२५
१५. शिवसंहिता ५.१५
१६. राजयोग पृष्ठ १२०
१७. गीता १०/२५
१८. मनु. २/८७
१९. लिङ्गपुराण ८/५/१२४, १२५

मनुस्मृति में कहा है- 'जप करने वालों का कभी पतन नहीं होता॥'[२०]

जप आरम्भ करते ही साधक के अन्तःकरण में एक हलचल मचती है। उसकी विलक्षण शक्ति से आंतरिक क्षेत्र में अनेकों सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं। मन्त्र जप से शक्ति उत्पन्न होती है। जप से न केवल आध्यात्मिक बल्कि भौतिक उपलब्धियां भी इसकी विशेषता है।

ध्वनि तरंगों का सिद्धान्त

जब शब्दों का उच्चारण होता है। तब उनसे वायु में कम्पन उत्पन्न होता है। यह कम्पन-तरंगें कुछ क्षणों में सम्पूर्ण लोक की परिक्रमा कर लेती हैं। इस परिक्रमा के दौरान जहाँ उन्हें अनुकूल तरंगें प्राप्त होती हैं। वे उनसे मिल जाती हैं और इस प्रकार संयुक्त होने पर उनका एक पुंज बन जाता है। वह पुंज बहुत ही शक्तिशाली होता है। उसके प्रभाव से साधक के इच्छित कार्य या घटना को मूर्तरूप सुलभ हो जाता है। ध्वनि तरंगों से मानसिक शक्ति भी उसी प्रकार उद्दीप्त होती है जैसे वायु लहरियों के सम्पर्क में आने से अग्नि। इस प्रकार मनुष्य इन मन्त्रों के प्रभाव से सभी मानसिक विकारों से रहित हो जाता है।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त

मनोविज्ञान में मन को मुख्यतः दो भागों में बाँटा गया है। चेतन मन एवं अचेतन मन। अचेतन मन बहुत शक्तिशाली होता है। चेतन मन की शक्ति सीमित होती है। जो इच्छा, विचार, कल्पना या संकल्प अचेतन मन तक पहुँच जाता है, वह फलदायी होता है। एक ही विचार को शान्त मन से बार-बार दोहराने से वह अचेतन मन में पहुँच जाता है। मन्त्रशक्ति का मुख्य आधार यही है कि एक शब्द या विचार को बार-बार एक निश्चित अवधि तक दोहराकर अचेतन मन तक पहुँचा देना[२१] अवचेतन मन तक पहुँचा हुआ विचार साकार हो जाता है।

प्राण सिद्धान्त

आध्यात्मिक जगत् हो या वैज्ञानिक जगत् सभी यह मानते हैं कि मानव ही नहीं वरन् सभी प्राणियों में एक अदृश्य शक्ति होती है। वह प्राणी के शरीर के चारों ओर फैली हुई होती हैं। इसे यन्त्र द्वारा देखा जा सकता है। फोटो लिये जा सकते हैं। यह उस प्राणी की सूक्ष्म शक्ति होती है। इसे आभामण्डल कहा जाता है। किसी भी पदार्थ के दो रूप होते हैं- एक स्थूल एवं दूसरा सूक्ष्म। मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र आदि पदार्थ के सूक्ष्म रूप द्वारा प्राणी के सूक्ष्म रूप को प्रभावित करते हैं। तरंगों के द्वारा तरंग स्तर पर प्रभाव डाला जाता है। तेजस् शरीर, प्राण शक्ति या जैविक विद्युत् का बड़ा खजाना है। प्राणधारा तेजस् शरीर से निकलती है। यह विद्युत् शक्ति को पूरे शरीर में फैलाती है। जिस स्थान पर मन केन्द्रित होता है। प्राण उस ओर दौड़ने लगता है।[२२] जब प्राण का पूरा सिंचन मन्त्र को मिलता है तो वह शक्तिशाली हो जाता है। मन्त्र की आराधना द्वारा तेजस् शरीर को सक्रिय बनाया जाता है।

---

२०. मनु. ४/१४६, शर्मा, सीमा (२०१२); योग के सिद्धान्त, पृष्ठ ५४

२१. तदैव पृष्ठ ६९

२२. शर्मा, सीमा (२०१२); योग के सिद्धान्त, दूरस्थ शिक्षा संस्थान, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक, पृष्ठ १९५

मन्त्रजप के प्रकार

मन्त्रजप के अनेक प्रकार हैं-

१. वाचिक जप : इस जप का उच्चारण जोर से होता है। जो दूसरों को भी सुनाई पड़ता है और दूर-दूर तक लोग आसानी से सुन सकते हैं। मनु महाराज ने इस जप के बारे में कहा है कि योगी के लिए पहले यही जप सुगम होता है।

२. मानसिक जप : मानसिक जप को जप का प्राण कहा गया है। इससे साधक का मन आनन्दमय हो जाता है। इससे मन्त्र का उच्चारण नहीं होता, साधक के मन में ही यह जप चलता रहता है।

३. उपांशु जप : वाचिक जप के बाद उपांशु जप मुख्य होता है। इस जप में होंठ हिलाते हैं और मुँह में उच्चारण होता है। इस जप को स्वयं ही सुना जाता है। इसमें पास बैठे व्यक्ति को यह मन्त्र नहीं सुनाई पड़ता। इस जप से एकाग्रता बढ़ती है, वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होती हैं।

४. अजपा जप : जब हम स्थिर मन से किसी मन्त्र का जप करते हैं तो एकाग्रता की स्थिति प्राप्त होती है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को रोककर स्थिरता प्रदान करता है। इस जप में माला का कोई काम नहीं होता। बिना जप किए ही अपने आप ही जप होता रहे तो यही अजपा जप है अर्थात् उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, चलते-फिरते चौबीस घण्टों श्वास-प्रश्वास के साथ अजपा-जप चलते रहना चाहिए।

५. नित्य जप : संख्या और विधि विधान में कुछ शिथिलता भले ही आ जाए, परन्तु इसकी नियमितता में कोई अन्तर नहीं आता वह नित्य जप कहलाता है। इसमें शीघ्र ही सूक्ष्म शक्ति का विकास होता है।

६. नैमित्तिक जप : देव-पितरों के सम्बन्ध में जो जप किया जाता है। उसे नैमित्तिक जप की संज्ञा दी जाती है। इस जप से पितरों की सद्गति होती है तथा उनका अनुदान मिलता है।

७. काम्य जप : किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए जो सकाम साधना की जाती है, वह काम्य जप कहलाता है। इससे देव-शक्तियों को आकर्षित किया जाता है।

८. निषिद्ध जप : अनाधिकारी गुरु से दीक्षा लेकर उच्चारण के साथ अपवित्र अवस्था में और निकृष्ट स्थान पर यदि अविधिपूर्वक जप किया जाए तो, वह निषिद्ध जप कहलाता है।

९. प्रायश्चित्त जप : जाने-अनजाने पापों के परिमार्जन के लिए जो जप किया जाता है, उसे प्रायश्चित्त जप कहा जाता है।

१०. अचल जप : अभीष्ट सिद्धि के लिए जब साधक यह निश्चय करता है कि नित्यप्रति वह निश्चित समय लगाकर इतना जप करके आसन से उठेगा, अचल जप कहलाता है।

११. चल जप : चलते-फिरते यात्रा में कही भी यह हो सकता है। इसके लिए किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है।

१२. भ्रमर जप : भ्रमर के गुंजन की भांति गुनगुनाना इस जप की विशेषता है। जिस तरह बंसी बजायी जाती है, उसी तरह प्राण वायु के संयोग से मन्त्रवृत्ति की जाती है।

१३. अखण्ड जप : इस अखण्ड साधना को जप की संज्ञा दी जाती है।

१४. प्रदक्षिणा जप : इसमें वट, औदुम्बर, पीपल एवं ज्योतिर्लिंग मंदिर की प्रदक्षिणा करते हुए जप किया जाता है।

मन्त्र साधना

अध्यात्म सम्बन्धी नियमों और क्रियाओं को प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थों अथवा किसी योग्य प्रशिक्षक/गुरु द्वारा ही सीखना चाहिए। उसके साथ ही साधना में श्रद्धा, संयम, दृढ़ निश्चय और पवित्रता अत्यन्त आवश्यक है। मन्त्र विज्ञान का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। किसी एक व्यक्ति का इसमें पूर्णतया पारंगत होना असंभव है, अध्ययन करना दूसरी बात है। पर क्रियात्मक रूप से साधना करके किसी मन्त्र की सिद्धि प्राप्त करना उससे भिन्न और श्रम साध्य है। अतः साधक के लिए बड़े धैर्य के साथ किसी एक मन्त्र का अवलम्बन लेना ही कल्याणकारी रहता है।[२३]

मन्त्र की निष्पत्ति

विधिपूर्वक मन्त्र जाप करने से अभीष्ट सिद्धि की प्राप्ति होती है। इसका ज्ञान तब होता है जब सिद्धि के कुछ लक्षण अनुभव में आने लगते हैं। मन्त्र महोदधि में निम्नलिखित लक्षण बताए गये हैं-

गति तथा ताल के शब्दों का कानों में आना, अपना तेज सूर्य के समान दिखाई पड़ना, निद्रा और भूख का महसूस न होना, आरोग्य और गंभीरता की प्राप्ति, क्रोध और लोक का अभाव होना, मन्त्रोपासक के लक्षण हैं।

साधना की सफलता इस बात में है कि साधक मन्त्र के साथ कितना एकाकार हो गया है? जो साधक मन्त्र की ही शरण में तल्लीन है, सोते-जागते, चलते-फिरते, उठते-बैठते, पवित्र है या अपवित्र सब समय मानस जप में लीन है सिद्धि प्राप्त करता है। मानस जाप के लिए कोई भी समय तथा स्थान दोष युक्त नहीं होता।[२४]

भैरवी तन्त्र में कहा गया है।

चित्तप्रसादो मनसश्च तुष्टिरल्पाशिता स्वप्नपराङ्मुखत्वम्।
स्वप्ने परिपाकफलं भवन्ति सिद्धस्य चिह्नानि भवन्ति सद्यः॥[२५]

अर्थात् चित्त प्रसन्न रहता है, मन संतुष्ट रहता है, स्वल्पाहारिता आती है, स्वप्न में भी पराङ्मुखता (विषय-विमुखता) रहती है, स्वप्न में परिपक्व फल (परिणाम) दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त भी इसी ग्रन्थ में बताया गया है कि साधक का सारा शरीर प्रकाशयुक्त हो जाता है। समस्त शरीर में देवतामय अवस्था का ज्ञान होने लगता है।

आचार्य श्री महाप्रज्ञ के अनुसार मन्त्र की आराधना की अनेक निष्पत्तियाँ हैं।[२६] वे निष्पत्तियाँ

---

२३. पद्मेश, के०ए० दुबे (१८८७), मन्त्र शक्ति, सुबोध पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृष्ठ सं० ५६.५७
२४. कुमार, आचार्य कृष्ण, योगविज्ञान तथा व्यावहारिक जीवन में उपयोगिता, पृष्ठ १२४
२५. भैरवी तंत्र (मन्त्र रहस्य) पृष्ठ २३०
२६. महाप्रज्ञ, आचार्य (१९९३); ऐसो पंच णमुक्कारों, आदर्श साहित्य संघ, राजस्थान, पृ. ८१

आंतरिक भी हैं और वाह्य भी। मानसिक भी हैं और शारीरिक भी। मन्त्र सिद्ध होने लगता है तब कुछ निष्पत्तियाँ हमारे सामने प्रकट होने लगती हैं। पहली निष्पत्ति है- चित्त की प्रसन्नता। जैसे-जैसे मन्त्र सिद्ध होने लगता है, चित्त में प्रसन्नता आने लगती है। प्रसन्नता हमारे अन्तःकरण की निर्मलता है। इसमें मलिनता का अवकाश नहीं रहता। न हर्ष का मैल होता है और न शोक का मैल होता है। सारे मैल धुल जाते हैं।

इसका दूसरा परिणाम है- मन की संतुष्टि। बिना किसी उपलब्धि के भी मन संतुष्ट हो जाता है जो संतोष पदार्थ की उपलब्धि के पश्चात् होता है कुछ मिलने पर होता है, वह वास्तव में संतोष नहीं होता, वह एक वासना की तृप्ति मात्र होती है। तृप्ति के साथ अतृप्ति जुड़ी होती है। पदार्थ की उपलब्धि के बिना भी मन संतोष से इतना भर जाता है कि सारी चाह मिट जाती है। मानसिक संतोष मन्त्र की दूसरी निष्पत्ति है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि मन्त्र जीवन शक्ति है। जिसके माध्यम से मनुष्य अपने कष्टों, विकारों, बीमारियों तथा भौतिक व अभौतिक बाधाओं का निराकरण कर सकता है। मन्त्र ऐसी ध्वनियाँ हैं जो एक बार पर्यावरण में समाहित होने के बाद निरन्तर गतिशील रहती हैं। यद्यपि सामान्य तौर पर इन्हें नहीं सुना जा सकता परन्तु ये तरंगों के रूप में सदैव हमारे आस-पास विद्यमान रहने के कारण योग शक्ति व ध्यान के माध्यम से इन्हें सुना जा सकता है। इनके प्रभाव से मानव का जीवन निरन्तर प्रभावित होता रहता है। जो साधक मन्त्रसिद्धि करता है वह भौतिक व दैहिक विकारों से मुक्त हो जाता है। उसका मन प्रसन्न हो जाता है, उसके मन की मलिनता नष्ट हो जाती है तथा उसका आत्मविकास हो जाता है और आत्मा के विकार रहित हो जाने से आत्मा का परमात्मा से मिलन हो जाता है।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ093-100) ISSN 0974 – 8830

अथर्ववेदसंहिता में शल्यचिकित्सा विज्ञान

डॉ. सुनीता जायसवाल[1]

शल्य शब्द शल् गतौ सकर्मक, सेट्, परस्मैपदी धातु से यत् प्रत्यय का योग करने पर निष्पन्न होता है। शल्यशास्त्र का वह भाग जो शरीर से असंगत सामग्री को उखाड़ फेंकने से सम्बन्ध रखता है, शल्य चिकित्सा विज्ञान कहलाता है। विज्ञान शब्द वि उपसर्ग पूर्वक ज्ञा अवबोधने धातु से ल्युट् प्रत्यय का योग करने पर निष्पन्न होता है। विज्ञान शब्द को आंग्लभाषा में science कहते हैं। इसकी उत्पत्ति लैटिन भाषा के साइन्टिया शब्द से हुई है। साइन्टिया का अर्थ है- ज्ञान या जानना।

अर्थात् हमारे इस भौतिक जगत् में जो कुछ भी घटित हो रहा है, उसका क्रमबद्ध अध्ययन ही 'विज्ञान' कहलाता है। हम अपने चारों ओर की सृष्टि का ज्ञान अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा कर सकते हैं, परन्तु इस भौतिक जगत् में ऐसी अत्यन्त सूक्ष्म क्रियाएँ हैं, जिनका ज्ञान हम सीधे ज्ञानेन्द्रियों से नहीं प्राप्त कर सकते। इसके लिए हमें अत्यन्त सूक्ष्मगाही यन्त्रों का प्रयोग करना पड़ता है जो कि विज्ञान का ज्ञान प्राप्त करने का प्रमुख साधन है।

अत: प्राकृतिक घटनाओं एवं दृश्यों का यन्त्रों के प्रयोग द्वारा अध्ययन करना तथा उनमें आपस में सम्बन्ध ज्ञात करने का नाम ही विज्ञान है। थामॅस हाब्स के अनुसार- "Science is the knowledge of consequences and dependence of one fact upon another"

चिकित्साशास्त्र के दो बड़े विभाग हैं- एक रोगविज्ञान दूसरा शल्य विज्ञान शरीर के विभिन्न भागों में उत्पन्न होने वाले रोगों का जहाँ संशोधन एवं संशमन तथा चिकित्सा द्वारा उपचार सम्भव नहीं है अथवा अधिक समय तक औषध-व्यवस्था करने पर भी उपशमन नहीं होता, वहाँ शल्यकर्म द्वारा छेदन-भेदन आदि उपचारों से रोपण कर्म द्वारा अग्नि एवं क्षार कर्म द्वारा अथवा रक्त मोक्षण द्वारा रोग निवारण किया जाता है। अत: विभिन्न प्रकार के यन्त्र एवं शस्त्रों का प्रयोग होने से इसे शल्यतन्त्र कहा जाता है।

दूसरे शब्दों में जिस तन्त्र में शल्य अर्थात् कील, काँटा आदि के प्रवेश या क्षत द्वारा होने वाली व्याधि को दूर किया जाता है, वह शल्यतन्त्र कहलाता है। **महर्षि सुश्रुत** ने शल्यतन्त्र को परिभाषित करते हुए लिखा है:- **'तत्र शल्यं नाम विविधतृणकाष्ठपाषाणपांशुलोहलोष्ठास्थिबालनखपूयास्त्रवदुष्टव्रणान्त-र्गर्भशल्योद्धरणार्थं यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानव्रणविनिश्चयार्थञ्च।'**[2]

अर्थात् नाना प्रकार के तृण, काष्ठ, पाषाण, धूलि, लोहा, मिट्टी, अस्थि, बाल, नख, पूय (पीव), स्राव, दूषित व्रण, अन्त: शल्य, गर्भशल्य आदि को निकालने के लिए एवं व्रण के निश्चय के लिए शल्यशास्त्र है। पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान इसी शाखा को (Surgery) 'सर्जरी' नाम प्रदान करता है।

शल्य चिकित्सा अन्य चिकित्सा प्रणालियों से भिन्न है। शल्य रोग औषधिसाध्य नहीं है, उसकी

---

१ विभागाध्यक्षा संस्कृत, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय चकिया चन्दौली (उ.प्र.)

२ सुश्रुत संहिता-अध्याय -१

साध्यासाध्यता बहुत कुछ शल्यचिकित्सक की सृजनात्मक क्षमता पर निर्भर करती है जिसे वह यन्त्र-शस्त्रों की सहायता से पूरा करता है। इस चिकित्सा प्रणाली में औषधियों का प्रयोग आनुषङ्गिक है, परन्तु फिर भी आवश्यक है।

चिकित्सा शास्त्र की दो धाराएँ हैं-पहला-आत्रेय द्वारा प्रणीत काय चिकित्या। दूसरा-धन्वतरि द्वारा प्रवर्तित शल्य चिकित्सा। काय चिकित्सा का प्रमुख ग्रन्थ चरक संहिता है तथा शल्य चिकित्सा का प्रमुख ग्रन्थ सुश्रुत संहिता है।

सुश्रुत संहिता के अनुसार शल्य चिकित्सा ही आदि चिकित्साशास्त्र है, क्योंकि व्रण ही प्रथम रोग है जिसकी चिकित्सा की आवश्यकता मानवमात्र को सर्वप्रथम हुई। मनुष्य जन्म लेते ही ज्वर आदि शारीरिक व्याधियों का ग्रास नहीं हो जाता। ये व्याधियाँ कालान्तर में अपना आक्रमण करती हैं, परन्तु व्रण नवजात शिशु में नाभिनाल छेदन के साथ ही उत्पन्न हो जाता है तथा चिकित्सा के लिए शल्य चिकित्सा की आवश्यकता होती है। प्रतिदिन के क्रियाकलापों में भी क्षत व्रण के उत्पन्न होने की अधिक सम्भावना रहती है। इस दृष्टिकोण से भी शल्यचिकित्सा की आवश्यकता मानवमात्र को सर्वप्रथम हुई, ऐसा माना जा सकता है।

वस्तुतः शल्यशास्त्र का प्रारम्भ सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था से होता है। जब मानव का प्रथम शिशु इस धरती पर अवतरित हुआ होगा उसी समय उसके नाल काटने की प्रक्रिया से उस स्थान का शोधन, रोपण और नाभिनालिका-छेदन आदि शल्यकर्म सर्वप्रथम मानव द्वारा किया गया होगा। शल्यक्रिया का आयुर्वेद में अर्थ है- चीर-फाड़ (Surgery)।

अतिप्राचीन वैदिकयुग से हि शल्यविदों का स्वतन्त्र सम्प्रदाय चला आ रहा है। अथर्ववेद में शल्यचिकित्सा के प्रमाण पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं:- अथर्ववेद में विष बुझे शस्त्र के घाव तथा क्षत व्रण या कटे-फटे अङ्गों की शल्यक्रिया द्वारा चिकित्सा करके व्रणशोधन एवं व्रणरोपण की विधि बताई है। अथर्ववेद में रोहिणि लाख को रक्तस्रावरोधक, व्रणरोधक, व्रणपूरक तथा अस्थिरोपक बताया गया है-

अरसस्त इषो शल्योऽथो ते अरसं विषम्।[३]
उतारसस्य वृक्षस्य धनुष्टे अरसारसम्'
रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहिणी।[४]
रोहयेदमरुन्धति।।[५]

अथर्ववेद में टूटे हुए अस्थि एवं अङ्गों को जोड़ने की शल्यचिकित्सा विधि बताते हुए कहा गया है- जोड़ों को जोड़ों से मिलाते हुए टूटे हुए अङ्गों को जोड़ना चाहिए तथा मज्ञा नामक छठी धातु के साथ मज्ञा को मिला दिया जाए, चर्म से चर्म को मिला दिया जाय तो व्रण शीघ्र ही भर जाता है। इसी प्रकार रुधिर और अस्थि भी जुड़कर ठीक हो जाती है तथा माँस को माँस के साथ मिला देने से वह भी मिलकर

---

३ अथर्ववेद -४.६.६
४ अथर्ववेद -४.१२.१
५ अथर्ववेद -४.१२.२

एक होकर पुष्ट हो जाता है-

यत्तेरिष्टं यत्ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मनि।
धाता तद्भद्रया पुन: सं दधत् परुषा परु:॥
सं ते मज्ञा मज्ञा भवतु समु ते परुषा परु:।[६]
सं ते मांसस्य विस्रस्तंस्समस्थ्यपि रोहतु॥
लोम लोम्ना सं कल्पया त्वचा संकल्पया त्वचम्।
असृकते अस्थि रोहतुच्छिन्न सं धेह्योषधे॥[७]

अथर्ववेद में अपचित अर्थात् गण्डमाला रोग की शल्यचिकित्सा का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में मुनिवृक्ष के मूल से अपिचित की गिल्टियों को छेदकर इसका पीव बारह निकालने का निर्देश दिया गया है।

अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेती शुश्रुम्॥
मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम्॥[८]

अथर्ववेद में विष बुझे शस्त्र के घाव, टूटे हुए सींग से उत्पन्न, प्राणी के मल से उत्पन्न, विषैले सरकण्डे से या लेप से उत्पन्न विष को दूर कर व्रणरोपण का उपाय बताया गया है। इसके लिए अपस्कम्भ नामक औषधि के पत्र से तथा सुपारी के वृक्ष के टुकड़ों से व्रणरोपण एवं विष को सर्वथा निर्बल करने का विधान है-

यस्त आस्यत्पञ्चाङ्गुरिर्वक्राचिदधि धन्वन:।
अपस्कम्भस्य शल्यान्निरवोचमहं विषम्॥[९]
शल्याद् विषं निरवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधे:।
अपाष्ठोच्छृङ्गात् कुल्मलान्निरवोचमचम्॥[१०]

सद्योव्रण या आशुघात की चिकित्सा को अथर्ववेद में जल द्वारा प्रतिपादित किया गया है। शस्त्र से क्षत या विद्ध स्थल पर हिमजल का धाराप्रवाह करके अवसेचन करना तथा उस अङ्ग को जल में निमग्न करके रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त मोटे कपड़े को जल में भिगा करके क्षत स्थल पर बाँधना चाहिए।

इदमिद् वा उ भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम्।
येनेषुमेकतेजनां शतशल्यामपब्रवत्॥[११]
जलाषेणाभि षिञ्चत जलषेणोप सिञ्चत॥

---

६ अथर्ववेद -४.१२.३
७ अथर्ववेद -४.१२.५
८ अथर्ववेद -७.७४.१
९ अथर्ववेद -४.६.४
१० अथर्ववेद -४.६.५
११ अथर्ववेद -६.५७.१

जलाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे।।[१२]

शं च नो मयश्च नो मा च नः किं चनाममत्।

क्षमा रपो विश्वं नो अस्तु भेषजं सर्वं नो अस्तु भेषजम्।।[१३]

अथर्ववेद में प्रहार या आघात से उत्पन्न व्रण का रोपण करने के लिए तथा विकृत क्षत का शोधन करने का उल्लेख प्राप्त होता है। सिलाची या लाक्षा नामक औषधि इस प्रकार के व्रण का शोधन करती है तथा भग्न सन्धानकारिणी, प्राचीन व्रणशोधनी, दण्ड या शलाकादि से उत्पन्न क्षत का शीघ्र रोपण करती है।

रात्रि माता नभः पितार्यमा ते पितामहः।

सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा।।[१४]

यद दण्डेन यदिष्वा यद वारुर्हरसा कृतम्।

तस्य त्वमसि निष्कृतिः सेमं निष्कृधि पुरुषम्।।[१५]

इसके अतिरिक्त पाठा नामक औषधि को भी व्रणनाशक बताया गया है-

पाठामेन्द्रो व्याश्नादसुरेभ्य स्तरीतवे।

प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे।।[१६]

अथर्ववेद में शरीर में बाण के लगने पर अङ्गों में चुभे हुए बाण को चीर-फाड़ के द्वारा बाहर निकालने तथा व्रण को पूर्णतया निरोग करने का उल्लेख प्राप्त होता है-

यां ते रुद्र इषुम् आस्मद् अङ्गेभ्यो हृदयाय च।

त्वद्र विषूचीं वि वृहामसि।।[१७]

अथर्ववेद में मूत्रनाड़ी-चिकित्सा का वर्णन प्राप्त होता है। इस चिकित्सा में मूत्रनाड़ी शोधन के लिए शर (सरकंडा) का उपयोग किया जाता है। शर या इषीका को मूत्रमार्ग में प्रविष्ट करके मूत्र निकालने का विधान वर्णित है। आधुनिक समय में इसी का विकसित रूप लौहशलाका या वस्तियन्त्र (Catheter) कैथेटर का प्रयोग करके रुके हुए मूत्र को बाहर निकालते हैं। यह रबर का भी बना होता है। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में यह भी वर्णन प्राप्त होता है कि कुछ मूत्रल औषधियों का लिङ्ग में इषीका द्वारा प्रवेश किया जाता है तो मूत्र शीघ्र बाहर आ जाता है-

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्।

तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति।।[१८]

---

१२ अथर्ववेद -२.५७.२

१३ अथर्ववेद -२.५३.३

१४ अथर्ववेद -५.५.१

१५ अथर्ववेद -५.५.४

१६ अथर्ववेद -२.२७.४

१७ अथर्ववेद -६.९०.१

१८ अथर्ववेद -१.३.१

यथेषुका परापतदवसृष्टाधि धन्वनः।[१९]

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बर्हिर्वालिति सर्वकम्॥

अथर्ववेद में मूत्राघात या मूत्रकृच्छ्र एवं अश्मरी (पथरी) रोगों में मूत्राशय की पार्श्ववर्ती गवीनी (Uterus) में, वृक्कों में तथा पौरुषग्रन्थि (Prostate gland) के बढ़ जाने के कारण अवरुद्ध मूत्रमार्ग की शल्य चिकित्सा द्वारा जो मूत्र रुका हुआ है उसे बाहर निकालने तथा पथरी (Stone) को बाहर निकालने का विधान वर्णित है-

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रुतम्।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥[२०]

प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥[२१]

विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥[२२]

यथेषुका परापतदवस्सृष्टाधि धन्वनः।

एवा ते मूत्रं मुच्यता बहिर्बालिति सर्वकम्॥[२३]

अथर्ववेद में आस्राव रोग के अन्तर्गत रक्तस्राव को रोकने के लिए धमनी-बन्धन का उल्लेख प्राप्त होता है-

अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः।

अभ्रातरइव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः॥[२४]

तिष्ठावरे तिष्ठ पर उत त्वं तिष्ठ मध्यमे।

कनिष्ठिका च तिष्ठति तिष्ठादिद् धमनिर्मही॥[२५]

शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम्।

अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत॥[२६]

परि वः सिकतावती धनूर्बृहत्यक्रमीत्।

तिष्ठतेलयता सु कम्॥[२७]

---

१९ अथर्ववेद -१.३.९

२० अथर्ववेद -१.३.६

२१ अथर्ववेद -१.३.७

२२ अथर्ववेद -१.३.८

२३ अथर्ववेद -१.३.९

२४ अथर्ववेद -१.१७.१

२५ अथर्ववेद -१.१७.२

२६ अथर्ववेद -१.१७.३

अथर्ववेद में सर्पविष चिकित्सा का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है इसके लिए अथर्ववेद में बन्धन चिकित्सा का निर्देश किया गया है, तथा यह भी उल्लेख प्राप्त होता है कि ये बन्धन कहाँ बाँधना चाहिए, कब बाँधना चाहिए। अथर्ववेद के अनुसार सर्पदंशजन्य विष का प्रभाव जहाँ तक न पहुँचा हो वहाँ पर ग्रहणियों-बन्धनियों से बन्धन बाँधना चाहिए ताकि विष हृदय तक न पहुँच सके और यह कार्य शीघ्रता से करना चाहिए सर्प के काटने पर कटे हुए स्थान से चार अंगुल ऊपर बन्धन या गाँठ लगानी चाहिए। गाँठ इतनी कसी हो कि विष का प्रभाव ऊपर तक न जाने पावे।

यत्ते अपोदकं विषं तत्ते एतास्वग्रभम्।
गृह्णामि ते मध्यममुत्तमं रसमुतावमं भियसा नेशदादु ते।।[२८]
वृषा मे रवो नभसा न तन्यतुरुग्रेण ते वचसा बाध आदु ते।
अहं तमस्य नृभिरग्रभं रसं तमस इव ज्योतिरुदेतु सूर्यः।।[२९]

अथर्ववेद में शल्यक्रिया द्वारा सुखप्रसूति एवं मूढ़गर्भ चिकित्सा का वर्णन प्राप्त होता है। जब गर्भस्थ शिशु के अङ्ग-प्रत्यङ्ग पूर्णरूपेण विकसित हो चुके हों और वह मन-बुद्धि आदि से युक्त हो गया हो, किन्तु विगुण अपान वायु के कारण मार्ग में अवरुद्ध हो गया है तो उसे मूढ़गर्भ कहते हैं। अथर्ववेद में मूढ़गर्भ की चिकित्सा शल्यकर्म द्वारा बताई गई है। जिसके अन्तर्गत गर्भाशय को चीर कर गर्भस्थ शिशु को बाहर निकालने का उल्लेख है-

वि ते भिनद्मि मेहनं वियोनि वि गवीनके।[३०]
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम्।।

अथर्ववेद में शल्यक्रिया द्वारा वन्ध्याकरण चिकित्सा का विधान वर्णित है इस चिकित्सा के अन्तर्गत पुरुषों के अण्डकोष को तोड़ने एवं उसके ऊपर स्थित दोनों शुक्रवाहिनी नाड़ियों का भेदन कर क्लीब करने की प्रथम विधि शल्य चिकित्सा ही प्रतीत होती है।

वृषण के ऊपर जो देवकृत दो नाड़ियाँ स्थित हैं उन दोनों नाडियों को शम्या शस्त्र से छेदने का निर्देश है। इससे यह ज्ञात होता है कि वृषण के ऊपर जो शुक्रवाहिनी नाड़ियाँ हैं, उसका छेदन कर देने से शुक्र का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। आज के शल्यचिकित्सक भी अथर्ववेद में वर्णित इस विधि को अपनाते हैं-

यथा नडं कशिपुने स्त्रियो भिन्दन्त्यश्मना।
एवा भिनद्मि शेपोऽमुष्या अधि मुष्कयोः।।[३१]
क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि।

---

२७ अथर्ववेद -१.१७.४
२८ अथर्ववेद -५.१३.२
२९ अथर्ववेद -५.१३.३
३० अथर्ववेद -१.११.५
३१ अथर्ववेद -६.१३८.२

अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्तवाण्ड्यौ।।[३२]

ये ते नाड्यौ देवकृते ययोस्तिष्ठति वृष्ण्यम्।

ते ते भिनद्मि शम्ययामुष्या अधि मुष्कयो:।।[३३]

क्लीबं त्वाकरं वध्रे वध्रिं त्वाकरमरसारसं त्वाकरम्।

कुरीरमस्य शीर्षणि कुम्बं नाधिनिदध्मसि।।[३४]

अथर्ववद में अर्श (बवासीर) की चिकित्सा के लिए शल्यक्रिया का विधान वर्णित है। अथर्ववेद के अनुसार अर्शछेदन क्रिया के लिए एक-एक अर्श को सात दिन बाद काटना चाहिए। सभी अर्श को एक साथ नहीं काटना चाहिए। शस्त्र से काटने के पश्चात् अग्नि या क्षार से जलाने तथा अर्शों में धूपन का भी विधान किया गया है।

सहमानेयं प्रथमा पृश्निपर्णी अजायत।

तयाहं दुर्णाम्नां शिरो वृश्चामि शकुनेरिव।।[३५]

अर्थर्ववेद में बलास अर्थात् बलनाशक कफ व कैंसर रोगों के निवारणार्थ शल्य क्रिया का उल्लेख प्राप्त होता है-

निर्बलासं बलासिन: क्षिणोमि मुष्करं यथा।

छिनद्यस्य बन्धनं मूलमूर्वार्वा इव।।[३६]

अथर्ववेद में जलोदर रोग की चिकित्सा के लिए भी शल्यक्रिया द्वारा जल को बारह निकालने की विस्रावण क्रिया का वर्णन है। **अप्वामन्तरोदरात्..................बहिर्निर्मन्त्रयामहे।**[३७]

अथर्ववेद में मुखरहित व्रण की चिकित्सा के लिए शल्यक्रिया का विधान प्राप्त होता है-

इदमिद वा उ भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम्।

येनपुमेकतेजनां शतशल्यामपब्रवत्।।[३८]

इस प्रकार से अथर्ववेद में शल्यकर्म द्वारा विष बुझे शस्त्र के घाव, कटे- फटे अङ्गों क्षतव्रण, दण्ड व इषु द्वारा किये गए व्रण, मुख रहित व्रण, सद्योव्रण या आशुघात, व्रणपाक एवं आघात द्वारा व्रण के रोपण एवं शोधन किये जाने का उल्लेख है।

इसके अतिरिक्त अपची (गण्डमाला), अर्श, भगन्दर बलास-कैन्सर, अस्थिभंग, जलोदार, मूढगर्भ, सुख प्रसूति, बन्ध्याकरण, मूत्राघात, मूत्रनाड़ी चिकित्सा, अश्मरी पौरुषग्रन्थि, रक्तस्राव, सर्पदंश

---

३२ अथर्ववेद -६.१३८.३

३३ अथर्ववेद -६.१३८.४

३४ अथर्ववेद -६.१३८.५

३५ अथर्ववेद -२.२५.२

३६ अथर्ववेद -६.१४.२

३७ अथर्ववेद -९.८.९

३८ अथर्ववेद -६.१४.२ अथर्ववेद -९.८.९

आदि विभिन्न रोगों की चिकित्सा में शल्यचिकित्सा के प्रमाण प्राप्त होते हैं।

नवीनतम नैदानिक तकनीकें का मानव कल्याण के लिए आविष्कार एवं प्रयोग २०वीं शताब्दी की देन रही है, परन्तु चाहे वह सूक्ष्म ध्वनि तरंग (Ultrasonic Weves) या नैदानकीय एवं चिकित्सकीय (Diagnostic & Therapeutic) प्रणाली हो या (X Rays) क्ष किरण की सूक्ष्मतम चिकित्सा या निदान पद्धति हो, हमें इसका आधार वेदों में वर्णित पञ्च भौतिक चिकित्सा में प्राप्त होता है।

अथर्ववेद से उद्धृत उपर्युक्त सन्दर्भों साक्ष्यों कथानकों एवं प्रमाणों का गहनानुशीलन एवं विश्लेषण करने पर यह सिद्ध एवं प्रमाणित होता है कि शल्यशास्त्र का सर्वोच्च ज्ञान जिसे हम २०वीं शताब्दी की महती उपलब्धियाँ मानते हैं, उसका मूल स्रोत सर्वप्राचीन साहित्य अथर्ववेद में पहले से ही विद्यमान् है।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ0101-103) ISSN 0974 – 8830

आरण्यकसाहित्यम्

प्रो० वेदप्रकाश उपाध्यायः[१]

अरण्यशब्दे भवार्थे वुञ्प्रत्ययसंयोगादारण्यकशब्दः निष्पद्यते। तैत्तिरीयारण्यकस्य सायणभाष्ये आरण्यकनामकरणस्य प्रयोजनमुक्तम्-अरण्याध्ययनादेतद् आरण्यक- मितीर्यते।[२] अरण्यस्य शान्तं वातावरणमुपयुक्तं स्थानमेतेषां ग्रन्थानां मननाय। ग्रामेषु एतेषामध्ययनं कथमपि उपादेयं न वर्तते। यज्ञानां व्याख्यानं ब्राह्मणग्रन्थानां विषयः, किन्तु आरण्यकानां विषयः यज्ञादीनामाध्यात्मिकं निरूपणं विद्यते। अत्रोपलभ्यते प्राणविद्यायाः माहात्म्यम्। यद्यपि वैदिकसंहितासु प्राणविद्यायाः सङ्केतो विद्यते, किन्तु आरण्यकग्रन्थेषु प्राणविद्यासम्बद्धबीजानां पल्लवनं वर्तते इति वैदिकसाहित्यविशेषज्ञैः स्वीक्रियते।[३] ऋषिभिर्ब्रह्मविद्याविषयकं यद् ज्ञानमरण्येषु विगतजनकोलाहलेषु भौतिकविषयवासनाः बहुविधबाधाबन्धनानि च परित्यज्य समजितं तदेवारण्यकग्रन्थेषूपलभ्यते। वाचस्पतिगैरोलामहोदयेनापि अरण्यानां शान्तवातावरणे आरण्यकानामध्ययनं मननं च समीचीनत्वेन मतम्।[४]

ब्रह्मचर्याश्रमः गृहस्थाश्रमः वानप्रस्थाश्रमः संन्यासश्चेति चत्वारः आश्रमास्तेषु तत्र वेदस्य संहिताभागः ब्रह्मचर्याश्रमे, ब्राह्मणभागः गृहस्थाश्रमे, आरण्यकभागः वानप्रस्थाश्रमे, उपनिषद्भागश्च संन्यासाश्रमे अध्येयो ज्ञेयश्च। वानप्रस्थाश्रमे यानि यज्ञ-महाव्रत-हौत्रकर्माणि सन्ति, तानि आरण्यकग्रन्थेषु व्याख्यातानि। यद्यपि आरण्यकग्रन्थाः वानप्रस्थाश्रमवासिनां कर्मकाण्डसम्बद्धाः ग्रन्थाः सन्ति, किन्तु तेषु यज्ञानामाध्यात्मिकं व्याख्यानमुपलभ्यते। तेषु ग्रन्थेषु कर्मज्ञानोभयमार्गयोरुभयोः समन्वयः प्राप्यते। उपनिषत्सु यद्ब्रह्मज्ञानं बृहद्रूपेण प्रतिपादितं तस्य मूलरूपमारण्यकग्रन्थेषु द्रष्टुं शक्यते।

आरण्यकेषु आत्मविद्या, तत्त्वविचारः सरहस्या विषयाश्च वर्णिताः। अस्मात् कारणात् आरण्यकग्रन्थाः रहस्यपदेनाप्यभिधीयन्ते। अथर्ववेदीये गोपथब्राह्मणे 'सरहस्या' इत्युक्त्या रहस्यपदेन आरण्यकग्रन्था निर्दिष्टाः।[५] बौधायनधर्मसूत्रेऽपि उपरिनिर्दिष्टं तथ्यं सूत्रितम्।[६] आरण्यकानां रहस्याभिधान-मुपयुज्यते, तेषु यज्ञगतरहस्यब्रह्मविद्ययोः समावेशत्वावच्छिन्नत्वव्यवच्छिन्नत्वावच्छिन्नत्वव्यवच्छिन्नत्वात्।

आरण्यकेषु ब्राह्मणोपनिषदोः संयोजकत्वं वर्तते। ब्राह्मणग्रन्थेषु

---

१. एम.ए. (द्वय), डी. फिल्., डी.लिट्., आचार्यत्रय, प्रोफेसर एमेरिटस, संस्कृत-विभाग, पंजाब विश्वविद्यालयः चण्डीगढ़म्।

२. अरण्याध्ययनादेतदारण्यकमितीर्यते। अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते॥ तैत्तिरीय आरण्यक, सायणभाष्य, पृ. २३२.

३. वैदिकसाहित्य और संस्कृति : बलदेव उपाध्याय, पृ. २३२.

४. संस्कृत साहित्य का इतिहास : वाचस्पति गैरोला, पृ. १३६.

५. गोपथब्राह्मण, २.१०.

६. बौधायनधर्मसूत्र, २.८.३.

यज्ञानामाध्यात्मिकदार्शनिकपक्षावङ्कुरितौ स्तः, तयोः प्रस्फुटितं विशदं रूपमारण्यकेषु प्राप्यते। आरण्यकैः सकामतः निष्कामं कर्म प्रति प्रवर्तन्ते जनाः। अध्यात्मज्ञानोपलब्ध्यर्थमारण्यकग्रन्था अपेक्ष्यन्ते। स्थूलत्वात् सूक्ष्मत्वं प्रति, मूर्त्तत्वादमूर्तत्वं प्रति, भौतिकत्वादध्यात्मत्वं प्रति नयन्त्यारण्यकग्रन्थाः। आरण्यकग्रन्थाः वेदानां सारभागत्वेनोरीकृताः। यथा दध्नो नवनीतं प्राप्यते, यथा मलयगिरेश्चन्दनमुपलभ्यते, यथा ओषधीभ्योऽमृतं लभ्यते, तथैव वेदेभ्यः आरण्यकं समुपलभ्यते, इति महाभारते स्पष्टमेवोक्तम्।[७] न केवलं वानप्रस्थाश्रमवासिभ्यः आरण्यकैः आध्यात्मिकमुपकरणं प्रदीयते, अपितु संन्यासाश्रमवासिभ्योऽपि अध्यात्मसम्बद्धं विवरणं प्रस्तूयते। डॉ० राधाकृष्णन् महोदयेनाप्युपरिनिर्दिष्टं तथ्यं स्वीकृतम्।[८] अध्यात्मग्रन्थरूपेण आरण्यकग्रन्थाः पाश्चात्यविद्वद्भिरपि भूरिशः प्रशंसिताः।[९]

आरण्यकेषु प्रतिपादितायाः प्राणविद्यायाः स्रोतः ऋग्वेदादिषु प्राप्यते।[१०] अथर्ववेदेऽपि प्राणविद्याया महत्त्वमुपलभ्यते।[११] एतस्मात्सिध्यत्येतद् यत् प्राणविद्यायाः सनातनपरम्परा वर्तते। जगतो धारकत्वं प्राणे प्रतिष्ठितम्। एतद्विषये श्रूयते **'सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः, तद्यथायमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः एवं सर्वाणि भूतानि आपिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात्।'**[१२] प्राणाभावे विश्वस्यैतन्महदाश्चर्योपादकं संस्थानमपि न भवितुमर्हति, **'सर्वं हीदं प्राणेनावृतम्'** इति श्रुतेः।[१३] प्राणस्य विश्वधारकत्वं रक्षकत्वं च सिध्यति। प्राणस्य जीवनाधारत्वमायुष्कारकत्वं चेत्यत्र न काचिद्विप्रतिपत्तिः। ऋग्वेदीयकौषीतक्युपनिषदि प्राणानामायुष्कारकत्वं सुष्ठु प्रतिपादितम्। यावदध्यस्मिन् शरीरे प्राणे वसति तावदायुः इतिश्रुतिमाध्यमेन बलदेवोपाध्यायेन सम्यक् स्वीकृतं यद्यावच्छरीरे प्राणाः सन्ति तावदेव आयुः।[१४] ऐतरेयारण्यके उक्तम्-सर्वा ऋचः सर्वे वेदाः, सर्वे घोषाः ते प्राणरूपाः। उपरिनिर्दिष्टरूपेषु प्राणा एव उपासनीयाः।[१५] प्राणस्यैतान् विविधरूपगुणानवगम्य उपासना करणीया प्राणस्य। प्राणस्याग्निरूपत्वं परमात्मरूपत्वं च श्रूयते।[१६]

आरण्यकेषु बीजरूपेणोपस्थितानामाध्यात्मिकतत्त्वानामुपनिषत्सु विकासः प्राप्यते। प्राचीना उपनिषदः आरण्यकांशत्वेनोपलभ्यन्ते। संहिताब्राह्मणवदारण्यकान्यपि बहुसंख्यकान्यासन्। सर्वासां वेदशाखानां संहिताग्रन्था नोलभ्यन्ते नैव ब्राह्मणग्रन्थाः। एतादृश्येव स्थितिरारण्यकानाम्। उपलब्धा आरण्यकग्रन्था एते

---

७. नवनीतं यथा दध्नो मलयाच्चन्दनं यथा। आरण्यकं च वेदेभ्यः ओषधीभ्योऽमृतं यथा॥ महाभारत, १.३३१.३.

८. भारतीयदर्शन- डॉ० राधाकृष्णन् भाग-१, पृ. ५९.

९. A History of Sanskrit Literature, Macdonell, p. 172-173.

१०. ऋग्वेदसहिता, ६.१६४.३१, १.६६.१., १०.५९.६.

११. अथर्ववेद संहिता, ११. ४.१-२६.

१२. ऐतरेय आरण्यक, २.१.६.

१३. ऐतरेय आरण्यक, २.३.२.

१४. वैदिक साहित्य और संस्कृति- बलदेव उपाध्याय, पृ. २३४.

१५. सर्वा ऋचः सर्वे वेदाः सर्वे घोषा एकैव व्याहृतिः प्राण एव। प्राण ऋच इत्येव विद्यात्- ऐतरेयआरण्यक, २.२.१०.

१६. प्राणोऽग्निः परमात्मा- मैत्रायणीय आरण्यक, ६.१.

सन्तिः ऋग्वेदीयान्यारण्यकानि- ऋग्वेदसम्बद्धा आरण्यकग्रन्था त्रय एवोलभ्यन्ते। ऐतरेयमारण्यकम्, शांखायनमारण्यकम्, कौषीतकि आरण्यकम्। बहुभि:---------------------

वैदिकसाहित्येतिहासकारैः ऋग्वेदस्य केवलमारण्यकद्वयमेव स्वीकृतम्, तेषां मते शांखायनकौषीतक्योरभेदात्।[१७] नैतदुपयुज्यते। आश्वलायनगृह्यसूत्रस्य ऋषितर्पणप्रसङ्गे कौषीतकिश्च कहोलश्च शांखायनश्चेति श्रुतेः शांखायनकौषीतक्योर्भेदः सिध्यति, अतः उभयोः शांखायनकौषीतक्योः पार्थक्यात् ऐतरेयमारण्यकम्, शांखायनारण्यकम्, कौषीतकि आरण्यकमिति त्रीणि आरण्यकानि ऋग्वेदस्य सुनिश्चितानि, न तु आरण्यकद्वयम्।

शुक्लयजुर्वेदीयानि आरण्यकानि- शुक्लयजुर्वेदसम्बद्धम्आरण्यकग्रन्थद्वयं वर्तते- माध्यन्दिनबृहदारण्यकम्, काण्वीयबृहदारण्यकम्।

कृष्णयजुर्वेदीयानि आरण्यकानि- कृष्णयजुर्वेदसम्बद्धा आरण्यकग्रन्था आरण्यकद्वयातिरिक्तं नोपलभ्यन्ते। अस्य वेदस्य कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयशाखायास्तैत्तिरीयमारण्यकम्, मैत्रायणीशाखाया मैत्रायणीयमारण्यकम् इति द्वे आरण्यके स्तः।

सामवेदीयानि आरण्यकानि- सामवेदीयशाखासम्बद्धानि अनेकानि आरण्यकानि आसन् किन्तु तत्र केवलमारण्यकद्वयमेवोपलभ्यते छान्दोग्यारण्यकम्, तवलकारारण्यकमिति रूपेण। अथर्ववेदीयानिआरण्यकानि- 'नवधाथर्वणोवेदः' इति वचनात् प्रतिशाखमवलम्ब्यैकमारण्यकं भवितव्यमतः अथर्ववेदस्य नव आरण्यकानीति वक्तुं शक्यते, किन्तु समेषामप्यारण्यकानामदर्शनं जातम्, अतः अधुना न किमपि आरण्यकमुपलभ्यतेऽथर्ववेदस्य।

शुक्लयजुर्वेदीये आरण्यके द्वे माध्यन्दिनीयं बृहदारण्यकम्, काण्वीयं बृहदारण्यकम् इति उपनिषत्सु प्रतिपादितां ब्रह्मविद्यां निरूपयतः। अस्मात्कारणादुभे आरण्यके उपनिषत्संज्ञकेऽपि भवतः। इत्थमेव सामवेदीयं छान्दोग्यारण्यकमपि रहस्यविद्याप्रतिपादनवशादुपनिषन्नाम्नापि व्यवहियते।

उपनिषत्सु सृष्ट्युत्पत्तिर्ज्ञानं कर्म-उपासना-तत्त्वज्ञानादयो विचारिताः। तत्र विहितस्य तस्यैव तत्त्वज्ञानस्यारम्भिकं स्वरूपमारण्यकग्रन्थेषु विद्यते। एतदेव छान्दोग्यबृहदारण्यकयोरुपनिषत्स्वरूपत्वप्राप्तेः कारणम्।

---

१७. वैदिक साहित्य और संस्कृति - बलदेव उपाध्याय, पृ. १९५. १९८०. संस्कृत साहित्य का इतिहास- वाचस्पति गैरोला, पृ. १२८. १९५९.

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ0104-109) ISSN 0974 – 8830

भगवान् बुद्ध का मौनालम्बन- एक समीक्षात्मक दृष्टि

The reticence of lord buddha– a critical view

प्रो. विजयपाल शास्त्री[1]

भगवान् बुद्ध का व्यक्तित्व बड़ा दुर्ज्ञेय था। उनके निकट रहने वाले शिष्य और अनुयायी भी उनके वास्तविक चरित्र स्वभाव और व्यक्तित्व को पूरी तरह समझने में स्वयम् को असमर्थ पाते थे। बुद्ध सर्वज्ञ और लोकोत्तर सिद्ध पुरुष थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। लोकोत्तर पुरुषों के चरित्र को ठीक-ठीक समझना साधारण पुरुषों के वश की बात नहीं होती। भवभूति ने स्वीकार किया है- लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति (उत्तरराम चरित)। निश्चित रूप से बुद्ध बुद्धिवादी व्यक्ति थे। उनका निश्चित मत था कि बुद्धि की कसौटी पर कसकर ही किसी तथ्य को स्वीकार करना चाहिए केवल विश्वास या श्रद्धावश किसी बात को सत्य न समझें। कोई भी धर्म तभी अनवद्य कहला सकता है, जब शुभ फलप्रद और हितकारी हो। आर्यदेव ने ज्ञानसारसमुच्चय में बुद्धवचन उद्धृत किया है-

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डित:।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्।।

अर्थात् जिस प्रकार सुवर्ण की शुद्धता की परीक्षा तपाने से काटने से और कसौटी पर कसने से होती है, केवल कहने से वह शुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार हे भिक्षुओ! मेरे वचनों की स्वयम् बुद्धिपूर्वक परीक्षा करो और तब उन्हें स्वीकार करो। यह सोचकर उन्हें सत्य न मानो कि ये मेरे वचन हैं।

इस प्रकार बुद्धिपूर्वक परीक्षा करना बुद्ध का स्वभाव था, किन्तु वे कोरे बुद्धिवादी ही नहीं थे, व्यावहारिक भी थे। केवल शुष्क तर्कों से ही कोई बात सत्य सिद्ध नहीं की जा सकती। व्यवहार देखकर भी वस्तु का ज्ञान किया जाता है। कुछ बातें तर्क से परे होती हैं। तर्क से उनका उत्तर नहीं दिया जा सकता। उक्ति प्रसिद्ध है- **'अचिन्त्या: खलु ये भावा: न तांस्तर्केण योजयेत्'**- अर्थात् अचिन्त्य तत्त्वों का तर्क से नहीं जोड़ना चाहिए। एक कुशल वैद्य केवल तर्क के सहारे रोगी की चिकित्सा नहीं करता। रोग के लक्षण और रोगी का स्वभव देखकर ही वह रोग का निदान ओर औषध का निश्चय करता है, संसार भी एक रोग है। भवरोग की चिकित्सा के लिए जितना आवश्यक था, उतनी ही बातें उन्होंने बतलायीं। अनावश्यक और अव्यावहारिक धर्मों का कथन करना उन्होंने ठीक नहीं समझा।

अतिप्रश्नों पर मौन धारण-

बुद्ध के विषय में यह प्रसिद्धि है कि वे कुछ प्रश्नों का उत्तर न देकर चुप हो जाते थे। न हाँ में उत्तर देते थे और न ना में। कुछ प्रश्न ऐसे होते हैं जिनका कोई उत्तर नहीं होता। कोई उत्तर होता भी हो तो वह श्रोता की बुद्धि में आ नहीं सकता, इसलिये वक्ता का मौन ही रहना उचित होता है। ऐसे प्रश्नों को

---

१. प्रोफेसर, दर्शन विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

अतिप्रश्न कहा जाता है। अतिप्रश्न उसे कहा जाता है जिसका कोई उत्तर या तो होता ही नहीं, यदि होता भी है तो प्रकट करने योग्य नहीं होता, ऐसे प्रश्नों को बौद्ध दर्शन की शैली में अव्याकृत कहा जाता है। जैसे यदि पूछा जाए कि अग्नि ऊपर की ओर ही क्यों जलती है? वायु की गति तिरछी क्यों है? जल का प्रवाह नीचे की ओर क्यों है? दुर्जन अकारण वैर क्यों करता है? सत्पुरुष दीनों पर दया क्यों करते हैं? इन प्रश्नों का उत्तर होगा कि इनका स्वभाव ही ऐसा है। अब यदि यह प्रश्न किया जाये कि इनका ऐसा स्वभाव क्यों है? तो यह अतिप्रश्न है। क्योंकि स्वभाव के विषय में प्रश्न नहीं किया जाता। स्वभाव तो स्वभाव ही है। स्वभाव का अर्थ ही यह है कि वह अपने आप ही होता है। पानी को चाट कर पीना कुत्ते का स्वभाव है, पानी को मुख से पीना गाय आदि का स्वभाव है। ऐसा क्यों है, यह प्रश्न ही व्यर्थ है। ऐसे प्रश्नों पर मौलाम्बन ही श्रेयस्कर होता है।

मौन का कारण-

भगवान् बुद्ध भी ऐसे प्रश्नों पर मौन हो जाते थे। जब उनसे पूछा जाता था कि यह संसार नित्य है या अनित्य? यह लोक सान्त है या अनन्त? जी शरीर से भिन्न है या अभिन्न। तो इन प्रश्नों को वे अव्याकृत-अनिर्वचनीय कहकर चुप ही रहते थे। वे चुप क्यों रहते थे, उनके मौन का क्या रहस्य है? यह जानने की इच्छा सबको होती है। मौन धारण के कई कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि बुद्ध उन प्रश्नों का उत्तर जानते ही न हों। दूसरा यह कि उत्तर जानते तो थे, किन्तु अपने शिष्यों से छिपाकर रखना चाहते थे। तीसरा कारण यह हो सकता है कि व्यर्थ समझकर उत्तर देना ही न चाहते हों। यह भी हो सकता है कि उन प्रश्नों का उत्तर इतना अव्याकृत अथवा गूढ़ हो कि शिष्य की बुद्धि उसे ग्रहण करने में समर्थ ही न हो इसलिये वे जानबूझकर चुप ही रहते हों।

विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से भगवान् बुद्ध के इस मौनालम्बन की मीमांसा की है। उनका मौन धारण कम आश्चर्य की बात नहीं है। दार्शनिक कहते हैं कि बौद्ध दर्शन का उदय ही बुद्ध के मौन से हुआ है। बुद्ध के वचन तो सर्वजनकल्याणकारी धार्मिक तथ्य हैं। दर्शन की उत्पत्ति तो उनके मौन से हुई। उनके मौन के विभिन्न अर्थ लगाकर ही आने वाले आचार्यों ने शून्यवाद, विज्ञानवाद, सर्वास्तिवाद अनात्मवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना कर डाली।

भगवान् बुद्ध सर्वज्ञ और सिद्ध योगी थे। बोधिवृक्ष के नीचे बैठकर तीव्र समाधि लगाकर सम्यक् सम्बोधि प्राप्त की थी। इसलिये यह तो कहा नहीं जा सकता कि उन्हें उक्त प्रश्नों का ज्ञान नहीं था। अवश्य ही उन्हें उनका उत्तर ज्ञात होगा। यदि कहा जाये कि शिष्यों को आकृष्ट करने के लिए जानबूझ कर उन्होंने उनका उत्तर छिपाकर रखा तो यह बात भी विश्वासयोग्य नहीं है। वे वीतराग और निःस्पृह थे, कोई तृष्णा या लोकैषणा उनके मन में नहीं थी। फिर वे शिष्यों से उन प्रश्नों का उत्तर क्यों छिपाते। कोई सत्य बात उन्होंने अपने शिष्यों से नहीं छिपायी। इस प्रकार अज्ञान या छिपाने की इच्छा बुद्ध के मौनालम्बन का कारण नहीं हो सकता।

अब मौनालम्बन के दो ही कारण बचते हैं। प्रथम तो यह कि उन प्रश्नों का उत्तर देना निरर्थक था और दूसरा यह कि उनका उत्तर मौन में ही छुपा हुआ था। भगवान् की मान्यता थी कि जिन प्रश्नों का उत्तर न तो अर्थ के लिये उपयोगी हो और न धर्म के लिये, जिनसे न ब्रह्मचर्य की साधना में सहायता मिलती हो

और न निर्वेद तथा वैराग्य में, जिनसे क्लेशों का नाश न होता हो, उपशम अभिज्ञा सम्बोधि और निर्वाणप्राप्ति में जिनकी कोई उपयोगिता न हो, ऐसे प्रश्न अव्याकृत होते हैं, उनका उत्तर देना व्यर्थ है।

भगवान् का कहना था कि जो वर्तमान आसन्न रोग है, पहले उसको दूर करने का प्रयास करो। रोग के कारणों का पता तो कुछ काल के पश्चात् भी लगाया जा सकता है। यदि पहले रोग के कारणों का पता लगाने में समय नष्ट कर दिया तो तब तक रोगी मर जायेगा। यदि किसी का विषदग्ध बाण लग गया हो तो प्रथम दृष्ट्या वैद्य यह नहीं देखता कि बाण किसने मारा है, बाण मारने वाला किस जाति का है, उसका रूप रंग क्या है। यदि रोगी यह कहे कि पहले मारने वाले का पता लगाओ, तब मैं चिकित्सा कराऊँगा तो यह उसकी महामूर्खता है। यही स्थिति भवरोगी की भी है। भवरोग से मुक्ति का उपाय विचारणीय है। क्या यह जानना आवश्यक है कि यह संसार शाश्वत है या अशाश्वत, सान्त है या अनन्त? भला इनको जानने से क्या लाभ? ऐसे प्रश्नों पर मौन धारण करना ही श्रेयस्कर है।

ऐसे निरर्थक प्रश्न अव्याकृत इसलिए कहलाते हैं क्योंकि शब्दत: इनकी व्याख्या नहीं हो सकती। सम्भवत: भगवान् यही सोचकर उक्त प्रश्नों के उत्तर के समय मौन धारण कर लेते होंगे।

उनके मौनावलम्बन का कारण यह भी हो सकता है कि भगवान् बुद्ध मध्यममार्गी थे। अत्यन्तवाद से उन्हें अरुचि थी। अत्यन्त शाश्वतवाद ओर अत्यन्त उच्छेदवाद दोनों ही बुद्ध को अमान्य थे। आत्मा या जगत् नित्य है, यह कहना अत्यन्त शाश्वतवाद है। आत्मा या जगत् नश्वर है, यह निषेधात्मक कथन अत्यन्तोच्छेदवाद कहलायेगा। बुद्धिमान् लोग इन दोनों को ही स्वीकार नहीं करते।

अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्यच्छेददर्शनम्।
तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षण:।। [२]

ऐसी दशा में यदि अस्ति और नास्ति के रूप में उत्तर दिया जायेगा तो उससे असत्य का ही प्रतिपादन होगा। सम्भवत: यही सोचकर बुद्ध ने मौन धारण करना ही उचित समझा होगा। मौनालम्बन का यह कारण भी समुचित ही प्रतीत होता है।

प्रश्न की प्रकृति-

प्रश्न का उत्तर और मौन धारण प्रश्न की प्रकृति पर भी निर्भर करता है, जैसा प्रश्न वैसा उत्तर। किसी प्रश्न का उत्तर मौन में ही निहित होता है। यह पृथक् बात है कि पूछने वाला उस उत्तर को न समझ सके।

प्रश्न चार प्रकार के होते हैं-

१. **एकांशवचनीय (Directly Explanable)**- जिन प्रश्नों का उत्तर सीधे हाँ या ना में दिया जा सकता है, ऐसे प्रश्न एकांशवचनीय कहलाते हैं। जैसे यह प्रश्न है जो प्राणी उत्पन्न हुआ है, क्या वह अवश्य ही मरेगा? उत्तर होगा- हाँ।

२. **विभज्य वचनीय (Partially Explanable)**- जिन प्रश्नों का उत्तर दो भागों में दिया

२ माध्यमिक कारिका ५.१०

जाता है वे प्रश्न विभज्य वचनीय कहलाते हैं। जैसे यदि प्रश्न किया जाये कि क्या प्राणी मृत्यु के पश्चात् पुनः जन्म लेता है? इसका उत्तर दो भागों में विभक्त करके दिया जाता है। क्लेश, कर्म, विपाकादि से विमुक्त प्राणी पुनः जन्म नहीं लेता और क्लेश कर्मादि से युक्त प्राणी जन्म लेता है।

३. **प्रतिपृच्छा वचनीय** (Explanable by Counter Question)- जिस प्रश्न का उत्तर एक दूसरा प्रश्न पूछकर दिया जाता है, उस प्रश्न को प्रतिपृच्छावचनीय कहते हैं। जैसे कोई प्रश्न करे कि मनुष्य उत्तम है या अधम? इसके उत्तर में प्रश्न करना पड़ेगा कि किसकी तुलना में मनुष्य को उत्तम या अधम पूछ रहे हैं? यदि पशुओं की तुलना में पूछ रहे हैं तो मनुष्य उत्तम प्राणी है। यदि देवों की तुलना में पूछ रहे हैं तो मनुष्य उनसे अधम प्राणी है।

४. **स्थापनीय** (Explanable by Keeping Silence) स्थापनीय प्रश्न वह होता है जिसका उत्तर नहीं दिया जाता। केवल चुप रहने में ही उसका उत्तर निहित होता है। जैसे- क्या आत्मा पञ्चस्कन्ध एक ही हैं? यह प्रश्न अतिप्रश्न है। इसका उत्तर नहीं देना चाहिये। इसका उत्तर यदि दिया जायेगा तो अन्य अनेक उलझनें उत्पन्न होंगी जिनका समाधान कभी नहीं हो सकेगा।

सम्भवतः भवगान् बुद्ध ऐसे ही प्रश्नों के उत्तर के समय मौन धारण कर लेते होंगे, क्योंकि मौन ही उसका उत्तर है। उक्त प्रश्न पर मौन रहने के कारण ही अनात्मवाद सिद्धान्त का उदय हुआ होगा। मूलरूप में भगवान् अनात्मकादी नहीं थे, किन्तु आने वाले आचार्यों ने बुद्ध के मौन से पञ्चस्कन्ध का ही नाम अनात्मवाद रख दिया।

वैदिक परम्परा में अतिप्रश्नों का निषेध-

अतिप्रश्नों को पूछने का निषेध वैदिक काल में भी था। वस्तुतः परमतत्त्व को जानने की इच्छा सब की होती है किन्तु परमतत्त्व का आधार पूछना निषिद्ध है। वहाँ ऋषि लोग भी मौनालम्बन का ही उपदेश देते थे। जनक की सभा में ब्रह्मज्ञानी याज्ञवल्क्य जिज्ञासुओं के प्रश्नों का उत्तर दे रहे थे। वाचक्नवी गार्गी भी वहाँ उपस्थित थी। गार्गी ने पूछा- हे याज्ञवल्क्य! यदि तुम सबसे बड़े ब्रह्मज्ञानी हो तो बताओ कि यह सब जगत् जल में ओत-प्रोत है तो जल किसमें ओत-प्रोत है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया जल वायु में ओत-प्रोत है। वायु कहाँ ओत-प्रोत है? अन्तरिक्ष लोकों में। अन्तरिक्ष लोक कहाँ ओत-प्रोत है? गन्धर्व लोक में। गन्धर्व लोक कहाँ ओत-प्रोत है? आदित्य लोकों में। आदित्य लोक कहाँ ओत-प्रोत है? चन्द्र लोकों में। चन्द्रलोक कहाँ ओत-प्रोत है? नक्षत्र लोकों में। नक्षत्रलोक कहाँ ओत-प्रोत है? देवलोकों में। देवलोक कहाँ ओत-प्रोत है? इन्द्रलोक में। इन्द्रलोक कहाँ ओत-प्रोत है? प्रजापति लोकों में। प्रजापति लोक कहाँ ओत-प्रोत है? ब्रह्मलोकों में। ब्रह्मलोक कहाँ ओत-प्रोत है? जब गार्गी ने यह प्रश्न किया तो याज्ञवल्क्य ने रोक दिया कि गार्गी! यह प्रश्न मत पूछ। यह अति प्रश्न है। कहीं ऐसा न हो कि इस अतिप्रश्न के पूछने से तेरा सिर गिर जाये-

गार्ति माऽतिप्राक्षीः। मा ते मूर्धा व्यपतद्। अनतिप्रश्न्यां वै देवतामति पृच्छसि। गार्गि माऽतिप्राक्षीः।[३]

---

३ बृहदारण्यक ३.५.१

याज्ञवल्क्य का अभिप्राय था कि जो ब्रह्म लोक सबका आधार है तू उसका भी आधार पूछ रहा है। यह अति प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर तेरी सीमित बुद्धिमें नहीं समा सकेगा। हो सकता है तेरा सिर फट जायें और तेरा प्राणान्त हो जाये।

याज्ञवल्क्य ने ब्रह्म का कोई आधार नहीं बताया। मौन धारण कर लिया। ऐसा ही मौनालम्बन बाध्व ऋषि ने बाष्कलि ऋषि के प्रश्न पर किया था। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में इसका उल्लेख किया है। बाष्कलि ने बाध्व ऋषि से प्रश्न किया कि हे ऋषिवर! मुझे ब्रह्म का ज्ञान दीजिए? इस पर बाध्व चुप ही रहे। बाष्कलि ने पुन: प्रश्न किया। बाध्व फिर भी चुप रहे। तीसरी बार प्रश्न करने पर भी वे चुप रहे। जब चौथी बार बाष्कलि ने प्रश्न किया तो बाध्व ने कहा- मैं तो बार-बार प्रश्न का उत्तर दे रहा हूँ, किन्तु तुम समझ ही नहीं रहे हो। वस्तुत: ब्रह्म उपशान्त है। मौन का ही दूसरा नाम ब्रह्म है।[४]

सम्भवत: इसी परम्परा का निर्वाह भगवान् बुद्ध ने भी किया होगा। कुछ ऐसे ही प्रश्नों पर बुद्ध ने मौनधारण कर लिया होगा। इसमें आश्चर्य कुछ भी नहीं। मौन की भाषा को जो समझे वही तो मुनि है। जैसे उपनिषदों का ब्रह्म वाणी से अवाच्य है, उसी प्रकार बुद्ध द्वारा प्रतिपादित तत्त्व भी अनक्षर है। उस अनक्षर तत्त्व के ऊपर अनेक तत्त्वों का अरोप करके ही उसका उपदेश किया है। आचार्य शंकर ने कहा है-

अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।

वोधिचर्यावतार में भी भगवान् बुद्ध यही कह रहे हैं कि अनक्षर तत्त्व का क्या कथन और क्या श्रवण?

अनक्षरस्य तत्त्वस्य श्रुति: का देशना च का।
श्रूयते देश्यते चापि समारोपादनक्षर:॥

लंकावतार सूत्र में तो यहाँ तक कहा गया है कि भगवान् बुद्ध ने अपने जीवन में सुख से कभी कोई उपदेश किया ही नहीं। **'अवचनं बुद्धवचनम्'**- बुद्ध का मौन ही उनका वचन है। बुद्ध कहते हैं-

यस्यां च रात्र्यां धिगमों यस्यां च परिनिवृत:।
एतस्मिन्नत्तरे नास्ति मया किंचित् प्रकाशितम्॥[५]

अर्थात् जिस रात्रि में मैं उत्पन्न हुआ और जिस रात्रि में मैंने निर्वाण प्राप्त किया, इन दोनों के मध्य में मैंने कोई उपदेश नहीं किया।

नागार्जुन भी यही बात कह रहे हैं-

नोदाहतं त्वया किंचिदेकमप्यक्षरं विभो।
कृत्स्नश्च विनेयजनो धर्मवर्षेण तर्पित:॥

हे विभो! आपने एक भी अक्षर का उपदेश नहीं किया है। किन्तु धर्म की वर्षा करके आपने शिष्यजनों को पर्याप्त तृप्त कर दिया है।

---

४ ब्रूम: खलु त्वं न विजानासि, उपशान्तोऽयमात्मा। ब्रह्मसूत्र ३.२.१७
५ लंकावतार सूत्र, पृष्ठ १४४

उक्त वचनों का अभिप्राय यही है कि भगवान् ने कोई नूतन बात नहीं कही। ऐसा नहीं है कि उन्होंने कुछ भी न कहा हो। अवश्य ही कुछ न कुछ उपदेश किया होगा। किन्तु बुद्ध का मार्ग पूर्वनिर्मित है। धर्म प्रत्यात्वेद्य हैं प्राणी के अनुभव की वस्तु है। परमतत्त्व का व्याख्यान शब्दतः नहीं किया जा सकता। उसका उत्तर मौन से ही दिया जा सकता है। केनोपनिषद् में यही बार-बार कहा गया है कि- 'यद् वाचा नाभ्युदितम्', 'यच्छ्रोत्रेण न शृणोति' 'यन्मनसा न मुनते' अर्थात् वाणी से जिसे नहीं कहा जा सकता किन्तु वाणी जिसके द्वारा बोलती है, जिसको श्रोत्र से नहीं सुना जाता अपितु श्रोत्र जिसमें सुनता है, मन से जिसका मनन नहीं किया जाता अपितु मन जिससे मनन करता है वही ब्रह्म है। वह तो ज्ञात और अज्ञात दोनों स्थितियों से ऊपर है। कठ में कहा गया है कि जहाँ मन सहित पाँचों इन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं वहीं परम स्थिति है-

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्।।[६]

इस प्रकार परम तत्त्व के विषय में मौन धारण कर लेना आर्य पुरुषों का स्वभाव है। अनार्य पुरुष अधिक बोला करते हैं। ज्यों ज्यों पुरुषों का ज्ञान गहन से गहनतर होता जाता है, त्यों-त्यों उनकी वाणी अल्प से अल्पतर होती हुए एक दिन सर्वथा मौन हो जाती है। माध्यमिक कारिका के व्याख्याकार चन्द्रकीर्ति ने सत्य ही कहा है- **परमार्थो हि आर्याणां तूष्णींभावः**। आर्यों के लिए मौन रूप ही परमार्थ है। तथागत ने मौन से कुछ नहीं कहा अपितु वे तो साक्षात् मौन रूप ही थे। सर्वज्ञ तथागत के लिए मौन आभूषण था। मौन के पीछे अज्ञान या छुपाने का भाव कारण नहीं था। अनक्षर तत्त्व की व्याख्या करने का युक्तियुक्त उपाय मौन ही है। भगवान् बुद्ध का मौन सुविज्ञ पुरुषों के लिए सदा आदरणीय रहा है। मौनालम्बन करके बुद्ध ने वैदिक परम्परा रीति को ही आगे बढ़ाया है।

---

६ कठो० २.३.१०

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ0110-114) ISSN 0974 – 8830

भारतीय दर्शन में जातिविषयक सिद्धान्त एवं सामाजिक जातिवाद

डॉ. विभा अग्रवाल[1]

भारतीय दर्शन एवं धर्म का मूल वेद हैं, तथापि भिन्न-भिन्न दृष्टि होने से वेदार्थ का प्रतिपादन दार्शनिकों द्वारा भिन्न-भिन्न रूप में किया गया तथा एक ही मूल से अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों का जन्म हुआ। पुनः दर्शनशास्त्र के मूल ग्रन्थों अर्थात् ऋषियों द्वारा प्रणीत सूत्र ग्रन्थों के व्याख्याकारों के दृष्टि-भेद से ऐसे परिवर्तन आते गए कि मूल सिद्धान्त का व्यावहारिक एवं सामाजिक पक्ष दुरूह तर्क-वितर्क की दलदल में उलझ कर रह गया। ऐसी स्थिति में हमारे समक्ष ये बहुत बड़ी चुनौती है कि हम अपनी दार्शनिक परम्परा का पुनर्विवेचन करें जिससे हमारे धर्म एवं संस्कृति के प्रति फैली हुई भ्रान्त धारणाएं दूर हो सकें। इसी प्रयोजन का निर्वाह करने के उद्देश्य से इस पत्र में भारतीय दर्शन में जातिविषयक सिद्धान्त का अध्ययन करके यह खोजने का प्रयास किया जा रहा है कि हमारे दर्शन में जाति या सामान्य का सिद्धान्त हमारे जातिवाद का किस रूप में समर्थन करता है ?

भारतीय आस्तिक दर्शन का आधार उपनिषद् हैं तथा उपनषिदों में जाति की अपेक्षा कर्म एवं आचार को अधिक महत्त्व दिया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में प्रदत्त सत्यकाम जाबाला का वृत्तान्त इस बात का सशक्त प्रमाण है कि निर्भीक सत्यवचन को वंश-जाति से अधिक महत्त्व दिया जाता था और हमारे ऋषि भी आचारेण जाति स्वीकार करते थे।

वस्तुतः उपनिषदों का समस्त दार्शनिक ज्ञान जातिगत द्वेष और विरोधों का उन्मूलन चाहता है।[2] उपनिषदों के अनुसार परमेश्वर सभी जातियों में एक समान अन्तर्यामीरूप आत्मा है। तदनुसार सभी एक समान ही सत्य को ग्रहण कर सकते हैं और इसीलिए सबको सत्य की शिक्षा ग्रहण करने का समान अधिकार है। हम ऐसे अनेक क्षत्रिय राजाओं के विषय में पढ़ते हैं जिन्होंने अपने समय के प्रसिद्ध शिक्षकों को आत्मा-सम्बन्धी गम्भीर विषयों का उपेदश दिया। इस प्रकार हमारा वैदिक दर्शन मनुष्य के जाति आदि पर आधारित संकीर्ण भेदों को मिटाने में विश्वास रखता है।

यद्यपि दर्शन का जाति तत्त्व चेतन-अचेतन पदार्थों में निर्विशेष रूप से माना गया है, तथापि मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्व आदि चेतन पुरुषों में रहने वाली जाति को समाज में प्रचलित कुल, वंश आदि से सम्बन्धित जाति के समकक्ष रखा जा सकता है। इसी आधार पर इस पत्र में जाति के सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास किया जा रहा है कि भारतीय धर्म, दर्शन एवं संस्कृति गुण एवं कर्म द्वारा ही जाति का समर्थन करती है, जन्मना जाति मानना एक मिथ्या दृष्टि है जो अन्य रूढ़ियों के समान समाज में समा गई है।

भारतीय दर्शन में न्याय, वैशेषिक, मीमांसा दर्शनों में प्रमुखतः जाति तत्त्व का वर्णन प्राप्त होता है।

---

१. असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

२. डॉ. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, पृ०१८२

वैशेषिक दर्शन में छः भाव पदार्थ माने गए हैं- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय एवं विशेष। इनमें से सामान्य ही जाति है क्योंकि दार्शनिक ग्रन्थों में दोनों का पर्यायवाची रूप में ही प्रयोग है। वैशेषिक के अनुसार जब हम अनेक द्रव्यों में विद्यमान समानरूपता का अनुभव करते हैं तो उसके कारणभूत तत्त्व को 'सामान्य' कहते हैं तथा जब उन्हीं द्रव्यों में भिन्नता का अनुभव करते हैं तो उसके कारण को 'विशेष' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि अनुवृत्तिप्रत्यय से सामान्य एवं व्यावृत्ति प्रत्यय से विशेष नामक पदार्थ का ज्ञान होता है।[३] सामान्य अपने सभी आश्रयों में अभिन्न रूप से रहता है अत एव एक ही सामान्य के सभी आश्रयों को देखकर समानरूपता अथवा अनुवृत्तिप्रत्यय की अनुभूति होती है। प्रशस्तपादभाष्य के अनुसार सामान्य स्वविषयसर्वगत, नित्य, अभिन्नात्मक, एक, सत् पदार्थ है जो अपने-अपने विषयों में समवाय सम्बन्ध से रहता है।[४]

न्यायसूत्र के द्वितीय अध्याय के द्वितीय आह्निक में पद के अर्थ से अभिप्राय व्यक्ति, आकृति एवं जाति- तीनों का समुदाय बताया गया है। इस प्रसंग में जाति का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं- '**समानप्रसवात्मिका जातिः**' अर्थात् एक समान ज्ञान को उत्पन्न करने वाली जाति कहलाती है।[५] भाष्यकार के अनुसार जो भिन्न-भिन्न आधारों में एक समान ज्ञान को उत्पन्न करती है, जिससे अनेक व्यक्तियों में परस्पर भेद नहीं होता अथवा जो द्रव्यरूप अनेक व्यक्तियों में समान ज्ञान का कारण है वह जाति है। वाचस्पति मिश्र ने इसे अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो समान प्रतीति को जन्म दे वह जाति नहीं अपितु जो 'जाति' नामक पदार्थ है वह अवश्य समानप्रत्यय को जन्म देता है। क्योंकि यदि समान प्रतीति कराने वाली जाति कहलाएगी तो पाचकत्व आदि में भी जाति का दोष होगा।[६] अतः 'जाति' नामक पदार्थ समान प्रतीति उत्पन्न करता है, इस रूप में समझना चाहिए। यह जाति अथवा सामान्य दो प्रकार की कही गई है- पर तथा अपर।[७] पर सामान्य केवल सत्ता है, जिसका हेतु महाविषयत्व है अर्थात् समस्त द्रव्य-गुण-कर्मों में 'सत्' इस अनुवृत्ति का कारण 'सत्ता' नामक महासामान्य है। अतः इसे केवल सामान्य कहा जाता है। अन्य द्रव्यत्व, गुणत्वादि जातियाँ सामान्य एवं विशेष दोनों कही गई हैं क्योंकि ये अनुवृत्ति एवं व्यावृत्ति दोनों का कारण हैं।[८] अत एव सामान्य का लक्षण करते हुए वैशेषिक सूत्र में 'सामान्यं विशेष इति' इस प्रकार कहा गया है जिसका अर्थ है सामान्य एवं विशेष सामान्य[९] तथा 'बुद्धि की अपेक्षा' ही लिंग या

---

३. अनुवृत्तबुद्धिः सामान्यस्य व्यावृत्तबुद्धिर्विशेषस्य। वैशेषिक सूत्रोपस्कार, १.२.३, पृ०७८

४. स्वविषयसर्वगतमभिन्नात्मकमनेकवृत्ति एकद्विबहुष्वात्मस्वरूपानुगमप्रत्ययकारि स्वरूपाभेदेनाधारेषुप्रबन्धेन वर्तमानमनुवृत्तिप्रत्ययकारणम्। प्रशस्तपादभाष्य, पृ०२७६

५. द्र. न्यायसूत्र, २.२.६९

६. या जातिः साऽवश्यं समानप्रत्ययं प्रसूते, न पुनर्या समान प्रत्ययं प्रसूते सा जातिः, पाचकादिषु व्यभिचाराद्। न्या.वा.ता.टी. २.२.६९

७. सामान्यं द्विविधं परमपरसच। वै.सूत्रोपस्कार, १.२.३, पृ०७८ सामान्य प्रकरण, प्रशस्तपाद भाष्य, पृ०२७६

८. द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च। वै.सू. १.२.५, पृ०५

९. तत्र सामान्यस्य तद्विशेषस्य च लक्षणं बुद्धिरेव। वै.सूत्र., पृ०७८

लक्षण है जिसका वह बुद्ध्यपेक्ष है।[१०] तदनुसार परसत्तारूप सामान्य का लक्षण भी बुद्ध्यपेक्ष है तथा अपर द्रव्यत्वादि सामान्य का भी, किन्तु अपरसामान्य द्रव्यत्वादि 'विशेष' संज्ञा को भी प्राप्त करता है क्योंकि 'यह द्रव्य है' इस प्रकार अनुगत प्रतीति होते हुए भी 'यह गुण नहीं है', 'यह कर्म नहीं है' ऐसा व्यावृत्तिपरक विशेष ज्ञान भी होता है। वैशेषिक सूत्र के अनुसार भी पर सामान्य केवल अनुवृत्ति का हेतु होने से सामान्य मात्र कहा जाता है[११], तथा 'यह सत्' अर्थात् 'है' इत्याकारक ज्ञान द्वारा सिद्ध होता है। इसके विपरीत आत्यन्तिक विशेष पदार्थों से अतिरिक्त सामान्य-विशेष कहे जाते हैं।[१२] तात्पर्य यह है कि एक ही में रहने वाले, जातिशून्य, केवल व्यावृत्तिबुद्धि के हेतु जो विशेष हैं उनको छोड़कर सामान्य-विशेष नामक 'अपर सामान्य' समझना चाहिए। यही 'सामान्यं-विशेष-इति बुद्ध्यपेक्षम्'- इस सूत्र में विशेष पद का तात्पर्य है।

मीमांसा दर्शन के दोनों सम्प्रदाय भाट्ट एवं प्राभाकर 'जाति' नामक पदार्थ को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जाति प्रत्यक्षगोचर है क्योंकि प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान अनुवृत्त एवं व्यावृत्त होता है।[१३] अनुवृत्त प्रत्यय जाति के सद्भाव के कारण ही होता है। अनुमान पर आधारित ज्ञान भी जाति के सद्भाव से ही सम्भव है। परन्तु बौद्ध दर्शन में सामान्य के सिद्धान्त का खण्डन किया गया है। बौद्ध दार्शनिक जाति को विकल्प अथवा कल्पना मात्र मानते हैं। उनके अनुसार केवल स्वलक्षण ही वस्तु का स्वरूप है तथा अनुवृत्ति एवं व्यावृत्ति प्रत्ययों का कारण अपोह का सिद्धान्त है।[१४] वे युक्तिपूर्वक जाति का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि जाति अपने समस्त आश्रयों में विद्यमान होती है तो नई वस्तु के जन्म के समय उसमें कैसे आती है तथा वस्तु नष्ट होने पर कहाँ जाती है।[१५] इस प्रकार की अनेक असंगतियाँ दिखाते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्वलक्षण ही सत् है, सामान्य नहीं। कुमारिल भट्ट बौद्धमत से सर्वथा असन्तुष्ट होते हुए कहते हैं कि जाति तो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही सिद्ध होती है। वह अनेक वस्तुओं में अनुगत एकाकार प्रत्यय द्वारा जानी जाती है तथा वह व्यक्ति से भिन्न नहीं होती।[१६] यदि जाति वस्तु से भिन्न होगी तो सदा अपने आश्रय में स्वानुरूप बुद्धि कैसे उत्पन्न करेगी?[१७] अतः जाति एवं व्यक्ति का सम्बन्ध भेदाभेद रूप होता है।[१८] 'इयं गौः' रूप प्रत्यक्ष में 'इयम्' पद व्यक्ति को तथा 'गौः' पद जाति को लक्ष्य करता है। इस प्रकार प्रत्येक प्रत्यक्ष-व्यवहार में जाति लक्षित होती है। जाति के प्रत्यक्ष को लेकर कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर मिश्र के मत में अन्तर है। कुमारिल के अनुसार प्रथम दर्शन के समय वस्तुमात्र का प्रत्यक्ष होता है तथा द्वितीयादि क्षणों में गुणों के आधार पर जाति गोचर होती है, भले ही वह वस्तु में आरम्भ से रहती है। परन्तु प्रभाकर के

---

१०. बुद्धिरपेक्षा लिंगलक्षणं वा यस्य तद्बुद्ध्यपेक्षम्। वही, पृ०७८
११. भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव। वै.सू. १.२.४
१२. अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः। वै.सू. १.२.६
१३. द्र. Indian Philosophy, S. Radhakrishnan, p. 383
१४. अन्यापोहालम्बन एवेति। सर्वदर्शनसंग्रह, पृ०५१
१५. अन्यत्र वर्तमानस्य ततोऽन्यस्थानजन्मनि तस्मादचलतः स्थानाद् वृत्तिरित्यति युक्तता। वही, पृ०५१
१६. स्थितं नैव हि जात्यादेः परत्वं व्यक्तितोहि नः। श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्ष खण्ड, १४१
१७. स्वानुरूपां सदा बुद्धिं विशेष्ये जनयेत्कथम्॥ वही, १४२
१८. द्र. मानमेयोदय, पृ०२१९

अनुसार व्यक्ति और जाति भिन्नाभिन्न रूप में एकसाथ दृष्टिगोचर नहीं हो सकते। अत: जाति को उसके आश्रयों से भिन्न मानना चाहिए।[१९] वह व्यक्ति के प्रथम प्रत्यक्ष काल में ही गोचर होती है तथा जाति का प्रत्यक्ष पूर्वाकार के अवमर्श के कारण होता है।[२०] व्यक्ति और जाति के समान इन्द्रियग्राह्य होने के कारण जाति भी व्यक्ति प्रत्यय की अनुप्रवेशिनी है। पूर्वाकारावमर्श हेतु के आधार पर प्राभाकर मीमांसकों ने अनेक न्यायाभिमत अथवा भाट्ट-स्वीकृत जातियों का निराकरण भी किया है। वे कहते हैं कि अनेक भिन्न आकार वाले पदार्थों में समानाकार विमर्श के असम्भव होने के कारण 'सत्ता' नाम की कोई जाति नहीं हो सकती। इसी प्रकार पृथक्-पृथक् परमाणुओं में 'परमाणुत्व' एवं पार्थिव पदार्थों में 'पृथिवीत्व' आदि जातियों को स्वीकार नहीं किया जा सकता।[२१] द्रव्यों में द्रव्यत्व, शब्दों में शब्दत्व आदि जातियाँ भी प्राभाकरों को स्वीकृत नहीं है तथा इसी न्याय से वे ब्राह्मणत्वादि का भी निषेध करते हैं क्योंकि अनेक स्त्री पुरुषादि व्यक्तियों में पुरुषत्व के अतिरिक्त किसी अन्य समानाकार का अनुभव कराने वाली बुद्धि ब्राह्मणत्व, शूद्रत्व आदि रूप में उत्पन्न नहीं होती।[२२]

यहाँ जाति अथवा सामान्य को अस्वीकार करने वाले वेदान्त दर्शन का उल्लेख भी आवश्यक है जो प्रधानतया उपनिषदों पर आधारित दर्शन हैं। वेदान्त दर्शन के अनुसार 'सामान्य' अथवा 'जाति' नाम का कोई पदार्थ नहीं होता। घटविषयक ज्ञान घट मात्र का ज्ञान कराकर कृतकार्य हो जाता है वह घटत्व जाति का बोधक नहीं होता।[२३] 'वेदान्त परिभाषा' में ग्रन्थकार कहते हैं कि जाति का सिद्धान्त मानने वाले 'जाति' को नित्य एवं अनेक द्रव्य समवेत मानते हैं। परन्तु ब्रह्म के अतिरिक्त सारे जगत्प्रप×च के अनित्य होने के कारण घटादि पदार्थों का नित्यत्व बाधित हो जाता है तथा अभेद या तादात्म्य स्वीकार करने से समवाय सम्बन्ध मानने की आवश्यकता नहीं रहती।[२४] इनके अनुसार गुण-गुणी, अवयव-अवयवी आदि में समानाधिकरण की प्रतीति की नियामक अभेद बुद्धि है न कि समवाय-बुद्धि। अत: जाति नामक का पदार्थ असिद्ध है।

निष्कर्ष :

शोधकर्ता की दृष्टि में दार्शनिक जाति तत्त्व एवं सामाजिक जातिवाद का समन्वय किया जाना अपेक्षित है क्योंकि दर्शन वस्तुत: धार्मिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओं में निहित सूक्ष्म आशय को ही प्रकट करता है जैसा कि वै सू में कहा गया है- ऋषियों का ज्ञान एवं सिद्ध पुरुषों का दर्शन धर्म से ही उत्पन्न होता है।[२५] वेदोपनिषत् के धर्म एवं संस्कृति पर आधारित दर्शन को दार्शनिक ऋषियों ने अनुभव किया तथा

---

१९. भिन्ना हि जातिरवगम्यते। प्रकरण पसिचका, पृ०९६
२०. द्र. प्रकरणपसिचका, ४.२, पृ०६४
२१. वही, पृ०६५
२२. वही, पृ०१००-१०३
२३. घटोऽयमित्यादिप्रत्यज्ञं हि घटत्वादिसद्भावे मानं न तु तस्य जातित्वेऽपि। तेदान्त परिभाषा, पृ०५५
२४. नित्यत्वसमवेतत्व-घटित-जातित्वस्य घटत्वादावसिद्धेश्च। वेदान्त परिभाषा, पृ०५५
२५. आर्षं सिद्धदर्शनं च धर्मेभ्य:। वै.सू. ९.२.१३

मूलभूत सूत्रग्रन्थों में उसका प्रतिपादन किया। समाज को व्यवस्थित करने के लिए जो वर्ण-व्यवस्था वैदिक संस्कृति में आरम्भ हुई, उसी ने धीरे-धीरे जातिवाद का रूप ले लिया। परन्तु हमारे आर्ष ग्रन्थ कहीं भी जन्मना जातिवाद का समर्थन नहीं करते। भारतीय दर्शन के मूलभूत ऋषि-प्रणीत सूत्रों में भी जाति का वर्णन केवल 'समानप्रसवात्मिका' अथवा समानता के व्यवहार के हेतु रूप में किया गया है और इसे 'बुद्ध्यपेक्ष' कहा गया है।[२६] अर्थात् सामान्य का निर्धारण अनुवृत्त एवं व्यावृत्त बुद्धि की अपेक्षा रखता है और यह बुद्धि केवल समान गुण-कर्म द्वारा ही प्रसूत होती है। परन्तु व्याख्याकारों के तर्क-जाल में उलझकर जाति की मूल धारणा में परिवर्तन आते गए हैं। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार जातियों या वर्णों का विभाजन व्यक्तिगत स्वभाव पर आधारित है, जो अपरिवर्तनीय नहीं है।[२७] जातिपरकनियम तो समाज के प्रति कर्त्तव्यों का विधान करने के लिए बनाए गए हैं तथा व्यक्ति की योग्यताओं के अनुसार कर्त्तव्य कर्मों का विधान किया गया है। शास्त्र भी कहता है- 'न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्' अथवा 'जन्मना जायते शूद्रः संस्कारैः द्विज उच्यते' इत्यादि। महाभारत के अरण्य पर्व में कहा गया है-

एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर।
कर्मक्रियाविशेषण चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम्॥

गीता भी इसी का समर्थन करती है-

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

वर्तमान युग में महात्मा गांधी ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि वर्णव्यवस्था का प्रारम्भिक रूप अच्छा था परन्तु काल क्रम से वह जातिवाद बन गया तथा दूषित हो गया। इसका प्रारम्भिक आधार आज भी सामाजिक व्यवस्था का आधार बन सकता है।[२८] प्रारम्भिक वर्णविचार में छोटे बड़े का आधार नहीं था अपितु समाज में कार्य-विभाजन ही आधार था; ब्राह्मण इसलिए ब्राह्मण नहीं था कि उसके मातापिता ब्राह्मण थे अपितु ब्राह्मण योग्य कर्म के कारण ब्राह्मण था। इस प्रकार वर्ण या जाति जन्मना न होकर कर्मणा थी। परन्तु धीरे-धीरे यह 'जन्मना' के रूप में प्रचलित होकर एक सामाजिक विकृति बन गई। अतः बुद्धिजीवी समाज का आज परम कर्त्तव्य है कि भारतीय दर्शन की दृष्टि से जाति को परिभाषित करते हुए ये तथ्य सबके सामने लाया जाए कि हमारे आर्ष ग्रन्थ 'जन्मना-जाति' का समर्थन नहीं करते। जाति गुण, कर्म, स्वभाव से लक्षित होती है तथा वह अपरिवर्तनीय नहीं है।

---

२६. Dr. Radhakrishnan, Indian Philosophy, Vol. II, p. 209
२७. Dr. Radhakrishnan, Religion & Society, p. 150
२८. समकालीन भारतीय दर्शन, पृ०१७६

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ0115-120) ISSN 0974 – 8830

अणुव्रत का वैश्विक स्वरूप

डॉ० प्रशान्त राठौर[१]

जैन धर्म तथा दर्शन के अणुव्रत सिद्धान्त, बौद्ध धर्म के पञ्चशील सिद्धांतों से, पतञ्जलि के योगसूत्र के यमों से, मनु के बताये गये धर्म के दस लक्षणों में निहित होने से, यहूदी धर्म के दस 'नैतिक आदेशों' से, ईसाई धर्म के 'नैतिक शुभों' से, कनफ्युसियस धर्म के नीतिशास्त्र के पांच सिद्धांतों से समानता रखने के कारण वैश्विक स्तर पर सर्वमान्य सिद्धान्त हैं। अणुव्रत से आशय जैन धर्म में गृहस्थों के व्रतों से है। अणुव्रतों का पालन श्रावक तथा श्राविकाओं अर्थात् गृहस्थों के सम्यक् चारित्र को बनाये रखने के लिए किया जाता है। अणुव्रत संख्या में पांच हैं- अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अस्तेयाणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, अपरिग्रहाणुव्रत। जैन धर्म तथा दर्शन इन पांच अणुव्रतों के पालन द्वारा पाप के साथ सम्बन्ध का सब प्रकार से त्याग कर सम्यक् चारित्र की प्राप्ति का मार्ग सुझाता है। **आर्हत-दर्शनम्** में कहा गया है-

सर्वथावद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमुच्यते।
कीर्तितं तदहिंसादिव्रतभेदेन पञ्चधा।।
अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा:।।[२]

जैन धर्म में जिन पञ्च अणुव्रतों का उल्लेख किया गया है, इनका पालन **पतञ्जलि** के द्वारा निर्दिष्ट यमों में मिलता है-

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा:।[३]

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ये पांच यम हैं। पतञ्जलि ने अष्टाङ्ग के अन्तर्गत प्रथम अंग के रूप में यमों के पालन करने का निर्देश दिया है।

पञ्च अणुव्रतों का उल्लेख **मनुस्मृति** में धर्म के बताये गये दस लक्षणों के अन्तर्गत समाहित है-

धृति: क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह:।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।[४]

महर्षि मनु के अनुसार धैर्य, क्षमा, दमन, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य एवं अक्रोध धर्म के दस लक्षण हैं।

इसी प्रकार, पञ्चअणुव्रत **याज्ञवल्क्यस्मृति** में दस यमों में समाहित है-

---

१. एम.ए. गोल्ड मेडलिस्ट, यू.जी.सी. नेट, पी-एच.डी. (गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार), Email: drprashantrathor@gmail.com
२. आर्हत-दर्शनम्, श्लोक-२१
३. योगसूत्र २.३०
४. मनुस्मृति ६.९२

ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं सत्यमकल्पता।
अहिंसाऽस्तेयमाधुर्ये दमश्चेति यमाः स्मृता।।[५]

अर्थात् ब्रह्मचर्य, दया, दान, सहनशीलता, सत्य, अपरिग्रह, अहिंसा, अस्तेय, मधुरता और दम ये दस यम हैं।

शाण्डिल्योपनिषद् में दस यमों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं-

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयाजपक्षमाधृतिमिताहारशौचानि चेति यमा दश।[६]

अहिंसाणुव्रत-

जैन धर्म तथा दर्शन प्रत्येक व्यक्ति को सम्यक् चारित्र के पालनार्थ अहिंसा अणुव्रत को पालन करने के लिए उत्कृष्ट निर्देश देता है। जैन धर्म भोजन करते समय हिंसा से बचने, कठोर, अप्रिय, असत्य तथा दुर्वचनों से बचने के लिए मार्ग में चलते समय जाने या अनजाने से भी हिंसा करने को प्रतिबन्धित करता है। जैन धर्म मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चरों और लता, वृक्ष आदि स्थावरों के प्राणों का विनाश न करने का उपदेश देता है। **आर्हत-दर्शनम्** में कहा गया है-

न यत्प्रमादयोगेन जीवितव्यपरोपणम्।
चराणां स्थावराणां च तदहिंसाव्रतं मतम्।।[७]

पतञ्जलि के अष्टाङ्ग के अन्तर्गत अहिंसा यम के स्वरूप की व्याख्या की है। उनके अनुसार सब प्रकार के सर्वकाल में समस्त प्राणियों से द्रोह न करना अहिंसा यम है अर्थात् मन से किसी का अनिष्ट चिन्तन, वाणी से कठोर बोलंना, शरीर से किसी को पीड़ा पहुँचाना हिंसा कहा जाता है। इसके विपरीत मन, वचन और कर्म से किसी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाना अद्रोह रूप अहिंसा है। अहिंसा की यही परिभाषा **व्यासदेव** ने कही है-

अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः।[८]

बौद्ध धर्म के 'पञ्चशील' सिद्धान्तों में अहिंसा शील के अन्तर्गत कहा गया है कि **'मैं प्राणी** हिंसा से विरक्त रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ'-

'पाणाति पाता वैरमणि सिक्खा पदं समादियामि।'[९]

जैन धर्म के अहिंसाणुव्रत से समान नैतिक विचार के अनुरूप **यहूदी धर्म** दस नैतिक विचारों में से अहिंसा के अन्तर्गत अपना विचार इस प्रकार रखता है-

Thou Shalt Not Kill.[१०] अर्थात् 'हत्या न करो'

---

५. याज्ञवल्क्यस्मृति ३.३.३
६. शाण्डिल्योपनिषद्, शाण्डिल्य.अध्याय प्रथम
७. आर्हत्-दर्शनम्, श्लोक-२२
८. व्यासभाष्य २.३०
९. डॉ. आर.पी.सन्त भास्कराचार्य, बौद्व धम्मदर्शन, पृष्ठ-१०-११

इसी प्रकार, **कनफ्युसियस धर्म** के पांच नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों में अहिंसा की व्याख्या मानवीय सन्दर्भ के अनुरूप की गई है-

'Zen'[११] **(अहिंसा)** अर्थात् मानवतापूर्वक मिलकर रहना चाहिए। सदैव हिंसा से बचना चाहिए।

सूनृताणुव्रत अर्थात् सत्याणुव्रत

जैन धर्म तथा दर्शन व्यक्तियों को सत्य के मार्ग का अनुसरण करने का उपदेश देता है। जैन धर्म के अनुसार वह वाणी सच्ची होकर भी सच्ची नहीं है जो सुनने में प्रिय नहीं है अर्थात् सुनने में सुखद नहीं है अथवा परिणाम में सुखद नहीं है। **आर्हत-दर्शनम्** में कहा गया है-

प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं सूनृतं व्रतमुच्यते।
तत्तथ्यमपि नो तथ्यमप्रियं चाहितं च यत्।।[१२]

व्यासदेव ने सत्य यम की व्याख्या करते हुए कहा है कि मन और वाणी की यथार्थता सत्य यम है। जैसा तर्क से अनुमान किया हो और जैसा शास्त्रों से सुना हो यदि वैसा ही मन और वाणी की एकरूपता में भी हो, तो वह वाणी सत्य कही जाती है। यही बात **व्यासभाष्य** में कही गई है-

'सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे।'[१३]

बौद्धों के 'पञ्चशील' में निहित सत्यशील में सत्य के स्वरूप को बताते हुए कहा गया है कि 'मैं प्राणी झूठ से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ।'-

'मुंसावादा वैरमणी सिक्खा पदं समादियामि।'[१४]

यही बात, **यहूदी धर्म** में अपने पड़ोसी के विरुद्ध झूठी गवाही नहीं देने के लिए कही है-

Thou Shalt not bear false witness against the neighbour.[१५]

कनफ्युसियस धर्म अपने पञ्चसिद्धान्तों के अन्तर्गत सदैव सत्य बोलने का उपदेश देता है तथा सत्य के मार्ग पर चलने का निर्देश देता है। कनफ्युसियस धर्म में कहा गया है-

'Zun'[१६] अर्थात् सदैव सत्य बोलो। सदैव सत्य में निष्ठा रखो। सदैव सत्य का पालन करो।

अस्तेयाणुव्रत

जैन धर्म तथा दर्शन के अनुसार बिना दिये हुए किसी वस्तु को ग्रहण नहीं करना चाहिए। धन

---

१०. Holy Bible, old Testaments, Exodus, Chapter 20.13
११. धर्म-दर्शन की रूपरेखा, हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, पृष्ठ-१६४
१२. आर्हत-दर्शनम्, श्लोक-२३
१३. व्यासभाष्य २.३०
१४. डॉ. आर.पी.सन्त भास्कराचार्य, बौद्ध धम्मदर्शन, पृष्ठ-१०-११
१५. Holy Bible, old Testaments, Exodus, Chapter 20.16
१६. धर्म-दर्शन की रूपरेखा, हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, पृष्ठ-१६४

दूसरे मनुष्यों के बाहरी प्राण है उनके हरण से तो उन दूसरे अथवा अन्य मनुष्यों के प्राणों का ही हरण होता है। अतः बिना दिये हुए कोई वस्तु नहीं लेनी चाहिए।

आर्हत-दर्शनम् में कहा गया है-

अनादानमदत्तस्यास्तेयव्रतमुदीरितम्।
बाह्याः प्राणाः नृणामर्थे हरता तं हता हि ते।।[१७]

अस्तेय के विषय में व्यासदेव कहते हैं कि मन से भी अन्य के द्रव्य को ग्रहण करने की इच्छा का अभाव अस्तेय यम है। **व्यासभाष्य** में कहा गया है-**स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्।**[१८]

इस प्रकार, यहाँ अशास्त्रपूर्वक कहने का अभिप्राय यह है कि कही-कहीं शास्त्रों में परद्रव्य का स्वीकार करना उचित भी सिद्ध किया है। जैसे प्राणरक्षा के लिए भिक्षा माँगना स्तेय नहीं है। यदि ब्राह्मण पौराहित्य कर्म के बदले में दक्षिणा ग्रहण करता है तो यह भी स्तेय नहीं है।

अस्तेय सिद्धान्त की व्याख्या **बौद्धों** ने पञ्चशील में की है। पञ्चशील में कहा गया है कि- 'मैं प्राणी चोरी से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ।'-

'आदिन्ना दाना वैरमणी सिक्खा पदं समादियामि।'[१९]

यहूदी धर्म में अस्तेय की विवेचना अपने पड़ोसी के मकान, नौकर और किसी वस्तु के प्रति लालच नहीं करने के उद्देश्य से की गयी है। यहूदी धर्म में कहा गया है कि-

Thou Shalt not covet thy neighbour's house, nor his maid servants, nor any thing that is thy neighbour's.[२०]

इसी प्रकार, **कनफ्युसियस धर्म** में कहा गया है कि दूसरे के धन के प्रति न्यायशील रहना चाहिए-

'Yi'[२१] अर्थात् दूसरे के धन की इच्छा न करो। दूसरे मनुष्यों के धन के प्रति न्यायशील व्यवहार करो।

ब्रह्मचर्याणुव्रत

जैन धर्म तथा दर्शन वासनाओं पर नियन्त्रण का उपदेश देता है। इनके अनुसार, पराई स्त्री से वार्तालाप नहीं करनी चाहिए, अन्य स्त्री की ओर दृष्टिपात का वर्जन करना चाहिए तथा जिस घर में स्त्री हो उसमें निवास भी वर्जित किया जाना चाहिए। इसकी व्याख्या **आर्हत-दर्शनम्** में की गयी है-

दिव्यौदरिककामानां कृतानुमतकारितैः।
मनोवाक्कायतस्त्यागो ब्रह्माष्टादशधा मतम्।।[२२]

---

१७. आर्हत-दर्शनम्, श्लोक-२४
१८. व्यासभाष्य २.३०
१९. डॉ. आर.पी.सन्त भास्कराचार्य, बौद्व धम्मदर्शन, पृष्ठ-१०-११
२०. *Holy Bible, old Testaments, Exodus, Chapter 20.17*
२१. धर्म-दर्शन की रूपरेखा, हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, पृष्ठ-१६४

बौद्धों ने भी ब्रह्मचर्य के पालन का उपदेश दिया है। इनके अनुसार ब्रह्मचर्य की व्याख्या इस प्रकार है- **'कामेसु मिच्छा चारा वैरमणी सिक्खा पदं समादियामि।'**[२३] अर्थात् मैं प्राणी पर-स्त्री गमन से विरत होने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ।

अष्टाङ्ग के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य यम की व्याख्या इस प्रकार की गई है-**'गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः।'** अर्थात् जिस शक्ति से आनन्द का अनुभव किया जाता है, जैसे-आंख से हम देखने का आनन्द लेते हैं, श्रोत्र से मधुर गीत सुनने का आनन्द लेते हैं, घ्राण से सूंघने का, रसना से स्वादिष्ट रस का, त्वचा से स्पर्श का आनन्द लेते हैं। इसलिए सभी इन्द्रियों में उपस्थेन्द्रिय रहती है। इनके माध्यम से वीर्य का नाश होता है। अतः समस्त इन्द्रियों के संयम का नाम ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य की व्याख्या **कनफ्युसियस धर्म** में बुद्धिमत्ततापूर्वक स्त्री-पुरुष की बातें न सुनने के रूप में की गई है-**'Chi'**[२४] यही वक्तव्य **यहूदी धर्म** में निम्न प्रकार गया है-Thou shalt not covet thy neighbour's wife[२५] अर्थात् अपने पड़ोसी की स्त्री का लालच न करो।

अपरिग्रहाणुव्रत-

जैन धर्म तथा दर्शन में अपरिग्रहाणु व्रत की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि व्यक्तियों को सभी वस्तुओं में इच्छा का त्याग कर देना चाहिए। बिना आवश्यकता के किसी भी प्रकार के धन का संग्रह नहीं करना चाहिए। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि अनुभवों को पूर्ण रूप से परित्याग कर देना चाहिए। धन्य-धान्य, वस्त्र-आभूषणों के प्रति आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। **आर्हत-दर्शनम्** में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है-

सर्वभावेषु मूर्च्छायास्त्यागः स्यादपरिग्रहः।
यदसत्स्वपि जायेत मूर्च्छया चित्तविप्लवः॥[२६]

बौद्धों ने अपरिग्रह शील की व्याख्या में कहा है कि 'मैं प्राणी शराब, ताड़ी आदि मादक पदार्थों के सेवन तथा जुए आदि के खेल से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ।'-

'सुरा-मेरय-मज्ज पमाद ट्ठाना वैरमणी सिक्खा पदं समादियामि।'[२७]

यहूदी धर्म में अपने पड़ोसी के धन, बैल आदि के प्रति संयम बरतने का उपदेश दिया गया है- Thou shalt not covet thy neighbour's ox, nor his money.[२८]

आगे यहूदी धर्म में कहा गया है-Contentment is a great virtue.

---

२२. आर्हत-दर्शनम्, श्लोक-२५
२३. डॉ. आर.पी.सन्त भास्कराचार्य, बौद्ध धम्मदर्शन, पृष्ठ-१०-११
२४. धर्म-दर्शन की रूपरेखा, हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, पृष्ठ-१६४
२५. Holy Bible, old Testaments, Exodus, Chapter 20.14, 20.17
२६. आर्हत-दर्शनम्, श्लोक-२६
२७. डॉ. आर.पी.सन्त भास्कराचार्य, बौद्ध धम्मदर्शन, पृष्ठ-१०-११
२८. Holy Bible, old Testaments, Exodus, Chapter 20.17

कनफ्युसियस धर्म में नीतिशास्त्र के सिद्धान्त के अन्तर्गत कहा गया है कि मनुष्य को वस्तुओं के प्रति आसक्ति नहीं रखनी चाहिए-'Li'[२९] अर्थात् सांसारिक वस्तुओं से अनासक्ति रखते हुए परोपकार करना चाहिए।

इसी प्रकार ईसाई धर्म में अणुव्रतों की समानता 'नैतिक शुभों' से की जा सकती है। इस धर्म में कहा गया है कि पाप, हिंसा, चोरी, असत्य, परिग्रह आदि 'नैतिक अशुभों' से दूर रहना चाहिए।

अन्ततः कहा जा सकता है कि जिन अणुव्रतों को जैन धर्म तथा दर्शन द्वारा श्रावक व श्राविकाओं के सम्यक् चारित्र को बनाये रखने के लिए बनाया गया था। आज वे पञ्चअणुव्रत सिद्धान्त, बौद्धों के पञ्चशील सिद्धान्तों, यहूदियों के नैतिक आदेशों, कनफ्युसियसों के पञ्चनीति सिद्धान्तों, ईसाईयों के नैतिक शुभों, मनुस्मृति के धर्म के लक्षणों में निहित होने से, याज्ञवल्क्य स्मृति तथा शाण्डिल्योपनिषद् के यमों से समानता रखने के कारण वैश्विक स्तर पर सर्वमान्य सिद्धान्त हैं।

---

२९. धर्म-दर्शन की रूपरेखा, हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, पृष्ठ-१६४

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ0121-124) ISSN 0974 – 8830

हठप्रदीपिका में प्राणचिकित्सा

डॉ. राकेश गिरि[१]

रमेश साँभरिया[२]

प्राण एक अतिसूक्ष्म तत्त्व है, योगियों के अनुसार यह ब्रह्माण्डीय प्राण समस्त सृष्टि में व्याप्त है। विज्ञान ने प्राण को विद्युत्-चुम्बकीय ऊर्जा कहा है। वैज्ञानिकों की मान्यता है कि विद्युत्-चुम्बकीय ऊर्जा भी सर्वत्र कण-कण में व्याप्त है अर्थात् समस्त वातावरण विद्युत्-चुम्बकीय ऊर्जा से आवेशित है। इसी प्रकार योग की भी मान्यता है कि जहाँ भी जीवन है, वहाँ प्राण उपस्थित होगा। प्राण की क्रिया का बाह्य स्वरूप श्वास-प्रश्वास है। श्वास-प्रश्वास अर्थात् स्वर के द्वारा ही समूचे शरीर में प्राणशक्ति का वितरण होता है।

जब वैज्ञानिकों ने विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्र का शोध किया तो पाया कि ये क्षेत्र धनात्मक तथा ऋणात्मक ऊर्जा से आवेशित कणों से बने हैं, जिन्हें आयन कहते हैं। ये आयन इतने सूक्ष्म होते हैं कि ये पृथ्वी, वायु तथा प्रत्येक वस्तु में प्रविष्ट हो सकते हैं। धनात्मक तथा ऋणात्मक आवेशयुक्त आयनों को श्वास द्वारा ली जाने वाली वायु के साथ आत्मसात् करना हमारे श्वसन संस्थान का एक महत्त्वपूर्ण कार्य माना जाता है। ये विद्युत्-चुम्बकीय ऊर्जा धाराओं के रूप में पृथ्वी के चारों ओर बहती रहती है। इस विद्युत्-चुम्बकीय धाराओं की विशेष गति पृथ्वी पर विद्यमान जीव-जगत् के ऊर्जा संतुलन को प्रभावित करती है। ये धारा चक्र हमारे मन तथा प्राणों को अत्यन्त प्रभावित करते हैं। इनसे हमारी मानसिक तथा भौतिक प्रक्रियायें प्रभावित होती हैं।

प्राण शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत में प्र+अन्+अच् से हुई है। प्र उपसर्ग है जिसका अर्थ निरंतरता होता है तथा अन का अर्थ गति होता है। अच् जोड़कर उसे संज्ञा बनाया गया है। अस्तु प्राण शब्द का अर्थ एक निरन्तर गति होता है। यह बहुत कुछ उस ध्वनि-तरंग की तरह होता है, जो निरन्तर गतिशील होती है।

यह एक शाश्वत प्राकृत तथ्य है कि जैसे ही किसी जीवित इकाई में ज़ीवन का प्रारम्भ होता है, वैसे ही वह प्राण-शक्ति सम्पन्न बनती है- **प्रकृष्टं प्रथमं वा अनिति इति प्राणः**। जीवन के साथ प्राण का इतना सतत सम्बन्ध है कि जब तक कोई शरीर या उसकी छोटी से छोटी इकाई जिसे जीव-कोशिका कहते हैं, जीवित रहती है, तब तक उसमें प्राणों का स्पन्दन बना रहता है। शरीर-विज्ञानी जानते हैं कि किसी भी प्राणी का जीवकोश प्राणिक शक्ति से सतत स्पन्दन कम्पित होता रहता है। इस क्रिया के माध्यम से जीवकोश द्वारा जीवनी शक्ति का अर्जन और मृत-तत्त्वों का विसर्जन होता रहता है। इससे ही उसका चय-अपचय उत्पाद-व्यय (Production-destruction) या पुनर्नवीकरण (regeneration) कह सकते हैं। इस जीवकोषीय प्रक्रिया का कर्णधार योग की भाषा में प्राणों के पञ्चम स्वरूप 'व्यान' को कहा जा सकता है।

हमारे स्थूल शरीर को भी प्रेरणा देने का कार्य प्राण और मन करते हैं तथा इस सम्पूर्ण शारीरिक

---

१ वरिष्ठ प्रवक्ता- मानव चेतना व योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

२ शोधार्थी- मानव चेतना व योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

तन्त्र को चौबीसों घण्टे गतिशील रखने का दायित्व प्राण का है। गर्भ से लेकर मृत्यु तक शरीर का विकास-ह्रास, रक्षण-पोषण सभी कुछ प्राण के कारण ही होता है। छान्दोग्य उपनिषद् के ऋषि भी कहते हैं कि शरीर की अन्य इन्द्रियों के बिना व्यक्ति जीवित तो रह सकता है, परन्तु प्राण के अभाव में जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। प्राणशक्ति की क्षीणता से मन और इन्द्रियाँ असक्षम तथा प्राणशक्ति की संपुष्टता से मन और इन्द्रियाँ अति सक्षम बनती हैं। प्राणशक्ति की प्रबलता ही आत्मविश्वास का चरम है। प्राणिक-ऊर्जा ही हमारी जीवनी-शक्ति तथा रोग-प्रतिरोधक शक्ति का आधार है। सभी महत्त्वपूर्ण ग्रंथियां, हृदय, फेफड़े, मस्तिष्क एवं मेरुदण्ड सहित सम्पूर्ण शरीर को प्राण ही स्वस्थ एवं ऊर्जावान् बनाता है।

प्राणों की साधना समस्त सफलताओं और सिद्धियों की आधार है। शारीरिक संपुष्टि से लेकर मानसिक और मन की एकाग्रता में प्राण नियमन की महती भूमिका है। प्राणों पर नियन्त्रण कर लेने से मन और इन्द्रियों पर स्वतः ही नियन्त्रण हो जाता है। प्राणों के नियमन की यह प्रक्रिया ही 'योग' शास्त्र में प्राणायाम कहलाती है।

स्थूल शरीर का प्रेरक प्राण यद्यपि एक ही है, लेकिन विभिन्न शारीरिक प्रक्रियाओं और चेष्टाओं को सम्पादित करने की दृष्टि से एक ही प्राण के अनेक नाम पड़ गए हैं। मुख्यतया प्राण के पाँच मुख्य और पाँच उपभेद माने गए हैं। प्राण के ५ मुख्य भेदों में प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान हैं तथा ५ उपभेदों में नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय परिगणित हैं। विशेष ध्यातव्य है कि वैदिक साहित्य में प्राण के पाँच प्रमुख भेदों का वर्णन तो प्रचुरता के साथ उल्लेख हुआ है, लेकिन नाग, कूर्मादि प्राण के गौण भेदों को विशेष महत्त्व नहीं मिला है। पाँच मुख्य प्राणों में प्राण नामक भेद शरीर के ऊपरी प्रदेश में रहता है। यह हमारी ज्ञानेन्द्रियों को गतिमान् रखने के साथ-साथ फेफड़ों, हृदय, अन्न-नलिका एवं श्वसन-तन्त्र को क्रियाशीलता प्रदान करता है। अपान नामक प्राण शरीर में सफाईकर्मी की भूमिका का निर्वहन करता है। मल-मूत्र के विसर्जन तथा दूषित वायु के निष्कासन की अनिवार्य प्रक्रिया इसी की सक्रियता की सहायता से निष्पन्न होती है। हृदय से लेकर नाभि तक के क्षेत्र में सम्पन्न होने वाली क्रियाओं के सुचारु संचालन को समान नामक प्राण सुनिश्चित करता है। इसका निवास भी नाभि के आस-पास का क्षेत्र है। यकृत, आंत्र, प्लीहा व अग्नाशय सहित सम्पूर्ण पाचन तन्त्र की आंतरिक प्रक्रियाओं को यह नियंत्रित करता है। यही भोजन से बने रसों की शरीर के विभिन्न अंगों में आपूर्ति करता है। व्यान नामक प्राण त्वक् (त्वचा) आदि इन्द्रियों के साथ समस्त शरीर में परिव्याप्त रहता है। यह तंत्रिकाओं द्वारा समस्त संवेदनाए मन तक प्रेषित करता है और वहाँ से प्राप्त निर्देशों को ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के पास पहुँचा देता है। शरीर भर में परिव्याप्त होने के कारण यह मांसपेशियों, तंतुओं, नाड़ियों आदि को ऊर्जा व क्रियाशीलता प्रदान करता है।

उदान नामक प्राण कंठ के ऊपर से लेकर सिर पर्यन्त सक्रिय रहता है। ऊपर के अंगों को ऊर्जा, प्रेरणा और निर्देशन करता हुआ यह प्राण मस्तिष्क की ऊर्ध्वगतियों को अनुप्राणित करता है। इसके अतिरिक्त शरीर में चल रही कई छोटी-छोटी प्रक्रियाएँ जम्हाई लेना, छींक आना, क्षुधा-पिपासा (भूख-प्यास) का लगना तथा परितृप्त होना, निमेषोन्मेष (आँखों की पलकों का झपकना), डकार और हिचकी आना आदि नाग, कूर्मादि उपप्राणों के द्वारा सम्पादित होती है। जब तक शरीर में प्राकृतिक रूप से चलने वाली यह क्रियाएँ यथावत् चलती रहती हैं तब तक अन्नमय कोश रूपी स्थूल शरीर ऊर्जावान् तथा मानसिक व्यापार आशा और उत्साह से परिपूर्ण रहता है। परन्तु दुराचरण, दुर्भक्ष्य और दुश्चिंतन की निरंतरता

से प्राण के प्रकुपित या दोषयुक्त हो जाने पर भोजन के पाचनरस, रक्तादि के निर्माण, मल के विसर्जन सहित अन्य शारीरिक प्रक्रियाओं के संचालन और सम्पादन में बाधा उत्पन्न होने लगती है। प्राण के दोषयुक्त हो जाने पर शरीर भी दोषयुक्त हो जाता है और हमारा शरीर रोगों का घर बन जाता है।

हठप्रदीपिका के पञ्चम उपदेश में शारीरिक रोगों के सम्बन्ध में कहा गया है कि अधिकांश रोग प्राण की सामान्य गति में कुछ अवरोध के कारण ही होते हैं। उदाहरणतः वात से सम्बन्धित सभी प्रकार के वायु रोग, जैसे- गुल्म, गैस, अपच अजीर्ण, अग्निमांद्य आदि, हृदय से सम्बन्धित व्याधियाँ- जैसे हृदयशूल, हृदयघात व श्वसन से सम्बन्धित अनेक व्याधियाँ, पैरालाइसिस (लकवा) अर्थात् हरे-भरे पेड़ के एक हिस्से की तरह शरीर का कृश हो जाना, सभी इस बात को सूचित करता है कि उक्त अंगों में पर्याप्त मात्रा में प्राण का प्रवाह नहीं हो पा रहा है या प्राण का प्रवाह समाप्त हो चुका है।

स्वामी स्वात्माराम जी ने 'हठप्रदीपिका' के पञ्चम उपदेश में प्राण चिकित्सा का वर्णन करते हुए कहा है-

प्रमादी युज्यते यस्तु वातादिस्तस्य जायते।
तद्दोषस्य चिकित्सार्थं गतिर्वायोर्निरुप्यते।।[३]

अर्थात् जो व्यक्ति या साधक आहार-विहार, विचार-चिन्तन तथा योगाभ्यास में भूल करता है, उसे वातादि जन्य रोग हो जाते हैं। अत एव उन दोषों की चिकित्सा के लिए मैं प्राण की गति का निरूपण अर्थात् प्राण चिकित्सा के बारे में कहता हूँ। इनके अनुसार सभी रोग प्राण की सामान्य गति में कुछ अवरोध के कारण ही होते हैं। अतः इन अवरोधों को दूर करने के लिए स्वात्माराम जी ने धीमे और दीर्घ पूरक-रेचक के अभ्यास का निर्देश किया है।

उक्त प्रकार के पूरक-रेचक तथा बीच-बीच में कुम्भक करने से और चित्त (मन) या चेतना को उस रुग्ण-स्थान पर लगाने से रोग पैदा करने वाला अवरोध हट जाता है और तब शरीर के उस भाग में प्राण का स्वाभाविक प्रवाह होने लगता है, प्राण का स्वाभाविक प्रवाह होते रहने से धीरे-धीरे वह अंग स्वस्थ हो जाता है। योगियों का भी विश्वास है कि 'चित्त' और 'प्राण' सामान्य रूप से शरीर में साथ-साथ चलते हैं।

हठप्रदीपिका के पञ्चम अध्याय के नवें, दसवें श्लोक में भी यहीं बात कही गई है-

यस्मिन् यस्मिन् यदा देशे रुजा बाधा प्रजायते।
तस्मिन् देशे स्थितं वायुं मनसा परिचिन्तयेत्।।[४]
एकचित्तेन तद्ध्यात्वा पूरयेत पूरकेण तु।
निःशेषरेचकं कुर्यात् यथाशक्त्या प्रयत्नतः।।[५]

अर्थात् जहाँ-जहाँ जो स्थान रोग्रस्त हो, उस स्थान में विद्यमान वायु का मन से चिन्तन कर,

---

३ हठप्रदीपिका ५/१
४ हठप्रदीपिका ५/९
५ हठप्रदीपिका ५/१०

तत्पश्चात् वायु से फेफड़े को पूरक कर अपनी शक्ति के अनुसार यत्नपूर्वक सम्पूर्ण रेचक करना चाहिए। अन्त में स्वामी स्वात्माराम जी का कथन है कि-

वैद्यशास्त्रोक्तविधिना क्रियां कुर्वीत यत्नतः।
कुर्याद्योगचिकित्सां च सर्वरोगेषु रोगवित्॥[६]

अर्थात् प्राण चिकित्सा के साथ आयुर्वेद शास्त्र के अच्छे आयुर्वेदिक चिकित्सकों से चिकित्सा करानी चाहिए।

---

६ हठप्रदीपिका - ५/२२

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ0125-130) ISSN 0974 – 8830

आहार्याभिनय के सिद्धान्त एवं प्रयोग: 'प्रतिमानाटकम्' के सन्दर्भ में

डॉ० निरुपमा त्रिपाठी[१]

'नट अवस्कन्दे' से निर्मित 'नाट्य' का अर्थ है- 'तौर्यत्रिक'। विभिन्न कोश 'तौर्यत्रिक' को नृत्य, गीत एवं वाद्य की समष्टि कहते हैं।[२] 'नाट्यशास्त्र' में उपर्युक्त तीनों के अतिरिक्त 'नाट्य' से सम्बन्धित सम्पूर्ण कलाओं जैसे- नाट्योत्पत्ति, नाट्यमण्डप, रङ्गपूजा, पूर्वरङ्ग और अङ्गहार, नाट्यसन्धियों, नायक-नायिका के प्रकार, छन्द-शास्त्र, अलङ्कार एवं रस आदि का व्यापक निरूपण किया गया है।

'नाट्यशास्त्र' में जहाँ नाट्य-कला के सिद्धान्तों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन मिलता है वहीं इसका दूसरा प्रबल पक्ष भी निरूपित है जिसे 'नाट्य-प्रयोग' या 'प्रयोग-विज्ञान' की संज्ञा दी जाती है। इसके अर्न्तगत आचार्य भरत ने आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक तथा आहार्य अभिनय का विश्लेषण किया है। कोई भी नाट्यकृति मञ्चीय प्रयोग हेतु ही रचित होती है। इसमें वर्णित पात्रों की अवस्थाओं का शारीरिक चेष्टाओं, वाणी के विन्यास, मनोभावों की अभिव्यक्ति तथा उचित वेशभूषा आदि के द्वारा प्रस्तुत अनुकृति को ही शास्त्रीय भाषा में अभिनय की संज्ञा दी गई है-

'विभावयति यस्माच्च नानार्थान् हि प्रयोगतः।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्तस्मादभिनयः स्मृतः।।[३]

अभिनीत होने पर ही नाट्य की 'दृश्यकाव्य' यह संज्ञा चरितार्थ होती है तथा उससे ही प्रेक्षक रसानुभूति की चरम सीमा तक पहुँचता है। आचार्य भरत ने प्राधान्येन अभिनय को चार प्रकार से बाँटा है- आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक तथा आहार्य। नाट्य के पाठ्य अंश वाचिक अभिनय के माध्यम से सम्पन्न किए जाते हैं। कवि-सृष्टि में कवि-निबद्ध पात्र भी सुख-दुःखात्मक मनोभावों से युक्त होते ही हैं। मञ्च पर इनके इन विविध भावों की अभिव्यक्ति करातां है 'सात्त्विक' अभिनय। 'नाट्य' में वर्णित पात्रों को यथार्थ रूप में मञ्च पर प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक होता है उसे अनुकूल वेशभूषा आदि का नेपथ्य में ही विधान कर लेना। आचार्य भरत के अनुसार पात्र का वेश विन्यास अलङ्कार-परिधान, अङ्गरचना, रङ्गमञ्च पर निर्जीव लौकिक पदार्थों और सजीव जन्तुओं का नाट्यधर्मी प्रयोग 'आहार्य' अभिनय है। आहार्याभिनय नेपथ्यज विधि है-

आहार्याभिनयो नाम ज्ञेयो नेपथ्यजो विधिः।
तत्र कार्यः प्रयत्नस्तु नाट्यस्य शुभमिच्छता।।[४]

अन्य अभिनयों की अपेक्षा अहार्याभिनय की पृथकता है क्योंकि इस विधि का प्रयोग नेपथ्य में ही

---

१ वरिष्ठ प्रवक्ता (संस्कृत), कानपुर विद्यामन्दिर महिला (पी०जी०) महाविद्यालय, स्वरूपनगर, कानपुर।
२ तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं नाट्यमिदं त्रयम्। अमरकोश, १.७.१०।
३ नाट्यशास्त्र, ८.७
४ नाट्यशास्त्र, २१.२।

सिद्ध कर लिया जाता है जबकि अन्य अभिनयों का प्रयोग मञ्च पर ही होता है। 'नाट्यशास्त्र' में अनेक भेदोपभेद सहित आहार्याभिनय का वर्णन किया गया है।

नाट्य-प्रयोग में आहार्याभिनय का महत्त्व असाधारण है। ऐसा प्रयोग जिसमें अन्य सभी अभिनय कितने ही उत्कृष्ट क्यों न हो सौन्दर्यविहीन ही सिद्ध होते हैं यदि उनमें आहार्य अभिनय का सन्तुलन न हो। मुख्यरूपेण आहार्याभिनय के कौशल से ही प्रेक्षक के हृदय में अनुकार्य एवं अनुकर्ता के भेद को तिरोहित किया जा सकता है। उत्कृष्ट अभिनय के प्रयोग से ही भरतप्रदत्त 'प्रेक्षक' की वह परिभाषा सङ्गत हो सकेगी-

यस्तुष्टे तुष्टिमायाति शोके शोकमुपैति च।
दैन्ये दीनत्वमभ्येति स नाट्ये प्रेक्षकः स्मृतः॥[5]

दर्शक की पूर्ण सन्तुष्टि में ही प्रयोग-विज्ञान की साधुता है। कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में सूत्रधार के मुख से उचित ही कहा है-

'आ परितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्'[6] प्रयोगविज्ञान की यह साधुता अधिकांश रूप में आहार्य अभिनय पर ही निर्भर है।

आधुनिक रङ्गमञ्च की विकसित अवस्था को देखते हुय यह कहा जा सकता है कि वह पूर्णरूप से पारम्परिक विधियों का अनुगामी नहीं हैं किन्तु प्राचीन संस्कृत नाट्य-कृतियों की प्राचीनता एवं मौलिकता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए भरतोक्त सिद्धान्तों के अनुकूल प्रदर्शन अपरिहार्य है। तभी उनकी वास्तविकता एवं कवि की भावना की सुरक्षा सम्भव है।

प्राचीन नाट्यकारों की शृङ्खला में भास कवि एवं उनके १३ नाटक सदैव ही समादृत रहे हैं। महाकविकालिदास ने **'प्रथितयशसां भास-सौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धान्'** कहकर इनका स्मरण किया है। भासकृत सम्पूर्ण १३ नाटक रङ्गमञ्चीय दृष्टि से उपयुक्त हैं। भास के नाटकों का आधार रामकथा, महाभारतकथा, भागवतकथा, लोककथा और उदयनकथा है। इन कथानकों से संवलित भास के नाटक अभिनेयता की दृष्टि से उपयुक्त हैं। भास के नाटकों के घटना-चक्र आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक ही नहीं आहार्य अभिनय की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। भरतप्रतिपादित आहार्य अभिनय के सिद्धान्तों के अनुकूल इन नाटकों की मञ्चीय प्रस्तुति प्रभावोत्पादक सिद्ध हो सकती है। भासीय नाटक-चक्र में अन्यतम 'प्रतिमानाटकम्' का अपना विशेष महत्त्व है। इस नाटक का कथाचक्र सात अङ्कों में विभाजित है। राम के राज्याभिषेक की तैयारी से नाटक का प्रारम्भ होता है तथा उनके वनवास के पश्चात् पुनः राज्याभिषेक के साथ नाटक की परिसमाप्ति हो जाती है। इस नाटक की कथा 'रामचरित' पर ही आधारित है किन्तु इसमें भास की मौलिकता का परिचय पदे-पदे प्राप्त होता है नाटकीय दृष्टि से दर्शक का कौतूहल हर दृश्य में बना रहे, इस प्रकार इसकी रचना हुई है। भरत प्रतिपादित आहार्य अभिनय के सूक्ष्म परिशीलन के साथ उसे 'प्रतिमानाटकम्' के सन्दर्भ में प्रयोग करते हुए इस नाटक की प्रयोगार्हता में वृद्धि की जा सकती है।

---

५ नाट्यशास्त्र, २७.५२।

६ अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १. पृ०२।

आचार्य भरत ने आहार्य अभिनय के मुख्य चार भेद माने हैं- पुस्त, अलङ्कार, अङ्गरचना तथा सञ्जीव। इनमें **पुस्त** नामक भेद वास्तविक रूप को रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करने की सांकेतिक विधि है। इसके माध्यम से ही रङ्गमण्डप पर यथार्थता का सृजन करते हुए शैल, यान, विमान आदि अनेकानेक भारी वस्तुओं को प्रस्तुत किया जाता है।[७] सन्धिम, व्याजिम और वेष्टिम इसके तीन रूप होते हैं। आवश्यकता के अनुसार रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत की जाने वाली भारी-भरकम वस्तुओं का लाख, बाँस, भूर्जपत्र, चमड़ा आदि हल्की वस्तुओं से निर्माण करके प्रस्तुत करने की विधि सन्धिम है। रथ, विमान यानादि को कृत्रिम गति प्रदान करना व्याजिम है। जिस पुस्त को वस्त्र या किसी अन्य वस्तु से लपेट कर तैयार किया जाता है उन्हें वेष्टिम या चेष्टिम कहा जाता है।[८]

'प्रतिमानाटकम्' के प्रथम अङ्क में ही कञ्चुकी प्रतिहारी को राम के राज्याभिषेक की तैयारी की सूचना-

--- पश्य-छत्रं सव्यजनं सनन्दिपटहं भद्रासनं कल्पितं---[९]

इत्यादि शब्दों से देता है। इसमें राज्याभिषेक का दृश्य प्रदर्शित करते हुए अभिषेक के योग्य वस्तुओं जैसे छत्र, सिंहासन, रथ आदि को पुस्त विधि के 'सन्धिम' भेद के द्वारा ही निर्मित कर प्रस्तुत किया जा सकता है। तृतीय अङ्क में रथासीन भरत एवं सारथि का प्रवेश मञ्च पर दिखाने के लिए सन्धिम एवं व्याजिम पुस्त विधि का आश्रय लिया जायेगा[१०] क्योंकि इसी से रथ का निर्माण एवं उसकी गति प्रदर्शित की जा सकेगी। तृतीय अङ्क में ही इक्ष्वाकुवंशीय मृत राजाओं की प्रतिमा का भरत द्वारा अवलोकन एवं प्रणाम का दृश्य है।[११] इस प्रसङ्ग में प्रतिमाओं का निर्माण भी 'पुस्त' नामक आहार्य विधि से करते हुए उन्हें यथार्थता के अनुकूल प्रदर्शित किया जा सकता है। इसी प्रकार अन्यान्य स्थलों पर भी जहाँ नाट्योपयोगी छत्र, मुकुट, ध्वजा, विमान, सिंहासन आदि के प्रदर्शन की आवश्यकता है उन्हें पुस्त विधि से माध्यम से ही सम्भव बनाया जा सकता है।

आचार्य भरत की स्पष्ट मान्यता है कि नाट्य-कथा के उपयोगी अस्त्र-शस्त्र, धनुष, गदा आदि को यदि मञ्च पर प्रदर्शित करना हो तो वे हल्के पदार्थ जैसे लाख, बाँस आदि से निर्मित होने चाहिए अन्यथा अधिक भारी होने पर वे समुचित अभिनय में बाधा उपस्थित करेंगे। जैसे 'प्रतिमानाटकम्' के प्रथम अङ्क में धनुष-बाण हाथ में लिए लक्ष्मण का प्रवेश मञ्च पर होता है।[१२] इस दृश्य में लक्ष्मण के ये धनुष-बाण आदि उक्त विधि से ही निर्मित होंगे।

रङ्गमञ्च पर उपस्थित होने वाले पात्रों का आभूषण, वस्त्र आदि के द्वारा मूल (अनुकार्य) पात्रों से साम्य रखता हुआ मनोहारी और यथार्थ अलङ्करण तो प्रसिद्ध ही है। भरत ने इसे आहार्याभिनय के **अलङ्कार**

---

७ शैलयानविमानानि चर्मवर्मध्वजा नगा:। यानि क्रियन्ते नाट्ये हि स पुस्त इति संज्ञित:॥ नाट्यशास्त्र, २१.९।
८ नाट्यशास्त्र, २१.११।
९ 'प्रतिमानाटकम्' १. पृ०७।
१० 'प्रतिमानाटकम्' ३. पृ०८५।
११ 'प्रतिमानाटकम्' ३. पृ०९६।
१२ 'प्रतिमानाटकम्' १. पृ०३९।

नामक भेद के अन्तर्गत निरूपित किया है। पात्रों के अलङ्करण को तीन प्रकार से सम्पादित किया जाता है। अतः यह तीन प्रकार का होता है- माला, आभरण तथा वेशविन्यास-

अलङ्कारस्तु विज्ञेयो मालाभरणवाससा।
नानाविधसमायोगात् योऽङ्गोपाङ्गविनिर्मितः।।[१३]

नाट्यशास्त्र में मालाएँ पाँच प्रकार की बताई गई हैं- वेष्टित, वितत, ग्रथित, लम्बित एवं संघात्य। 'प्रतिमानाटकम्' में वनवास काल में सीता का अलङ्करण भरतोक्त माल्याभरण के अनुसार ही होना चाहिए।

आभरण चार प्रकार के होते हैं- आबेध्य, बन्धनीय, प्रक्षेप्य और आरोप्य। इनमें जो शरीर के अंगों को बेध कर पहने जाते हैं वे आबेध्य हैं। बन्धीनय वे आभूषण हैं जो अङ्गों में बाँधे जाते हैं जैसे-अङ्गद, केयूर, करधनी आदि। प्रक्षेप्य के अन्तर्गत नुपूर आदि अलङ्करण है तथा अङ्गों में आरोपित करके पहने जाने वाले वस्त्राभरण, हारादि आरोप्य आभरण हैं।[१४]

'प्रतिमानाटकम्' के प्रथम अङ्क में सीता के शरीर से उतरे आभूषणों के विषय में राम का जो कथन है वह स्पष्ट सङ्केत देता है कि उतारने से पूर्व सीता का अलङ्करण उपर्युक्त अभारणों से ही किया जायेगा।[१५]

आचार्य भरत की सूक्ष्मदृष्टि का ही परिणाम है कि नाट्यशास्त्र में स्त्रियों एवं पुरुषों के पृथक-पृथक आभूषणों का तथा अङ्ग-प्रत्यङ्गों में पहने जाने वाले भाँति-भाँति के अलङ्कारों का उल्लेख मिलता है। 'प्रतिमानाटकम्' में सीता, राम, दशरथ और कौशल्या आदि रत्नानियाँ ही नहीं अन्य पात्रों को यथायोग्य अलङ्कृत कर आचार्य भरत की इस दृष्टि का लाभ उठाते हुए नाटक का सुन्दर प्रदर्शन किया जा सकता है। इतना ही नहीं किस भाव एवं रस में कैसे आभूषण होने चाहिए, आभूषणों का निर्माण किन वस्तुओं से हो इन सबका भी विस्तृत शास्त्रीय विधान भरत ने प्रस्तुत किया है। जैसे- 'नाट्यशास्त्र' में शोक या दुःखमयी दशा में चमत्कार पूर्ण आभूषणों का प्रयोग नारी के लिए अशोभनीय बताया गया है। इस निर्देश के अनुसरण पर 'प्रतिमानाटकम्' के द्वितीय अङ्क में राम के वियोग में व्याकुल राजा दशरथ को धीरज बाँधती हुई कौशल्या और सुमित्रा के आभूषण राजकुलोचित तो होंगे परन्तु बहुत चमत्कार पूर्ण नहीं।[१६]

आभूषणों के प्रयोग एवं निर्माण के सम्बन्ध में भी भरत ने महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। नाट्य में न तो आवश्यकता से अधिक आभूषणों का प्रयोग होना चाहिए और न ही उनका निर्माण ऐसी धातुओं से हो जिससे वे बोझिल हो जाय। लाह आदि से निर्मित चमत्कारोत्पादक एवं हल्के आभूषणों के प्रयोग को ही उचित दर्शाया गया है। कृत्रिम और हल्के अलङ्कार अभिनय में बाधा उत्पन्न नहीं करते।[१७]

---

१३ नाट्यशास्त्र, २१.१०।

१४ नाट्यशास्त्र, २१.१३,१४,१५।

१५ कर्णौ त्वरापहतभूषणभुग्नपाशौ, संस्रंसिताभरण गौरतलौ च हस्तौ। एतानि चाभरणभारनतानि गात्रे, स्थानानि नैव समतामुपयान्ति तावत्। प्रतिमानाटकम्,१. पृ०२६।

१६ 'प्रतिमानाटकम्' २. पृ०५९।

१७ नाट्यशास्त्र, २१.४७, ४८, ४९, ५०।

प्रतिमानाटकम् के प्रथम अङ्क में राम के अभिषेक की घोषणा का समाचार सुनकर सीता अपने आभूषण उतार कर चेटी को देती है-

सीता (आभरणान्यवमुच्य ददाति)[१८]

यदि वे आभूषण भार में अधिक होंगे तो नि:सन्देह नाट्य प्रयोग में बाधा उत्पन्न होगी।

आहार्य अभिनय का तृतीय प्रकार **अङ्गरचना** है। इसके अन्तर्गत पात्रों के रूप- परिवर्तन पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इसी के आश्रय से अनुकर्ता अपने 'स्व' भाव का परित्याग कर राम, सीता आदि के रूप एवं भाव से समन्वित हो प्रेक्षकों के समक्ष प्रस्तुत होता है। भरत ने मूलरूप से चार वर्णों का उल्लेख किया है- उज्ज्वल, पीत, नील एवं रक्त। इन प्रधान वर्णों के योग से कई उपवर्णों की योजना कर ली जाती है। जिससे रङ्गकर पात्रों को देश-जाति के अनुरूप प्रस्तुत किया जाता है।

वर्ण-रचना की यह आहार्य विधि नाट्य-प्रयोग में इतने महत्त्व की है कि इसी का आश्रय लेकर मनुष्य रूप का ही मञ्च पर अनुकरण नहीं प्रस्तुत किया जाता अपितु ऐसे भी पदार्थ और प्राणी जो मानवीय नहीं है, प्रस्तुत कर दिए जाते हैं। नदी, दुर्ग प्रासाद, यान इत्यादि के मञ्चीय प्रदर्शन के लिए अभिनेता को ही उसी रूप रङ्ग की आभा से युक्त करके प्रस्तुत किया जाता है। पात्रों की अङ्गरचना रस तथा देश जाति के अनुकूल होती है। शृङ्गार रस में श्याम, हास्य में शुभ्र, करूण में धूसर आदि वर्णों के प्रयोग का विधान है। इस दृष्टि से प्रयोज्य नाटक के द्वितीय अङ्क में राम के वियोग में विलाप करते हुए शोकाकुल दशरथ की वर्ण-रचना धूसर होनी चाहिए-

हा क्वासौ सर्वजनहृदयनयनाभिरामो राम:? क्वासौ मयि गुर्वनुवृत्ति:? क्वासौ शोकार्तेष्वनुकम्पा? क्वासौ तृणवदगणितराज्यैश्वर्य:? पुत्र! राम! वृद्धं पितरं मां परित्यज्य किमसम्बद्धेन धर्मेण ते कृत्यम्? हा धिक्। कष्टं भो:?[१९]

ऐसे स्थलों में यदि आहार्य के प्रति असावधानी होगी तो दशरथ का वियोग उत्कृष्टता के साथ परिलक्षित नहीं हो सकेगा।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, देवता, यक्ष और अप्सरा का वर्ण गौर बताया गया है। अत: राम, लक्ष्मण आदि की अङ्गरचना गौरवर्ण की होगी। रोगी, कुकर्मी, तपस्यारत का वर्ण कृष्ण होगा तथा ऋषि या संन्यासी को काषाय वर्ण से प्रदर्शित किया जायेगा।[२०] प्रस्तुत नाटक के पञ्चम अङ्क में संन्यासी वेशधारी रावण की अङ्गरचना काषाय वर्ण की होगी।[२१]

इसी प्रकार नाट्य-शास्त्र जातिभेद एवं देशभेद के आधार पर स्त्री-पुरुषों के विशिष्ट वेश, आभूषण एवं केश-विन्यास का भी विधान करता है जिसकी उपादेयता 'प्रतिमानाटकम्' के सन्दर्भ में भी है। भरत शुद्ध, विचित्र एवं मलिन नामक तीन प्रकार के वेश का उल्लेख करते हैं-

---

१८ 'प्रतिमानाटकम्' १. पृ०१७।
१९ 'प्रतिमानाटकम्' द्वितीय अङ्के।
२० नाट्यशास्त्र, २१.८६-९९।
२१ 'प्रतिमानाटकम्' ५. पृ०१६०।

शुद्धोविचित्रोमलिनश्त्रिविधो वेश उच्यते।

तेषां विभागं व्याख्यास्ये यथा कार्यम् प्रयोक्तृभिः।

'प्रतिमानाटकम्' के ब्राह्मण, पुरोहित, कञ्चुकीय, तपस्वी, क्षत्रीय आदि पात्रों के लिए शुद्ध वेश का प्रयोग होगा। **'चीरवल्कलचर्माणि तापासानां तु योजयेत्'।**[२२] इस निर्देश के अनुसार उपर्युक्त नाटक में वनवास काल में राम वल्कलधारी ही प्रदर्शित किए जायेंगे।

नाटक इत्यादि में शरीर के अन्य अङ्गों की भाँति शिर का भी प्रसाधन अनिवार्य होता है। इस पक्ष का भी विस्तृत विवेचन नाट्यशास्त्र में उपलब्ध है। पार्श्वगत, मस्तकी एवं किरीटी ये तीन शिर के वेश होते हैं।

पार्श्वागता मस्तकिनस्तथा चैव किरीटिनः

त्रिविधा मुकुटा ज्ञेया दिव्यपार्थिव संश्रयाः। [२३]

इसके अनुसार उपर्युक्त नाटक में राजा के सिर पर मस्तकी मुकुट शोभायमान रहेगा।

सञ्जीव आहार्य अभिनय का चतुर्थ प्रकार है जिसके माध्यम से आचार्य भरत ने अपद, द्विपद और चतुष्पद जीवों को रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करने की विधियाँ बतायी हैं।[२४] रामाणीय कथा पर आश्रित 'प्रतिमानाटकम्' में यत्र-तत्र इस विधि की उपयोगिता होगी ही। इस विधि के प्रयोग के लिए भरत ने घटी या पटी की कल्पना की है। यह एक प्रकार का आवरण होता है जिससे आवश्यकता के अनुरूप विविध प्राणियों का रूप रचकर अभिनेता रङ्गञ्च पर नाट्यकथा की वास्तविकता का समायोजन कराता है। घटी या पटी की रचना के लिए आवश्यक सामग्री धान का भूसा, भस्म, वस्त्र और छाल आदि बतायी गयी है। इनसे आच्छादन तैयार करके मुख, आँख, नाक आदि के पास आवश्यक छिद्र करके इसका प्रयोग किया जा सकता है।

आधुनिक विकसित रङ्गमञ्च पर घटी या पटी के निर्माण में अन्य वस्तुओं का भी प्रयोग किया जा सकता है। 'प्रतिमानाटकम्' के षष्ठ अङ्क में सीता का अपहरण करके ले जाते हुए रावण और जटायु के युद्ध के दृश्य में जटायु का अभिनय कर रहे पात्र के लिए सञ्जीव नामक आहार्य अभिनय की ही उपयोगिता है।

इस प्रकार लोकधर्मी प्रवृत्तियों को स्वाभाविक एवं सहज रूप में रङ्गमञ्च पर नाट्यधर्मी के रूप में प्रस्तुत करने हेतु आहार्य अभिनय नितान्त उपयोगी है। आहार्य अभिनय के भरतोक्त सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन करके 'प्रतिमानाटकम्' में उनके प्रयोग का यह शोधात्मक परिशीलन एक दिग्दर्शन मात्र है।

---

२२ नाट्यशास्त्र, २१.१२३।

२३ नाट्यशास्त्र, २१.१३१।

२४ यः प्राणिनां प्रवेशो वै स सञ्जीव इति स्मृतः। चतुष्पदोऽथद्विपदस्तथा चैवापदः स्मृतः॥ नाट्यशास्त्र, २१.१५२।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ0131-137) ISSN 0974 – 8830

काव्यशास्त्रीय परम्परा में 'ओजगुण' का स्वरूप

डॉ. मौहर सिंह[१]

डॉ. गोपाल लाल[२]

भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में काव्यगत-गुणों के स्वरूप पर गहन एवं विस्तृत चिन्तन किया जाता रहा है। नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरतमुनि ने सर्वप्रथम काव्यगुणों का तर्कसंगत विवेचन प्रस्तुत किया। आचार्य भरतमुनि ने १० काव्यगुणों का नामोल्लेख करने के उपरान्त काव्यगुण के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये कहा है-

एते एव विपर्ययस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।
गुणा विपर्ययादेशां माधुर्यौदर्यलक्षणाः।।[३]

आचार्य भरतमुनि ने दोषों के विपर्यय को काव्यगुण कहा है। नाट्यशास्त्र के टीकाकार आचार्य अभिनवगुप्त ने 'विपर्यय' का अर्थ 'अभाव' किया है। अग्निपुराणकार ने काव्यगुण का लक्षण करते हुये लिखा है- **'यः काव्ये महतीं छायामनुगृहणात्यसौ गुणः।'**[४] अर्थात् जो काव्य में महती छाया को उत्पन्न करते हैं, वे गुण कहलाते हैं। आचार्य वामन ने रीतियों के साथ गुणों के साक्षात् सम्बन्ध का निरूपण करते हुये कहा है कि काव्य की आत्मा रीति है तथा रीति की आत्मा गुण है।[५] ओज, प्रसाद आदि काव्य के नित्य धर्म हैं, क्योंकि उनके बिना काव्य में शोभा की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार **'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः'**[६] कहते हुये गुण का लक्षण दिया है। ध्वनिवादी आचार्यों की काव्यगुण विवेचना सुव्यवस्थित और सुसंगठित कही जा सकती है। ध्वनिसिद्धान्त के प्रवर्त्तक आनन्दवर्धन ने गुणों का नियत अङ्गत्व स्वीकार किया है। उनके मत में काव्य में रस अङ्गी हैं और गुण उनके अङ्गरूप में रहते हैं। काव्य के आत्मभूत रसादिध्वनि के आश्रित रहने वाले धर्म गुण होते हैं।[७] ध्वनिवादी आचार्य मम्मट ने समन्वयवादी दृष्टि को दृष्टिगत रखते हुये वामन के मत से गुणों की अपरिहार्यता और आनन्दवर्धन के मत से गुण की रसधर्मता को ग्रहण करते हुये काव्यगुण सम्बन्धी मान्यता को स्थापित किया है। आचार्य मम्मट ने गुणों के स्वरूप के साथ-साथ काव्य में गुणों के स्थान का भी निर्धारण किया है। काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट का तद्विषयक मन्तव्य इस प्रकार उल्लिखित है- काव्य में रस अङ्गीरूप में रहते हैं तथा गुण उन रसों में

---

१ असिस्टैण्ट प्रोफेसर संस्कृत विभाग, गुरुकुल कांगड़ी, विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२ असिस्टैण्ट प्रोफेसर संहिता एवं संस्कृत विभाग, आयुर्वेद संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
३ नाट्यशास्त्र १६.९५ काशी संस्करण
४ अग्निपुराण ३४६.३
५ रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टा पदसंघटना रीतिः। विशेषो गुणात्मा। काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १.२.६-८
६ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ३.१.१-३
७ तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः। अङ्गाश्रितास्त्वलङ्काराः मन्तव्याः कटकादिवत्।। ध्वन्यालोक २.६

नियत रूप से रहते हुये उनका उपकार करते हैं। काव्य के अङ्गीभूत रस में गुण उसी प्रकार से रहते हैं, जिस प्रकार शरीर के अङ्गी आत्मा में शौर्यादि गुण रहते हैं।[८] साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने भी इसी अभिमत को स्वीकार किया है।[९]

काव्यगुणों की संख्या

गुणों की संख्या के सम्बन्ध में काव्यशास्त्रीय आचार्यों की दृष्टि में मत-वैभिन्य रहा है। जैसाकि आचार्य भरतमुनि[१०] और काव्यादर्शकार आचार्य दण्डी[११] दस-दस काव्यगुण स्वीकार करते हैं। अग्निपुराण- श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सौकुमार्य, उदारता, सती और यौगिकी ये सात शब्द गुण[१२] माधुर्य, संविधान, कोमलत्व, उदारता, प्रौढ़ि और सामयिकत्व ये छः अर्थगुण[१३] तथा प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, प्राशस्त्य, पाक और राग ये छः उभयगुण[१४] मानते हैं। आचार्य वामन ने दस शब्द गुण[१५] और दस अर्थ गुणों[१६] का प्रतिपादन किया है। काव्यगुणों की संख्या के विषय में राजा भोज[१७] का दृष्टिकोण अन्य आचार्यों से भिन्न रहा है। उन्होंने गुणों की संख्या २४ निर्धारित करते हुए सभी गुणों को शब्दगुण माना है। परन्तु ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्यगुणों की संख्या नियत करके माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों का काव्य में निर्धारण किया। इस सम्बन्ध में आचार्य मम्मट का मन्तव्य अवलोकनीय है-

माधुर्यौजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश।[१८]
केचिदन्तर्भजन्त्येषु दोषत्यागात्परे श्रिताः।।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचित् ततो दश।।[१९]

अर्थात् माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीन ही गुण होते हैं, क्योंकि कुछ गुणों का अन्तर्भाव इन त्रिविध गुणों में ही हो जायेगा। कुछ गुण दोषाभाव मात्र हैं तो कुछ कहीं दोषरूप ही होते हैं।

इस प्रकार काव्यगुणों के लक्षण, महत्त्व और संख्या की विवेचना करने के उपरान्त प्रकृत शोधलेख

---

८ ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः। उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।। काव्यप्रकाश ८.६६

९ रसस्यांगित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा। साहित्यदर्पण, ८.१

१० श्लेषः, प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्। अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते।। नाट्यशास्त्र १७.९६

११ श्लेषः, प्रसादः, समता माधुर्यं सुकुमारता। अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिः समाधयः।। काव्यादर्शः १.४१

१२ अग्निपुराण, ३४६. ५-६

१३ अग्निपुराण, ३४६. १०-११

१४ अग्निपुराण, ३४६. १८-१९

१५ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३.२.२

१६ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३.१.५

१७ सरस्वतीकण्ठाभरणम् १.५८-६०

१८ काव्यप्रकाश ८.७१

१९ काव्यप्रकाश ८.६८,७२

के विषय 'ओजगुण के स्वरूप' पर विभिन्न काव्यशास्त्रीय आचार्यों के मन्तव्य और ओजगुण के काव्यदृष्ट्या महत्त्व पर भी विचार किया जाना समीचीन होगा।

ओजगुण का व्युत्पत्तिपरक अर्थ-

'ओज गुण का व्युत्पतिपरक अर्थ है- ओजस् (नपु.) 'उब्ज्' धातु से '**उब्जेर्बले बलोपश्च**'[२०] सूत्र से बकार का लोप करने के उपरान्त गुण संज्ञा होकर ओजस् शब्द निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है- शारीरिक सामर्थ्य, बल, शक्ति, आभा, प्रकाश तथा काव्य के रूप में शैली का विस्तृत रूप, समास की बहुलता आदि।

आचार्य भरतमुनि

भरतमुनि ने ओजगुण के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस रचना में बहुत ही समस्त एवं विचित्र पदों का प्रयोग किया हो और साथ ही जहाँ परस्पर सापेक्ष वर्णो वाले पदों एवं उदार पदों की योजना का निबन्धन किया जाता हो, वहाँ ओज गुण होता है।[२१] इस प्रकार भरतमुनि ने ओज गुण में समासयुक्त, विचित्र सानुराग एवं उदार पदावली की उपस्थिति को आवश्यक माना है। यह आवश्यक नहीं के उक्त पदों की योजना एक ही साथ हो। आचार्य अभिनवगुप्त ने सानुराग पद की व्याख्या करते हुये लिखा है कि-सानुराग पद ऐसा पद है, जिसमें एक वर्ण, वर्णान्तर की अपेक्षा रखता हो।[२२] सानुराग विशेषता से ओज में विशेष प्रकार की ध्वनि योजना को आवश्यक माना गया है। नाट्यशास्त्र के काव्य माला-संस्करण में 'सानुरागैः' के स्थान पर '**सा तु सवरैः**' पाठ आया है।[२३] यह विशिष्ट स्वर-योजना भी ध्वनि से उत्पन्न होने वाले प्रभाव की ओर ही संकेत करती है। यहाँ यह स्पष्ट है कि वर्णों के विशेष प्रकार के योग से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, उसमें श्रोता की मानसिक स्थिति को विशेष प्रकार से प्रभावित करने की शक्ति आ जाती है। अभिनवगुप्त का मानना है कि सानुराग वर्णों के प्रयोग से वाक्य में प्रतिबद्धता आ जाती है। यह पद संक्षेप में बहुत अर्थ को प्रकट करता है। अतः ऐसे स्थल पर संक्षेपात्मक अर्थ-गुण ओज माना जाना चाहिए। कहीं-कहीं एक अर्थ के कथन के लिए अनेक उदार पदों से भी ओजस्वी रचना होती है। अतः अर्थ-गुण ओज विस्तारात्मक भी होता है।[२४] इस प्रकार ओज में पदों के गुम्फन एवं वैचित्र्य, उनकी उदारता तथा ध्वनि-संगीत का होना आवश्यक माना गया है। नाट्यशास्त्र के दूसरे पाठ में ओज गुण में शब्द एवं अर्थ दोनों की सम्पदा की स्वीकृति है। इसके अनुसार जहाँ गर्हित या हीन वस्तु भी शब्द एवं अर्थ की सम्पति से उदात बन जाती है, उसे ओज कहते हैं।[२५]

---

२० उणा०४.१९३
२१ समासवद्भिर्विविधैः विचित्रैश्च पदैर्युतम्। सा तु स्वरैरुदारैश्च तदोजः परिकीर्त्यते।। ना. शा. १६, १९
२२ सानुरागैर्यत्र वर्णो वर्णान्तरमपेक्षते तत्र सानुरागत्वम्- अभिनवभारती, पृ. ३४०
२३ भरत ना. शा. काव्यमाला-संस्करण। पृ. २६६
२४ अभिनव भारती पृ. ३४१, स तदेव गाढत्वमुच्यते.........ओजोऽर्थगुणः।
२५ भरत ना. शा. १६, १०६- अवगीतोऽपि हीनोऽपि....परिकीर्तितम्।

भामह-

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के पश्चात भामह के काव्यलंकार में गुण के स्वरूप का विवेचन मिलता है। उन्होने केवल तीन ही गुणों का उल्लेख किया है- माधुर्य, ओज, और प्रसाद। आचार्य भामह दीर्घसमासयुक्त पदावली को ओज गुण में स्वीकार करते हैं।[२६]

दण्डी-

ओज गुण के स्वरूप को परिभाषित करते हुए आचार्य दण्डी कहते है कि समस्त पदों की बहुलता ओज है, यह गद्य का प्राण है।[२७] समास शब्दगत ही होता है। अत: ओज शब्द गुण है और पदों के समास पर आधारित है। पदों का निर्माण करने वाले दीर्घ एवं लघु वर्णों की बहुलता, अल्पता आदि के आधार पर ओज के कई भेद हो जाते हैं।[२८] इस प्रकार काव्य मे ओजगुण की स्थिति के सम्बन्ध में दण्डी की धारणा यह है कि वे ओज को दोनों मार्गों का गुण मानते हैं। गौण काव्य के गद्य एवं पद्य, दोनों रूपों में इसका स्वागत करते हैं। वैदर्भ मार्ग में गद्य में यह अविशेष भाव से गृहीत होता है, पद्य में इसका केवल अनाकुल और हृद्य भेद ही स्वीकृत होता है।[२९]

वामन-

जैसा कि नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने गुणों को दोषाभाव रूप माना है।[३०] इसके विपरीत आचार्य वामन ने गुणों की भावात्मक सत्ता स्वीकार की और दोषों को गुणाभावस्वरूप माना।[३१] उन्होंने काव्य में गुण का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। **'काव्यशोभाया: कर्तारो धर्मा गुणा:'** गुणों को उत्कृष्ट काव्य का आवश्यक धर्म कहा है।[३२] उनके गुण, काव्य की आत्मा रीति में **'विशेषो गुणात्मा'** वैशिष्ट्य का आधान करने वाला धर्म है।[३३] भरत और दण्डी के दस गुणों को स्वीकार करते हुए वामन ने शब्द एवं अर्थ भेद से गुणों की संख्या बीस मानी है।

शब्दगत ओज वामन के लिए पद-रचना की गाढता है।[३४] उन्होनें शब्दगत सभी गणों को बन्ध या पद रचना का गुण माना है।[३५] इसलिए पदगत ओज को बन्ध की गाढता कहा गया है। कामधेनु टीका में

---

२६ भामह, काव्यालंकार २, २१

२७ ओज: समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्। काव्यादर्श, १.८४

२८ काव्यादर्श, १.८०

२९ काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन, डॉ. शोभाकान्त मिश्र, पृ. ४३

३० भरत ना. शा.- १६, ९५

३१ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २, १, १

३२ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति -३,१,१.

३३ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १. २. ८

३४ गाढबन्धत्वमोज:। काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ३, १, ५

३५ वहीं- ३, १, ४

हरभूपाल ने बन्ध की गाढता को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार स्वर्ण-शलाका को सघनता से गूँथकर घना जाल सा बना लिया जाता है, उसी प्रकार पदों की सुग्रथित सघन रचना ओज में होती है। पद-रचना में निबिडता संयुक्ताक्षरों के आाधिक्य रेफ वर्णो के निरन्तर प्रयोग तथा समास आदि के कारण आती है।[३६] वामन ने इसे वैदर्भी, गौडी एवं पांचाली, इन तीनों रीतियों का सामान्य गुण माना है। अर्थगत ओज गुण को वामन ने अर्थ की प्रौढता कहा है।[३७] यह प्रौढि पाँच प्रकार की मानी गयी है- १. पदार्थे वाक्यरचना, २. वाक्यार्थे पदाभिधा ३. व्यास ४. समास एवं ५. साभिप्रायत्व।[३८] इस प्रकार वामन ओज-गुण योजना में सुसम्बद्ध और तार्किक मत प्रस्तुत करते हैं।

भोज

भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में गुणों का वर्णन किया है। शृंगारप्रकाश मे उनकी गुण-धारणा का विकास हुआ है। भोज ने गुणों को तीन वर्गों में विभक्त किया है- बाह्य, आभ्यान्तर और वैशेपिक। शब्दगत गुणों को बाह्य गुण और अर्थगत गुणों को आभ्यान्तर माना है। राजा भोज ने गुणों के २४ प्रकार माने हैं। ओज गुण धारणा को स्पष्ट करते हुए उन्होंने शब्द ओज को **'समासभूयस्त्व'** कहा है।[३९] इसके विपर्यय को भोज ने असमस्त दोष माना है।[४०] भोज समान स्थिति में ही समासभूयस्त्व के विपर्यय-असमस्त को दोष मानते हैं और पृथक्पदत्व माधुर्य को गुण। अत: भोज की मान्यता में अन्तर्विरोध सा अनुभव होता है। उनके अनुसार अर्थगत ओज के वर्णन में वक्ता की निश्चयात्मकता का प्रतिपादन है।[४१] भोज ने इसके स्वरूप की कल्पना हमेशा स्वतन्त्र भाव से ही की है।

अग्नि पुराण

अग्निपुराणकार ने ओज को आचार्य भोज एवं दण्डी की तरह ही **'समासभूयस्त्व'** कहा है। दोनों में भेद यह है कि दण्डी ने जहाँ उसे गद्य का प्राण माना वहीं अग्निपुराण मे उसे पद्यादि का प्राण मान लिया है। दण्डी ने केवल गौड मार्ग मे पद्य में भी ओज को समादृत माना था। अग्निपुराणकार ने उसे सर्वत्र पद्यादि का प्राण कह दिया है। अत: यह बात स्पष्ट है कि उनके अनुसार समासाधिक्य ही ओज है- **'ओज: समासभूयस्त्वमेतत्पद्यादिजीवितम्।'**[४२]

जयदेव

इन्होनें वामन का अनुसरण करते हुए अर्थ की प्रौढ़ि को ओज गुण कहा है। यह गुण अर्थगत है।

---

३६ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, कामधेनु-टीका पृ. ७२
३७ अर्थस्य प्रौढिरोज:। काव्यालंकारसूत्रवृत्ति - ३, १, ५
३८ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति - ३, २, २
३९ सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ. ५९
४० वाक्ये य: खण्डयन...तद्विद:।। सरस्वतीकण्ठाभरणम्- पृ. ३१
४१ ओज: स्वाध्यवसायस्य विशेषोऽर्थेपु यो भवेत्। सरस्वतीकण्ठाभरणम्- पृ. ३८
४२ अग्निपुराण- ३४६.१०

जयदेव ने ओज को विस्तृत अर्थ का संक्षेप कथन भी कहा है। इस प्रकार ओज को शब्दगत भी माना गया है।[४३] डॉ० ही० राघवन ने इसे केवल अर्थगत गुण कहा है। और यह भी कहा है कि अर्थ प्रौढ़ि में ही संक्षेप गतार्थ है। उसका अलग से उल्लेख अनावश्यक है।[४४]

विद्यानाथ

आचार्य विद्यानाथ ने अपने ग्रन्थ प्रतापरुद्रयशोभूषण में ओज गुण के लिए कहा है- '**ओजः समासभूयस्त्वम्' अर्थात्** आचार्य भोज के शब्दगत ओज को ही उन्होंनें स्वीकार कर लिया।[४५]

आनन्दवर्धन

ध्वनिकार ने ओज को चित्त की दीप्ति मानते हैं। यह रौद्र, वीर और अद्भुत आदि रसों में हृदय की दीप्ति के रूप में रहता है।[४६] दीर्घसमास-रचना और अलंकृत वाक्यों का ओज-प्रकाशक कहा है। इनके अनुसार सहृदय के चित्त की दीप्ति दीर्घसमास रचना से भी व्यक्त हो सकती है और असमास रचना से भी।[४७]

मम्मट

आचार्य आनन्दवर्धन की तरह मम्मट ने भी गुण को काव्य के अङ्गी रस का धर्म स्वीकार किया है। उन्होंने रस के साथ गुण को '**अचलस्थितयः**' कहा है।[४८] यहाँ उनके ओज गुण स्वरूप पर प्रकाश डालते है- '**दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजोवीररसस्थितिः।**'[४९] अर्थात् ओज चित्त की दीप्ति रूप विस्तार का हेतु है। यह वीर रस में रहता है। इस प्रकार चित को प्रज्ज्वलित करने वाला गुण ओज कह गया है। मम्मटानुसार बीभत्स और रौद्र रसों में ओज का क्रमशः आधिक्य पाया जाता है।[५०] बीभत्स और रौद्र रसों में क्रमशः तितिक्षा और जिघांसा रहती है। वीर में केवल जिगीषा का भाव रहता है। वीर में शत्रु पर विजय प्राप्त करना- मात्र उद्देश्य रहता है। बीभत्स में जुगुप्सित वस्तु के त्याग का भाव रहता है पर रौद्र में अपकार करने वाले के वध का प्रयास होता है। अतः जिगीषा- प्रधान वीर की अपेक्षा तितिक्षा प्रधान बीभत्स में चित्तवृत्ति की अधिक दीप्ति होती है और जिगीषा-प्रधान रौद्र में उससे भी अधिक दीप्ति चित्त में आती है। यही कारण है कि वीर, बीभत्स और रौद्र रसों में उत्तरोत्तर ओज का आधिक्य पाया जाता है।[५१]

---

४३ जयदेव, चन्द्रलोक पृ. ३२

४४ डॉ. ही. राघवन,

४५ प्रतापरुद्रयशोभूषण- विद्यानाथ, पृ. ३२७ एवं भोज सरस्वती कण्ठाभरण, पृ. ५९

४६ दीप्तिः प्रतिपत्तुर्हृदये....दीप्तिरित्युच्यते। अभिनव, लोचन, पृ. ८०

४७ ध्वन्यालोक, पृ. ११९-२०

४८ काव्यप्रकाश- ८.६९

४९ काव्यप्रकाश- ८.६९,

५० काव्यप्रकाश, वामन झलकीकरकृत टीका, पृ. ४७६

५१ साहित्यदर्पण, ८.४-५

विश्वनाथ

विश्वनाथ ने अपनी रचना साहित्य दर्पण में गुण विवेचन को आनन्दवर्धन और मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य के अङ्गीधर्म रस के उत्कर्षाधायक धर्म के रूप में किया है। ओज गुण की विवेचना में इन्होंने कहा है-**ओजश्चित्तस्य विस्तार-रूपं दीप्तत्वमुच्यते**[५२] अर्थात् चित्त का विस्तार रूप दीप्तत्व ओज गुण है। उनकी ओज-व्यञ्जक वर्ण निर्धारण धारणा मम्मट से पूर्णत: मेल खाती है। वे मानते है कि वर्ण के वर्ग के प्रथम एवं तृतीय वर्णों से युक्त द्वितीय एवं चतुर्थ वर्ण अर्थात् अल्पप्राण वर्ण से संयुक्त महाप्राण वर्ण, ऊपर और नीचे रेफ से युक्त वर्ण, तथा संयुक्त या असंयुक्त ट, ठ, ड, ढ वर्ण तथा ष और श वर्ण ओज गुण के व्यञ्जक हैं। दीर्घ समास एवं विकटार्थबोधिनी संघटना भी ओज गुण की व्यञ्जना करती है।

इस प्रकार भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक गुण-विषयक स्वतन्त्र उद्भावनाओं की समीक्षा के फलस्वरूप मत वैभिन्य के उपरान्त भी गुणों को काव्य की आत्मा रस के उत्कर्षाधायक धर्म के रूप में माना गया है। काव्य-सौन्दर्य के मानदण्डों में इन्हें प्रमुखता से देखा गया। गुण विवेचन की प्राचीन परम्परा में ओज गुण चूकि प्रमुख आचार्यों द्वारा चित्त की दीप्ति तत्त्व के रूप में प्राप्त हुआ है। ऐसे में हमारा चित्त भी सहज ही ओज के स्वरूप-दृष्टिकोण को जानने में एकाग्राचित्त हुआ। विवेचन से स्पष्ट हुआ की काव्य सौन्दर्य वास्तविक रूप मे चित्त का ही विषय है। ओज गुण उसमें बल की पूर्ति करता है, जिसकी स्थिति अदृश्य है। रस से लेकर शुक्र तक सब धातुओं का जो उत्कृष्ट तेज है वही ओज है। हृदय में जो शुभ्र-श्वेत-लाल थोड़ा सा मिला है, वही ओज है।

---

५२ साहित्यदर्पण, पृ. ५३८

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ0138-142) ISSN 0974 – 8830

विष्णुपुराण के सात अंक

डॉ० शालिमा तबस्सुम[१]

संख्या सम एवं विषम दो प्रकार की होती है। सम दो, चार, छह इत्यादि और विषम में एक, तीन, पाँच, सात नौ इत्यादि अंक होते हैं। विषम संख्या किसी भी मांगलिक कार्य हेतु शुभ मानी जाती है। विष्णु पुराण में यद्यपि तीन, पाँच, नौ इत्यादि संख्याओं का उल्लेख उपलब्ध है, तथापि सात की संख्या को महत्त्व देते हुए प्रस्तुत अंक से संबंधित अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। सृष्टि की प्रक्रिया से लेकर यादव वंश के संहार चित्रण तक के तथ्यों में सात अंक पर विशेष बल देते हुए विस्तार पूर्वक चर्चा की गई है, परन्तु इससे पूर्व वैदिक साहित्य की ओर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि वहाँ पर भी संख्याओं में सात का अंक विशेष महत्त्व था। सर्वप्रथम ऋग्वेद में सात स्थलों पर सप्त संवादों का उल्लेख प्राप्त होता है, ये संवाद हैं- **इन्द्र-मरुत संवाद,** [२]**इन्द्र-अदिति वामदेव संवाद,** [३]**विश्वामित्र-नदी संवाद,** [४]**नेम-भार्गव प्रश्नोत्तर संवाद,** [५]**यम-यमी संवाद,**[६] **पुरूरवा-उर्वशी संवाद,** [७]**एवं सरमा-पाणि संवाद।**[८] प्रथम मण्डल[९] में सूर्य रथ के सात अश्वों का वर्णन है, सूर्य से ही सात किरणें (भगिनियां) उदित होती हैं। इन किरणों से सात रंग निकलते हैं, जिनसे इन्द्रधनुष् बनता है। अग्निदेव की सात समुद्रों के समान सात जिह्वा हैं। नवमं मण्डल[१०] में सात दिशाएं एवं दशम मण्डल[११] में सप्त दानून, अर्थात् सात दानवों का नामोल्लेख किया गया है। दशम मण्डल के ही एक मन्त्र में **'वाणस्य सप्तधातुः'** पर सायण द्वारा बाण का अर्थ वाद्य तथा सप्तधातु का अर्थ निषादादि सप्त स्वर किया है-**'वाणस्य वाद्यस्य सप्तधातुर्निषादादि सप्तस्वरोपेतो।'**[१२] वैदिक गान के लिए प्रयुक्त ये सात स्वर नारदीय शिक्षा में क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र एवं अतिस्वार के नामों से जाने जाते हैं-

---

१. एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत, कुमायूँ विश्वविद्यालय, एस०एस०जे० परिसर अल्मोड़ा

२. ऋग्वेद १.१६५

३. वही १.१७९

४. वही ३१.३३

५. वही ८.१००

६. वही १०.१०

७. वही १०.९६

८. वही १०.१०८

९. वही १.७१.७, १.१६४, २-३

१०. वही ९.११३.३

११. वही १०.१२०.६

१२. भारतीय संगीत का इतिहास, डॉ० ठाकुर जयदेव सिंह, पृ०सं० २६, तदित्सधस्थमभि चारू दीधय गावो यच्छासन्वहतुं न धेनवः। माता यन्मन्तुर्यूथस्य पूर्व्याभिबाणस्य सप्तधतुरिज्ञनः।। ऋ०१०.३२.४

प्रथमश्च द्वितीयश्च तृतीयोऽथ चतुर्थकः।
मन्द्रः क्रुष्टो ह्यतिस्वार एतान् कुर्वन्ति सामगाः॥[१३]

सामगान के उपर्युक्त सातों स्वरों को षड्ज, ऋषभ, गन्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत एवं निषाद संज्ञाएं दी गई हैं-

षडज ऋषभगान्धारौ मध्यमो धैवतस्तथा।
पञ्चमश्चापि विज्ञेयास्तथा चापि निषादवान्॥[१४]

महाभारत में भी षडज, ऋषभ, गन्धार इत्यादि सात स्वरों का उल्लेख है। अथर्ववेद[१५] में विवाह कर्मों से संबंधित शुभ कार्य हेतु सप्तपदी का वर्णन है- **'सतां ही सप्तपदीनाम् सख्यम्'** अर्थात् विवाह के समय वर वधू के साथ अग्नि के सात फेरे लेते हुए मित्रवत् रहने का वचन देता है। गृह्यसूत्रों के अन्तर्गत **आश्वलायन गृह्यसूत्र**[१६] में सप्तपदी का उल्लेख है। इन सात पदों (फेरों) में प्रथम पद भोजन का, द्वितीय शक्ति का, तीसरा पद धन समृद्धि हेतु, चतुर्थ पद प्रसन्नता का, पञ्चम संतान का, छठा मौसम का तथा सातवाँ फेरा जन्मभर मित्रवत् भागीदारी का प्रतीक है। पारस्कर १.८.१-२ इत्यादि गृह्यसूत्रों में सप्तपदी का इसी सन्दर्भ में उल्लेख है।

रामायण[१७] में सप्तजन एवं सप्तजनाश्रम का वर्णन मिलता है। स्वर्गप्राप्ति के लिए जल के भीतर मस्तक को नीचे करके तप करने वाले सात मुनियों को सप्तजन कहा गया है और उन मुनियों का स्थान सप्तजनाश्रम कहलाता है। ये सात मुनि सात दिन एवं सात रातों को व्यतीत करके केवल वायु का आहार लेते हुए सात सौ वर्षों तक तप करने वाले हैं, तथा इस प्रकार स्वर्ग लोक को प्राप्त कर लेते हैं। **किष्किन्धा काण्ड**[१८] में मणिभद्र के सात जादूगर पुत्रों का वर्णन है, जो अगस्त्य ऋषि के श्राप के कारण सात वृक्षों की सप्तसाल (छाल) बन जाते हैं। तदन्तर भगवान विष्णु राम के रूप में अवतरित होकर सातों पुत्रों को श्राप से मुक्त करते हैं।

अष्टादश पुराणों के अन्तर्गत **अग्निपुराण**[१९] में ब्रह्म द्वारा धारण किए गए सप्त नागों अन्तक, तक्षक, कर्क, पदम, महापदम, शंखक एवं गुलिक का वर्णन है। साम, दाम, दण्ड, भेद, माया, उपेक्षा तथा इन्द्रजाल इन सप्त उपायों का विस्तारपूर्वक वर्णन **अग्निपुराण**[२०] में प्राप्त होता है। सात की महत्ता के सन्दर्भ में वामन पुराण[२१] में सात देवीमाताओं ब्राह्मणी, वैष्णवी, माहेश्वरी, कौमारी, वाराही, इन्द्राणी एवं चामुण्डा

---

१३. नारदीय शिक्षा १.१.१२
१४. महाभारत शान्तिपर्व १८४.३९
१५. अथर्ववेद ११.९
१६. वही १.७.१९
१७. किष्किन्धा काण्ड १३.१८.१९
१८. वही ११.१२
१९. अध्याय ५१
२०. अध्याय २४१
२१. अध्याय ५६

देवी का उल्लेख मिलता है। समस्त पुराणों के साथ विष्णु पुराण में ऐतिहासिक कथाओं, राजाओं एवं राजवंशों के चित्रण के साथ भौगोलिक स्थिति का वृत्तान्त है, इन आख्यानों में सात अंक एवं उसकी महत्ता प्रदर्शित करते हुए सृष्टि की रचना के समय सर्वप्रथम सात वन्य पशुओं की उपस्थिति प्राप्त होती है।[२२] श्वापद (व्याघ्र) खुरों से युक्त वन गाय, हाथी, बन्दर, पक्षी, जलजीव, सरीसृप। तदन्तर प्रजा रचना करते हुए ब्रह्म के द्वारा उनके स्थान एवं गणों के अनुसार मर्यादा, वर्ण, आश्रम धर्म, स्वधर्म पालन के अनुरूप सप्तलोक को निश्चित किया गया है।[२३]

कर्मनिष्ठ ब्राह्मणों का स्थान- पितृलोक, युद्ध क्षेत्र से विरत न होने वाले क्षत्रिय के लिए- इन्द्रलोक, स्वधर्म का पालनकर्ता वैश्यों का- वायुलोक, सेवाधर्म परायण शूद्रों हेतु- गन्धर्वलोक, वनवासी वानप्रस्थों के लिए- सप्तर्षि लोक, गृहस्थों के लिए- पितृलोक, सन्यासियों के लिए- ब्रह्मलोक।

कल्प आदि में चिन्तन करते हुए ब्रह्म की गोद में नील-लोहित वर्ण के पुत्र का प्रादुर्भाव होता है, उत्पन्न होते ही वह तीव्र स्वर में रोता है। उसे राने से रोकने हेतु ब्रह्म उसका नाम रुद्र रखते हैं। रुद्र पुनः सात बार उच्च स्वर में रोता है। अतः सात बार रोने के कारण ब्रह्म द्वारा उसके **'सात'** अन्य नाम रखे जाते हैं- भव, शर्व, ईशान, पशुपति, भीम, उग्र तथा महादेव।[२४] विष्णु पुराण के अनुसार श्रीहरि **'सात'** रूपों में सर्वत्र विराजमान है[२५]- कला, काष्ठा, निमेष, दिन, ऋतु, अयन एवं वर्ष। श्री हरि के द्वारा **सात** अस्त्रों को धारण किया जाता है- किरीट, शंख, चक्र, गदा, शार्ङ्ग, धनुष एवं खड्ग।[२६] **विष्णु पुराण**[२७] में भी उल्लेख आता है कि दैत्यमाता दिति बिना चरणों को शुद्ध किए निद्रा से वशीभूत होकर सो जाती है, यह देखकर इन्द्र उनकी कुक्षि में स्थित गर्भ को सात खण्डों में विभक्त कर देते हैं। विश्व प्रसिद्ध चौदह भुवन हैं जो दो भागों में ऊर्ध्वलोक एवं पाताल-लोक में विभक्त हैं। ऊर्ध्वलोक सात हैं- भू, भुवः, स्वः, महः जन, तप, एवं सत्य। सात ही पाताल लोक हैं- अतल, वितल, नितल, गभस्तिमान, महातल, सुतल एवं पाताल।[२८]

भौगोलिक क्षेत्र के विस्तृत वर्णन के अन्तर्गत **'सप्त'** द्वीप का विस्तार से वर्णन किया गया है।[२९] ये 'सात' द्वीप अत्यन्त प्रसिद्ध हैं- जम्बू, प्लक्ष, शल्मल, कुश, क्रौच, शाक तथा पुंष्कर। इन 'सातों' द्वीपों के 'सात' अधिपति थे, जो स्वयम्भु मनु के पुत्र प्रपौत्र थे, उनके नाम इस प्रकार हैं- आग्नीध्र, मेधातिथि, वपुष्मान, ज्येतिष्मान, धुतिमान, भव्य तथा सवन। ये 'सातों' द्वीप चारों ओर से 'सात' समुद्रों से घिरे हुए थे। प्लक्षद्वीप तथा शाल्मल द्वीप के स्वामियों के 'सात-सात' पुत्र उत्पन्न हुए। इन 'सात-सात' पुत्रों के नाम पर 'सात' वर्ष तथा इन 'सात' वर्षों की मर्यादा को निश्चित करने वाले 'सात-सात' पर्वत भी कहे गए हैं।

---

२२. विष्णुपुराण १.५.५१-५२
२३. वही १.७.३४-३८
२४. वही १.८.२-४
२५. वही १.२२.७९
२६. वही १.१२.४५
२७. वही १.२१.३०-४१
२८. वही २.७ वां अध्याय
२९. वही द्वितीय अंश सम्पूर्ण

ये 'सात' पर्वत हैं- सुमेरु, हिमवान्, हेमकूट, निषध, नील, श्वेत तथा शृंगी। इनके द्वारा सात विभिन्न वर्षों (भौगोलिक क्षेत्र) में विभाजन किया गया है- (क) भारतवर्ष (ख) किम्पुरुष वर्ष (ग) हरिवर्ष (घ) रम्यक (ङ) हिरण्मय वर्ष (च) उत्तरकुरुवर्ष एवं (छ) इलावृत्ति वर्ष। अलकनन्दा नदी दक्षिण दिशा की ओर भारतवर्ष में आती है ओर 'सात' भागों में विभक्त हो कर समुद्र में मिल जाती है। इन समस्त 'सात' वर्षों की सात समुद्रगामिनी नदियां हैं।[३०] विष्णु पुराण में इनका विस्तृत भौगोलिक वर्णन है, इनके नाम अनुतप्ता, शिखी, विपाशा, त्रिदिवा, अक्लमा, अमृता एवं सुकृता हैं।

चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भद्रपद, अश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ एवं फाल्गुन इन बारह मासों में भी 'सात-सात' गण सूर्यमण्डल में रहते हैं। इनके कार्य विभाजन का विस्तार से वर्णन किया गया है।[३१] 'सात' अंक की महत्ता इस बात से भी स्पष्ट हो जाती है कि विष्णुपुराण में वर्णित 'सात' छन्द ही वेदों में प्रयुक्त हुए हैं। गायत्री, वृहती, उष्णिक, जगती, त्रिष्टुप, अनुष्टुप तथा पंक्ति।[३२] ऋग्वेद में ये 'सातों' छन्द ही सूर्य के 'सात' घोड़े कहे गए हैं।[३३] यद्यपि मन्वन्तर चौदह हैं, तथापि उनका 'सात-सात' मन्वन्तरों में विभाजन किया गया है। किस मन्वन्तर में कौन से ऋषि हुए हैं और उनके द्वारा क्या-क्या कार्य किए गए हैं? यह समस्त वृतान्त विस्तापूर्वक विष्णु पुराण के तृतीय (अध्याय) अंश में उपलब्ध है, यहाँ केवल नाम प्रस्तुत किए जा रहे हैं। प्रारम्भिक 'सात' मन्वन्तरों में अग्रलिखित 'सात' ऋषि हुए हैं- वशिष्ठ, काश्यप, अत्रि, जमदग्नि, गौतम, विश्वामित्र एवं भारद्वाज। 'इन सात' मन्वन्तरों में भगवान की 'सात' मूर्तियां मानी गई हैं।[३४] सर्वप्रथम स्वम्भु मन्वन्तर में यज्ञपुरुष के रूप में भगवान् की मूर्ति, द्वितीय स्वारोचिष मन्वन्तर में श्री अजित मूर्ति, तृतीय उत्तम मन्वन्तर में सत्य मूर्ति, चतुर्थ तामस मन्वन्तर में हरि रूप में मूर्ति, पञ्चम रैवत मन्वतर में मानस मूर्ति, चाक्षुष मन्वन्तर में बैकुण्ठ रूप में तथा सातवें वैवस्वत में वामनरूप में भगवान् प्रकट होते हैं। प्रथमत: कथित 'सात' मन्वन्तर व्यतीत हो चुके हैं। तत्पश्चात् वर्णित तथा उनसे संबंधित सप्तऋषियों का विवरण इस प्रकार हैं-

१. सावर्णिक नामक मन्वन्तर में 'सात' ऋषि- दीप्तिमान्, गालव, राम, कृष, अश्वत्थामा, व्यास एवं ऋष्यशृंग हुए।

२. दक्षसावर्णि मन्वन्तर में सवन, द्युतिमान्, भव्य, वसु, मेधातिथि, ज्योतिष्मान् एवं सत्य 'सात' ऋषि हुए।

३. ब्रह्मसावर्णि मन्वन्तर में हविष्मान, सुकृत, सत्य, तपोभूमि, नाभाग, अप्रतिभौजा तथा सत्यकेतु नामक 'सात' ऋषि।

४. धर्मसावर्णि नामक मन्वन्तर निहस्वर, अग्नितेजा, वपुष्मान, घृणि, आरुणि, हविष्मान्, अनघ- सप्तऋषि।

---

३०. वही २.४
३१. वही २.१०
३२. वही २.८.५
३३. ऋग्वेद १.७२.६
३४. विष्णु पुराण ३.१.३५-४३

५. रुद्रपुत्र सावर्णि मन्वन्तर में तपस्वी, सुतपा, तपोमूर्ति, तरोरति, तपोधृति एवं तपोधन नामक 'सात' ऋषि।

६. रुचि नामक मन्वन्तर में निर्मोह, तत्वदर्शी, निष्प्रकम्प, निरूत्सुक, धुतिमान्, अव्यय एवं सुतपा।

७. भौम नामक सावर्णि मन्वन्तर में अग्निबाहु, शुचि, शुक्र, मागध, अग्निध्र, युक्तं एवं जित नामक 'सात' ऋषि।

विष्णु पुराण में चौदह रत्नों का उल्लेख है, **धर्मसंहिता**[३५] में ये चौदह रत्न (सात-सात) 'सात' प्राणहीन तथा सात प्राणयुक्त माने गए हैं। 'सात' प्राणहीन रत्न- चक्र, रथ, मणि, खड़ग, चर्म (ढाल), ध्वजा एवं निधि तथा स्त्री, पुरोहित, सेनापति, रथी, पदाति, अश्वारोही एवं गजारोही ये 'सात' प्राणयुक्त रत्न हैं। अवतारी कृष्ण के पिता वासुदेव का दे की सहित 'सात' भगिनियों के साथ विवाह का वर्णन विष्णु पुराण में प्राप्त होता है। इन 'सातों' के नाम वृकदेवा, उपदेवा, देवरक्षिता, श्रीदेवा, शान्तिदेवा, सहदेवा एवं देवकी हैं।[३६] अन्य आख्यान[३७] में प्रलम्ब वध के समय श्रीकृष्ण बलराम से कहते हैं कि वह पृथ्वी का भार उतारने के लिए ही इस मर्त्यलोक में आए हैं। जिसमें आकाश उनका सिर, मेघ- केश, पृथ्वी- चरण, अग्नि- मुख, चन्द्रमा- मन, वायु- श्वास-प्रश्वास तथा दिशाएं उनकी भुजाएं हैं। यद्यपि भगवान् सर्वत्र विराजमान हैं, तथापि 'सात' की संख्या को इंगित करते हुए आकाश, मेघ, पृथ्वी, अग्नि, चन्द्रमा, वायु तथा दिशा का मुख्यतः वर्णन किया गया है। कृष्ण की रूक्मणी सहित सोलह हजार पयिां हैं 'सात' अंक की महत्ता को प्रदर्शित करते हुए सोलह हजार पयिों के साथ ही 'सात' अन्य सुन्दर पयिों का नामोल्लेख मिलता है- कालिन्दी, मित्रविन्दा, सत्या, रोहिणी, भद्रा, सत्यभामा एवं लक्ष्मण।[३८] यादव वंशियों के संहार प्रसंग में श्रीकृष्ण रूपधारी विष्णु द्वारा 'सात' रात्रियों में यदुवंश का नाश किया जाता है।[३९] अन्यत्र उल्लेख है कि इन्द्र की प्रेरणा से ही मेघ 'सात' रात्रियों तक जल वर्षा करते हैं।[४०] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अन्य सम एवं विषम संख्याओं के वर्णन के साथ-साथ 'सात' अंक की विस्तारपूर्वक चर्चा विष्णु पुराण में की गई है और उसे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। मांगलिक कार्यों हेतु प्रारंभ से विषम विशेषतः 'सात' को शुभ माना जाता रहा है। आज भी विषम संख्याओं का प्रयोग शुभ कार्यों के प्रारंभिक रूप में किया जाता है। विष्णु पुराण में सृष्टि प्रारंभ में सात वन्य जीवों से लेकर यदुवंशियों का 'सात' रात्रियों में संहार विषम संख्या 'सात' को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बना देता है।

---

३५. विष्णु पुराण ४.१२.२-३ टिप्पणी पृ० २६८

३६. वही ४.१४.१८

३७. वही ५.९.२६

३८. वही ५.२८. ३-५

३९. वही ५.३७. २२-२३

४०. वही ५.११.२२

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ0143-154) ISSN 0974 – 8830

मौसमविज्ञान विशेषज्ञ कालिदास

डॉ. राकेश शास्त्री[१]

भारतीय मान्यता के अनुसार चैत्र, वैशाख मास में वसन्त ऋतु, ज्येष्ठ आषाढ़ मास में ग्रीष्म, श्रावण, भाद्रपद में वर्षा, अश्विन और कार्तिक मास में शरद् एवं मार्गशीर्ष और पौष माह में हेमन्त तथा माघ, फाल्गुन महिनों में शिशिर ऋतु का आगमन होता है।[२] इन्हीं सब ऋतुओं का मौसम की संज्ञा भी दी गयी है।

जबकि वर्तमान समय में मौसम को भी विज्ञान की श्रेणी में रखा गया है, क्योंकि इसमें ऋतुओं अर्थात् मौसम से सम्बन्धित ज्ञान विज्ञान की चर्चा होती है। इसमें ऋतु से जुड़े हुए अनेक प्रश्नों का समाधान वैज्ञानिक दृष्टि से किया जाता है। डॉ. जे. सी. भारतीय के अनुसार- ऋतु वह मास क्रम है, जो पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश के सभी तत्त्वों को गतिमय करके उनमें प्राणप्रद जीवन्त अणुओं को उद्दीप्त करता है।[३] शतपथ ब्राह्मण ने भी ऋतुओं का सम्बन्ध पशु-विज्ञान, वनस्पति विज्ञान और पर्यावरण विज्ञान के साथ जोड़ा है, क्योंकि ऋतुओं में वायु के अस्तित्व का कथन करके[४] यहाँ इनकी स्थिति को पृथ्वी से ऊपर मान्यता प्रदान की गयी है।[५]

हम देखते हैं कि कालिदास-त्रय ने ही मौसम को लेकर अपने विज्ञान को प्रदर्शित किया है, जिनमें ऋतुसंहारीय कालिदास ने तो सभी छः ऋतुओं को लेकर ऋतुसंहार नामक एक लघु खण्डं काव्य की ही संरचना कर डाली है, जिसमें ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त इन छः ऋतुओं में मनुष्य एवं अन्य प्राणियों पर पड़ने वाले प्रभावों को काव्यात्मक होते हुए भी वैज्ञानिक दृष्टि से निबद्ध किया है, जो उन्हें मौसम विज्ञानी की श्रेणी में ला खड़ा करता है।

इस विषय में नाटककार ने भी अपनी जागरूकता प्रदर्शित करते हुए वसन्त और ग्रीष्म इन दो ऋतुओं का वर्णन किया है, क्योंकि उन्हें ये दोनों ही ऋतुएँ अत्यधिक प्रिय रही हैं। अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति शाकुन्तलम् का तो प्रारम्भ ही वे ग्रीष्म ऋतु के वर्णन से करते हैं-

सूत्रधारः-आर्ये, नन्विममेव तावदचिरप्रवृत्तमुपभोगक्षमं ग्रीष्मसमयमधिकृत्य गीयताम्।[६]

इसी प्रसंग में उन्होंने स्त्रियों के स्वभाव के अनुसार स्वयं को सजाने के लिए भ्रमरों द्वारा चूमे जाते

---

१. अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, श्री गोविन्द गुरु राजकीय महाविद्यालय, बांसवाडा (राज.)
२. अमर कोश- पृ.-३९
३. कृष्ण यजुर्वेद एक अध्ययन, कपिष्ठल कठ संहिता के संदर्भ में, डॉ. जे.सी.भारतीय, पृ.-२०२
४. शतपथ ब्राह्मण, ८.३.२.१४।
५. शतपथ ब्राह्मण, ८.७.१.१०
६. शाकु.- १.३ से पूर्व

हुए शिरीष के पुष्पों को आभूषण रूप में धारण करने की बात का कथन करके उनके ऊपर पड़ने वाले ग्रीष्म के प्रभाव को प्रदर्शित किया है, जो उनके मौसम विज्ञान विषयक ज्ञान का परिचायक कहा जा सकता है-

ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि।
अवतंसयन्ति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि॥[७]

इसी प्रकार सभी प्राणियों पर पड़ने वाले ग्रीष्म के प्रभाव को जल में अवगाहन की बात द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान की है, साथ ही वे इस तथ्य से भी भली प्रकार परिचित रहे हैं कि ग्रीष्म ऋतु में गर्मी से संतप्त होने पर घनी छाया में निद्रा अत्यन्त आसानी से और बहुत गहरी आती है, वन की वायुएँ पाटल की भीनी-भीनी सुगन्ध से युक्त प्रवाहित होती हैं। ये सभी बातें वस्तुतः नाटककार के मौसम विज्ञान विषयक ज्ञान की ही परिचायक कही जा सकती हैं-

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गिसुरभिवनवाताः।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः॥[८]

इसके अतिरिक्त उनकी प्रथम नाट्य कृति मालविकाग्निमित्रम् का मंचन वसन्तोत्सव के अवसर पर ही हुआ है-

अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदाकालिदासग्रथितवस्तु मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन् वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति।[९]

उल्लेखनीय बिन्दु यह भी है कि अपनी इसी नाट्य कृति में आगे ग्रीष्म ऋतु में उन्होंने मध्याह्न के अवसर पर बावडियों में कमल की पंखुडियों की छाया में आँखें मूँद कर हंस का विश्राम करना, प्रखर धूप के कारण भवन के तप जाने से उसके छज्जों पर कबूतरों का बैठ नहीं पाना, चलते रहट से उछलती बूँदों को पीने के लिए मोर का उसके चारों ओर चक्कर लगाने की स्वाभाविक क्रियओं का उल्लेख करके इस ऋतु के प्रभाव को विभिन्न जीवों पर प्रदर्शित करके अपने सूक्ष्मतम मौसम विज्ञान विषयक ज्ञान को सुन्दर अभिव्यक्ति प्रदान की है, जो निश्चय ही उल्लेखनीय कही जा सकती है-

पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिका पद्मिनीनां
सौधान्यत्यर्थतापाद्वलभिपरिचयद्वेषिपारावतानि।
बिन्दुक्षेपान् पिपासुः परिसरति शिखी भ्रान्तिमद् वारियन्त्रं
सर्वैरुस्त्रैः समग्रैस्त्वमिव नृपगुणैर्दीप्यते सप्तसप्तिः॥[१०]

इसी प्रकार द्वितीय नाट्य कृति में प्रयुक्त ग्रीष्म वर्णन भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है, जहाँ पेड़ की जड़ के ठण्डे थाँवले में आकर बैठे मोर तथा कनेर की कली के मुँह को खोलकर किसी प्रकार उसके

---

७. शाकु.- १.४
८. शाकु.- १.३
९. माल.- १.१ के बाद
१०. माल.- २.१२

छिपने के प्रयास में लगे भ्रमर और तालाब के गरम पानी को छोड़कर तट पर खिली कमलिनी की छाया में जाकर बैठे जल कुक्कुट एवं पिंजड़े में पड़े प्यासे तोते का बार-बार पानी-पानी की रट लगाना वर्णित किया गया है, जो नाटककार के सूक्ष्म प्राणि-विज्ञान के साथ-साथ मौसम विज्ञान का भी परिचायक कहा जा सकता है-

उष्णालुः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी
निर्भिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्यालीयते षट्पदः।
तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डवः सेवते
क्रीडावेश्मनि चैष पंजरशुकः क्लान्तो जलं याचते।।[११]

उक्त दोनों ही स्थलों पर महाकवि ने वस्तुतः ग्रीष्म ऋतु में हंस, कबूतर, शुक, जल कुक्कुट, भ्रमर, मोर आदि जीवों पर पड़ने वाले प्रभावों एवं उनके स्वाभाविक क्रिया कलापों को सुन्दर ढंग से चित्रित किया है, जो उनकी प्राणि-विज्ञान एवं सूक्ष्म मौसम विज्ञान विषयक दृष्टि का ही घोतक है। इसके अलावा द्वितीय नाट्य कृति में वे उर्वशी को खोजते हुए गन्ध मादन पर्वत पर वर्षा ऋतु का वर्णन भी अत्यन्त विस्तार से करते हैं-

सोऽपि तस्मिन्नेव कानने प्रियतमां विचिन्वन्नहो रात्रानतिवाहयति एतेन पुनर्निर्वृत्तानामप्युत्कण्ठाकारिणा मेघोदयेनानर्थाधीनो भविष्यति।[१२]

इसी स्थल पर नाटककार मौसम सम्बन्धी इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से भी भली भाँति परिचित रहे हैं कि वर्षा ऋतु में बादल सुखी लोगों के मन में भी प्रिय मिलन की चाह भरने वाले होते हैं, फिर प्राण स्वरूपा प्रियतमा उर्वशी से वियुक्त पुरुरवा की वेदना का कथन करना तो शब्दातीत ही कहा जा जाएगा, तभी तो वह यहाँ अपनी सुध-बुध खो बैठा है। यहाँ प्रयुक्त एक-एक शब्द पुरुरवा की मर्मान्तक पीड़ा को अभिव्यक्त करता प्रतीत होता है-

अये, परावृत्तभागधेयानां दुःखं दुःखानुबन्धि। कुतः-
अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः।।[१३]

कहने का अभिप्राय यही है कि इन सभी उद्धरणों से नाटककार कालिदास का मौसम विज्ञान विषयक ज्ञान ही अभिव्यक्त हुआ है। यहाँ उन्होंने प्रचण्ड पवन से छितराई कलगी वाले, अपनी गर्दन ऊँची उठाकर केकारव करते हुए, वर्षा ऋतु में आनन्द लेने वाले मोर[१४] का भी अत्यन्त मनभावन वर्णन किया है, उनके अद्भुत मौसम विज्ञान विषयक ज्ञान को प्रदर्शित करने के साथ-साथ उनके प्राणि- विज्ञान का भी अभिव्यञ्जक है-

---

११. विक्रमो- २.२२
१२. विक्रमो.-१.३ के पूर्व।
१३. विक्रमो.- ४.१०
१४. विक्रमो.- ४.८, २१, २२

आलोकयति पयोदान् प्रबलपुरोवातताडितशिखण्ड:।
केकागर्भेण शिखी दूरोन्नमितेन कण्ठेन॥[१५]

इतना ही नहीं वर्षा ऋतु के अवसर पर वन के विभिन्न उपादानों बादल, मंजरियों से आच्छादित निचुल के पेड़, मधुर गान करने वाले मोरों, झरनों और पहाड़ियों में क्रमश: राजा से सम्बन्धित छत्र, चँवर, भाट-चारण, मोती और प्रजाओं की मनमोहक कल्पना करके वे सहृदय पाठक को भावविभोर कर देते हैं-

विद्युल्लेखा कनकरुचिरं श्री वितानं ममाभ्रं
व्याधूयन्ते निचुलतरुभिर्मंजरी चामरत्नानि।
घर्मच्छेदात् पटुतरगिरो वन्दिनो नीलकण्ठ:
धाराहारोपनयनपरा नैगमा: सानुमन्त:॥[१६]

इसके अतिरिक्त हरी घास पर फैली वीर बहूटियों[१७] जामुन की शाखा पर बैठी आँख मूँदकर जामुन का रस पीती हुई मतवाली कोयल[१८] बादलों के अँधियारे को देखकर चोंच ऊपर उठाए मानसरोवर को जाने के लिए उतावले राज हंसों[१९] आदि के वर्णन नाटककार के मौसम विज्ञान विषयक ज्ञान को ही प्रदर्शित करते हैं, क्योंकि किस मौसम में किस प्राणी एवं वनस्पति पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस बात से कालिदास पूर्णतया परिचित प्रतीत होते हैं।

इसी क्रम में वर्षा के आगमन पर कमल के पत्तों की ओट में आने पर घबराकर चिल्लाने वाले चकवे[२०], भ्रमरों की गूँज से भरे कमल[२१] कदम्ब की डाल पर अपनी सूँड रखे हुए हथिनी के साथ खड़े अपनी सूँड से सुरा की गन्ध के समान गन्ध वाली शल्लकी के पेड़ की शाखा का कलेवा कराने वाले बलवान् हाथियों[२२] पर वर्षा के प्रभाव का वर्णन करके नाटककार ने अपनी नव-नवोन्मेषिणी प्रतिभा एवं मौसम विज्ञान विषयक सूक्ष्म दृष्टि का परिचय प्रस्तुत किया है, जो उन्हें मौसम विज्ञानी सिद्ध करता प्रतीत होता है।

इसी प्रकार गर्मी के व्यतीत होने और वर्षा ऋतु के आने पर फूले हुए लाल कदम्ब के वर्णन प्रसंग में[२३] मधु के लालची भौरों के सूक्ष्म क्रिया कलापों का मनभावन वर्णन भी उनके सूक्ष्म मौसम विज्ञान विषयक ज्ञान को प्रदर्शित करता है। इसके अतिरिक्त वसन्त के वर्णन प्रसंग में भी नाटककार ने मतवाले

---

१५. विक्रमो.- ४.१८
१६. विक्रमो.-४.१३।
१७. विक्रमो.- ४.१७ के बाद।
१८. विक्रमो.- ४.४, २७
१९. विक्रमो.- ४.३०
२०. विक्रमो.-४.३७, ३९
२१. विक्रमो.- ४.४०
२२ .विक्रमो.-४.४४
२३. विक्रमो.- ४.६१

कोयल की कूक, खिली हुई आम्र की मंजरियों की सुवास धारण किए दक्षिण की वायु का उल्लेख[२४] करके अपने मौस ा विज्ञानी होने का परिचय दिया है।

उल्लेखनीय यह भी है कि अपनी प्रथम नाट्य कृति में मालविका नायिका को शरद् ऋतु के समान मुख वाली[२५] बताकर शकुन्तला की उपमा शरद् ऋतु की चाँदनी से देकर[२६] उन्होंने अपने शरद् ऋतु विषयक ज्ञान को भी अभिव्यक्ति प्रदान की है, क्योंकि वे शरद् ऋतु में चन्द्रमा की शीतलता, आकर्षण और सौन्दर्य आदि विशेषताओं से भली भाँति परिचित रहे हैं, जो किसी भी मौसम विज्ञानी के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। ये सभी उल्लेख वस्तुतः नाटककार कालिदास को मौसम विज्ञान विशेषज्ञ की श्रेणी में रखने में पर्याप्त कहे जा सकते हैं।

इस दृष्टि से जब हम काव्यकार कालिदास के काव्यों को अध्ययन करते हैं तो हम उन्हें मौसम विज्ञान के विषय में नाटककार से कहीं अधिक बढ़कर पाते हैं, क्योंकि उन्होंने अपने तीनों ही काव्यों में ऋतुओं का वर्णन करते हुए अपने मौसम विज्ञान विषयक ज्ञान को प्रभावी अभिव्यक्ति प्रदान की है। उनकी प्रथम काव्य कृति मेघदूत तो वर्षा ऋतु विषयक उनके विज्ञान का खुला दस्तावेज ही कहा जा सकता है। यहाँ हम इसका अत्यन्त संक्षेप में ही उल्लेख कर रहे हैं।

हम देखते हैं कि काव्यकार जहाँ ऋतु विज्ञान विशेषज्ञ रहे हैं, वहीं उन्होंने मेघ के भौतिक स्वरूप से भी अपनी विज्ञता प्रदर्शित करते हुए इस धुएँ, अग्नि, जल और पवन का मिश्रण बताया है, जिसे पूर्णतया वैज्ञानिक कहा जा सकता है–

धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः मेघः॥[२७]

महत्त्वपूर्ण बिन्दु यह भी है कि इसी प्रसंग में उनके द्वारा वर्णित मेघ की चेष्टाएँ, व्यवहार आदि सभी कुछ आधुनिक विज्ञान के साथ पूर्ण रूप से मेल खाते हैं। पुराणों में मेघ के चार मुख्य भेदों, पुष्कर, आवर्तक, संवर्तक एवं द्रोण आदि का उल्लेख किया गया है, साथ ही इनके भी दस अवान्तर भेद हैं, जिनमें उन्नत आकाश में रहने वाले पुष्कर नामक मेघ तुषार की वर्षा करते हैं तथा द्रोण पानी से परिपूरित बड़े मेघों को कहा जाता है, जबकि परत वाले मेघों को आवर्तक कहते हैं। इसी प्रकार प्रलयंकारी मेघ ही संवर्तक कहलाते हैं।[२८]

काव्यकार ने अपने मेघ को इन्हीं पुष्कर, आवर्तक जैसे महामेघों के कुल में उत्पन्न और कामरूप धारी बताया है, जो उनकी ऋतु वैज्ञानिकी को प्रदर्शित करता है–

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां

२४. माल.– ३.४
२५. शरदिन्दुकान्तिवदनम्। माल.– २.३
२६. क इदानीं शरीरनिर्वापयित्रीं शारदीं ज्योत्स्नां पटान्तेन वारयति॥ शाकु.– ३.१२ के बाद
२७. मेघ.– १.५
२८. कालिदास दर्शन, डॉ. शिव प्रसाद भारद्वाज, पृ.– २४१

जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।।[२९]

इसके अतिरिक्त न बरसने वाले मेघों के लिए उन्होंने 'अभ्र' पद का प्रयोग करके अपनी मेघ विषयक वैज्ञानिकी को अभिव्यक्ति प्रदान की है।

साभ्रऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम्।।[३०]

इसी प्रकार आकाश में चारों ओर घिरे, सायंकाल ढलते हुए सूर्य की किरणों के पड़ने से क्षितिज पर दिखायी देने वाले आरक्तक मेघों,[३१] से भी काव्यकार सर्वथा परिचित रहे हैं, जिनमें समय-समय पर बिजली कौंधती रहती है, जो कभी-कभी ही वृष्टि करके पृथ्वी को भिगोते हैं।[३२] इसके अलावा वर्षा से पूर्व घोर गर्जन करने वाले, ऊँचे पर्वतों पर मँडराने वाले शैत्य के आधिक्य के कारण ओलों की वृष्टि करने वाले मेघों का वर्णन,[३३] रुई के गोले के समान श्वेत वर्ण, व्यापक, चारों ओर छाए हुए सीढ़ी नुमा मेघों का उल्लेख,[३४] पवन के वेग से युक्त हल्के, वृक्षों और लताओं को कँपाने वाले, इधर-उधर हवा में तैरने वाले, चन्द्रमा को ढ़कने और कभी मुक्त करने वाले तीतर पंखी मेघों का कथन[३५] इत्यादि सभी कुछ तो उन्हें वर्षा ऋतु से जुड़ी वैज्ञानिकी से जोड़ता प्रतीत होता है।

काव्यकार के उक्त सभी वर्णनों से प्रभावित होकर ही श्री एस. एल. गुप्त और डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने आधुनिक ऋतु विज्ञान (Mteorology) के परिप्रेक्ष्य में कालिदास की विवेचना प्रस्तुत करते हुए उनके सम्पूर्ण मेघ वर्णन को विज्ञान सम्मत सिद्ध किया है।[३६] डॉ. गुप्त का तो इस सम्बन्ध में यहाँ तक मानना है कि कालिदास ने आषाढ़ के पर्वत शिखर पर मेघ देखने की बात लिखकर भारत के मानसून के आरम्भ होने की तिथि का ठीक-ठीक निर्देश किया है। उल्लेखनीय है कि मेघदूत में मेघों का वर्णन आधुनिक वैज्ञानिक 'लूक होवार्ड' द्वारा किए गए वर्गीकरण के समान ही रहा है।[३७]

उनके अनुसार- आम्रकूट पर्वत के ऊपर से गुजरने वाले कालिदास के पुष्कर और आवर्तक मेघ अंग्रेजी विद्वानों के (Cirsus) और (Cirsostratus) प्रकार के मेघ ही है। ये आकाश में पाँच छः मील की ऊँचाई के वायु मण्डल में विद्यमान रहते हैं। हिम और तुषार के महीन कणों से निर्मित होने के कारण ये श्वेत होते हैं। काव्यकार ने इनका उल्लेख पर्वत के शिखरों पर ही किया है। उल्लेखनीय यह भी है कि महाकवि ने यहाँ मेघों के वर्णन के साथ-साथ वर्षा के स्वभाव का भी वर्णन किया है।

इसके अतिरिक्त उल्लेखनीय बिन्दु यह भी है कि वर्षा ऋतु में मौसम के मिजाज से पूर्णतया

---

२९. मेघ.- १.६
३०. मेघ.- २.२७
३१. मेघ.-१.३६
३२. मेघ.-१.३७
३३. मेघ.- १.५४
३४. मेघ.- १.६०
३५. मेघ.-२.७
३६. प्रो. एस. एल. गुप्त, लेख- मेघदूत का भौगोलिक आधार, सप्त सिन्धु, मार्च-१९६२, पृ.-२५-२८।
३७. कालिदास दर्शन, डॉ. शिव प्रसाद भारद्वाज, पृ.- २४३

परिचित काव्यकार ने समतल और निचले प्रदेशों में जल की बौछारां से लेकर पर्वतों पर तड़ातड़ बरसने वाले ओलों का उल्लेख करके अपने मौसम विज्ञान को अभिव्यक्ति प्रदान की है। इतना ही नहीं यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो यहाँ मेघ की यात्रा का मार्ग मानसून का ही मार्ग है। इस मार्ग में उज्जैन सम्मिलित न होने के कारण ही काव्यकार ने इसे वक्र पन्था[३८] कहकर स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति भी प्रदान की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्यकार शरद् ऋतु के विज्ञान से भी पूर्णतया परिचित रहे हैं, क्योंकि अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति रघुवंश में उन्होंने इसकी उपमा दूसरी राज लक्ष्मी से दी है, जिसके चारों ओर सुन्दर कमलों का खिलना,[३९] वर्षा के बीतने पर बादलों का हटना, आकाश में चमकते प्रचण्ड सूर्य के प्रकाश का चारों ओर फैलना,[४०] वर्षा ऋतु में दिखायी देने वाले इन्द्र धनुष का लुप्त होना,[४१] कमल के छत्र, फूले हुए काँसे के चँवरों का उल्लेख,[४२] लोगों को आनन्द प्रदान करने वाले शरद् कालीन उजले चन्द्रमा का वर्णन,[४३] उजले हंसों की उड़ती हुई पंक्ति, रात में खिले टिमटिमाते तारे, तालों में खिली काई[४४] की तुलना रघु की कीर्ति से करके, अपने मौसम विज्ञान को ही अभिव्यंजित किया है।

इतना ही नहीं काव्यकार तो इस तथ्य से भी सुपरिचित रहे हैं कि शरद् ऋतु में धान के खेतों की रखवाली करने वाली किसानों की स्त्रियाँ ईख की छाया में बैठकर स्वयं ही विविध प्रकार की गुण कथाओं के गीत बनाकर गाती हैं।[४५] इसे उनके मन और मस्तिष्क पर पड़ने वाला शरद् ऋतु का प्रभाव ही कहा जाएगा कि वे इसमें अनेक प्रकार से मनोरंजन करती हुई परम आनन्द का अनुभव करती हैं, ये सभी वर्णन काव्यकार को सफल मौसम वैज्ञानिक सिद्ध करते प्रतीत होते हैं।

इसी क्रम में आगे अगस्त्य तारे के निकलने से जल के निर्मल होने का कथन,[४६] ऊँचे-ऊँचे कन्धों वाले मतवाले साँड़ों पर पड़ने वाले इस ऋतु के प्रभाव के कारण नदियों के कगार को ढाने की वप्र क्रीड़ा का उल्लेख,[४७] इसी प्रकार फूले हुए छतिवन की मद जैसी गन्ध को पाकर रघु के हाथियों का उन्हें दूसरे हाथी समझकर होड़ में मद बहाना[४८] एवं इस ऋतु के आने पर नदियों का पानी उतरना, मार्ग की कीचड़ के सूखने आदि का सूक्ष्मता पूर्वक कथन वस्तुतः नाटककार एवं ऋतु संहारीय दोनों ही कालिदासों की अपेक्षा काव्यकार को सूक्ष्म मैसम विज्ञानी सिद्ध करता है, क्योंकि शरद् ऋतु में वनस्पतियों एवं प्राणियों पर पड़ने

---

३८. मेघ.- १.२७
३९. रघु.- ४.१४
४०. रघु.-४.१५
४१. रघु.- ४.१६
४२. रघु.- ४.१७
४३. रघु.-४.१८
४४. रघु.- ४.१९
४५. रघु.- ४.२०
४६. रघु.-४.२१
४७. रघु.-४.२२
४८. रघु.- ४.२३

वाले प्रभावों को इन दोनों ही कालिदासों ने इतना गम्भीरता एवं सूक्ष्मता पूर्वक प्रदर्शित नहीं किया है।

इसी प्रसंग में उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि काव्यकार को अपनी शीतलता, आकर्षण एवं मनोऽऽह्लादकतां के कारण शरद् ऋतु के चन्द्रमा ने अत्यधिक प्रभावित किया है, तभी तो उन्होंने अपने नायक नायिकों के मुख की उपमा के लिए इसका प्राय: उपमान रूप में प्रयोग किया है,[४९] जो उनके मौसम विज्ञान विषयक ज्ञान का ही द्योतक रहा है।

इसके अलावा काव्यकार इस तथ्य से भी परिचित रहे हैं कि पूर्व दिशा से चलने वाली हवा से ही छोटे बादल भी विस्तार को प्राप्त करके वर्षा का कारण बनते हैं-

दृष्टो हि वृण्वन् कलभप्रमाणोऽप्याशाः पुरोवातमवाप्य मेघः॥[५०]

इसी प्रकार संताप से भरे हुए ग्रीष्म ऋतु के दिनों का बड़ा और रात्रि का छोटा होना रूप वैज्ञानिक तथ्य को भी मौसम विज्ञान से ही जोड़ कर देखा जा सकता है, जिसका उल्लेख काव्यकार रघुवंश महाकाव्य में कुश विहार प्रसंग में करते हैं।[५१] साथ ही ग्रीष्म ऋतु में प्रिया के स्मरण, शीतलता हेतु स्तनों पर मोतियों के हारों एवं श्वाँस लेने से उडने वाले महीन वस्त्रों को धारण करना,[५२] बर्फ का पिघलना, सूर्य के उत्तरायण होने पर उत्तर दिशा का आनन्दाश्रु मोचन करना[५३] इत्यादि अनेकानेक उल्लेख काव्यकार को ग्रीष्म ऋतु एवं इसके सूक्ष्म प्रभावों को जानने के कारण मौसम वैज्ञानिक सिद्ध करते हैं।

इसके अतिरिक्त वनों में चमेली का खिलना, चारों ओर इसकी सुगन्ध का फैलना, भौंरों का एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर बैठना,[५४] सुगन्ध, आम्र बौर, पुरानी मदिरा और नए पाटल पुष्पों का वर्णन,[५५] वर्षा के दिनों में गोवर्धन की गुफाओं में मोरों के नृत्य का वर्णन,[५६] इसी प्रकार कुमार सम्भव[५७] एवं रघुवंश,[५८] महाकाव्य में प्रयुक्त वसन्त ऋतु के सूक्ष्म वर्णन काव्यकार को मौसम वैज्ञानिकी से जोडते हैं, जहाँ उन्होंने प्रकृति के उपादानों पर वसन्त ऋतु के प्रभाव को सूक्ष्म रूप में वर्णित किया है, क्योंकि इस ऋतु में सर्दी के कम होने, प्रात:काल में पाले के हटने, सूर्य के अपेक्षाकृत अधिक चमकने,[५९] वृक्ष एवं लताओं पर फूलों के खिलने, नई कोपल फूटने, भौंरो के गुंजन करने, कोयल के कूकने[६०] वसन्त की शोभा से लदी ताल की

---

४९ रघु.- ४.१८, ६.४४
५०. रघु.- १८.३८
५१. रघु.- १६.४५
५२. रघु.- १६.४३
५३. रघु.- १६.४४
५४. रघु.- १६.४७
५५. रघु.- १६.५२
५६. रघु.- ६.५१।
५७. कु.- ३.२५-४०
५८. रघु.- ९.२५-४८
५९. रघु.- ९.२५
६०. रघु.-९.२६

कमलिनियों के पास भौरों और हंसों के मंडराने[६१] का वर्णन करके अपनी मौसम वैज्ञानिकी का सुन्दर प्रदर्शन किया है।

इतना ही नहीं यहाँ उन्होंने अशोक के फूलों का देखकर स्त्री-पुरुषों को होने वाले कामोद्दीपन के साथ उसकी कोमल कोंपलों को स्त्रियों द्वारा अपने कानों पर रखने का भी उल्लेख किया है, जो कामियों को मानो मतवाला ही बना देते हैं।[६२] कुरबक के वृक्षों से बहने वाले मधु पर मस्त होकर भौंरों का गुनगुनाना,[६३] सुन्दरी स्त्रियों के मुख की मदिरा की कुल्ली से बकुल का फूलना,[६४] पलास में फूटी कलियों का उल्लेख,[६५] पतियों के दन्तक्षत से घायल ओठों वाली स्त्रियों का कमर की तगड़ी को उतारना,[६६] आम के नए बौर से वृक्षों की डालियों का झूम उठना,[६७] मुग्धा नायिका के समान वन की लताओं पर बैठकर कोयल का कूकना, सजीव सी दिखायी पड़ने वाली लताओं का अनेक प्रकार से अपने हाव भाव दिखाना,[६८] पतियों के पेम में बिना बाधा के स्त्रियों द्वारा किया गया मद्यपान,[६९] कमल खिली घरों में बनी बावड़ियों में मधुर शब्द करने वाले जल पक्षियों का तैरना आदि अनेकानेक सूक्ष्मतम वर्णन काव्यकार को मौसम विषयक ज्ञान से जोड़ देते हैं।

इसके अतिरिक्त यहाँ उन्होंने वसन्त ऋतु के रात्रि का छोटा होना, चन्द्रमा का मलिन होकर पीला पड़ना,[७०] वनस्थली की शोभा में वृद्धि करने वाले फूले हुए गुनगुनाते भौंरों से लदे पदे तिलक के वृक्षों का मन भावन वर्णन,[७१] साथ ही लाल-लाल ओठों पर फूलों की मुस्कान लिए अपने मकरन्द रूप मद्य की गन्ध से देखने वालों को पागल बनाए डालने वाले वृक्षों की नायिका नवमल्लिका लता की शोभा का उल्लेख भी किया है।[७२] इसी प्रकार वसन्त ऋतु के प्रभाव के कारण प्रेम में सुध-बुध खो चुके विलासी स्त्री पुरुषों का कथन,[७३] वसन्तोत्सव के अवसर पर अपने प्रियतमों के साथ झूलों पर झूल रही चंचल चितवन वाली चंचला कामिनियों की स्वाभाविक चेष्टाएँ और उनका सूक्ष्म एवं चित्ताकर्षक वर्णन काव्यकार को मौसम विज्ञान से सम्बद्ध सिद्ध करते हैं।

---

६१. रघु.-९.२७
६२. रघु.- ९.२८
६३. रघु.- ९.२९
६४. रघु.- ९.३०
६५. रघु.- ४.३१
६६. रघु.- ४.३२।
६७. रघु.- ४.३३
६८. रघु.- ९.३५
६९. रघु.- ९.३६
७०. रघु.- ९.३८
७१. रघु.- ९.४१, ४४
७२. रघु.-९.४२
७३. रघु.- ९.४३

इसी प्रकार कुमार सम्भव तृतीय सर्ग में देवों की प्रेरणा से शिव पर प्रभाव डालने वाले कामदेव के सहायक वसन्त के प्रभाव को न केवल वन्य जीवों, अपितु वनस्पतियों पर भी जिस सूक्ष्मता पूर्वक काव्यकार ने वर्णित किया है, निश्चय ही ये सभी वर्णन उन्हें मौसम वैज्ञानिक सिद्ध करते हैं, क्योंकि ये सभी उनकी सूक्ष्म एवं गहन दृष्टि के ही परिचायक रहे हैं।

यहाँ उन्होंने वसन्त के आगमन पर असमय में ही सूर्य का दक्षिणायन से उत्तरायण होना,[७४] अशोक वृक्ष का नीचे से ऊपर तक फूलों से लदना,[७५] आम्र पर मंजरियों का आना उन पर भौंरों का मँड़राना,[७६] निर्गन्ध होते हुए भी कर्णिकार का सौन्दर्य,[७७] लाल-लाल अधखिले टेसू के फूलों का सम्पूर्ण वन भूमि में प्रसरण,[७८] इधर-उधर मण्डराते हुए भौंरे, पूरी तरह खिले तिलक के फूलों का आकर्षण,[७९] आम्र मंजरियों के आस्वादन से मधुर कण्ठ कोकिल का कूजन,[८०] चराचर में बढ़ी कामेच्छा[८१] के परिणाम स्वरूप भ्रमर का भ्रमरी के साथ एक ही पुष्प की कटोरी में मकरन्द पान, कृष्ण मृग का हरिणी को सींग से खुजलाना और इस स्पर्श सुख से हरिणी का आँखें मूँदना,[८२] हथिनी द्वारा अपनी सूँड से प्रेम पूर्वक कमल के पराग से बसा सुगन्धित जल हाथी को पिलाना आदि वर्णित किए हैं।

इसी क्रम में आगे चकवे द्वारा आधी कुतरी कमल नाल को चकवी को भेंट करना,[८३] गीत गाते हुए किन्नरों का बीच में ही अपनी प्रियतमाओं के मुख का चुम्बन,[८४] वृक्षों का अपनी झुकी हुई डालियों को फैला-फैला कर लताओं का आलिंगन[८५] इत्यादि सभी वर्णन काव्यकार के ऋतु विज्ञान विषयक ज्ञान को सिद्ध करते हैं।

यहाँ तक हमने नाटककार एवं काव्यकार दोनों महाकवियों के ऋतु विज्ञान को प्रदर्शित किया। अब हम इस विषय में ऋतु संहारीय कालिदास के ज्ञान का विवेचन करते हैं। जैसा कि हम पूर्व में भी उल्लेख कर चुके हैं कि ऋतु संहार में कालिदास ने प्रकृति वैज्ञानिक के रूप में विभिन्न ऋतुओं के मानव, प्रकृति एवं प्राणियों पर होने वाले प्रभावों का सुन्दर एवं प्रभावशाली चित्रण किया है, जिससे उनके मौसम विज्ञान विषयक ज्ञान एवं गहन दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है।

---

७४. कु.- ३.२५
७५. कु.-३.२६
७६. कु.- ३.२७
७७. कु.- ३.२८।
७८. कु.- ३.२९
७९. कु.- ३.३०।
८०. कु.- ३.३२
८१. कु.- ३.३५।
८२. कु.- ३.३६
८३. कु.- ३.३७
८४. कु.- ३.३८
८५. कु.- ३.३९

अपनी एक ही लघु कृति में उन्होंने विभिन्न ऋतुओं में स्त्री, पुरुषों को अपने स्वास्थ्य की रक्षा एवं भोगों में लिप्त प्रदर्शित किया है। आधुनिक विज्ञान ने प्रात:कालिक सूर्य की किरणों के सेवन से विटामिन-डी की प्राप्ति को मान्यता प्रदान की है, जिससे स्वास्थ्य में भी वृद्धि होती है। इस तथ्य से सुपरिचित ऋतुसंहारीय कालिदास ने रात्रि में अत्यधिक रति के कारण उससे होने वाली शिथिलता को दूर करने के लिए प्रात:कालिक सूर्य की किरणों के सेवन द्वारा निद्रा लेते हुए वर्णित किया है, जो उनके चिकित्सा विज्ञान के साथ-साथ ऋतु विज्ञान को भी प्रदर्शित करता है।[८६] प्राकृतिक चिकित्सा के अन्तर्गत आज भी सूर्य की किरणों का सेवन आयुर्वेदीय चिकित्सकों द्वारा कराया जाता है।

ऋतुओं का सूक्ष्म ज्ञान रखने वाले ऋतु संहारीय कालिदास वस्तुत: ऋतु के अनुसार वस्त्रों को धारण करने के पक्षधर रहे हैं। यही कारण है कि उन्होंने इस काव्य कृति में इस सम्बन्ध में विस्तार से उल्लेख किया है। स्त्रियों के लिए रतिक्रीड़ा में सहायक संसाधनों का कथन करते हुए ग्रीष्म ऋतु में ताप शमन के उपायों का उल्लेख करके वे अपनी मौसम विज्ञानी प्रतिभा का परिचय प्रस्तुत करते हैं, जिनमें रेशमी वस्त्रों के धारण करने, चन्दन के लेप तथा केशों को सुवासित करना मुख्य रहे हैं।[८७]

इसके ठीक विपरीत शिशिर ऋतु में वे खिड़कियों को बन्द करने अग्नि एवं सूर्य की किरणों के सेवन करने का भी कथन करते हुए पुरुषों को स्त्रियों का सेवन करने का निर्देश देते हैं।[८८] इतना ही नहीं यहाँ तो वे मौसम के अनुसार अन्त:वस्त्र धारण करने का उल्लेख करके अपनी सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि को प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि हेमन्त ऋतु में हल्का अन्त:वस्त्र शरीर को उष्णता प्रदान करने वाला होता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक ऋतु में तदनुसार वस्त्रों को धारण करने की अवधारणा को निश्चय ही विज्ञान सम्मत कहा जा सकता है।[८९] इसके अलावा यहाँ वे शिशिर ऋतु में स्तनों पर कंचुकी धारण करने का भी कथन करते हैं, जो उनकी वस्त्रों के विषय में वैज्ञानिक दृष्टि को दर्शाता है।[९०]

इसी प्रकार ऋतु विज्ञान विशेषज्ञ वे ऋतु चक्र परिवर्तन से होने वाले शारीरिक परिवर्तनों से भी पूर्णतया अवगत प्रतीत होते हैं, क्योंकि ग्रीष्म ऋतु में शरीर का जल सूखने से यह शिथिल हो जाता है, ताप के असह्य होने से बल में न्यूनता आ जाती है, जिसके कारण विभिन्न वन्य प्राणी अपने शत्रु-मित्र भाव को भूल कर संताप से मुक्ति ही अपना लक्ष्य बना लेते हैं, इस कथ्य को ग्रीष्म ऋतु वर्णन में सिंह, हाथी, मोर, सर्प आदि अनेक प्राणियों के व्यवहार का चित्रण करते हुए उन्होंने सिद्ध किया है।[९१] इस प्रकार कहा जा सकता है कि ऋतु संहारीय कालिदास का दृष्टिकोण भी सभी ऋतुओं के सम्बन्ध में मौसम विज्ञान विशेषज्ञ की भाँति प्रबल वैज्ञानिक धरातल पर आधारित रहा है।

कालिदास त्रय के उपर्युक्त ऋतु विज्ञान विषयक ज्ञान के तुलनात्मक विवेचन से हम देखते हैं कि

८६. ऋतु.- ४.१४
८७. ऋतु.-१.४
८८. ऋतु.-५.२
८९. ऋतु.- ५.१४
९०. ऋतु.- ५.८
९१. ऋतु.- १.१३-१६ तक

यद्यपि नाटककार ने अपनी तीनों नाट्य कृतियों में ग्रीष्म एवं वर्षा ऋतु के सम्बन्ध में अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण को किंचिद् अभिव्यक्ति प्रदान की है तथापि अधिक अवसर न होने के कारण वे इस विषय में अपेक्षाकृत सूक्ष्म वर्णन नहीं कर सके हैं, जबकि ऋतु संहारीय कालिदास ने अपनी लघु काव्य कृति ऋतु संहार में ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतुओं की वैज्ञानिकी को प्रस्तुत करते हुए स्त्री-पुरुषों पर पड़ने वाले प्रभाव एवं उस-उस ऋतु में उनके व्यवहार को सूक्ष्म रूप से प्रदर्शित किया है।

वस्तुतः उन्होंने एक प्रकृति विज्ञानी की भाँति ऋतु चक्र के परिवर्तन तथा प्राणियों पर पड़ने वाले इनके प्रभावों तथा उनकी विभिन्न अवस्थाओं का वैज्ञानिक विवेचन किया है। उनके मत में- ग्रीष्म ऋतु में सम्पूर्ण प्राणी-समुदाय अपने संताप शमन के प्रयास में इतना लीन दिखायी देता है, कि तापातिरेक से यहाँ सिंहादिकों को अन्य जीवों के प्रति अपना शत्रुभाव भी विस्मृत हो जाता है। इस ऋतु में सभी प्राणी बलहीन से प्रतीत होते हैं,[१२] जबकि शिशिर, शरद्, हेमन्त और वसन्त में सभी प्राणी अद्भुत स्फूर्ति एवं प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि इन दोनों ही कालिदासों से बढ़कर काव्यकार कालिदास ने ग्रीष्म, शरद् और वसन्त इन्हें तीन ऋतुओं का विशेष रूप से वर्णन करते हुए अपनी मौसम विज्ञान विषयक अद्भुत प्रतिभा को सूक्ष्मता एवं उत्कृष्टता के साथ प्रस्तुत किया है।

---

१२. ऋतु.- १.१४

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ0155-159) ISSN 0974 – 8830

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में पुनर्जन्म

डॉ० सुरेन्द्र कुमार[१]

अरुण कुमार[२]

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण कालीन समाज में पुनर्जन्म के प्रति पूर्ण आस्था थी। दार्शनिक दृष्टिकोण से भी लोगों का मत था कि मनुष्य अपने जीवन में किए गये शुभ अथवा अशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगता है।[३] इन कर्मों का भोग करने हेतु उसे कई बार जन्म एवं मरण के बंधन में बंधना पड़ता है। अयोध्याकाण्ड में जाबालि के द्वारा पुनर्जन्म का परिस्थिति वशात् खण्डन करने पर वशिष्ठ का राम से यही कथन है कि हे रघुनन्दन! महर्षि जाबालि भी यह जानते हैं कि इस लोक के प्राणियों का परलोक में आना और जाना होता रहता है।[४]

उत्तरकाण्ड में भी कुबेर रावण से कहते हैं कि मनुष्य का लौकिक सुखों का भोग करने वाला शरीर क्षणभंगुर है। इसे प्राप्त कर जो तप का उपार्जन नहीं करता वह मूर्ख मरने के बाद जब उसे अपने दुष्कर्मों का फल मिलता है तो पश्चात्ताप करता है।[५] युद्धकाण्ड में भी प्रसंग आता है कि मनुष्य को धर्म-अधर्म, पापकर्म अथवा पुण्यकर्म के फल इस लोक और परलोक में भी भोगने पड़ते हैं। परन्तु जो कामना विशेष के उद्देश्य से यत्नपूर्वक कर्मों का अनुष्ठान करता है, उसे यहाँ उसके सुख मनोरथ की प्राप्ति हो जाती है। धर्म आदि के फल की भांति उसके लिए कालान्तर या लोकान्तर की अपेक्षा नहीं होती।[६]

संक्षेप में उपर्युक्त विवेचन से हम यही कह सकते हैं कि तत्कालीन समाज में पुनर्जन्म के प्रति पूर्ण विश्वास था। इसी विश्वास के फलस्वरूप अयोध्याकाण्ड में सीता राम से कहती है कि आपके साथ वन अनुगमन से परलोक में भी मेरा कल्याण होगा और जन्म-जन्मातर तक आपके साथ मेरा संयोग बना रहेगा। क्योंकि इस लोक में पिता आदि के द्वारा जो कन्या जिस पुरुष को अपने धर्म के अनुसार जल से संकल्प करके दे दी जाती है वह मरने के बाद परलोक में भी उसी की स्त्री होती है।[७]

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अनुसार जो मनुष्य पूर्वजन्म में धर्माचरण करता है, वह धर्माचरण के

---

१. असिस्टेंट प्रोफेसर, मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
२. शोधार्थी मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
३ कस्यचिन्न हि दुर्बुद्धिश्छन्दतो जायते मतिः। यादृशं कुरुते कर्म तादृशं फलमश्नुते।। वा०रा० उत्तर० १५/२५
४ क्रुद्धमाज्ञाया रामं तु वसिष्ठः प्रत्युवाच ह। जाबालिरपि जानीते लोकस्यास्य गतागतिम्। वा०रा० अयो० ११०/१
५ अध्रुवे हि शरीरे यो न करोति तपोऽर्जनम्। स पश्चात् तंप्यते मूढो मृतो गत्वाऽऽत्मनो गतिम्। वा०रा० उत्तर० १५/२२
६ ऐहलौकिकपारक्यं कर्म पुंभिर्निषेव्यते। कर्माण्यपि तु कल्यानि लभते काममास्थितः।। वा०रा०युद्ध ६४/९
७ वा०रा० अयो० २९/१८

फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता है और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है। जो पूर्वजन्म में किये हुए पाप-पुण्य के फलों को भोग करने के स्वभाव-युक्त जीवात्मा है, वह पूर्ण शरीर को छोड़ के वायु के साथ रहता है, पुनः जल औषधि या प्राण आदि में प्रवेश करके वीर्य में प्रवेश करता है, तदनन्तर योनि अर्थात् गर्भाशय में स्थिर होकर पुनः जन्म लेता है जो जीव अनुदित वाणी अर्थात् जैसा ईश्वर ने वेदों में संकेत किया है तदनुसार सत्यभाषण करके अनेक सुखों को भोगता है और जो अधर्माचरण करता है, वह अनेक नीच शरीर अर्थात् कीट पतंग पशु आदि के शरीर को धारण करके अनेक दुःखों को भोगता है।[८]

तत्कालीन समाज में यह मान्यता थी कि मानव पूर्वजन्म में किये गये शुभ या अशुभ कर्मों का फल इस जन्म में अवश्य भोगता है। राम वनगमन के समय राजा दशरथ विलाप करते हैं कि मैंने पूर्वजन्म में अवश्य ही बहुत सी गायों का उनके बछड़ों से वियोग कराया है अथवा अनेक प्राणियों की हिंसा की है। इसी से आज इस जन्म में मेरे ऊपर यह पुत्र-वियोग रूप संकट आया है।[९] कैकेयी के हृदय विदारक वचनों को सुनने के बाद भी दशरथ उन सब बातों को श्रवण करने का कारण अपने पूर्व जन्म में किये गये अशुभ कर्मों का फल मानते हैं।[१०] एक स्थान पर राम भी लक्ष्मण से कहते हैं कि तात सुमित्रा कुमार! निश्चय ही पूर्वजन्म में मेरी माता ने कुछ स्त्रियों का उनके पुत्रों से वियोग कराया होगा। उसी पाप का यह पुत्र वियोग रूप फल आज उन्हें प्राप्त हुआ है।[११] भारद्वाज ऋषि के द्वारा उचित आतिथ्य ग्रहण करने को भी राम अपने द्वारा पूर्वजन्म में किये गए महान् पुण्यकर्मों का फल मानते हैं।[१२] मरणासन्न बालि भी सुग्रीव के प्रति अपने किये गए वैर को पूर्वजन्म में किये गये पाप कर्मों का फल मानता है।[१३]

आगामी जन्म

रामायण में पूर्वजन्म के साथ-साथ आगामी जन्म को सुखमय तथा समृद्धिमय बनाने की ओर भी संकेत किया गया है। आगामी जन्म को समृद्धिमय बनाने के लिए पुत्र भी पिता के प्रति सजग रहता था। रामायण में 'पुत्र' शब्द की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि बेटा 'पुम्' नामक नरक से पिता का उद्धार करता है। इसीलिए वह 'पुत्र' कहा जाता है। वही पुत्र है, जो पितरों की सब ओर से रक्षा करता है।[१४] पितरों की रक्षा करने से तात्पर्य था कि दान, पुण्य, श्राद्ध, जलांजलि इत्यादि कृत्यों के द्वारा पुत्र पिता को नरक से

---

८ आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूँषि कृणुषे पुरूणि। धास्युर्योनि प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत॥ अथर्व० ५

९ अहो दुःखमहो कृच्छ्रं यत्र वाचः क्षमे तव। दुःखमेवंविधं प्राप्तं पुरा कृतमिवाशुभम्।। वा०रा० अयो० १२/७९

१० मन्ये खलु मया पूर्वं विवत्सा बहवः कृता। प्राणिनो हिंसिता वापि तन्मामिदमुपस्थितम्।। वा०रा० अयो० ३९/४

११ नूनं जात्यन्तरे तात स्त्रियः पुत्रैर्वियोजिता। जनन्या मम सौमित्रे तदद्यैतदुपस्थितम्।। वा०रा० अयो० ५३/१९

१२ उपावृत्ते मुनौ तस्मिन् रामो लक्ष्मणमब्रवीत्। कृतपुण्याः स्म भद्रं ते मुनिर्यन्नोऽनुकम्पते।। वा०रा० अयो० ५५/११

१३ सुग्रीव दोषेण न मां गन्तुमर्हसि किल्विषात्। कृष्यमाणं भविष्येण बुद्धिमोहेन मां बलात्।। वा०रा० किष्किं० १२/३

१४ पुत्राम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः। तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितृन् य पाति सर्वतः।। वा०रा०अयो० १०७/१२

उबारे। राजकुमार भरत ने राजा दशरथ की मृत्यु के पश्चात् उनके आगामी जन्म के समय कल्याणार्थ बहुत सी दास-दासियाँ, सवारियाँ तथा बड़े-बड़े घर ब्राह्मणों को दान में दिये।[१५] पुण्यसलिता भागीरथी नदी के किनारे एक रात रुकने का प्रयोजन बतलाते हुए भरत अपने मन्त्रियों से कहते हैं कि मैं चाहता हूँ कि गंगा जी में उतरकर स्वर्गीय महाराज के कल्याणार्थ जलांजलि दूँ।[१६]

लोक-परलोक

पुरातन काल से ही हिन्दू समाज पुनर्जन्म में विश्वास करता आया है। यह मान्यता पूर्व से ही चली आ रही है कि मनुष्य के पूर्वकर्मों का भविष्य में और आने वाले जन्म से भी बहुत प्रभाव रहता है। वे यह मानते थे कि मनुष्य के सत्-असत् कर्मों के अनुसार ही उसे इहलोक और परलोक में सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक आदि रूप फल मिलता है। रामायणकालीन समाज में भी यह मान्यता थी और यह विश्वास था कि यदि वे अच्छे कर्म करेंगे तो उसका परिणाम शुभ ही होगा। वाल्मीकि रामायण में आये हुए प्रसंगों के आधार पर लोक-परलोक आस्था का विवेचन निम्नलिखित है -

इहलोक एवं परलोक

रामायणकार ने इहलोक के ऊपर एक अन्य लोक का उल्लेख कई स्थानों पर किया है और उसे परलोक, परत्र तथा स्वर्ग की संज्ञा दी है। उन्होंने इस लोक को इहलोक कहकर उससे सम्बन्ध रखने वाले कर्मों को ऐहलौकिक कर्म एवं परलोक से सम्बन्ध रखने वाले कर्मों को पारलौकिक कर्म कहा है। अयोध्याकाण्ड में कैकेयी के ऊपर क्रोधित होते हुए राजा दशरथ कहते हैं कि कैकेयी मैंने तेरे साथ जो पाणिग्रहण संस्कार किया है और तुझे साथ लेकर अग्नि की परिक्रमा की है, तेरे साथ का वह सारा सम्बन्ध इहलोक एवं परलोक के लिए भी त्याग देता हूँ।[१७] भरत भी अपने मातुल गृह से लौटने के बाद कैकेयी को फटकारते हुए कहते हैं कि इकलौते बेटे वाली सती-साध्वी कौशल्या का तूने उनके पुत्र से वियोग कराया, इसलिए तू सदा ही इहलोक व परलोक में भी निरन्तर दुःख ही पायेगी।[१८]

राम के साथ जाने का आग्रह करती हुई सीता भी तत्कालीन समाज में व्याप्त इहलोक एवं परलोक की आस्था को और अधिक स्पष्ट करती हैं, वे कहती हैं कि नारियों के लिए इहलोक तथा परलोक में एकमात्र सदा पति ही आश्रय देने वाला है। पिता, पुत्र माता, सखियाँ, यहाँ तक कि अपना यह शरीर भी उसका सच्चा सहायक नहीं है।[१९] अन्यत्र भी सीता पुनः राम से कहती है कि पिता, माता, पुत्र ये परिमित सुख प्रदान करते हैं, परन्तु पति अपरिमित सुख का दाता है। उसकी सेवा से इहलोक तथा परलोक दोनों में

---

१५ दासीर्दासांश्च यानानि वेशमानि सुमहान्ति च। ब्राह्मणेभ्यो ददौ पुत्रो राज्ञस्तस्यौर्ध्वदेहिकम्।। वा०रा० अयो० ७७/३

१६ दातुं च तावदिच्छामि स्वर्गतस्य महीपतेः। और्ध्वदेहनिमित्तार्थमवतीर्योदकं नदीम्। वा०रा० अयो० ८३/२४

१७ अगृह्णां यच्च ते पाणिमग्निं पर्यणयं च यत्। अनुजानमि तत् सर्वमस्मिंल्लोके परत्र च। वा०रा० अयो० ४२/८

१८ एकपुत्रा च साध्वी च विवत्सेयं त्वया कृता। तस्मात् त्वं सततं दुःखं प्रेत्य चेह च लप्स्यसे।। वा०रा०अयो० ७४/२९

१९ न पिता नात्मजो वात्मा न माता न सखीजनः। इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा।। वा०रा० अयो० २७/६

ही कल्याण होता है। अत: ऐसी कौन सी स्त्री है जो अपने पति का सत्कार नहीं करेगी।[२०]

रामायणकालीन समाज के जनमानस में यह भावना व्याप्त थी कि विवाहोपरान्त पति एवं पत्नी का सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर का होता है। अयोध्याकाण्ड में ही सीता राम से कहती है कि आपके साथ अरण्य अनुगमन से परलोक में भी मेरा कल्याण होगा और सदा आपके साथ मेरा संयोग बना रहेगा। जन्म-जन्मान्तरों के संयोग की पुष्टि करने के लिए सीता राम को यशस्वी ब्राह्मणों के मुख से सुनी हुई पवित्र श्रुति को सुनाती हुई कहती है कि इस लोक में पिता आदि के द्वारा जो कन्या जिस पुरुष को अपने धर्म के अनुसार जल से संकल्प करके दे दी जाती है वह मरने के बाद परलोक में भी उसी की स्त्री होती है।[२१] वाल्मीकि रामायण में एक स्थान पर जब जाबालि ऋषि राम को दण्डकारण्य से अयोध्यानगरी वापस ले जाने का प्रयत्न करते हुए राम के लौकिक एवं पारलौकिक विश्वास में यह कहकर ठेस लगाने का प्रयत्न करते हैं कि राम अपने मन में यह निश्चय कीजिए कि इस लोक के सिवाय कोई दूसरा लोक नहीं है। अत: वहां फल भोगने के लिए धर्म आदि के पालन की आवश्यकता भी नहीं है। आप जो प्रत्यक्ष राज्यलाभ है, उसका आश्रय कीजिये, परोक्ष पारलौकिक लाभ को पीछे धकेल दीजिये।[२२] तब जाबालि के उक्त नास्तिकता पूर्ण वचनों का दृढ़ता पूर्वक उत्तर देते हुए राम उनसे कहते हैं कि जाबालि आपके सिवाय पहले के श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने इहलोक एवं परलोक में तो पूर्ण आस्था प्रदर्शित की है परन्तु उन्होंने इन दोनों लोकों की फल कामना का परित्याग करके वेदोक्त धर्म समझकर सदा ही बहुत से शुभ कर्मो का अनुष्ठान् किया है, अत: जो भी ब्राह्मण हैं, वे वेदों को ही प्रमाण मानकर स्वस्ति (अहिंसा, सत्य आदि) कृत्य (तपदान और परोपकार आदि) तथा हुत (यज्ञ-भाग) आदि कर्मों का सम्पादन कर इहलोक एवं परलोक में पूर्ण रूप से आस्था व्यक्त करते हैं।[२३] राम को जाबालि से कष्ट जानकर वशिष्ठ भी राम से कहते है कि राम तुम जाबालि के इहलोक एवं परलोक के प्रति अनास्थावान् वचनों से रुष्ट न होओ, स्वयं जाबालि भी हार्दिक रूप से यह मानते हैं कि इस लोक में प्राणियों का परलोक में जाना और आना होता ही रहता है।[२४]

स्वर्ग-नरक

वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य में यह व्यक्त करने का प्रयत्न किया है कि तत्कालीन समाज में परलोक से स्वर्ग का ही अर्थ नहीं लिया जाता है, अपितु स्वर्ग और नरक दोनों ही परलोक के अन्तर्गत आते हैं। शुभ कर्मों के द्वारा व्यक्ति स्वर्ग लोग को प्राप्त करता था तथा पाप कर्मों से नरक को प्राप्त करता था। स्वर्ग-नरक प्राप्ति की धारणा के कारण ही मनुष्य पाप कर्मों का परित्याग करता हुआ शुभ कर्म ही करता था। अयोध्याकाण्ड में राम लक्ष्मण से कहते हैं कि लक्ष्मण यदि मैं कुपित हो जाऊं तो अपने बाणों द्वारा

---

२० मितं ददाति हि पिता, मितं भ्रातामितं सुत:। अमितस्य तु दातारं भर्तारं को न पूजयेत्।। वा०रा० अयो० ३९/३०
२१ प्रेत्यभावे हि कल्याण: संगमो मे सदा त्वया। वा०रा०अयो० २९/१७-१८
२२ स नास्ति परमित्येतत् कुरु बुद्धि महामते। प्रत्यक्षं यत् तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठत: कुरु।। वा०रा० अयो० १०८/१७
२३ त्वत्तो जना: पूर्वतरे द्विजाश्च। शुभानि कर्माणि बहूनि चक्रु:। छित्त्वा सदेमं च परं च लोकं। तस्माद् द्विजा: स्वस्तिकृतं हुतं च।। वा०रा० अयो० १०९/३५
२४ क्रुद्धमाज्ञाय रामं तु वसिष्ठ: प्रत्युवाच ह। जाबालिरपि जानीते लोकस्यास्य गतागतिम्।। वा०रा० बाल० ११०/१

अकेला ही अयोध्यापुरी तथा समस्त भूमण्डल को निष्कण्टक बनाकर अपने अधिकार में कर लूंगा परन्तु पारलौकिक हित साधन में बल-पराक्रम कारण नहीं होता है। इसीलिए मैं ऐसा नहीं कर रहा हूँ। लक्ष्मण मैं परलोक (स्वर्ग-नरक) से डरता हूँ।[२५]

अयोध्याकाण्ड में सुमित्रा राम वनगमन से दु:खी विलाप करती हुई कौशल्या को सान्त्वना देती हुई कहती है कि बहिन, जो राज्य छोड़कर अपने महात्मा पिता की भली भांति सत्यवादी बनाने के लिए वन में चले गये हैं, वे तुम्हारे महाबली श्री राम उस उत्तम धर्म में स्थित हैं, जिसका सत्पुरुषों ने सर्वदा सम्यक् रूप से पालन किया है! जो इहलोक के साथ परलोक में भी स्वर्ग रूप सुखमय फल प्रदान करने वाला है।[२६]

स्वर्ग एवं नरक प्राप्ति की विवेचना करती हुई सीता भी राम से कहती है कि उत्कृष्ट गुण और जाति आदि की दृष्टि से जो नारी पति की सेवा नहीं करती उसे पापियों को मिलने वाली गति नरक आदि की प्राप्ति होती तथा जो अन्यान्य देवताओं की पूजा और वन्दना से दूर रहती है, वह नारी भी केवल पति की सेवामात्र से ही उत्तम स्वर्गलोक को प्राप्त कर लेती है।[२७]

अयोध्याकाण्ड में स्वर्ग प्राप्ति के कतिपय साधनों की और संकेत किया है, जैसे शुभ कारक यज्ञों का अनुष्ठान कर पर्याप्त दक्षिणा देने से, भरण-पोषण के योग्य परिजनों का भरण-पोषण, प्रजाजनों का भली-भांति पालन तथा प्रजा से धर्म के अनुसार ही कर आदि रूप धन लेने से मनुष्य को स्वर्ग-लोक की प्राप्ति होती थी।[२८] राम भी एक स्थान पर मानते हैं कि गुरुजनों की सेवा का अनुसरण करने से स्वर्ग, धन धान्य, पुत्र और सुख कुछ भी दुर्लभ नहीं है। माता-पिता की सेवा में लगे रहने वाले महात्मा पुरुष देवलोक, गन्धर्वलोक ब्रह्मलोक, गौलोक तथा अन्य उत्तम लोकों को भी प्राप्त कर लेते हैं।[२९] अन्यत्र भी एक स्थान पर राम जाबालि से स्वर्ग एवं नरक के बारे में बताते हुए कहते हैं कि एक मनुष्य सम्पूर्ण जगत् का पालन करता है और एक केवल अपने कुल का पालन करता है। इनमें प्रथम लोक में प्रतिष्ठित होता है तथा द्वितीय नरक में डूबता है।[३०]. इससे यह सिद्ध होता है कि रामायणकालीन समाज का पुनर्जन्म में पूर्ण विश्वास था।

---

२५ एको ह्यहमयोध्यां च पृथिवीं चापि लक्ष्मण। तरेयमिषुभिः क्रुद्धो ननु वीर्यमकारणम्।। अधर्मभयभीतश्च परलोकस्य चानघ। तेन लक्ष्मणं नाद्यामात्मानमभिषेचये।। वा०रा० अयो० ५३/२५-२६

२६ यस्तवार्ये गतः पुत्रस्त्यक्त्वा राज्यं महाबलः। साधु कुर्वन् महात्मानं पितरं सत्यवादिनम्।। शिष्टैराचरिते सम्यक्शश्वत् प्रेत्य फलोदये। रामो धर्मे स्थितः श्रेष्ठो न स शोच्यः कदाचन।। वा०रा०अयो० ४४/३-४

२७ व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा। भर्तारं नानुवर्तेत सा च पापगतिर्भवेत्।। भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम्। अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात्।। वा०रा०अयो० २४/२५-२६

२८ धर्मात्मा सुशुभैः कृत्स्नैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः। धूतपापो गतः स्वर्गं पिता नः पृथिवीपतिः। भृत्यानां भरणात् सम्यक् प्रजानां परिपालनात्। अर्थादानाच्च धर्मेण पिता नस्त्रिदिवं गतः।। वा०रा०अयो० १०५/३२-३३

२९ वा०रा० अयो० २९/१७-१८

३० एकः पालयते लोकमेकः पालयते कुलम्। मज्जत्येको हि निरय एकः स्वर्गे महीयते।। वा०रा० अयो० १०९/१५

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ0160-177) ISSN 0974 – 8830

वाल्मीकि और तुलसी की सीता : एक तुलनात्मक विवेचन

डॉ० मृदुल जोशी[1]

'रामायण' और 'रामचरितमानस' दोनों प्रबन्ध काव्यों की नायिका सीता शिष्ट, सौम्य, संस्कारी, तेजस्विनी, पतिव्रता, त्यागी, मनस्विनी, साहसी, दृढ़ निश्चयी, स्वाभिमानी और स्पष्टवादिनी है। वे सर्वत्र अपने उदात्त चरित्र द्वारा स्त्री समाज को उच्चतर जीवन मूल्यों के निर्वहण की शिक्षा के साथ-साथ दृढ़तायुक्त स्वभिमानी जीवन यापन की दिशा को निर्देशित करती दिखाई पड़ती हैं।

वाल्मीकि और तुलसी दोनों के सृजन-कथा-सूत्र एक हैं लेकिन दोनों के प्रस्तुतीकरण में, दृष्टि और चिन्तन में यत्किंचित् पार्थक्य है, जो पग-पग पर दृष्टिगत होता है। तुलसी का भक्ति-भावभरित हृदय सृजन की तल्लीनता में एक क्षण के लिए भी यह नहीं भूलता कि सीता जगज्ननी हैं, अलौकिक हैं, निखिल ब्रह्माण्ड के नायक की अचिन्त्य, आह्लादिनी, अमोघ शक्ति हैं, सम्भव-असंभव-अन्यथाकर्तुं समर्थ हैं और जो कुछ भी वे कह अथवा कर रही हैं वह इस वसुधा के दृश्य पटल में एक लीला मात्र है, जिसका उद्देश्य जीव-जगत् की भलाई है। इसीलिए तुलसी के द्वारा सीता के रूप-वर्णन में एक शिष्ट मर्यादा और उनके कार्य-सम्पादन में सदा सर्वदा संयम बरता गया है। 'रामचरितमानस' की सीता के हास-विलास, सम्भाषण, चिन्तन-मनन, ज्ञान-वैराग्य, त्याग सदृश सभी कार्यों में अलौकिकत्व का आभा मण्डल प्रकीर्ण होता रहता है। इससे पृथक् वाल्मीकि की सीता उनके काव्य के चरित नायक की पत्नी हैं। स्वाभाविक है कि मर्यादा पुरुषोत्तम राम की पत्नी असाधारण तो होंगी ही। वे उदात्त जीवन मूल्यों का समर्थन करती हुई एक आदर्श चरित्र की स्वामिनी हैं। उनमें हम रूप, तेज, शील, संकोच, माधुर्य, शिष्टता, त्याग, दृढ़ता, ज्ञान, संयम, स्वाभिमान, तार्किकता सदृश सद्गुणों का पुंजीभूत स्वरूप पाते हैं। लेकिन इतना सब होते हुए भी वे एक लौकिक नारी हैं और उनमें वे सभी दुर्बलताएँ, क्रोध-शोक, सुख-दुःखावेग हैं जो एक सामान्य नारी में हो सकते हैं।

वाल्मीकि ने कथा-नायिका के रूप सौन्दर्य का विस्तृत वर्णन किया है और ऐसा करते समय सीता के 'नख-शिख-सौन्दर्य' वर्णन से भी उन्होंने परहेज नहीं किया है। उनके अनिंद्य सौन्दर्य की चर्चा करते हुए कहीं-कहीं तो घोर श्रृंगारिकता और अश्लीलता का भी संस्पर्श हो गया है। सीता की कई प्रतिक्रियाएँ इतनी सहज और स्वाभाविक हैं जो एक अत्यन्त सामान्य स्त्री की प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं। इसके सर्वथा विपरीत तुलसी के लिए सीता साक्षात् भगवती स्वरूपा हैं। इसीलिए तो 'रामचरितमानस' के प्रारम्भिक उद्गारों में ही सीता की अभिवंदना की गई है-

उद्भवस्थितसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।

---

१ असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग कन्या गुरुकुल परिसर, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्।।[२]

तुलसी के लिए सीता उत्पत्ति, स्थिति, पालन और संहार करने वाली, क्लेशों को हरने वाली, हर प्रकार से कल्याण करने वाली ही नहीं हैं वे तो साक्षात् पराम्बा हैं और उनकी कृपा-कटाक्ष से विमल बुद्धि प्राप्त होती है। तुलसी को अपने ग्रन्थ-प्रणयन में उस अपूर्व मेधा की आवश्यकता भी है जिसके बल पर वे एक श्रेष्ठ, सुन्दर ग्रन्थ को रच सकें-

जनक सुता जग जननि जानकी, अतिसय प्रिय करूनानिधान की।

ताके युगपद कमल मनावउँ, जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ।।[३]

'वाल्मीकि रामायण' में सीता जनक की पालित पुत्री के रूप में सामने आयी हैं। जनक स्वयं स्वीकार करते हैं कि सीता उन्हें हल जोतते समय खेत में मिली थीं।[४] वाल्मीकि ने अन्यत्र भी हनुमान् के मुख से सीता की उत्पत्ति की घटना को दोहराया है, जहाँ हल से जोती जाती हुई पृथ्वी से कमल पराग के समान सुन्दरी सीता धूल में लिपटी हुई मिली थीं-

उत्थिता मेदिनीं भित्त्वा क्षेत्रेहलमुखक्षते।

पद्मरेणुनिभैः कीर्णां शुभैः केदारपांसुभिः।।[५]

जनक-दुहिता अपरूप सुन्दरी हैं इसीलिए तो अनेक राजा उनसे विवाहेच्छुक हैं। लेकिन जनक ने देव-कन्या के समान सीता को **'वीर्यशुल्का'**[६] बनाया है। पराक्रम और शौर्य का प्रदर्शन कर स्वयं को सर्वोत्कृष्ट प्रमाणित करने वाला व्यक्ति ही सुन्दरी सीता का वरण कर सकता है। पराक्रम का निकष शिव धनुष को उठाने का है। तुलसी ने सीता के सौन्दर्य को राम के नयनों से कुछ इस प्रकार देखा है

सुंदरता कहुँ सुन्दर करई, छवि गृहँ दीपसिखा जनु बरई।[७]

सीता की श्रीशोभा सौन्दर्य को भी सुन्दर बनाने वाली है। सीता की उपस्थिति अन्धकारयुक्त सौन्दर्य-गृह में जगमगाती दीपशिखा के समान छवि-उजास विकीर्ण करने वाली है। भक्त तुलसी सीता की देहयष्टि की शोभा-वर्णन के प्रसंगों से सर्वथा बचे हैं और केवल **'सिय सोभा नहिं जाइ बखानी, जगदम्बिका रूप गुन खानी।'**[८] या **'उपमा सकल मोहि लघु लागीं, प्राकृत नारि अंग अनुरागीं'**[९] कहकर चुप हो गए हैं। उनके लिए सीता **'छविगन मध्य महाछवि'** जैसी रही है। आदिकवि वाल्मीकि ने उनके

---

२ तुलसीकृत रामचरितमानस, बालकाण्ड (प्रथम सोपान), श्लोक-५

३ तुलसीकृत रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा सं० १७.७-८

४ अथ मे कृषतः क्षेत्रं लाङ्गलादुत्थिता ततः। क्षेत्रे शोधयता लब्ध्वा नाम्ना सीतेति विश्रुता।। वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, ६६ सर्ग, श्लोक-१३

५ वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड, १६ सर्ग, श्लोक-१६

६ वीर्यशुल्कां ममं सुतां सुरसुतोपमाम्, वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, ७१ सर्ग, श्लोक-२१

७ तुलसीकृत रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा सं० २२९.७

८ तुलसीकृत रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा सं० २४६.१

९ वही, दोहा सं० २४६.२

अन्तर्बाह्य सौन्दर्य की यथेच्छ प्रस्तुति की है। अपहृत होती सीता के अंग-प्रत्यंग-वर्णन व शक्रसुत की धृष्टता-प्रसंग में सीता के अनावृत सौन्दर्य-वर्णन-प्रसंग का यदि परिहार कर दें तो सीता का शालीन सौन्दर्य ही दृष्टिगत होता है। उसकी रूपराशि देखकर लगता है कि रूप की रचना करने वाला विधाता सम्भवतः सीता को रचकर अपने कार्य से विरत हो गया है। इसीलिए उनके रूप की समता करने वाली कोई दूसरी स्त्री इस वसुधा में दृष्टिगोचर नहीं होती।[१०] सीता का निष्कलुष सौन्दर्य **'मोह न नारि नारि कै रूपा'** की उक्ति को भी झुठलाता हुआ शूर्पणखा द्वारा भूरि-भूरि प्रशंसा करवाता है-

सा सुकेशी सुनासोरुः सुरूपा च यशस्विनी।
देवतेव वनस्यास्य राजते श्रीरिवा परा॥
तप्तकांचनवर्णाभा रक्ततुंगनखी शुभा।
सीता नाम वरारोहा, वैदेही तनुमध्यगा॥
नैव देवी च गन्धर्वी न यक्षी न च किन्नरी।
तथा रूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले॥
सा सुशीला वपुः श्लाघ्या रूपेणाप्रतिमा भुवि॥ [११]

वे साक्षात् सौन्दर्य व शुभलक्षणों की प्रतिमूर्ति हैं। पाणिग्रहण के समय जनक ने सीता को राम को समर्पित करते हुए विश्वास दिलाया है कि- **पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा**[१२] सीता ने इस विश्वास को कभी भंग भी नहीं किया है। वे मानसिक, वाचिक, कायिक कर्मों में सदैव राम के समर्थन में खड़ी दिखायी देती हैं। सीता के इन गुणों से अभिभूत होकर ही राम उनसे अत्यन्त प्रेम करते हैं। **गुणाद्रूपगुणाद्यापि प्रीतिर्भूयोऽभिवर्धते'**[१३] सीता की सबसे बड़ी विशेषता है कि वे राम के हृदयगत मनोभावों को बिना कहे भी जान जाती हैं। उनमें परस्पंर अनन्य अनुराग है और यह अनुराग ही उनमें सफल गृहस्थ-जीवन की चुगली करता है-

अन्तर्गतमपि व्यक्तमाख्यति हृदयं 'हृदा।
तस्य भूपो विशेषेण मैथिली जनकात्मजा॥
अतीव रामः शुशुभे मुदान्वितो।
विभुः श्रिया विष्णुरिवामरेश्वरः।[१४]

वाल्मीकि रामायण में सीता समस्त पारिवारिक-सामाजिक धार्मिक परम्पराओं का निर्वहण करती

---

१० त्वां कृत्वोपरतो मन्ये रूपकर्त्ता स विश्वकृत्। न हि रूपोपमा ह्यन्या तवास्ति शुभदर्शने॥ वा०रा० सुन्दरकाण्ड, २० सर्ग, श्लोक १३२

११ वा०रा० अरण्यकाण्ड, ३४ सर्ग, श्लोक १६-१८ और २०

१२ वा०रा०, बालकाण्ड, ७३ सर्ग, श्लोक २७ का अर्द्धांश

१३ वा०रा०, बा०का० ७७ सर्ग, श्लोक २७ का अर्द्धांश

१४ वा०रा०, बालकाण्ड, ७७ सर्ग, श्लोक २७ व २९

दिखाई देती हैं। वे राम के साथ **नारायणोपासना**[१५] करती हुई और **उपवास**[१६] करती हुई दृष्टिगत हुई हैं। वे कुल-परम्परा के समस्त व्रत-नियमों का पालन करने हेतु तत्पर हैं। सम्भावित राज्याभिषेक से पूर्व वे राम-सहित संयम रखतें हुए कुश-शय्या पर सोती हैं।[१७] सीता के इन्हीं गुणों के कारण राम उनका सम्मान करते हैं और सीता भी राम के प्रति सदैव मांगलिक चिन्तन और शुभाशंसाओं से युक्त हैं।[१८]

वनवास की स्थिति आने पर पति का साथ देने को उद्यत हैं। वाल्मीकि रामायण में सीता का मुखर रूप सामने आया है। वह पति को अपने दृढ़ तर्कों से पराजित करने की क्षमता रखती है। अपनी बात को मनवाने के लिए तीक्ष्ण कटाक्षों से भी नहीं बची है। जबकि तुलसी की सीता अपेक्षाकृत संकोची हैं। वे अपनी इच्छा को प्रकट तो करती हैं, लेकिन इस इच्छा में रुदन, करुणा और दीनता प्रदर्शित होती है-

समाचार तेहि समय सुनि सीय उठी अकुलाइ
जाइ सास पद कमल जुग बंदि बैठि सिरू नाइ।[१९]

कौशल्या सीता को वन भेजने से हिचकिंचा रही हैं लेकिन वे उनके मनोभावों को भी समझती हैं। माता कौशल्या जांनती है कि सीता इतनी सुकुमारी हैं कि **'चित्र लिखित कपि देखि डेराती'**।[२०] यही बात राम भी जानते हैं कि मानसरोवर के जल में पली हुई हंसनी कहीं खारे पानी के समुद्र में भी जी सकती है?[२१] प्रत्युत्तर में सीता केवल यही कह पाती हैं कि पति के बिना सभी सम्बन्ध दुःखदायी और शोकप्रद होंगे।[२२] वे मानती हैं कि बिना प्राण की देह और जल के बिना मछली का जैसे जीवन है ठीक वैसे ही पति बिना पत्नी की स्थिति है।[२३] इसलिए राम के वियोग में उनका जीवन धारण करना लगभग असंभव सा हो जाएगा।[२४] तुलसी की सीता केवल शिष्ट स्वर में विस्मय प्रकट करती हुई अपना विरोध दर्ज कराती हैं- **'मैं**

---

१५ गते पुरोहिते रामः स्नातो नियतमानसः। सह पत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागतम्। वा०रा०, अयो०काण्ड, ६ सर्ग, श्लोक-१

१६ कृतोपवासं तु वैदेह्या सह राघवम्। वा०रा०, अयो०काण्ड, ६सर्ग, श्लोक-९

१७ वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, ६वाँ सर्ग, श्लोक ३-४

१८ पति सम्मानिता सीता भर्तारमसितेक्षणा। आ द्वारमनुवव्राज मंगलान्यभिदध्युषी॥ राज्यं द्विजातिभिर्जुष्टं राजसूयाभिषेचनम्। कर्तुमर्हति ते राजा वासवस्येव लौककृत्॥ दीक्षितं व्रतसम्पन्नं वरा जिनधरं शुचिम्। कुरङ्गपाणिं च पश्यन्ती त्वां भजाम्यहम्॥ वही, श्लोक २१-२३

१९ तुलसीकृत रामचरितमानस, अयो० काण्ड, दोहा सं० ५७

२० वही, दोहा सं० ५९.४

२१ जिअइ कि लवन पयोधि मराली, रामचरितमानस, अयो०का० ६२.६

२२ मतु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई। सासु ससुर गुर सजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥ जहँ लगि नाथ नेह अरुनाते। पिय बिनु तियहि तरनिहुते ताते। तनु धनु धाम धरनि पुर राजू। पति विहीन सबु सोक समाजू॥ तुलसीकृत रामचरितमानस, अयो०का० ६४.१-४

२३ जिय बिनु देह नदी बिनु बारी, तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी। वही, अयो०का० ६४.७

२४ राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत न जनि अहिं प्राण। वही, दोहा सं० ६६

सुकुमारि नाथ बन जोगू, तुम्हहिं उचित तप मो कहँ भोगू।'[२५] सीता तो स्वयं को राम की छाया मानती हैं। जिस प्रकार चन्द्रमा की चाँदनी और सूरज की प्रभा विलग नहीं हो सकती उसी प्रकार सीता भी राम के बिना नहीं रह सकतीं।[२६] तुलसी की सीता का विरोध शिष्ट, नम्र और संकोच से आवृत है, वहीं वाल्मीकि की सीता का मुखर विद्रोह स्पष्ट दिखाई देता है। वाल्मीकि रामायण के २७वें सर्ग में सीता के त्याग भरित ओजस्वी रूप की पराकाष्ठा है। साथ ही यह भारतीय वैवाहिक परम्परा का वह उदात्त स्वरूप भी है जहाँ वरण एक पारस्परिक समझौता न होकर एक-दूसरे के प्रति समर्पण और प्रेम का निदर्शन है। पत्नी केवल सुख की साथी नहीं है अपितु पति के दुःख में भी कन्धे से कन्धा मिलाकर उन्हें सान्त्वना देती है। आत्मविश्वास से लबालब भरी वाल्मीकि की सीता में पर्याप्त साहस है कि वे कह सके कि मैं स्वयं निर्णय ले सकती हूँ। वे राम से स्पष्ट शब्दों में कह सकती हैं कि उनके लिए क्या करणीय है या क्या अकरणीय है, इसके लिए उन्हें किसी के उपदेश की आवश्यकता नहीं है। वे अपने माता-पिता द्वारा प्रदत्त संस्कारों के कारण पर्याप्त विवके रखती हैं-

अनुशिष्टास्मि मात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम्।
नास्मि सम्प्रति वक्तव्या वर्तितव्यं यथा मया।।[२७]

वे इतनी दृढ़ निश्चयी है कि उनके द्वारा लिए गए वन-गमन के निर्णय से पीछे नहीं हटाया जा सकता।[२८] वाल्मीकि रामायण की सीता पति के साथ सुख-दुःख को समान भाव से अंगीकार करना चाहती हैं। राम को मनवाने के लिये वे हर प्रकार के हथकंडे अपनाती हैं। अभीष्ट की प्राप्ति हेतु वे कटूक्ति का प्रयोग करने से पीछे नहीं हटतीं-

किं त्वामन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः।
रामं जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम्।।[२९]

अर्थात् मेरे पिता मिथिलाधिपति जनक ने आपको जामाता के रूप में क्या यह समझकर अपनाया था कि आप केवल शरीर से ही पुरुष हैं, क्रिया-कलाप से तो स्त्री ही हैं। इस तरह सीता राम को स्त्री के समान डरपोक होने की संज्ञा देने से भी बाज नहीं आतीं। वे तो भरत के अनुशासन में अयोध्या रहना ही नहीं चाहतीं। जहाँ तुलसी की सीता भरत के प्रति किसी भी प्रतिक्रिया को व्यक्त किये बिना राम के साथ वन-अनुगमन करना चाहती हैं, वही वाल्मीकि की सीता में भरत के प्रति यत्किंचित् रोष और सहज द्वेष झलकता है। भरत के वशवर्ती और आज्ञापालक राम बनकर रहना चाहें तो रहे, वे नहीं रहेंगी। सीता का स्पष्ट कथन है-

---

२५ वही, दोहा सं० ६६.८

२६ तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी। प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई, कहँ चन्द्रिका चंदु तजि जाई। वही, दोहा सं० ९६.५-६

२७ वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, २७ सर्ग, श्लोक सं० १०

२८ नाहं शक्या महाभाग निवर्तयितुमुद्यता। वही, श्लोक सं० १५

२९ वाल्मीकि रामायण अयोध्या काण्ड, ३० सर्ग, श्लोक सं० ३

यस्य पथ्यंचरामात्थ यस्य चार्थेऽवरुध्यसे।
त्वं तस्य भव वश्यश्च विधेयश्च सदानघ।।[३०]

प्रगल्भा सीता तो राम की तुलना स्त्री की कमाई खाने वाले नट के रूप में करती हैं। उन्हें सती-साध्वी सीता को भरत के आश्रय में छोड़ना कदापि नहीं सुहाता।[३१] सीता इतनी बुद्धिमती हैं कि उनके पास राम के सभी तर्कों का प्रत्युत्तर है। उन्हें वन में आने वाले कष्टों का भान है।[३२] राम के द्वारा वन का यथार्थ किन्तु भयंकर खाका खीचे जाने पर सीता अपने दृढ़ निश्चय से पीछे नहीं हटतीं। वे संयमित हैं अतः दुःख-सुख को समान मानकर शान्त रह सकती हैं। उन्होंने तो अपने मन में यह संकल्प ले लिया है कि यदि राम दुर्गम वन में प्रस्थान कर रहे होंगे तो वे काँटों को कुचलकर उनसे आगे चलती हुई उनका मार्ग प्रशस्त कर रही होंगी।[३३] वे स्वयं को राम के लिए उतना ही उपादेय समझती हैं, जितना बीहड़ वन में यात्रा करते व्यक्ति के लिए प्यास बुझाने के लिए ले जाया जाता जीवन-जल।[३४] वे नारी धर्म को भली-भांति जानती हैं इसलिए पति बिना किसी भी प्रकार का सुखोपभोग उन्हें इष्ट नहीं है-

प्रासादाग्रे विमानैर्वा वैहायसगतेन वा।
सर्वावस्था गता भर्तुः पादच्छाया विशिष्यते।।[३५]

उनका तो स्पष्ट निर्णय है कि एक स्त्री अपने पति के भाग्य का अनुसरण करती है। इसलिए पति के वन में रहने की आज्ञा के साथ उन्हें स्वतः ही वन में रहने की आज्ञा मिल गयी है। इस लोक के कोई भी सम्बन्ध पति के समान सच्चे सहायक नहीं हैं।[३६] उनका भोला सा प्रश्न है कि वे उनकी धर्मपत्नी हैं, पतिव्रता धर्म का उत्तम पालन करने वाली हैं तो ऐसा कौन सा कारण है कि जो वे उनका त्याग करना चाहते हैं? वे सुख-दुःख को बिना किसी शिकायत के भोगने के लिए उत्सुक हैं तो फिर वे उन्हें क्यों नहीं ले जाना चाहते?[३७] इसीलिए राम का उन्हें साथ लिये बिना प्रस्थान करना उचित नहीं है। यदि तपस्या करनी हो, वन में रहना हो अथवा स्वर्ग में जाना हो तो सभी जगह वे उनके साथ रहना चाहेंगी।[३८]

सीता-राम के जिन पारस्परिक व्यवहार के छोटे से छोटे प्रसंगों को वाल्मीकि ने विस्तार से

---

३० वही, श्लोक ९

३१ स्वयं तु भार्यां कौमारीं चिरमध्युषितां सतीम्। शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि।। वही, श्लोक ८

३२ वनवासे हि जानामि दुःखानि बहुधा किल। प्राप्यन्ते नियतं वीर पुरुषैरकृतात्मभिः।। वाल्मीकि रामायण अयोध्या काण्ड, २९ सर्ग, श्लोक सं० १२

३३ यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव। अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टान्।। वही, २७ सर्ग, श्लोक ७

३४ इर्ष्या रोषं बहिष्कृत्य भुक्तशेषमिवोदकम्। नय मां वीर विस्रब्धः पापं मयि न विद्यते।। वही, २७ सर्ग, श्लोक ८

३५ वही, २७ सर्ग, श्लोक ९

३६ भर्तुभाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ। अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि।। न पिता वात्मजो वात्मा न माता न सखीजनः। इह प्रेत्य न नारीणां पतिरेको गतिः सदा।। वही, २७ सर्ग, श्लोक ५-६

३७ एवमस्मात् स्वकां नारीं सुवृत्तां हि पतिव्रताम्। नाभि रोचसे नेतुं स्वं मां केनेह हेतुना।। भक्तां पतिव्रतां दीनां मां समां सुखदुःखयोः। नेतुर्महसि काकुत्स्थ समानसुखदुःखनीम्।। वही, २९ सर्ग, श्लोक १९-२०

३८ वाल्मीकि रामायण, अयो०का०, ३० सर्ग, श्लोक १०

अभिव्यक्ति दी है, तुलसी के रामचरितमानस में इसका अभाव है। इस दृष्टि से वाल्मीकि सूक्ष्म भावग्राही हैं। राजभवन से लौटते हुए राम के मनोभावों को वाल्मीकि की सीता ने शीघ्र पहचाना है। राम का शोकावेग से मुरझाया और लज्जावनत मुखमण्डल देखते ही वे कह उठती हैं-

अपूर्वो मुखवर्णश्च न प्रहर्षश्च लक्ष्यते।[३९] एक अन्य स्थल पर वल्कल न पहन पाने का अभ्यास होने पर सीता के लज्जित होने और राम द्वारा शीघ्रता से उनके पास जाकर सहायता करने का विस्तृत प्रसंग[४०] न केवल पारस्परिक अनुराग का अभिव्यञ्जक है, अपितु वाल्मीकि के द्वारा इन प्रसंगों का उठाना काव्य की मार्मिकता और संबेदनीयता में अभिवृद्धि भी करता है। राम की सहमति मिलते ही सीता अपने सभी भोग्य पदार्थो को ब्राह्मणों को दान करने हेतु उद्यत हो जाती हैं-

ततः प्रहृष्टा प्रतिपूर्णमानसा यशस्विनी भर्तुरवेक्ष्य भाषितम्।
धनानि रत्नानि च दातुमङ्गना प्रचक्रमे धर्मभृतां मनस्विनी।।[४१]

सीता परम विवेकी है। स्वकर्मानुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने कृत-कर्मों का फल भोगता है, जो उसे वर्तमान रूप में भाग्य के रूप में मिलता है। इसीलिए वे कहती हैं-

आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा।
स्वानि पुण्यानि भुंजानाः स्वं एवं भाग्यमुपासते।।[४२]

वाल्मीकि हो या तुलसी दोनों ने ही सीता को परम्परावादी और स्वभाव से ही भीरु स्त्री की तरह मनौती मांगते हुए दिखाया है। चौदह वर्ष तक वनवास के पश्चात् सकुशल लौटने की कामना से सीता ने गंगा की स्तुति की है-

त्वं हि त्रिपथगे देवि ब्रह्मलोकं समक्षसे।
भार्या चोदाधिराजस्य लोकेऽस्मिन् समादृश्यसे।।
सा त्वां देवि नमस्यामि प्रशंसामि च शोभने।
प्राप्तराज्ये नरव्याघ्रे शिवेन पुनरागते।।[४३]

उन्होंने सकुशल लौटने की कामना से उनकी विधिवत् पूजन का भी संकल्प रखा है। यही नहीं ब्राह्मणों को लाखों गाय, उत्तमोत्तम भोजन व वस्त्राभूषण इत्यादि देने की प्रतिज्ञा भी की है।[४४] तुलसी ने भी गंगा तट पर उतरकर सीता से पूजन कराया है-

---

३९ वही, २६ सर्ग, श्लोक १८

४० कृत्वा कण्ठे स्म सा चीरमेकमादाय पाणिना। तस्थौ ह्यकुशला तत्र व्रीडिता जनकात्मजा।। तस्यास्तत् क्षिप्रमागत्य रामो धर्मभृतां वरः। चीरं बबन्ध सीतायाः कौशेयस्योपरि स्वयम्।। वही, ३७ सर्ग, श्लोक १३-१४

४१ वही, ३० सर्ग, श्लोक ४७

४२ वही, २७ सर्ग, श्लोक ४

४३ वही, ५२ सर्ग, श्लोक ८६-८७

४४ सुराघटसहस्रेण मांसभूतौदनेन च। यक्ष्ये त्वां प्रीयतां देवि पुरीं पुनरुपागता।। यानि त्वत्तीरवासीनि दैवतानि च सन्ति हि। तानि सर्वाणि यक्ष्यामि तीर्थन्यायज्ञनानि च।। वही, ५२ सर्ग, श्लोक ८९-९०

पति देवर संग कुसल बहोरी, आइ करौं जेहिं पूजा तोरी।[४५] लेकिन यहाँ एक बार भी सीता लौकिक स्त्री के रूप में नहीं दिखाई गई हैं। गंगा जी ने उनको आदि शक्ति पराम्बा के रूप में पहचाना है और सीता के पूजन को भी **'कृपा कीन्हि मोहि दीन्हि बड़ाई'**[४६] कहकर उनकी कृपा बताया है। वाल्मीकि ने सीता को यमुना और श्यामवट की प्रार्थना करते हुए भी दिखाया है। यहाँ वे भयभीत सामान्य नारी हैं जो अपने परिवार की मंगल कामना करती हुई जिस-तिस को पूज रही हैं-

कालिन्दीमध्यमायाता सीता त्वेनामवन्दत।
स्वस्ति देवि तरामि त्वां पारयेन्मे पतिर्व्रतम्॥
यक्ष्ये त्वां गोसहस्रेण सुराघटशतेन च।
स्वस्ति प्रत्यागते रामे पुरीमिक्ष्वाकुपलिताम्॥[४७]

(अर्थात् यमुना देवी! इस बेड़े द्वारा मैं आपके पार जा रही हूँ। आप ऐसी कृपा करें, जिससे हम लोग सकुशल पार हो जाएँ और मेरे पति देव अपनी वनवास विषयक प्रतिज्ञा को निर्विघ्न पूर्ण करें। इक्ष्वाकु वंशी वीरों द्वारा पालित अयोध्या पुरी में श्री रघुनाथ जी के सकुशल लौट आने पर मैं आपके किनारे एक सहस्र गायों का दान करूँगी और सैकड़ों देव दुर्लभ पदार्थ अर्पित करके आपकी पूजा करूँगी।) कुछ ऐसी ही पूजा उन्होंने **श्याम वट** के सामने भी की है।[४८]

सीता की पति के प्रति श्रद्धा और निष्ठा अनन्य है। वन-गमन के समय भीतमना कौशल्या सीता को उपदेशित करते हुए कहती हैं कि वनवासी राम निर्धन हो या धनी तुम्हारे लिए देवता तुल्य है[४९] तो सीता का समाश्वासन है कि वें भली भाँति जानती हैं कि पति स्त्री के लिए देवता है।[५०] यही नहीं उन्हें तो यह भी ज्ञात है कि जिस प्रकार बिना तार के वीणा नहीं बज सकती, बिना पहिये के रथ नहीं चल सकता, उसी प्रकार सौ पुत्रों की माता होने पर भी पति के बिना पत्नी सुखी नहीं रह सकती।[५१]

सीता ने स्वयं को वन की जीवन शैली के अनुरूप ढाल लिया है। वे वहाँ परम आनन्द से रहती हैं। परम ऐश्वर्य में लालित-पालित सीता वन में प्रसन्न हैं और उन्होंने अपने को कष्टप्रद वातावरण के अनुकूल कर लिया है-

परनकुटी प्रिय प्रियतम संगा। प्रिय परिवारु कुरंग बिहंगा॥
सास ससुर सम मुनितिय मुनिबर। असनु अमिअ समकंदमूल फर॥

---

४५ तुलसीकृत रामचरितमानस, अयो०का०, १०२.३
४६ वही, १०२.७
४७ वाल्मीकि रामायण, अयो०का०, ५५ सर्ग, श्लोक १९-२०
४८ वाल्मीकि रामायण, अयो०का०, ५५ सर्ग, श्लोक २४-२५
४९ देवसमस्त्वेष निर्धनः सधनोऽपि वा। वाल्मीकि रामायण, अयो०का०, ३९ श्लोक २५
५० स्त्रिया भर्ता ही दैवतम्। वाल्मीकि रामायण, अयो०का०, ३९ सर्ग, श्लोक ३१
५१ ना तंत्री वाद्यते वीणा नाचक्रो विद्यते रथः। नापतिः सुखमेधेत या स्यादपि शतात्मजा॥ वही, श्लोक २९

नाथ साथ साँथरी सुहाई। मयन सयन सय सम सुख दाई।।[५२]

सीता को प्रियतम के साथ पर्णकुटी भी बहुत प्यारी लगती है। वन के पशु-पक्षी उसे कुटुम्बियों के समान हितकारी लगते हैं। मुनि-पत्नियाँ साँस के समान और श्रेष्ठ मुनि ससुर के समान, कन्द-मूल फल का आहार अमृत के समान लगता है। यहीं नहीं कुश-पत्तों की शय्या ऐश्वर्य सेज से भी अधिक प्रिय लगने लगी है। यहाँ सीता का त्याग, सहनशीलता, धैर्य और संवेदनशीलता की पराकाष्ठा दिखाई पड़ती है। यहीं नहीं सीता के पिता जनक को भी उनका त्याग गौरवान्वित कर रहा है-

पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ। सुजस धवल जगु कह सबु कोऊ।।[५३]

पुत्री का सुकृत्य पिता के यश को वृद्धि करता हुआ उन्हें संतोष प्रदान करता है। भावभरित पिता के अन्तस् से ये शुभाशंसा निकल पड़ती है कि बेटी सीता की कीर्ति गंगा जी के समान करोड़ों ब्रह्माण्ड में बह चली है।[५४]

वाल्मीकि और रामचरितमानस दोनों में ही 'अनसूया-सीता-प्रसंग' समान रूप से सीता को पातिव्रत्यधर्म की शिक्षा देता हुआ दिखाई देता है। वाल्मीकि रामायण में अनसूया द्वारा सीता को दिव्य हार वस्त्र, आभूषण, बहुमूल्य अंगराग प्रदान कर सत्कार करते दिखाया गया है[५५] लेकिन रामचरितमानस में ऐसा कोई दृश्य नहीं है। अनसूया की दृष्टि में सीता का समस्त ऐश्वर्य एवं पद-प्रतिष्ठा का परित्याग कर राम का अनुकरण करना एक उत्कृष्ट उदाहरण है। उनकी दृष्टि में नारी के लिए पति सदैव ही अनुकरणीय है-

दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः।
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः।।
नातो विशिष्टं पश्यामि बान्धवं विमृशन्त्यहम्।
सर्वत्र योगं वैदेहि तपःकृतमिवाव्ययम्।।[५६]

तुलसीदास ने भी अरण्य काण्ड में कुछ यही भाव रखे हैं-

धीरज धर्म मित्र अरुनारी, आपदकाल परिखिअहिं चारी।
वृद्ध रोगबस जड़ धन हीना, अंध बधिर क्रोधी अतिदीना।
ऐसहु पति कर किए अपमाना, नारि पाव जमपुर दुःखनाना।
एकइ धर्म एक व्रत नेमा, काँय वचन मम पति पद प्रेमा।[५७]

रामचरितमानस की सीता वाल्मीकि रामायण की सीता के समान मुखर नहीं हैं वे वृद्धा अनसूया की बात आदरपूर्वक चुपचाप सुनती हैं जबकि वाल्मीकि रामायण में सीता अनसूया की बातों को सुनकर

---

५२ तुलसीकृत रामचरितमानस, अयो०का०, १३९.५-७
५३ वही, २८६.२
५४ वही, २८६.३
५५ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड, ११८ सर्ग, श्लोक १८-१९
५६ वही, श्लोक १२४-१२५
५७ रामचरितमानस, अरण्य काण्ड, दोहा सं० ४.७-१०

अपने भी विचार रखती हुई दिखाई पड़ती हैं।

रामायण में वाल्मीकि ने महर्षि अगस्त्य द्वारा भी सीता के अद्वितीय गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा करवायी है। सामान्य स्त्रियाँ पति की सुख सम्पन्नता में साथ देती हैं और विषम परिस्थिति होते ही उनका त्याग कर देती हैं, लेकिन सीता ऐसी नहीं हैं-

एष हि प्रकृतिः स्त्रीणामासृष्टे रघुनन्दन।
समस्थमनुरज्यन्ते विषमस्थं त्यजन्ति च।
शतह्रदानां लोलत्वं शस्त्राणां तीक्ष्णतां तथा।
गरुडानिलयो शैघ्र्यमनुगच्छन्ति योषितः।
इयंतु भवतो भार्या दोषैरतैर्विवार्जिता।
श्लाघ्या च व्यपदेश्या च यथा देवीष्वरुन्धती।[५८]

वाल्मीकि रामायण में ही सीता का दयार्द्र, अहिंसा प्रेमी और विवेकी रूप दृष्टिगोचर होता है। सीता को राम द्वारा ऋषियों की रक्षा हेतु राक्षसों का वध करने की प्रतिज्ञा का संस्मरण है और इस प्रतिज्ञा में प्रमादवश कहीं निरपराध राक्षस या वन्य पशु-पक्षी न मारे जायें और इस तरह से राम द्वारा कोई पाप न हो जाए इसका भय और चिन्ता उनके मन में सदा रहती हैं। इसीलिए वे राम को समझाती हैं कि बिना बैर के दण्डकारण्यवासी राक्षसों के वध का विचार नहीं करना चाहिए क्योंकि बिना अपराध के किसी को मारना उचित नहीं है। उनका प्रश्न है कि वनवास में हिंसामय कठोर कर्म और सर्वहितार्थ तप दोनों में कहाँ सामंजस्य है?[५९] सीता की दृष्टि में इस संसार में काम से उत्पन्न तीन ही व्यसन है- मिथ्या-भाषण, परस्त्री गमन और बिना वैर के दूसरों के प्रति क्रूरतापूर्ण व्यवहार। राम के सामने बिना बैर विरोध के हिंसा करने की विकट स्थिति उत्पन्न है।[६०] सीता इस पाप कर्म से बचना चाहती हैं। उनका मानना है कि वे इस समय तपोवन में निवास कर रहे हैं अतः यहाँ अहिंसा के धर्म का पालन करना ही उनके लिए उचित है। सीता का परम विवेकी मन कहता है-

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात् प्रभवते सुखम्।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्।।
आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्षयित्वा प्रयतः।

---

५८ वाल्मीकि रामायण, अरण्य काण्ड, १३ सर्ग, श्लोक ५-७

५९ बुद्धिवैरं बिना हन्तु राक्षासान् दण्डिकाश्रितान्। अपराधं विना हन्तुं लोको वीर न मंस्यते। क्व च शस्त्रं क्व च वनं क्व च क्षात्र तपः क्व च। व्याविद्धामिदमस्माभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम्। वाल्मीकि रामायण, अरण्य काण्ड, ९ सर्ग, श्लोक २५, २७

६० त्रीण्येव व्यसानान्यत्र कामजानि भवन्त्युत। मिथ्यावाक्यं तु परमं तस्माद् गुरुतरावुभौ। परदाराभिगमनं विना वैरं च रौद्रता। मिथ्यावाक्यं न ते भूतं न भविष्यति राघव। तृतीयं यदिदं रौद्रं परप्राणाभिहिंसनम्। निर्वैरं क्रियते मोहात् तच्च ते समुपस्थितम्। वाल्मीकि रामायण, अरण्य काण्ड, ९ सर्ग, श्लोक ३, ४, ९

प्राप्तये निपुणैर्धर्मो नं सुखाल्लभते सुखम्।।[६१]

मारीच प्रसंग में- सीता का स्त्री सुलभ हठधर्मिता का स्वभाव सामने आया है जहाँ वे अनूठे मृग को देखकर उसे पाने की हठ कर बैठती हैं। वाल्मीकि रामायण में राम को आपत्ति में पड़ा जानकर वे लक्ष्मण के प्रति अत्यन्त कटु हो जाती हैं। यहाँ सीता को अविवेकी भावावेग में डूबा हुआ पाते हैं। जहाँ रामचरितमानस में मर्यादा की रक्षार्थ **'मरम वचन सीता तब बोला'**[६२] कहकर तुलसी ने अप्रिय प्रसंग को छोड़ दिया है। वहीं वाल्मीकि रामायण में इसकी विस्तार से चर्चा है। सीता लक्ष्मण को शत्रु मानने से भी नहीं चूकतीं और उनके चरित्र को भी संदेह की दृष्टि से देखती हैं।[६३] लक्ष्मण के बहु भांति समझाने पर भी सीता नहीं मानती हैं और क्रोधावेश में अनेक अपशब्दों का प्रयोग करती हैं-

अनार्याकरुणारम्भ नृशंस कुलपांसन।
अहं तव प्रिये मन्ये रामस्य व्यसनं महत्।।
रामस्य व्यसनं दृष्ट्वा, तेनैतानि प्रभाषसे।
नैव चित्रं सपत्नेषु पापं लक्ष्मण यद् भवेत्।
त्वद्विधेषु नृशंसेषु नित्यं प्रच्छन्नचारिषु।
सुदुष्टस्त्वं वने राममेकमेकोऽनुगच्छसि।
मम हेतोः प्रतिच्छन्नः प्रत्युक्तो भरतेन वा।।[६४]

सीता ने तो यहाँ राम के साथ आने के लक्ष्मण के मन्तव्य पर ही प्रश्नचिह्न लगा दिया है। यहीं नहीं वे तो यह भी मानने से पीछे नहीं हटतीं कि भरत ने उन्हें भेजा है। सीता का यह रूप रामचरितमानस में कही नहीं दिखाई देता। रामायण की सीता की प्रतिक्रिया भले ही स्वाभाविक सी क्यों ना जान पड़े गरिमामयी नहीं दिखाई पड़ती।

वाल्मीकि रामायण में सीता राक्षसों के द्वारा प्रताड़ित होती हुई भी दिखाई गयी हैं। जहाँ तुलसी के रामचरितमानस में उनपर राक्षसी-आक्रमण की सूचना भर दी गई है वहीं वाल्मीकि रामायण में इन प्रसंगों को विस्तार से दिखाया गया है।[६५] राम ने भी सीता के राक्षसों द्वारा स्पर्श किए जाने पर दुःख जताया है-

परस्पर्शात् तु वैदेहय्या न दुःखतरमस्ति मे।

---

६१ वही, श्लोक ३०-३१

६२ रामचरितमानस, अरण्य काण्ड, २७.५

६३ सौमित्रे मित्ररूपेण भ्रातुस्त्वमसि शत्रुवत्। यस्त्वमस्यामवास्थायां भ्रातरं नाभिपद्यसे। इच्छसि त्वं विनश्यन्तं रामं लक्ष्मण मत्कृते।। लोभात्तु मत्कृते नूनं नानुगच्छसि राघवम्। व्यसनं ते प्रियं मन्ये स्नेहो भ्रातरि नास्ति ते।। वही, ४५ सर्ग, श्लोक ५,६,७

६४ वही, श्लोक २१, २२, २३, २४

६५ अङ्गेनादाय वैदेहीमपक्रम्य तदाब्रवीत्। युवां जटाचीरधरौ सभार्यौ क्षीणजीवितौ।। इयं नारी वरारोहा मम भार्या भविष्यति। युवयोः पापयोश्चांह पास्यामि रुधिर 'मृध'।। वाल्मीकि रामायण, अरण्य काण्ड, २ सर्ग, श्लोक १०,१३

पितुर्विनाशात् सौमित्रे स्वराज्यहरणात् तथा।[६६]

तुलसीकृत रामचरितमानस में सीता के देवत्व और अलौकिकता को बचाये रखने के लिए उन्हें अपहरण से पूर्व अग्नि में प्रवेश कर छायामूर्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। राम द्वारा यह कहलाये जाने पर कि वे कुछ समय तक राक्षसों के विनाशार्थ मानुषी लीला करेंगे इसलिए उन्हें कुछ समय तक अग्नि में निवास करना चाहिए; सीता को शीघ्र ही राम की आज्ञा का परिपालन करते हुए अग्नि में प्रवेशित दिखाया गया है और लीला हेतु अपने ही शील स्वभावानुसार रूपवती छायामूर्ति को राम के साथ प्रस्तुत कराया गया है।[६७] वाल्मीकि रामायण में इस अलौकिकत्व से अलग हटकर सीता का मानुषी रूप सामने आता है। अरण्य काण्ड में निष्कपट और भोली सीता परिव्रजाक रूप में रावण के समुपस्थित होने पर उसका आतिथ्य सत्कार करती हैं–

इयं बृसी ब्राह्मण काममास्यतामिदं च पाद्यं प्रतिगृह्यतामिति।।
इदं च सिद्धं वनजातमुत्तमं त्वदर्थमव्यग्रमिहोपभुज्यताम्।।[६८]

वे पर परम्परागत हिन्दू संस्कारानुसार अतिथि को बैठने के लिए चटाई, पाद्यार्थ जल और भोजन के लिए वन के उत्तम फल–फूल समर्पित करती हैं। यही नहीं अतिथि सेवा की परम्परा का निर्वहण करती हुई कुछ पल विश्राम की सलाह भी देती हैं ताकि वन से लौटने के पश्चात् राम लक्ष्मण द्वारा लाये गये कन्द मूल फलों से वे उनका उचित सत्कार कर सकें।[६९] अपहृत होती तुलसी की सीता तो शीघ्र भयभीत होकर विलाप करती हुई दृष्टिगत होती हैं[७०] लेकिन वाल्मीकि की सीता में पर्याप्त धैर्य एवं साहस है और वह यथाशक्य रावण को समझाने की भी कोशिश करती हुई अपने परम विवेकी होने का परिचय देती हैं। राम के प्रति उनका अनन्य प्रेम व समर्पण स्पृहणीय है। वे उन सभी भौतिक सुखों को तिरस्कृत करती हैं जो रावण द्वारा प्रलोभन स्वरूप उनके समक्ष रखे जा रहे हैं। वे तो रावण को चेतावनी देती हैं कि वह जलती हुई अग्नि को कपड़े में बाँधकर ले जा रहा है।[७१] वे रावण को कर्म–परिपाक को भी समझाती हैं–

न तु सद्योऽविनीतस्य दृश्यते कर्मणः फलम्।

---

६६ वही, श्लोक सं० २१

६७ सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुसीला, मैं कछु करबि ललित नरनीला। तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा, जौ लगि करौं निसाचर नासा। जबहिं राम सब कहा बखानी, प्रभु पद धरि हियँ अनल समानी। निज प्रतिबिम्ब राखि तहँ सीता, तैसेइ सील रूप सुबिनीता। रामचरितमानस, अरण्य काण्ड, २३.१-४

६८ रामायण, अरण्य काण्ड, ४६ सर्ग, श्लोक ३६

६९ स्माश्वस मुहूर्तं तु शक्यं वस्तुमिह त्वया, आगमिष्यति मे भर्ता वन्यमादाय पुष्कलम्। रामायण, अरण्य काण्ड, ४७ सर्ग, श्लोक २२

७० हा लछिमन तुम्हार नहिं दोसा, सो फलु पायउँ कीन्हउँ रोसा। विपति मोरि को प्रभुहि सुनावा, पुरोडास चह रासभ खावा। रामचरितमानस, अरण्य काण्ड, २६.२-३,५

७१ अग्नि प्रज्वलितं दृष्ट्वा वस्त्रेणाहर्तुमिच्छसि कल्याण वृत्तां यो भार्यां रामस्याहर्तुमिच्छसि। वाल्मीकि रामायण, अरण्य काण्ड, ४७ सर्ग, श्लोक ४३

कालोऽप्यंगीभवत्यत्र सस्यानामिव पक्तये।।[७२]

अर्थात् उद्दण्ड पुरुष की उद्दण्डता का कर्म फल तत्काल मिलता नहीं दिखाई देता क्योंकि समय भी उसका सहकारी कारण होता है, जैसे कि खेती के पकने के लिए तदनुकूल समय की आवश्यकता होती है। इसके पीछे रावण को गम्भीर परिणाम भुगतने की चेतावनी है। रावण के न मानने पर वे यह कहने से नहीं चूकतीं कि मरणोन्मुख मनुष्य स्वास्थ्य विरोधी पदार्थों का सेवन करने लगता है। सम्भवतः इसीलिए रावण उनकी हितकारी सलाह नहीं मान रहा है।[७३]

तुलसी तो किसी भी स्थल पर सीता को जगत् जननी के पद पर प्रतिष्ठित करने से नहीं चूके हैं। रावण को भी सीता को अपहरित करते समय उन्होंने मन ही मन सीता की चरण वन्दना करते हुए दिखाया है-

सुनत बचन दससीस रिसाना, मन महुँ चरन बंदि सुख माना।[७४]

सीता के अपहरण-प्रसंग को भी तुलसी ने संक्षिप्त रखा है। वाल्मीकि के समान सीता की शारीरिक-मानसिक व्यथा और रावण द्वारा उनके अंग-प्रत्यंगों के बलात् संस्पर्श का उल्लेख भी नहीं किया है। उन्होंने तो यहाँ रावण को अत्यन्त भयभीत दिखाया है।[७५] रामचरितमानस और रामायण दोनों में ही सीता के माया रूप के अपहरण की बात की गई है।

अशोक वन में सीता तन मन से तपश्चर्या करती हुई अपने देह का भी मोह नहीं रखतीं[७६] और स्वयं को यज्ञशाला की वेदी पर मन्त्रपूतित स्रक्, स्रुवा व यज्ञपात्र के समान पवित्र बताती हैं।[७७] दोनों ही राम कथाओं में सुन्दरकाण्ड में हनुमान् के द्वारा अन्वेषित सीता की उपस्थिति है-

ततो मलिन संवीतां राक्षसीभिः समाकृताम्।
उपवासकृशां दीनां निःश्वसन्तीं पुनः पुनः।।[७८]

हनुमान् को सीता संदिग्ध अर्थ वाली स्मृति, भूतल पर गिरी हुई ऋद्धि, टूटी हुई श्रद्धा, भग्न हुई आशा, विघ्न हुई सिद्धि, कलुषित बुद्धि और मिथ्या कलंक से भ्रष्ट हुई कीर्ति के समान जान पड़ती थीं।[७९] वाल्मीकि ने उन्हें मैल से आवृत, अलंकार शून्य और दीनता की प्रतिमूर्ति के रूप में प्रस्तुत किया है।[८०] कुछ

---

७२ वाल्मीकि रामायण, अरण्य काण्ड, ४९ सर्ग, श्लोक २७

७३ न नूनं चात्मनः श्रेयः पथ्यं वा समवेक्षसे, मृत्युकाले यथा मर्त्यो विपरीतानि सेवते। मुमूर्षाणां तु सर्वेषां यत् पथ्यं तन्न रोचते।। वाल्मीकि रामायण, अरण्य काण्ड, ५३ सर्ग, श्लोक १६,१७

७४ रामचरितमानस, अरण्य काण्ड, २७.१६

७५ रामचरितमानस, अरण्य काण्ड, २८

७६ वाल्मीकि रामायण, अरण्य काण्ड, ५६ सर्ग, श्लोक २१-२२

७७ वही, श्लोक १८-१९

७८ वाल्मीकि रामायण, सुन्दर काण्ड, १५ सर्ग, श्लोक १८

७९ वाल्मीकि रामायण, सुन्दर काण्ड, १५ सर्ग, श्लोक ३३-३४

८० वही, श्लोक ३७

ऐसा ही चित्रण तुलसी के रामचरितमानस में दिखाई पड़ता है-

कृस तनु सीसजटा एक बेनी, जपति हृदयँ रघुपति गुन श्रेनी।[८१]

सीता की राम के प्रति अनन्य निष्ठा हनुमान् द्वारा लक्षित की गई है-

नैषा पश्यति राक्षस्यो नेमान् पुष्पफलद्रुमान्।
एकस्थहृदया नूनं राममेवानुपश्यति।।[८२]

इसी भाव को तुलसी ने **'निज पद नयन दिएँ मन राम पद कमल लीन'**[८३] कहकर प्रदर्शित किया है। वाल्मीकि रामायण में सीता को भयभीत करने हेतु नियुक्त राक्षसनियों का विस्तार से वर्णन है। उनकी विकराल भयावह मुखाकृतियाँ, विविध अस्त्र--शस्त्र और विकृत शरीरांगों का विस्तार से वर्णन कर वाल्मीकि सम्भवत: सीता की भयभीत स्थिति को और भी अधिक मुखर बनाना चाहते थे। वाल्मीकि रामायण में **एकजटा, विकटा, प्रघसा, अजामुखी, शूर्पणखा, दुर्मुखी, विनता, चण्डोदरी** आदि अनेक राक्षसनियों द्वारा सीता को भयभीत किया जाता है।[८४] इन राक्षसनियों को नरमांसभक्षी व मद्य से भी दिखाया गया है और सीता के समक्ष उनके टुकड़े-टुकड़े कर बराबर भाग में बाँटकर खाने का प्रस्ताव भी रखा गया है। ऐसी स्थिति में थर-थर काँपतीं, गुड़ी-मुड़ी बनी सीता के भयाक्रांत रूप की वाल्मीकि रामायण में अत्यन्त स्वाभाविक चित्रमय प्रस्तुति है-

वेपते स्माधिकं सीता विशन्तीहवाङ्गमात्मनः।
वने यूथपरिभ्रष्टा मृगी कोकैरिवार्दिता।।[८५]

इसीप्रकार सीता की निराशा, व्यथा, रुदन और दुःख म्लानता की जैसी आलंकारिक और चित्रमय प्रस्तुति वाल्मीकि की लेखिनी से उद्भूत है वैसी तुलसी के रामचरितमानस में कहीं नहीं दिखाई देती।[८६] रामचरितमानस में त्रिजटा के स्वप्न का उल्लेख भर है, लेकिन वाल्मीकि रामायण के सुन्दरकाण्ड के २७ वें सर्ग में समूचे स्वप्न का पूरा का पूरा विवरण है। वाल्मीकि रामायण में सीता को शोक की पराकाष्ठा में अपनी चोटी से ही फांसी लगाने के लिए उद्यत भी दिखाया गया है।[८७] वही तुलसी सीता के बहुभांति रुदन

---

८१ रामचरितमानस, सुन्दर काण्ड, ७.८
८२ वाल्मीकि रामायण, सुन्दर काण्ड, १६ सर्ग, श्लोक २५
८३ रामचरितमानस, सुन्दर काण्ड, ८
८४ वाल्मीकि रामायण, सुन्दर काण्ड, समग्र २३,२४ सर्ग
८५ वाल्मीकि रामायण, सुन्दर काण्ड, २५ सर्ग, श्लोक ५
८६ सन्नामिव महाकीर्तिं श्रद्धामिव विमानिताम्। प्रज्ञामिव परिक्षीणामाशां प्रतिहतामिव। आयातीमिव विध्वस्तामाज्ञां प्रतिहतामिव। दीप्तामिव दिशं काले पूजामपहतामिव। पौर्णमासीमिव निशां तमोग्रास्तेन्दुमण्डलाम्। पद्मिनीमिव विध्वस्तां हतशूरां चमूमिव। प्रभामिव तमोध्वस्तामुपक्षीणमिवापगाम्। वेदीमिव परामृष्टां शान्तामग्निशिखामिव। वाल्मीकि रामायण, सुन्दर काण्ड, १९ सर्ग, श्लोक ११-१४
८७ वाल्मीकि रामायण, सुन्दर काण्ड, २८ सर्ग, श्लोक १७

और प्रलाप को अपनी शैली में शब्दांकित कर चले हैं जहाँ वे जलती चिता में कूदने को समुत्सुक हैं।[८८] हनुमान् पर दृढ़ विश्वास हो जाने पर सीता समाश्वासित हैं। अपनी दुर्दशा के वर्णन के साथ **'मांस दिवस महुँ नाथ न आवा, तौ पुनिमोहि ज़िअत नहिं पावा'**[८९] का दृढ़ निश्चय भी सुनाती हैं। वाल्मीकि रामायण में हनुमान् द्वारा सीता को पीट पर बैठाकर राम के पास ले जाने की इच्छा भी व्यक्त की गई है। सीता ने अनेक आशंकाओं यथा द्रुत वेग से गिर पड़ने, मूर्च्छित होने और राक्षसों द्वारा पुनः पकड़े जाने की संभावनाओं के साथ ही श्रीराम के अतिरिक्त किसी दूसरे पुरुष के शरीर को स्वेच्छा से स्पर्श करने से इन्कार किया है। यही नहीं उन्होंने स्पष्ट कहा है कि रावण के शरीर का स्पर्श तो बलात् हुआ था, जहाँ वे असमर्थ, अनाथ और विवश थीं।[९०] तुलसी मर्यादावादी है अतः इस प्रसंग का भी परिहार कर देते हैं।

वे हनुमान् से **'तात सक्र सुत कथा सुनायेहु, बान प्रताप प्रभुहिं समुझायेहु'**[९१] कहकर इतिश्री कर लेते हैं। सीता द्वारा हनुमान् को चूड़ामणि देने, मासपर्यन्त जीवनावधि का संदेश व राम के पराक्रम को याद दिलाने जैसी बातें दोनों कवियों की लेखिनी से लगभग एक सी ही वर्णित हुई हैं।[९२] वाल्मीकि रामायण के समान हनुमान् की लंका-दहन के समय सीता-दहन की आशंका का रामचरितमानस में कोई उल्लेख नहीं है। यहाँ तो हनुमान् निःशंक भाव से सीता की आज्ञा प्राप्त करने हेतु प्रस्तुत होते हैं।

राम-रावण युद्ध प्रसंग में वाल्मीकि रामायण में सीता को रावण द्वारा माया जनित राम का कटा सिर व राक्षसों द्वारा एक बार राम की मृतक देह दिखाई गयी है। यहाँ प्रलाप करती हुई सीता ने कैकेई को जी भर कर कोसा है-

सकामा भव कैकेयि हतोऽयं कुलनन्दनः।
कुलमुत्सादितं सर्वं त्वया कलहशीलया।[९३]

---

८८ तजौं देह करू बेगि उपाई, दुसह बिरहु अब नहिं सहि जाई। आनि काठ रचु चिताबनाई, मातु अनल पुनि देहि लगाई। सत्य करहि मम प्रीति सयानी, सुनै को श्रवन सूल सम बानी। रामचरितमानस, सुन्दर काण्ड, ११.२-४

८९ रामचरितमानस, सुन्दर काण्ड, २६.६

९० भर्तुर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर। नाहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम। यदहं गात्रसंस्पर्शं रावणस्य गता बलात्। अनीशा किं करिष्यामि विनाथा विवशा सती। वाल्मीकि रामायण, सुन्दर काण्ड, ३७ सर्ग, श्लोक ६२, ६३

९१ रामचरितमानस, सुन्दर काण्ड, २६.५

९२ क-१. ततो वस्त्रगतं मुक्त्वा दिव्यं चूडामणिं शुभम्। प्रदेयो राघवायेति सीता हनुमते ददौ॥ वाल्मीकि रामायण, सुन्दर काण्ड, ३८ सर्ग, श्लोक ६६ क-२. चूड़ामणि उतार तब दयऊ। रामचरितमानस, सुन्दर काण्ड, २६.२ ख-१. धारिष्यामि मासंतु जीवितं शत्रुसूदन। मासदूर्ध्वं न जीविष्ये त्वया हीना नृपात्मज॥ वाल्मीकि रामायण, सुन्दर काण्ड, ४० सर्ग, श्लोक १० ख-२. मास दिवस महुँ नाथु न आवा। तौ पुनिमोहि जिअत नहिं पावा॥ रामचरितमानस, सुन्दर काण्ड, २६.६ ग-१. बलैस्तु संकुलां कृत्वा लंकां परबलार्दनः। मां नयेद् यदि काकुत्स्थस्तत् तस्य सदृशं भवेत्॥ वाल्मीकि रामायण, सुन्दर काण्ड, ३९ सर्ग, श्लोक ३० ग-२. दीन दयाल बिरिदु संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥ रामचरितमानस, सुन्दर काण्ड, २६.४

९३ वाल्मीकि रामायण, युद्ध काण्ड, ३२ सर्ग, श्लोक ४२

वाल्मीकि रामायण में इन्द्रजीत द्वारा राम-लक्ष्मण दोनों को तीक्ष्ण बाणों से बींधकर मृतवत् मूर्च्छित होने के प्रसंग की भी विस्तार से चर्चा है। सीता को पुष्पक विमान द्वारा रणभूमि में मृतकवत् मूर्च्छित पड़े श्रीराम और लक्ष्मण को दिखाया गया है।[९४] यहाँ पुनः सीता का करुण प्रलाप है, जहाँ समस्त शुभ सामुद्रिक लक्षणों के रहते हुए अपने वैधव्य पर आश्चर्य प्रकट किया गया है। तुलसीकृत रामचरितमानस में सीता के संदेह और शोक की चर्चा है जहाँ राम के बार-बार प्रयत्न करने पर भी रावण के न मारे जा सकने पर उनका भोलेपन से त्रिजटा से कारण पूछा गया है। वाल्मीकि रामायण में एक बार राक्षसों द्वारा मायावी सीता का निर्माण कर उसकी मृत देह युद्ध स्थल पर दिखाई गई है।

रावण मरण के उपरान्त हनुमान् द्वारा विजय का समाचार व विभीषण द्वारा अलंकृत सीता को राम तक लिवा लाने का प्रसंग लगभग एक सा है, लेकिन रामचरितमानस में सीता को अपमानित करने जैसी बात दृष्टिगत नहीं होती। यहाँ सीता को पैदल लाने का कारण वानरों को सीता माता के सहसुलभ दर्शन कराना मात्र है।[९५] लेकिन वाल्मीकि रामायण में सीता को न केवल अपमानित करने के लिए पैदल चलने की आज्ञा दी गई है अपितु राम द्वारा घोर अपमान भी कराया गया है।[९६] यही नहीं प्रताडित करते हुए राम ने उन्हें कही भी जाने की आज्ञा दी है और स्पष्ट किया है कि उनसे राम का कोई प्रयोजन नहीं है। वे दूसरे के घर में रही हुई स्त्री को स्वीकार करने से स्पष्ट इन्कार करते हैं।[९७] यहाँ सीता को राम यह बताने से भी नहीं चूकते कि केवल कुल-कलंक को मिटाने के लिए ही राम ने युद्ध किया था, सीता के प्रति उनकी कोई आसक्ति नहीं थी। इससे भी अधिक अपमान करते हुए राम ने यहाँ तक कहा है कि वे लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सुग्रीव, विभीषण जिसके साथ रहना चाहें रह सकती हैं। वे सीता के समक्ष ये संदेह व्यक्त करने से भी पीछे नहीं हटे हैं कि दीर्घकालीन प्रवास में वे रावण से बची रह सकी होंगी। भरी सभा में अपमानित होती हुई सीता ने जमकर इसका लोहा लिया है और राम की मर्यादा को याद दिलाते हुए उनके इस कर्म को निम्न श्रेणी के व्यक्ति के द्वारा किये गये कर्म की संज्ञा दी गई है-

किं मामसदृशं वाक्यमीदृशं श्रोत्रदारुणम्।
रूक्षं श्रावयसे वीर प्राकृतः प्राकृतामिव॥[९८]

सीता को अपनी पवित्रता की दुहाई देनी पड़ी है। रावण के द्वारा स्पर्श किये जाने पर उनका तर्क है-

---

९४ ततः सीता ददर्शोभौ शयानौ शरतल्पगतौ। लक्ष्मणो चैव रामं च विसंज्ञौ शरपीडितौ॥ वाल्मीकि रामायण, युद्ध काण्ड, ४७ सर्ग, श्लोक १९

९५ कह रघुबीर कहा मम मानहु सीतहि सखा पयादें आनहु॥ देखहुँ कपि जननी की नाई, बिहसि कहा रघुनाथ गुसाईं। रामचरितमानस, लंका काण्ड, १०७.११-१२

९६ प्राप्तचरित्रसंदेहा मम प्रतिमुखे स्थिता। दीप्ते नेत्रातुरस्येन प्रतिमकूलासि मे दृढा॥ वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, ११५ सर्ग, श्लोक १७

९७ वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, ११५ सर्ग, श्लोक १८-१९

९८ वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, ११६ सर्ग, श्लोक ५

यदहं गात्रसंस्पर्शं गतास्मि विवशा प्रभो।
कामकारो न मे तत्र दैव तत्रापराध्यति।।[९९]

यहाँ सीता उपालम्भ देती हैं कि राम द्वारा परित्याग की बात हनुमान् के द्वारा पूर्व में ही क्यों नहीं भेज दी गई। वाल्मीकि रामायण में सीता ने क्रोध और रोष में लक्ष्मण से चिताग्नि तैयार करने का आदेश दिया है और अग्नि में प्रवेश किया है।[१००] लेकिन रामचरितमानस में तुलसी द्वारा सीता की अग्नि-परीक्षा का मन्तव्य राम के पूर्व में अग्नि में प्रस्थापित असली सीता को पुनः प्रकट करना रहा है।[१०१] **'तेहि कारन करुनानिधि कहे कछुक दुर्बाद'**[१०२] कहकर उक्त मन्तव्य को प्रकट किया गया है। अन्ततः सीता को अग्नि ने स्वयं हाथ पकड़कर राम के हाथों वैसे ही समर्पित किया है जैसे क्षीरसागर में विष्णु को लक्ष्मी समर्पित थीं। रामचरितमानस में सीता को राम से मिलाकर उसे जगदम्बिका के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया गया है-

उमा रमा ब्रह्मादि नंदिता, जगदम्बा संततमनिंदिता।
जासु कृपा कटाक्षु सुरचाहत चितव न सोइ।
राम पदार बिन्दु रति करति सुभावह खोइ।[१०३]

वाल्मीकि-रामायण की सीता का राम द्वारा एक बार पुनः परित्याग हुआ है। उत्तरकाण्ड के ४३वें सर्ग में पुरवासियों द्वारा सीता के प्रति अनर्गल चर्चाओं से प्रभावित होकर राम ने सीता का पतित्याग किया है। ४८वें सर्ग में सीता का कारुणिक विलाप है जहाँ उन्होंने स्वयं को शोक की प्रतिमूर्ति बताया है। उन्हें बारम्बार पूर्व जन्मकृत पापों को धिक्कारते हुए दिखाया गया है जिसके फलस्वरूप निर्दोष होते हुए भी वे राम द्वारा त्यागी गई हैं।[१०४] सीता के पास तो यह भी बताने के लिए नहीं कि वे किस अपराध के कारण त्यागी गई हैं। वे इस असहनीय दुःख से प्राणोत्सर्ग कर छुटकारा भी नहीं पा सकतीं क्योंकि वे गर्भवती हैं। वे गर्भस्थ शिशु की हत्या कर एक ओर तो पाप का भागी नहीं बनना चाहतीं दूसरा वंशनाश का कारण भी नहीं बनना चाहतीं। यह सीता का उदात्त मानवीय रूप है जिसके समक्ष राम की आभा धुंधली पड़ गयी है। यहाँ राम ने एक बार पुनः सीता को शुद्धता प्रमाणित कर अपनाने की बात कही है लेकिन अब सीता का स्वाभिमानी रूप सामने आता है। उन्होंने दीर्घकालीन तप कर वाल्मीकि के आश्रम रहते हुए लव-कुश का लालन-पालन कर माता के उत्तरदायित्व का निर्वहण किया है लेकिन अब वे राम के पास न जाकर मृत्यु का वरण करना चाहती हैं-

यथैतत् सत्य मुक्तं मे वेद्मि रामात् परं न च।

---

९९ वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, ११६ सर्ग, श्लोक ८

१०० यथा मां शुद्धचरित्रं दुष्टां जानाति राघवः। तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः।। वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, ११६ सर्ग, श्लोक २६

१०१ सीता प्रथम अनल महुँ राखी, प्रकट कीन्ह चह अंतर साखी। रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, १०७.१४

१०२ रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, १०८

१०३ रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दोहा सं० २३.९, २४

१०४ वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, ४८ सर्ग, श्लोक ४-६

तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति।।[१०५]

उन्होंने शपथपूर्वक सभा में कहा है कि यदि यह सच है कि राम को छोड़कर किसी अन्य पुरुष का नहीं जाना है तो पृथ्वी उन्हें अपनी गोद में स्थान दे। इस प्रकार सीता ने अपनी मर्यादा और स्वाभिमान दोनों की रक्षा की है। स्पष्टत: सीता सदृश साहसी, पुनीता, तेजस्विनी, पतिव्रता, त्यागी, स्वाभिमानी और स्पष्टवादिनी नारी आज के स्त्री समाज को प्रेरणा देती रही हैं।

१०५ वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, ९७ सर्ग, श्लोक १५

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ0178-182) ISSN 0974 – 8830

वैदिक शिक्षादर्शन तथा आधुनिक शिक्षापद्धति

डॉ. सरस्वती पुंढीर[1]

दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा के दृश् धातु से हुई है। **दृश्यते अनेनेति दर्शनम्।** जिसके द्वारा देखा, निरीक्षण, परीक्षण यथार्थ तत्त्व द्वारा किया जाये वही दर्शन है। ज्ञान तथा सत्य की खोज करना तथा उसके वास्तविक स्वरूप को समझने की कला को दर्शन कहते हैं। विशिष्ट तथा अधिक प्रत्यक्ष रूप में दर्शन का अर्थ अमूर्त चिन्तन करने के उस प्रयास से है जिसके द्वारा आत्मा, ईश्वर, प्रकृति तथा सम्पूर्ण जीवन का रहस्य उद्घाटन किया जाता है। दर्शन के अन्तर्गत जीवन के अनुभवों अथवा सुनिश्चित कार्यों को बोधगम्य करने का प्रयास किया जाता है। इसके अन्तर्गत किसी विशिष्ट अनुभव अथवा विशिष्ट ज्ञान के आधार पर, बौद्धिक स्तर पर उसकी सम्भावना को ज्ञात किया जाता है तथा जीवन के अनुभवों को बौद्धिक स्तर पर तार्किक ढंग से समग्र रूप में उनकी सार्थकता को बोधगम्य करने का प्रयास किया जाता है। अंग्रेजी में दर्शन को फिलॉसफी कहते हैं जिसका अर्थ होता है ज्ञान अर्जित करने की प्यास। जबकि दर्शन का अर्थ दर्शानि से होता है। जिसे बौद्धिक स्तर पर समग्र रूप से देख सकें और उसकी सार्थकता एवं सत्यता को पहचान सकें। दर्शन में अनूभुतियों तथा अनुभवों को सम्मिलित किया जाता है।

दर्शन वह अनुशासन है जिसके अन्तर्गत क्रमबद्ध रूप में तार्किक ढंग से विश्व का अध्ययन किया जाता है सभी सत्यों एवं मूल्यों को सम्मिलित किया जाता है। दर्शन में अनुभवों का अध्ययन बौद्धिक स्तर पर किया जाता है। जिससे सत्य के नियमों तथा अस्तित्व के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है। दर्शन में प्रयोग नहीं किये जा सकते, केवल जीवन के अनुभवों के आधार पर, बौद्धिक स्तर पर तार्किक ढंग से चिन्तन किया जाता है, एवं केवल मानव अनुभव ही अस्तित्त्व को समझने का आधार होता है। मनोविज्ञान में व्यवहार का अध्ययन किया जाता है जबकि दर्शन में मानव व्यवहार और मानवता का अध्ययन किया जाता है।। इस प्रकार दर्शन में मानव तथा विश्व के अस्तित्व का अध्ययन किया जाता है।[२]

प्रत्येक व्यक्ति जन्मजात दार्शनिक है तथा सत्य की खोज करने को उत्सुक होता है। इसलिए वह प्रत्येक वस्तु के वास्तविक स्वरूप को ठीक-ठीक समझने में सफल भी हो जाता है। सत्य की खोज करके तथा उसके वास्तविक स्वरूप को समझकर प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह विद्वान हो अथवा मूढ अपनी-अपनी विचार धारायें तथा सिद्धान्त बना लेता है और जीवन के कुछ आदर्शों और मूल्यों में विश्वास करने लगता है। हक्सले के अनुसार मनुष्य अपने जीवन दर्शन तथा संसार के विषय में अपनी अपनी धारणाओं के अनुसार जीवन व्यतीत करते हैं। यह बात अधिक से अधिक विचारहीन व्यक्तियों के विषय में भी सत्य है। बिना दर्शन के जीवन को व्यतीत करना असम्भव है।

---

१ डॉ. सरस्वती पुण्डीर प्रवक्ता जिला शिक्षा एव प्रशिक्षण संस्थान रुड़की

२. शिक्षा अनुसंधान पृ० १८४

आर० डब्लू० सेलर्स- दर्शन उस निरन्तर प्रयास को कहते हैं, जिसके द्वारा हम अपनी और संसार की प्रकृति के सम्बन्ध में क्रमबद्ध ज्ञान द्वारा एक सूक्ष्मदृष्टि प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं।[३]

बर्टेण्ड रसल- अन्य क्रियाओं के समान दर्शन का मुख्य उद्देश्य ज्ञान की प्राप्ति है।[४]

जॉन ड्यूवी-जब दर्शन को गम्भीरता से समझाया गया, तब सदैव यह धारणा रही है कि इसका अर्थ विद्वत्ता या ज्ञान प्राप्त कर लेना है जो जीवन के मार्ग को प्रभावित करता है।[५]

शंकराचार्य-शुद्ध विचारों की पूर्णतया परमानन्द एवं परमसत्ता प्रकाशित एकात्म्य है।

डॉ० बलि राम शुक्ल-दर्शन सभी विद्याओं के लिए प्रदीप है, तथा सभी धर्मों का अधिष्ठान है।

दर्शन का सम्बन्ध ज्ञान से है, ज्ञान, विद्या, प्रबोधन, आदि का अध्ययन दर्शन की परिधि में आता है। वेद शब्द का उत्पति विद् धातु से हुई है। **वेद का अर्थ ज्ञान, ज्ञान का विषय, ज्ञान का साधन है।**

दर्शन की विशेषता है कि इसका जन्म अनुभव तथा परिस्थितियों के अनुसार होता है इसीलिए संसार के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने समय-समय पर अपने-अपने अनुभवों एवं परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवन दर्शन को लिखित अथवा भाषित रूप में दूसरे लोगो को पहुँचाने का अथक प्रयास किया है। उदाहारणार्थ महात्मा बुद्ध ने मानवीय कष्टों को समाप्त करने के लिये कुछ साधनों की खोज की अत: उन्होंने मोक्ष अथवा मुक्ति के दर्शन का प्रचार किया। मौहम्मद तथा ईसा ने धार्मिक जीवन व्यतीत किया। अत: उन्होंने इस बात का प्रचार किया कि उनके अनुयायी उन पर विश्वास करें। हिटलर साहस और बहादुरी का पुजारी था। अत: उसने युद्धकारी दर्शन का प्रचार किया। उमरखैयाम नें भौतिकवादी दर्शन का प्रचार किया। महात्मा गांधी ने अहिंसा के दर्शन का प्रचार किया। इससे सिद्ध होता है कि दर्शन का जन्म मानव के अनुभवों तथा परिस्थितियों के अनुसार होता है

दर्शन का विज्ञान से घनिष्ट सम्बन्ध है विभित्र विज्ञानों द्वारा प्रस्तुत वास्तविकताये। जिनका सम्बन्ध बालक की प्रकृति तथा वातावरण से है, दर्शन की अपरिप सामग्री है। इस दृष्टि से प्रत्येक शिक्षक को विज्ञान तथा दर्शन का अध्ययन करना परम आवश्यक है। विज्ञान द्वारा प्रस्तुत वास्तविकतायें तथा स्वीकृत बातें जिनसे अन्य बातों का अनुमान किया जा सकता है, केवल आधार है तथा दर्शन के द्वारा निर्धारित किये हुये मूल्य एवं आदर्श शिक्षा के लक्ष्य है।

शिक्षा जड़ नहीं अपितु एक चिन्तन तथा स्वेच्छित द्विमुखी प्रक्रिया है। इस दृष्टि से शिक्षा के लिए दो व्यक्तियों का होना परम आवश्यक है। एक आचार्य और दूसरा शिष्य। आचार्य के कुछ आदर्श, मूल्य तथा विश्वास होते हैं और शिष्य इन सब से प्रभावित होता है। दूसरे शब्दों में आचार्य एक दार्शनिक है जो अपने दर्शन के अनुसार शिष्य के जीवन में विभिन्न पक्षों को विकसित करके वांछित लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास करता है। इस प्रकार शिक्षा एक प्रत्यक्ष साधन है जिसके द्वारा दर्शन के निर्धारित किये गये लक्ष्यों

---

३. R. W. Sellars " Philosophy is a persistent attempt to gain insight into the nature of the world and of ourselves by means of systematic reflection."
४. Bertand Russell " Philosophy,like all other studies, aims Primarily at knowledge.
५ शिक्षा सिद्धान्त, पृ० १८६ डॉ० शालिग्राम त्रिपाठी

को प्राप्त किया जाता है।

एडम्स के अनुसार- शिक्षा दर्शन का क्रियाशील पक्ष है। यही दार्शनिक चिन्तन का एक सक्रिय पहलू है।[६]

शिक्षा का दर्शन, शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं का, दर्शन की दृष्टि से विवेचन करता है। यह शिक्षा को पूर्ण रूप से समझने का प्रयास करता है। दर्शन और शिक्षा एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित हैं। दर्शन शास्त्र शिक्षा पर प्रभाव डालता है और शैक्षिक विचारधारायें दार्शनिक दृष्टिकोण पर नियन्त्रण रखती हैं। यही कारण है कि उच्च कोटि के दार्शनिक उच्च कोटि के शिक्षाशास्त्री भी हुए। प्लेटो, सुकरात, लॉक कमेंनियस, रूसो, फ्रोबिल, डीवी, स्वामी दयानन्दसरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, गांधी, टैगोर, तथा अरविन्द घोष ये सब महान दार्शनिक, महान शिक्षा शास्त्री हुए।

प्रत्येक शैक्षिक प्रश्न निश्चितरूपेण जीवन दर्शन से प्रभावित होता है तथा शैक्षिक समस्याओं का उचित हल दर्शनशास्त्र की सहायता से खोजा जा सकता है। दर्शनशास्त्र का प्रभाव १-शिक्षा के उद्देश्यों पर, २-पाठ्यक्रम पर ३-पाठ्यपुस्तकों के चुनाव पर, ४-शिक्षण विधियों पर, ५-अनुशासन पर, ६-शिक्षक पर पड़ता है।[७]

शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षा दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। समस्त शैक्षिक गतिविधियों जैसे-शिक्षा का उददेश्य, पाठ्यक्रम, शैक्षिक संगठन, अनुशासन, शिक्षक, और विद्यार्थी का स्थान आदि सभी शिक्षा दर्शन से ही निर्धारित होते हैं। वैदिक शिक्षा दर्शन और आधुनिक शिक्षा पद्धति का सम्बन्ध देखने के लिए हमें अनेकानेक दृष्टान्तों का अवलोकन करना होगा।

'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः।[८]

इस उक्ति द्वारा सायणाचार्य ने इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहार हेतु जिस अपौरुषेय शब्दावली को वेद राशि के रूप में निरुपित किया है उसे विद् धातु के चार अर्थों **विद् ज्ञाने, विद् सत्तायाम्, विद्लृ लाभे और विद् विचारणे अथवा विद् चेतनाख्याननिवासेषु** द्वारा **स्पष्ट** किया गया है। जिसका अभिप्राय अन्तर-निहित शक्ति को बाहर की ओर प्रकट करना है, जिसे **ज्ञानं मनुजस्य तृतीयं नेत्रम् अथवा** ज्ञानं प्रज्ञानं **ब्रह्म** के द्वारा भारतीय दर्शन में वर्णित किया गया है।

आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक एडम्स ने शिक्षा को द्विमुखी प्रक्रिया के रूप में चित्रित किया, जिसमें एक पक्ष दूसरे पक्ष के व्यक्तित्त्व को प्रभावित करता है। जिसके लिए अनादिकाल से **ॐ मम व्रते** ते हृदयं **दधामि मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु** इस प्रतिज्ञा द्वारा गुरु शिष्य को अपना सान्निध्य प्रदान करता है, जिसकी पुष्टि अथर्ववेद के

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।

---

६. dams: "Education is the dynamic side of Philosophy. It is the active aspect of philosophical belief."
७. शिक्षा के दार्शनिक तथा सामाजिक आधार पृ० ३७, डॉ० एस०एस० माथुर।
८. तैत्तिरीयभाष्य- भूमिका।

तं रात्रीस्तिस्र उदरं बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवा:।।[९]

मन्त्र द्वारा होती है। शिक्षाविद् एडम्स ने शिक्षाभ्यास की प्रक्रिया में शिक्षक, शिक्षार्थी उभय पक्ष की समान सक्रियता पर बल दिया। जिसकी पुष्टि **शिष्यप्रज्ञैव बोधस्य कारणं गुरुवाक्यत:** इस वाक्य से होती है।

प्रसिद्ध अमेरिकन शिक्षा दार्शनिक जॉन डीवी के अनुसार सामाजिक पृष्ठ भूमि व्यक्तित्व के विकास के लिए उचित मार्ग प्रशस्त करती है। इसके लिए सामाजिक आवश्यकता पर आधारित पाठ्यक्रम को अधिगम की प्रक्रिया के अन्तर्गत समाहित किया जाये। इस प्रकार शिक्षा द्विमुखी प्रक्रिया न होकर **शिक्षा शिक्षार्थी और पाठ्यक्रम** के महत्त्वपूर्ण सम्मिश्रण के आधार पर **जॉन डीवी ने इसे त्रि-मुखी** प्रक्रिया के रूप में चित्रित किया है। इस अधिगम प्रक्रिया की झलक हमें छान्दोग्योपनिषद् के **सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि.........।**[१०] इस वचन से मिलती है। **सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमद:.............।**[११] शिष्य कार्य प्रतिपादक तैत्तिरीयोपनिषद् के अन्तर्गत शिक्षावल्ली का यह वाक्य आधुनिक शिक्षा नीति के निर्धारण में पूर्णत: सहायक है। शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया पर यदि सूक्ष्म दृष्टिपात किया जाये तो वैदिक कालीन शिक्षण पद्धति सदृश वर्तमान प्रक्रिया भी बालक के वैयक्तिक उत्थान के साथ-साथ सामाजिक उत्थान को विशेष महत्त्व प्रदान करती है। इतना अवश्य है कि वैदिक कालीन शिक्षण विधा में गुरु को विशेष महत्त्व प्रदान किया था, जबकि वर्तमान में नैसर्गिकता की ओर ध्यान दिया जाता है। इसके साथ ही वैदिक कालीन शिक्षा-व्यवस्था में आध्यात्मिक चिन्तन प्रधान ज्ञानात्मक उद्देश्य की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था, जबकि वर्तमान पाठ्यक्रम में कौशल विशेष की ओर ध्यान देते हुये आत्मनिर्भरता के उद्देश्य से मानव को पूर्ण मानवत्व प्रदान करने का प्रयत्न किया जा रहा है।[१२] पाठ प्रारम्भ करते समय शिष्य द्वारा प्रस्तुत जिज्ञासा यथा, **अथातो ब्रह्म जिज्ञासा**[१३], **अथ योगाऽनुशासनम्**[१४] **अथ शब्दानुशासनम्**[१५] आदि। वैदिककालीन शिक्षा पद्धति में आध्यात्मिक पुट अधिक होने से ज्ञान की प्रधानता के कारण बौद्धिक विकास की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था, जिसके कारण शिक्षणाभ्यास की प्रक्रिया ३- R Reading, WritingAndArithmatic पर आधारित होने के कारण बौद्धिक विकास ही शिक्षा का उद्देश्य रहा था। जिसका मुख्य कारण यह था कि उस समय रोजगार के साधन पैतृक वंशानुक्रम द्वारा प्राप्त होते थे। आधुनिक समय में व्यावसायिक प्रशिक्षण का उत्तरदायित्व भी ज्ञान पक्ष के विकास के साथ विद्यालय पर आ गया है। इस कारण वर्तमान में ३-तृ पर आधारित शिक्षण विधि ने ४-H अर्थात् Head, Hand .Heart और Health के विकास की ओर शिक्षाविदों का ध्यान आकृष्ट कर लिया। इसमें ज्ञान,

---

९. अथर्व० ११.५.३
१०. छान्दोग्योपनिषद् ७.१.३
११. तैत्तिरियोपनिषद् १.११
१२. वैदिक शिक्षा पद्धति पृ०२५२, डॉ० भास्कर मिश्र
१३. ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य) १.१
१४. पतंजलि योग प्रदीप -१.१
१५ पाणिनीय व्याकरण -१.१

व्यवसायिक पक्ष के साथ-साथ स्वास्थ्य सम्बन्धित ज्ञान को भी अधिगम प्रणाली में समाहित किया गया है।

अथर्ववेद के औषध विज्ञान में मानव जीवन का परम लक्ष्य पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति है। उत्तम स्वास्थ्य के बिना शरीर से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। क्रियाशीलता, आत्म विश्वास, तथा आत्मशक्ति के अभिवृध्यर्थ ज्ञानेन्द्रियों को प्रशिक्षित करने के उद्देश्य से किण्डर-गार्डन पद्धति का विकास किया गया। इटली की मेंरिया मान्टेसरी ने मॉन्टेसरी प्रविधि और बेलजियम की मनोवैज्ञानिक साविन ने डेक्राली विधा द्वारा इन्द्रियों और माँसपेसियो को प्रशिक्षित करने के लिए क्रियाशीलता के सिद्धान्त को जन्म देकर नई दिशा प्रशस्त की इस प्रकार शिक्षा पद्धति का समालोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर निष्कर्ष निकलता है कि **वैदिक** शिक्षादर्शन की ज्ञान ज्योति से ही आधुनिक शिक्षा पद्धति के ज्ञान का दीपक प्रज्ज्वलित हुआ है।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ0183-188) ISSN 0974 – 8830

वर्तमान शैक्षिक परिप्रेक्ष्य में गुरु-शिष्य परम्परा की उपादेयता

डॉ० मीना मनराल[१]

भारतीय शिक्षा प्रणाली विश्व की सबसे प्राचीन तथा महानतम शिक्षा प्रणाली है। इस प्रणाली का मुख्य आधार भारतीय दार्शनिक विचारधारा है। इसका उद्भव पूर्व वैदिक काल से माना जाता है जब लेखनी व कागज का भी आविष्कार नहीं हुआ था। उस समय भारतीय ऋषि-मुनियों के द्वारा श्रवण, मनन और निदिध्यासन विधियों से शिक्षा को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में पहुँचाया और इस प्रकार से ज्ञान के साथ-साथ संस्कृति का भी संरक्षण किया। प्राचीन भारतीय दर्शन व ज्ञान का आज भी हमारी शिक्षा प्रणाली में प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। भारतीय संस्कृति व ज्ञान का जन्म व विकास तत्कालीन शिक्षा संस्थाओं में हुआ। **आज भारत जो कुछ है, वह अपनी गत ५००० वर्ष की सांस्कृतिक व सामाजिक विरासत की देन है। प्राचीन भारत में समाज एवं राष्ट्र की परम्पराओं का संरक्षण विद्यालयों में होता था। उस समय जन-सम्पर्क के साधन तो न थे पर विद्यालयों से ही सम्पर्क व सम्बन्धों का गठन होता था।**[२] भारतीय शिक्षा का उद्भव व विकास गिरि-कानन में हुआ जहाँ पर सुरम्य वातावरण में गुरु (शिक्षक) छात्र (शिष्य) को ज्ञान प्रदान करने का पावन कार्य करते थे। ऋषि-मुनियों व गुरुओं के द्वारा संचालित इन शिक्षण संस्थानों को गुरुकुल कहा जाता था। इन गुरुकुलों शिष्य गुरु के साथ रहकर ज्ञान की प्राप्ति करते थे। प्राचीन काल में जब विश्व के अधिकांश क्षेत्रों में शिक्षा की ज्योति नहीं जली थी, भारत में गुरुकुल शिक्षा पद्धति के रूप में विश्व की प्राचीनतम व समृद्धशाली शिक्षा व्यवस्था फल-फूल रही थी। इस शिक्षा व्यवस्था में गुरुओं के द्वारा अपने आश्रमों में शिष्यों को निःशुल्क शिक्षा प्रदान की जाती थी। शिक्षा प्राप्त करने की आयु का होते ही माता-पिता बच्चे को शिक्षा प्राप्त करने के लिए गुरु के आश्रम में भेज देते थे। इन आश्रमों में दी जाने वाली शिक्षा अमीर-गरीब के भेदभाव से मुक्त थी। इनमें राजा व प्रजा दोनों के ही बच्चे एक समान परिवेश में रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे। शिक्षा में किसी प्रकार का राजकीय दखल नहीं था। गुरु व गुरुमाता के स्नेह, ममता व अनुशासन की छत्रछाया के बीच शिष्य शिक्षा प्राप्त करते थे। शिक्षा ऐसी थी जो कि उन्हें व्यवसाय व विषय में पारंगत करने के साथ-साथ दैहिक व भौतिक दुःखों से मुक्ति का मार्ग भी दिखाती थी और बालक में जीवन संघर्ष के साथ-साथ अन्तर्दृष्टि का भी विकास करती थी। गुरु का शिष्य के प्रति व्यवहार पिता-पुत्र का था।

गुरु अप्रने शिष्यों का पालन-पोषण माता-पिता के समान ही करते थे। शत-पथ ब्राह्मण में बालक

---

१. असिस्टैण्ट प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र, कुमायूँ विश्वविद्यालय, एस०एस०जे० परिसर, अल्मोड़ा, meena.manral@gmail.com

२. भटनागर, सुरेश (२००५); आधुनिक भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएं, आर० लाल बुक डिपो, निकट राजकीय इण्टर कालेज, मेरठ, पृष्ठ सं० १

के तीन गुरु बताये गये हैं- **'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद।'**[३] अर्थात् **'माता-पिता और आचार्य के चरणों में रहकर उत्तम सदाचारमय जीवन की शिक्षा प्राप्त कर बालक इस लोक और परलोक में प्रतिष्ठित होता है।'** वैदिक काल में गुरु और शिष्य का सम्बन्ध पिता और पुत्र का होता था। अथर्ववेद में कहा भी गया है कि- **'आचार्य अपने शिष्य को सामाजिक वातावरण से दूर अपने सन्निकट रखता था।' 'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।'**[४] गुरु का व्यवहार अपने शिष्य के प्रति पितृवत् होता था और वही शिष्य के जीवन की दिशा का निर्धारण करते थे। इस कारण भारतीय शैक्षिक दर्शन में गुरु को ब्रह्मा, विष्णु और महेश तथा उससे भी ऊपर परम ब्रह्म का स्थान दिया गया है, क्योंकि भारतीय दर्शन में यह माना गया है कि गुरु ही वह व्यक्ति है जो हमें ज्ञान का दर्शन कराता है और दर्शन में ज्ञान को मनुष्य का तृतीय नेत्र माना गया है। इस काल में गुरु और शिष्य के बीच प्रगाढ़ सम्बन्ध था। **डॉ० अल्तेकर के अनुसार- छात्र तथा अध्यापक के मध्य सम्बन्ध किसी संस्था के माध्यम से नहीं अपितु सीधे उन्हीं के बीच था। छात्र विद्याध्ययन के लिए उन्हीं लब्ध प्रतिष्ठित गुरुओं के पास जाते थे, विद्वत्ता के कारण जिनकी ख्याति थी।**[५]

प्राचीन काल में शिष्य गुरु की तन-मन से सेवा करते थे, गुरुकुल का कार्य करते थे, भिक्षा मांगकर लाते थे और इस प्रकार वे गुरु के आश्रम में उनके परिवार के सदस्यों के समान रहते थे। गुरु और शिष्य के संबन्धों का प्रमुख आधार गुरु की व्यवहार कुशलता तथा ज्ञान था। गुरु का कर्तव्य था छात्र का सर्वांगीण विकास करना, शिष्य को अपने पास उपलब्ध समस्त ज्ञान को प्रदान करना तथा शिष्य की पिता के समान देख-भाल करना। **मनु ने कहा है- अध्यापक का अनिवार्य कर्तव्य है कि वह विद्यार्थी के प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह करे। वह केवल उन्हें अपने बालक की तरह ही न रखे अपितु उन्हें पवित्र विद्या को पढ़ाये और कोई भी विद्या उनसे न छिपाए।**[६] वैदिक काल में गुरुकुल में रहने वाले शिष्य के प्रति गुरु पिता और गुरु पिता-माता के उत्तरदायित्व का वहन करते थे। शिष्य भी गुरु को अपने माता-पिता के समान मानता था तथा उनकी आज्ञा का उल्लंघन करने का कभी साहस नहीं करता था। मनुस्मृति में इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से लिखा गया है- **एक ब्राह्मण का दो बार जन्म होता है। पहले, मां के गर्भ में आने के पश्चात् और दुबारा, विद्यारम्भ करते समय जब उसे ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने योग्य बनाया जाता है।**[७]

भारतीय शिक्षा दर्शन में हमेशा गुरु और शिष्य के उदात्त सम्बन्धों को ही ज्ञान प्राप्ति में सहायक माना गया। वैदिक ही नहीं जैन, बौद्ध व सांख्य, वेदान्त आदि सभी प्राचीन दर्शनों में गुरु-शिष्य परम्परा को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। प्राचीन भारतीय दर्शन में ज्ञान प्राप्ति का अन्तिम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति

---

३. महर्षि दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ सं० २८
४. अथर्ववेद, ११.२-३
५. भटनागर, सुरेश (२००५); आधुनिक भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएं, आर० लाल बुक डिपो, निकट राजकीय इण्टर कालेज, मेरठ, पृष्ठ सं० ८
६. उपर्युक्त, पृष्ठ सं० ८
७. चौबे, सरयू प्रसाद एवं अखिलेश चौबे (२००९); शिक्षा के दार्शनिक, ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय आधार, इण्टरनेशनल पब्लिसिंग हाउस, निकट राजकीय इण्टर कालेज, मेरठ, पृष्ठ सं० ४३८

माना गया है और उस मोक्ष की प्राप्ति में गुरु के मार्गदर्शन की आवश्यकता को प्रमुख स्थान दिया गया है। श्रीमद्भगवद् गीता शिक्षा दर्शन में, गुरु अपने शिष्य को एक भक्त तथा सखा मानता है। अपने शिष्य को इस आत्मविश्वास के साथ उपदेश देता है, उत्साह बढ़ाता है तथा उसे जीवन संघर्ष करने के लिए तैयार करता है कि शिष्य उसका सखा तथा सहायक है। गुरु शिष्य की सफलता का साधन होता है और उसे भगवान के समान आदरणीय माना जाता है। गुरु और शिष्य के मध्य सुसम्बन्धों की अपेक्षा की गई है। गुरु शिष्य को 'तामसिक परावर्तन' से शुद्ध करता है तथा शिष्य की सभी पापों से मुक्ति करता है।[८] सांख्य दर्शन, जो कि गहन मीमांसा का दर्शन माना जाता है, में गुरु-शिष्य सम्बन्धों को विशेष महत्त्व दिया गया है, इसके अनुसार- गुरु आत्म-ज्ञान रस वाला तथा शिष्य को सन्मार्ग पर ले जाने वाला होता है। गुरु समाधिस्थ होकर ब्रह्म की अनुभूति करने वाला होता है। शिष्य तथा गुरु दोनों ही आध्यात्मिक ज्ञान के साधक होते हैं। आत्म-ज्ञान प्राप्ति से ही मुक्ति का लाभ मिलता है। गुरु शिष्यों को मुक्ति का साधन देता है।[९] योग दर्शन जो कि सैद्धान्तिक की अपेक्षा क्रियात्मक अधिक है, में गुरु-शिष्य सम्बन्धों में प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि, गुरु ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए अर्थात् जो योग के द्वारा समाधि की ऊँची भूमिका में पहुँचकर ब्रह्म का साक्षत्कार कर चुका है। योग परम्परा में गुरु को मानवेत्तर स्थान दिया गया है। गुरु असीम गुण-ज्ञान भाव से शिष्य की सेवा का अधिकारी योग्यता होता है। गुरु का कर्तव्य है कि वह शिष्य की योग्यता को पहचानकर शिष्य के सारे जीवन को सुधारे, शिष्य को ऐसा बना दे कि उसमें कोई कमी न रहे तथा शिष्य को नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक स्तरों पर ऊपर उठाए।[१०]

भारतीय दर्शनों में वैशेषिक दर्शन को यथार्थवादी दर्शन भी कहा जाता है। इसके अनुसार यह आवश्यक है कि गुरु द्वारा शिष्यों को वास्तविक परिस्थितियों में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के अवसर प्रदान करे। इस प्रकार से वर्तमान में नवाचारी शिक्षण रणनीतियों के अन्तर्गत आने वाली शिक्षण विधियों अवलोकन, शैक्षिक भ्रमण आदि, जो कि बालक को प्रत्यक्ष परिस्थितियों के साथ जोड़कर ज्ञान प्रदान करती हैं, के द्वारा शिष्यों को यथार्थ ज्ञान प्रदान करने वाली विधियों के प्रयोग को वैशेषिक शिक्षा दर्शन में विशेष स्थान दिया गया है। इसके साथ ही वैशेषिक शिक्षा दर्शन में यह भी माना गया है कि यह व्यवस्था गुरु के द्वारा की जाए व गुरु अवलोकन की परिस्थितियों सम्बन्धी सूक्ष्म तत्वों का विवेचन भी साथ-साथ करता जाए। इस प्रकार वैशेषिक शिक्षा दर्शन के अनुसार शिष्यों में यथार्थ ज्ञान के लिए उत्सुकता होनी चाहिए और गुरु को भी शिष्य को इसके लिए प्रेरित करना चाहिए।

गुरु शिष्य परम्परा का सबसे उचित उदाहरण अद्वैत वेदान्त दर्शन में प्राप्त होता है जिसमें माना गया है कि गुरु और शिष्य के बीच आत्मिक सम्बन्ध होना आवश्यक है। शंकराचार्य ने ब्रह्म को सत्य तथा जगत् को मिथ्या माना है। इसलिए गुरु की मुख्य भूमिका शिष्य को तर्क तथा श्रुति के आधार पर ब्रह्म ज्ञान

---

८. शर्मा, आर०ए० (२०११); शिक्षा के दार्शनिक व सामाजिक आधार, आर० लाल बुक डिपो, निकट गर्वनमेंट कॉलिज, बेगम ब्रिज रोड, मेरठ, पृष्ठ सं० ३०४

९. उपर्युक्त, पृष्ठ सं० ३१६

१०. उपर्युक्त, पृष्ठ सं० ३२५

देना है।[११] गुरु और शिष्य दोनों को अपने आन्तरिक अनुभव के द्वारा ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करनी चाहिए। शंकराचार्य के अनुसार गुरु ही अपने शिष्य को मोक्ष दिला सकता है इसलिए गुरु परमात्मा के समान है। गुरु शिष्य का आध्यात्मिक पिता व ब्रह्म का ज्ञाता होता है। इस कारण उसका स्वभाव करुणामय व मित्रवत् होना चाहिए। उसके हृदय में अपने शिष्यों के प्रति द्वेष-भाव नहीं होना चाहिए। उसे अहंकारी नहीं होना चाहिए। उसे नैतिक गुणों की प्रतिमूर्ति होना चाहिए तथा उसे धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नति के शिखर पर होना चाहिए। इसी प्रकार वे शिष्य के गुणों के विषय में कहते हैं कि एक शिष्य को अपनी इन्द्रियों में पूर्ण नियन्त्रण रखने वाला व ब्रह्मचारी होना चाहिए। उसे अपने अन्दर ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करने में प्रयशील रहना चाहिए। नित्य अनित्य का भेद करने में समर्थ तथा सत्य असत्य की प्रकृति को समझने वाला होना चाहिए। शिष्य में वैराग्य की कामना होनी चाहिए तथा उसे संसार के मिथ्या प्रपञ्चों से बचकर रहना चाहिए। उसे सदा ब्रह्म से साक्षात्कार के लिए तत्पर रहना चाहिए व इस साक्षात्कार की अनुभूति के लिए उसमें शम (मन पर नियन्त्रण), दम (इन्द्रियों पर नियन्त्रण), उपरति (वाह्य आडम्बरों का त्याग), तितिक्षा (सभी प्रकार की चिन्ताओं और आशंकाओं से मुक्ति), केवल ब्रह्म का ध्यान और चिन्तन, शास्त्रों में निष्ठा व श्रद्धा तथा मुमुक्ष (मोक्ष का आकांक्षी) गुणों का होना आवश्यक है।

शंकराचार्य के द्वारा अद्वैत वेदान्त दर्शन के माध्यम से बौद्ध दर्शन के प्रभाव को कम करने तथा प्राचीन वैदिक कालीन विचारधारा की पुनःस्थापना करने का प्रयास किया गया था। इस कारण उन्होंने गुरुकुल शिक्षा प्रणाली, जो बौद्ध धर्म के विकास व विस्तार के कारण समाप्त प्राय हो चुकी थी, को पुनर्जीवित किया। उन्होंने इसके लिए भारत के विभिन्न स्थानों में पीठों की स्थापना की जहाँ गुरु-शिष्य परम्परा के अनुसार शिक्षा प्रदान की जाती थी। शंकराचार्य के अनुसार शिष्य को जब तक वह गुरुकुल में रहता है, गुरु के अधीन रहना चाहिए, गुरु पर पूरी निष्ठा रखनी चाहिए, ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए तथा गुरु के आदेशों का पालन करना चाहिए। शिष्य को अपनी शंकाओं के निवारण हेतु गुरु से प्रश्न करने चाहिए। शिक्षा की समाप्ति पर शिष्य को अपनी सामर्थ्य के अनुसार गुरु को दक्षिणा देनी चाहिए। उन्होंने गुरु-दक्षिणा गुरु के प्रति आभार के प्रतीक के रूप में माना है, न कि शिष्य पर कोई ऋण या भार।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय दर्शन में गुरु-शिष्य परम्परा को ज्ञान या मोक्ष की प्राप्ति के साधन के रूप में प्रयुक्त किया गया। कालान्तर में विदेशी आक्रमणों तथा भारत में मुगल तथा ब्रिटिश राज के कारण धीरे-धीरे भारतीय शिक्षा प्रणाली हाशिए पर आ गई। भारतीय शिक्षा में ब्रिटिश शिक्षा व आधुनिकता के कारण गुरु-शिष्य प्रणाली की सार्थकता को भुला दिया गया। शिक्षा दर्शन में भारतीय दर्शन के स्थान पर पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। यद्यपि समय-समय पर महात्मा गांधी जी, विवेकानन्द, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर, महर्षि दयानन्द आदि दार्शनिकों के द्वारा भारतीय शिक्षा में प्राचीन भारतीय दर्शन के सिद्धान्तों के महत्त्व को पुनःस्थापित करने का प्रयास किया गया, परन्तु भारतीय शिक्षा के व्यावसायीकरण, छात्र व अध्यापकों के गिरते मूल्यों, नैतिक शिक्षा के अभाव में चारित्रिक पतन, गुरु व शिष्य के बीच के स्वस्थ सम्बन्धों के ह्रास आदि के कारण आज प्राचीन भारतीय गुरु-शिष्य परम्परा का एक प्रकार से पतन ही हो चुका है। हमारे जीवन में माता-पिता के बाद गुरु ही ऐसा व्यक्ति होता है

---

११. उपर्युक्त, पृष्ठ सं० ३५३

जिसका प्रभाव हमारे जीवन में मृत्यु पर्यन्त रहता है। प्रसिद्ध दार्शनिक हेनरी एडम्स के अनुसार- **एक अध्यापक हमारे जीवन को अनन्त काल तक प्रभावित करता है तथा यह निश्चित नहीं किया जा सकता है कि उसका प्रभाव कब तक रहेगा।** इससे यह स्पष्ट है कि हमारे जीवन को एक स्वरूप प्रदान करने में शिक्षक का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। शिक्षक के व्यवहार, शिक्षक के गुण, शिक्षक के चरित्र, शिक्षक की योग्यता, शिक्षक के व्यक्तित्व आदि छात्र के ज्ञान, जीवन शैली, व्यवहार, व्यक्तित्व व चरित्र को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली में गुरु-शिष्य परम्परा में आ रहे बदलाव को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। प्राचीन काल में समाज में गुरु का स्थान अत्यधिक पूजनीय होता था क्योंकि यह माना जाता था कि गुरु ही मोक्ष प्राप्ति के मार्ग तक ले जा सकता है। गुरु ज्ञान का वाहक तथा उच्च चारित्रिक व नैतिक गुणों से परिपूर्ण होता था, जिस कारण उसे समाज में आदर्श माना जाता था। गुरु को धियावसु (जिसकी बुद्धि ही धन है), सत्यजन्मा (सत्य को जानने वाला) और विश्ववेदा (सर्वज्ञ) आदि विशेषणों से संबोधित किया जाता था[१२] इस काल में गुरु वनों मे रहकर आध्यात्मिक चिन्तन कर शिक्षण कार्य करते थे। गुरु शिष्य की व्यक्तिगत क्षमताओं को समझकर उनके व्यक्तित्व का सम्यक् विकास करने का प्रयास करते थे। गुरुकुलों का आध्यात्मिक वातावरण गुरुओं के आदर्श चरित्र, व्यक्तित्व, संरक्षण एवं निर्देशन शिष्य में उदात्त चारित्रिक एवं आध्यात्मिक गुणों का विकास होता था। **'उपह्वरे गिरीणां, संगमे च नदीनां धिया विप्रो उपजायत्'**[१३] **अर्थात् 'पर्वतों के निकट और नदियों के संगमस्थल पर गुरुओं की प्रज्ञा और क्रिया कुशलता से मुक्त मेधावी विद्वान तैयार होते थे।'** परन्तु आज व्यावसायीकरण के युग में शिक्षण व्यवसाय के साथ-साथ गुरु का स्वरूप भी बदल चुका है। आज शिक्षण को धन कमाने के एक पेशे के रूप में देखा जा रहा है। शिक्षा को लाभ के व्यवसाय का रूप दे दिया गया है और जगह-जगह शिक्षा प्रदान करने के लिए शिक्षण संस्थाओं के रूप में ज्ञान को बेचने की दुकानें खोल दी गई हैं। समाज में नैतिक मूल्यों के निरन्तर हो रहे ह्रास का प्रभाव शिक्षक पर भी पड़ रहा है। यह देखा जा रहा है कि शिक्षक धन कमाने की होड़ में छात्रों के भंविष्य के साथ खिलवाड़ करने से भी नहीं चूक रहे हैं। शिक्षक कक्षा-कक्ष में शिक्षण करने के स्थान पर ट्यूशन को अधिक महत्त्व देने लगे हैं। इस कारण शिक्षक को समाज में प्राप्त सम्मान कम होता जा रहा है। शिक्षक में परिवर्तन के साथ-साथ वर्तमान परिप्रेक्ष्य में छात्र-शिक्षक के संबधों में भी परिवर्तन आता जा रहा है। आज छात्र और शिक्षक के सम्बन्ध भावनात्मक कम और व्यावसायिक अधिक हो गए हैं। छात्र अध्यापक का सम्मान नहीं करते। जिस कारण कई बार वे अध्यापकों के साथ हिंसा तक करने को उतारू हो जाते हैं। आज यह भी देखा जा रहा है कि शिक्षा के मशीनीकरण होने के कारण आज शिक्षक के स्थान पर तकनीकी संसाधनों के माध्यम से शिक्षा देने का प्रचलन बढ़ने लगा है। कम्प्यूटर द्वारा तथा नवीनतम तकनीकी संसाधनों के प्रयोग से तो यह माना जाने लगा है कि अब शिक्षक के स्थान पर मशीनों के माध्यम से बच्चों को शिक्षित किया जा सकता है। इन सब का सीधा प्रभाव गुरु शिष्य परम्परा पर

---

१२. सिंह, वी०बी० एवं सुधा पहुजा (२०११); भारत में शिक्षा व्यवस्था का विकास, आर० लाल बुक डिपो, निकट गवर्नमेंट कॉलेज, मेरठ, पृष्ठ सं० १५

१३. यजुर्वेद - २७.१५।

पड़ रहा है। आज यद्यपि तकनीकी के प्रयोग के द्वारा छात्रों को कम समय में अधिकतम ज्ञान प्रदान किया जा सकता है परन्तु हम यह भूलते जा रहे हैं कि ये संसाधन कभी भी एक शिक्षक का स्थान नहीं ले सकते क्योंकि गुरु-शिष्य परम्परा में ज्ञान के साथ-साथ कई ऐसे गुण, जो एक बालक के व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होते हैं, गुरु के संसर्ग से ही प्राप्त किए जा सकते हैं। जैसे- प्रेम, आदर, सम्मान, चरित्र, नैतिकता, दया, सेवा, सहानुभूति आदि और ये गुण एक संवेदनशील व्यक्तित्व के विकास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं।

निष्कर्ष :- अत: यह स्पष्ट है कि प्राचीन गुरु शिष्य परम्परा की हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली में अत्यन्त आवश्यकता है, क्योंकि एक छात्र में ज्ञान के साथ-साथ जीवन कौशलों का निर्माण करने के लिए यह आवश्यक है कि उसे एक अच्छे शिक्षक का संसर्ग मिले। आज के सामाजिक मूल्यों को देखते हुए यह भी आवश्यक है कि शिक्षक ऐसा हो जो समाज के लिए आदर्श हो तथा वह अपने शिष्यों को अपने व्यक्तित्व व ज्ञान से विकास के उच्च स्तर तक पहुँचा सके। इसके लिए आवश्यक है कि शिक्षक का व्यवसाय अपनाने वाले व्यक्ति में ज्ञान के साथ-साथ नैतिकता व चारित्रिक सुचिता भी हो तथा शिक्षक व्यवहार की आचार संहिता हो ताकि शिक्षक के व्यवहार का आकलन किया जा सके। क्योंकि जब हम यह मानते हैं कि छात्र के विकास के लिए सुदृढ़ छात्र-अध्यापक सम्बन्ध आवश्यक हैं तो हमें यह भी मानना होगा कि अध्यापक ऐसा हो जो समाज, अभिभावक व छात्र के लिए आदर्श हो, प्राचीन काल में शिष्य गुरु की सबसे बड़ी पूंजी थी वे अपने छात्रों के प्रति समर्पित होते थे लेकिन आज शिक्षक एवं शिष्य दोनों में कृतसंकल्प एवं दृढ़ इच्छाशक्ति का निरन्तर अभाव होने से गुणात्मक शिक्षा के प्रति सामाजिक रुचि में निरन्तर कमी आती जा रही है। परिणामस्वरूप शिक्षक व छात्र दोनों की रुचि प्रभावित हो रही है। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि एक बार फिर से प्राचीन गुरु-शिष्य प्रणाली के समान वर्तमान शिक्षा प्रणाली में भी गुरु-शिष्य प्रणाली को समृद्ध बनाया जाए ताकि गुरु के ज्ञान, आदर्श, प्रेम, स्नेह, व्यक्तित्व आदि गुणों की छाया में समाज के लिए योग्य व संवेदनशील नागरिकों का निर्माण हो सके। एक अनाम कवि के अनुसार-

Knowledge from books,
With little effort do we gain.
But it is the love for knowledge,
That comes from his gentle touch.

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ0189-193) ISSN 0974 – 8830

भारतीय भाषादर्शन के आलोक में सकारात्मक चिन्तन का अर्थ

डॉ० सोहनपाल सिंह आर्य[१]

प्रस्तुत सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि भाषादर्शन के अन्तर्गत दार्शनिक चिन्तन में प्रयुक्त पदों/प्रत्ययों का अर्थ निर्धारण किया जाता है। भाषा दर्शन में किसी पद का निर्धारण सामान्यत: दो प्रकार से होता है-

(१) शब्द की रचना के आधार पर- इस श्रेणी में विचारणीय पद के वे अर्थ आते हैं, जो व्याकरण और शब्दकोष द्वारा निर्धारित होते हैं।

(२) शब्द की प्रयोग मूलकता के आधार पर- इस श्रेणी में विचारणीय पद के वे अर्थ आते हैं जो किसी शब्द या पद के किसी विशेष सन्दर्भ में बार-बार प्रयुक्त होने से सामने आते हैं। ऐसे अर्थ प्रयोगमूलक सन्दर्भ के साथ विचारणीय होते हैं। किन्तु सन्दर्भ बदल जाने से पद का अर्थ भी बदल जाता है।[२]

उपर्युक्त आधार पर भारतीय भाषा दर्शन के अन्तर्गत जब हम किसी पद के अर्थ निर्धारण की समस्या पर विचार करते हैं तो पता चलता है कि निम्न तीन प्रकार के अर्थ मुख्यत: भारतीय भाषा दर्शन के अन्तर्गत स्वीकार्य माने जाते हैं- (१) अभिधामूलक, (२) लक्षणामूलक, (३) व्यञ्जनामूलक।[३] इन तीनों अर्थों में से प्रथम अर्थ शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर किया जाता है। जबकि व्यञ्जना एवं लक्षणा यह दोनों अर्थ किसी शब्द के प्रयोग के आधार पर निर्धारित होते हैं। शब्द बोध के उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर यहाँ यह विचारणीय है कि सकारात्मक चिन्तन का शब्दिक अर्थ क्या है? इसे जानने हेतु इस तथ्य पर दृष्टिपात किया जाना आवश्यक है कि सकारात्मक 'चिन्तन' एक संयुक्त पद है जो 'सकारात्मक' एवं 'चिन्तन' इन दोनों शब्दों का संयुक्त रूप है। अत एव इस संयुक्त पद का क्या अर्थ है? इसे जानने के लिए सकारात्मक एवं चिन्तन इन दोनों शब्दों के अर्थों पर दृष्टिपात किया जाना आवश्यक है।

तदनुसार,- सकारात्मक शब्द पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि सकारात्मक शब्द स्वयं में संयुक्त शब्द है जो 'सकार+आत्म' से मिलकर बना है। सकार में 'स' शब्द अव्यय है जिसके प्रमुख अर्थ है- सह, सम्, तुल्य, सदृश और समानादि (सभी उपसर्ग)। ये संज्ञा के साथ प्रयुक्त होकर विशेषण अथवा

---

१. प्रोफेसर-दर्शन विभाग, गु० कां० वि०, हरिद्वार, E-mail: sohanpalarya@yahoo.com mob.No: 09897273663

२. विट्गिन्स्टाइन : फिलॉसोफीकल इन्वेस्टीगेशन – किसी शब्द का अर्थ भाषा में उसका प्रयोग क्रसं० ४३

३. शास्त्री, डॉ० विजय पाल : भारतीय भाषा दर्शन, प्र०सं० २००७ सत्यम् पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, पृष्ठ ४९-५०

क्रियाविशेषण का बोध कराते हैं। यथा- सकार, सधर्म, सवर्ण आदि।[४] इसी प्रकार 'कार' (वि०) शब्द 'कृ' धातु से अण् अथवा घञ् प्रत्यय करके सिद्ध होता है। कोशकार के अनुसार- जिसके प्रमुख अर्थ है- बनाने वाला, करने वाला, निर्माता और कर्ता आदि।[५] इस प्रकार 'सकार' शब्द का अर्थ हुआ- बनाने वाले सहित, कर्ता सहित, निर्माता सहित आदि। कोशकार आप्टे ने 'आत्मक' (वि०) के निम्न अर्थ बतलाएँ हैं- से बना हुआ, से रचा हुआ, स्वभाव का और लक्षण का आदि।[६] इस प्रकार 'सकारात्मक' का शाब्दिक अर्थ होता है- सहित या समान, बनाने वाले से युक्त अथवा निर्माण कर्त्ता के भाव से युक्त या रचना के स्वभाव से युक्त अर्थात् रचना, निर्माण या सृजनशीलता- जिसका स्वभाव हो और जो उससे कदापि अलग न हो।

इस शब्द के अर्थ बोध के सन्दर्भ में यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि यह शब्द प्रचलन की दृष्टि से अपेक्षाकृत नया है, क्योंकि प्राचीन शब्द कोशों यथा- निरुक्त, निघण्टु आदि में यह शब्द नहीं मिलता। अमरकोश और आप्टेकृत संस्कृत-हिन्दी कोश में भी इसका सन्दर्भ प्राप्त नहीं होता। किन्तु डॉ० हरदेव बाहरी ने सकारात्मक शब्द को स्वनिर्मित कोश में स्वीकृति सूचक, निश्चय कारक अर्थ में उद्धृत किया है।[७] सकारात्मक शब्द मूलत: विशेषण है, जो सकारना नामक क्रिया का बोधक है। जिसका अर्थ है- स्वीकरण या स्वीकार करना।[८] उल्लेखनीय है कि सकारात्मक शब्द का एक अन्य समानार्थक शब्द है- 'विधायक'। कोशकार आप्टे के अनुसार इसका अर्थ है- 'निर्माण करने वाला, रचना करने वाला और व्यवस्थित करने वाला आदि।[९] सकारात्मक शब्द का दूसरा विचारणीय अर्थ प्रयोगमूलक है। दैनिक जीवन में इस शब्द के अनेक प्रयोग मूलक अर्थ दृष्टिगोचर होते हैं। यथा- स्वीकृति मूलक और रचनात्मक आदि। ज़ैसा कि निम्न उल्लेखनीय कथनों पर दृष्टिपात करने से पता चलता है- (१) प्रदेश में खाद्यान्न और कैरोसीन का कोटा कम नहीं किया जायेगा। इसको लेकर प्रधानमन्त्री से वार्ता हुई है वार्ता के बाद सकारात्मक संकेत मिले हैं।[१०] (२) विषम परिस्थितियों में ही व्यक्ति की सही परीक्षा होती है कोई क्षण जाने के बाद नहीं आता है। लेकिन उनमें कुछ क्षण ऐसे होते हैं कि जिनसे हम ऊर्जावान् होकर सकारात्मक रूप दे सकते हैं।[११] उपर्युक्त कथनों में सकारात्मक शब्द के अर्थ क्रमशः स्वीकृतिमूलक एवं रचनात्मक दृष्टिगोचर होते हैं।

इस प्रकार शब्द रचना और प्रयोग दोनों ही दृष्टि से सकारात्मक शब्द रचना, निर्माण और पुनर्निर्माण जैसे भावों से युक्त जान पड़ता है। इसके अलावा स्वीकृति ग्रहणशीलता और प्रगतिशीलता आदि के भाव भी इस शब्द से व्यक्त होते हैं।

'सकारात्मक' के साथ जुड़ा हुआ दूसरा शब्द है- 'चिन्तन'। यह शब्द 'चिन्त् धातु' में 'ल्युट्

---

४. आप्टे, शिवराम वामन : संस्कृत हिन्दी कोश - द्वि०स० १९६९, मोती लाल बनारसी दास, पृष्ठ १०४५
५. आप्टे, शिवराम वामन : उप० २६८
६. उप०, पृष्ठ ११४
७. संस्कृत-हिन्दी विद्यार्थी शब्द कोश, पृष्ठ ७९५
८. उप०, पृष्ठ ७९५
९. आप्टे : शिवराम वामन : उप०, पृष्ठ ९३७
१०. केन्द्रीय राज्य मन्त्री हरीश रावत का कथन दैनिक हिन्दु० २९ अप्रैल २०१२, पृष्ठ ६ से उद्धृत
११. आचार्य बालकृष्ण : कुलपति पंतजलि योगपीठ का कथन दैनिक हिन्दु० २९ अप्रैल २०१२, पृष्ठ २ से उद्धृत

प्रत्यय' करने से सिद्ध होता है। जिसका अर्थ है- 'सोचना, विचारना'।[१२] वस्तुतः चिन्तन की अभिव्यक्ति विचारों के माध्यम से होती है। विचारों के अभाव में चिन्तन की कल्पना नहीं की जा सकती। तर्कयुक्त विचारों से चिन्तन सम्भव है, परन्तु ऐसे विचार जो उद्देश्य मूलक होते हैं और व्यवस्थित शृंखला की कड़ियों की भांति एक दूसरे से जुड़े होते हैं, चिन्तन प्रक्रिया का निर्माण करते हैं।

इस प्रकार 'सकारात्मक चिन्तन'- ऐसे विवेकपूर्ण तर्कसंगत विचारों की व्यवस्थित शृंखला/प्रवाह को कहा जा सकता है, जिसका स्वरूप स्वीकृति मूलक हो और जिसका उद्देश्य रचनात्मक, विकास मूलक और प्रगति का संवाहक हो। चाहे स्वयं व्यक्ति हो अथवा परिवार, फिर चाहे समाज हो अथवा राष्ट्र- ऐसा चिन्तन जो सभी को गतिशील रखे, संगठित रखे एवं विकास की दिशा में लगातार प्रेरित एवं अग्रसर भी करे। इस दृष्टि से देखने पर सकारात्मक चिन्तन की अनेक प्रमुख विशेषताएँ विचार हेतु प्रस्तुत होती हैं। यथा- विवेकशीलता, स्वीकृति मूलकता, रचनात्मकता और लक्ष्यमूलकता आदि।

ये विशेषताएँ 'सकारात्मक चिन्तन' की आधारशिलाएँ हैं। इनके अभाव में 'सकारात्मक चिन्तन' की कल्पना नहीं की जा सकती। किन्तु 'सकारात्मक चिन्तन' की कई अन्य उल्लेखनीय विशेषताएँ भी दृष्टिगत होती हैं। यथा- आशावादिता, प्रगतिशीलता, मैत्रीभाव, संगठनशीलता, जनकल्याण भावना, सहिष्णुता, उदारता एवं करूणा आदि। इन सभी को समग्र रूप में सकारात्मक चिन्तन के अन्तर्गत यथा प्रसंग देखा जा सकता है। जैसा कि निम्न मार्गदर्शनकारी वैदिक मन्त्रों परदृष्टिपात करने से पता चलता है। उल्लेखनीय है वेदों में सकारात्मक चिन्तन को अभिव्यक्त करने वाले अनेक मन्त्र प्रस्तुत विषय पर अध्ययन करते हुए सामने आये हैं जो बिन्दुवार निम्नलिखित हैं।-

(१) सकारात्मक चिन्तन की मनोभूमि

वेदो में अनेक मन्त्र इस विषय से सम्बन्धित प्राप्त होते हैं यथा- (क) **योगं प्रपद्ये क्षेमं च क्षेमं प्रपद्ये योगं च** अर्थात् मैं योग-क्षेम प्राप्त करूँ।[१३] (ख) **मा मा प्रापत् प्रतीचिका** अर्थात् मुझे प्रतिकूलता प्राप्त न हो।[१४] (ग) **भद्रं भवाति नः पुरः** अर्थात् सज्जनता हमारे आगे-आगे हो।[१५] (घ) **आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम** अर्थात् श्रेष्ठों तक पहुँच, बराबर वालों से आगे बढ़।[१६] (ङ) **त्वमेकवृषो भव** अर्थात् तू सर्वश्रेष्ठ बन।[१७]

(२) मैत्रीभावना

प्रस्तुत सन्दर्भ में निम्न वेद मन्त्र विचारणीय हैं- (क) **मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे** अर्थात् मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ।[१८] (ख) **यः तेन नः सह** अर्थात् जो अच्छे हृदयवाला है

१२. आप्टे, शिवराम आप्टे, उप० पृष्ठ ३८३
१३. अथर्ववेद - १९.८.२. डॉ० रामनाथ वेदालंकार द्वारा किया गया अर्थ - वैदिक सूक्तियाँ सं०-२००६, पृष्ठ ६२
१४. अथर्ववेद - १९.२० उपर्युक्त, पृष्ठ ६२
१५. अथर्ववेद - २०-२०-६, उपर्युक्त, पृष्ठ ६२
१६. अथर्ववेद - २.११.५, उपर्युक्त, पृष्ठ ५१
१७. अथर्ववेद - ६.८६.१, उपर्युक्त, पृष्ठ ५१
१८. यजुर्वेद - ३६.१८

उससे हमारा संग हो।[१९]

(३) कल्याणकारी भावना

(क) **आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासोऽ अपरीतासऽउद्भिदः। देवा नो यथा सदमिद्वृधेऽअसन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे।।**[२०] (ख) **देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयताम्। देवानां रातिरभि नो निवर्त्तताम्। देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा नऽ आयुः प्रतिरन्तु जीवसे।।**[२१] (ग) **भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।।** उपर्युक्त तीनों मन्त्रों में कल्याण भावना ओत-प्रोत है जो सकारात्मक चिन्तन की आधारशिला मानी जा सकती है।[२२]

(४) संगठनशीलता की भावना

प्रस्तुत सन्दर्भ में ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त का मुख्य रूप से उल्लेख किया जा सकता है जिसे संगठन सूक्त से नाम से भी जाना जाता है। इस सूक्त में संगठन सम्बन्धी वे सभी आधारभूत विचार सूत्र रूप में आ जाते हैं, जिसके अभाव में संगठन, सामाजिकता, आपसी आदान-प्रदान और सामंजस्य की कल्पना नहीं की जा सकती। इन सूत्रों के अन्तर्गत वैचारिक एकता, सहगतिशीलता और समान समिति/संगठन के भाव दृष्टिगोचर होते हैं। यथा (क) **संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।**[२३] (ख) **समानो मन्त्रः समितिः समानी, समानं मनः सह चित्तमेषाम्।**[२४]

(५) शुभ संकल्प-

यह भी रचनात्मक तथा प्रगतिमूलक चिन्तन का प्रमुख विचारतत्व होता है। इसके अभाव में किसी भी रचना/प्रगति की कल्पना नहीं की जा सकती।[२५] वेदों में इसके लिए शिव संकल्प के नाम से अनेक मन्त्र दृष्टिगत होते हैं। जिन पर मनन करने से जीवन में शिवसंकल्प की महत्ता का बोध होता है।

(६) शान्ति-भावना

उल्लेखनीय है कि सकारात्मक सोच/चिन्तन के लिए शान्ति की नितान्त आवश्यकता है। फिर वह शान्ति चाहे व्यक्ति स्तर पर हो अथवा समष्टि के स्तर पर हो। समग्र रूप में शान्ति होने पर ही कोई भी सकारात्मक पहल सम्भव है। अन्यथा शान्ति के अभाव में अशान्ति, तोड़-फोड़, हिंसा आदि नकारात्मक प्रवृत्तियाँ तथा गतिविधियाँ आरम्भ हो जाती हैं। वेदो में शान्ति के महत्त्व को प्रतिपादित करने वाले अनेक

---

१९. अथर्ववेद - २०-७-५, उपर्युक्त, डॉ० रामनाथ वेदालंकार, पृष्ठ ६०
२०. यजुर्वेद - २५.१४
२१. यजुर्वेद - २५.१५
२२. यजुर्वेद - २५-२१
२३. ऋग्वेद - १०-१९१-२
२४. ऋग्वेद १०-१९१-३
२५. यजुर्वेद - ३४-(१-६)

मन्त्र दृष्टिगत होते हैं यथा- **ओं द्यौः शान्तिरन्तरिक्षः शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिसर्वं शान्तिरेव सा मा शान्तिरेधि॥**[२६] प्रस्तुत मन्त्र में ऐसी शान्ति के लिए प्रभु से प्रार्थना की गई है जो समग्र शान्ति हो अर्थात् सभी क्षेत्रों एवं स्तरों पर अक्षुण रूप में विद्यमान हो वही वास्तविक शान्ति भी है।

अस्तु साकारात्मक चिन्तन की ये ऐसी महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ है जिन्हें दृष्टिगत रखते हुए सकारात्मक चिन्तन के वास्तविक अर्थ एवं स्वरूप को भली-भाँति समझा जा सकता है और दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में मार्गदर्शनकारी आधार के रूप में इनका सफलतापूर्वक उपयोग किया जा सकता है।

२६. यजुर्वेद - ३६-१७

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ0194-201) ISSN 0974 – 8830

भगवद्गीता में सकारात्मक चिन्तन की दिशाएँ

डॉ० तुलसी देवी[1]

भारतीय धर्मग्रन्थ मानव-व्यवहार के सर्वश्रेष्ठ व्याख्यात हैं। इनमें निहित चिन्तन हमारे दैनन्दिन जीवन में कितना उपयोगी है तथा मानव-समाज के कल्याण के लिए कितना आवश्यक है, यह पुनः-पुनः शोध का विषय है, जिससे आधुनिक हताशा और निराशा के युग में मानवता त्राण पा सके; अपनी मूल संस्कृति से जुड़कर आत्मरक्षित अनुभव कर सके।

ऋषि उद्बोधन देते हैं कि हमारा शरीर 'देवानां पूरयोध्या' अर्थात् देव शक्तियों की पुरी है। इन देवशक्तियों को जाग्रत करके ही हम दिव्य आनन्द से परिपूर्ण हो सकते हैं।[2] भगवद्गीता कहती है-

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमावाप्स्यथ।।[3]

देवताओं की भावना करने से देवता भी हमारी भावना करते हैं। इस प्रकार परस्पर भावविशिष्ट होने से परम श्रेयस् की प्राप्ति होती है। अभिप्राय यह है कि अपने जीवन में दैवी-सम्पदा[4] को-दैवी गुणों को धारण करने से देवत्व की सिद्धि होती है। ब्रह्माण्ड में 'दैवी' और 'आसुरी'-दो प्रकार की शक्तियाँ प्रवाहमान हैं।[5] जब हम दैवी भावना करते हैं, तो हमारी भावनाएँ दैवी शक्ति से सम्पन्न होती हैं; क्योंकि शुभसंकल्पमयी दैवी शक्ति को हम अपने चिन्तन द्वारा प्रबुद्ध करते हैं। इसके विपरीत भावना करने से हमारे भीतर अशुभकारिणी शक्ति बलवती होकर हमारा अमंगल करेगी।

इस संकल्पात्मक सृष्टि में विचार ही मूल सत्ता है। 'मन' विचारों का पु;ज है। मन का स्वभाव है चिन्तन करना। चिन्तन की दो धाराएँ हैं- सकारात्मक और नकारात्मक। सकारात्मक विचारधारा शुभ संकल्प को धारण करने वाली, चित्त को शान्ति प्रदान करने वाली और कल्याणकारिणी होती है।[6] इसके विपरीत, नकारात्मक विचारधारा अशुभविचारिणी, बहुत विषयों में भटकाने वाली, अनन्त भेदों वाली बुद्धि को भ्रमित करने वाली और विनाशकारिणी होती है।[7]

सकारात्मक चिन्तन का मूलमन्त्र है- शुभ-चिन्तन। वैदिक ऋषि प्रार्थना करते हैं कि प्रभु! हमारा

---

१. डॉ० तुलसी देवी-महात्मा गाँधी बा०पी०जी० कॉलेज, फिरोजाबाद उ०प्र०
२. अथर्ववेद-१०.२.३१
३. भगवद्गीता-३.११
४. भगवद्गीता-१६.१-३
५. क- भगवद्गीता-१६.६-द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
६. भगवद्गीता- १६.५- दैवी संपद्विमोक्षाय.....।
७. भगवद्गीता- २.४१ बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्''

मन शिवसंकल्प को धारण करे, कल्याणकारी विचारों को धारण करे- **'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।'**[८]

सकारात्मक चिन्तन एक महत्त्वपूर्ण ज्ञानपरक मानसिक प्रक्रिया है। यह समस्या-समाधान में ही नहीं अपितु, प्रत्येक प्रकार के अधिगम में सहायक होता है। चिन्तन के अनुरूप व्यक्ति की अभिवृत्तियाँ और विचार परिवर्तित हो जाते हैं, जो उसके भावी जीवन के निर्धारक होते हैं।

चिन्तन में अभिप्रेरणा का बहुत महत्त्व है। भगवद्गीता सकारात्मक और नकारात्मक-दोनों प्रकार के चिन्तन के गुण-दोषों और परिणामों से अवगत कराते हुए हमें यथार्थवादी चिन्तन की ओर अभिप्रेरित करती है। प्रायः देखा जाता है कि सुखमय अवस्था में हर्षोल्लास से परिपूर्ण मन सकारात्मक चिन्तन की ओर प्रेरित होता है तथा दुःखमय अवस्था में अत्यधिक शोक और मोह से व्यथित हुआ मन नकारात्मक चिन्तन करने लगता है। कहते हैं-चिन्तन कर्म का प्रेरक होता है। हम जैसा सोचते हैं, वैसा कर्म करते हैं। इस प्रकार कर्म से युक्त चिन्तन सकारात्मक चिन्तन की श्रेणी में आता है। स-कार अर्थात् कर्म से युक्त। नकारात्मक चिन्तन निषेधपरक होता है। इस चिन्तन में किसी भी कार्य में असफल होने का विचार प्रबल होता है अथवा सफलता में संदेह होता है। अत एव यह चिन्तन संशयात्मक होने से कर्म से विमुख करता है। चित्त की इस दशा में मनुष्य किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। कार्य की सफलता में उसे सन्देह होने लगता है। अर्जुन की भाँति मनुष्य का अपना चिन्तन, स्व का भाव कायरता रुप दोष से नष्ट हो जाता है, फलतः कर्त्तव्यकर्म का निर्णय करने में वह सर्वथा असमर्थ हो जाता है। अर्जुन कहता है-भगवन्! 'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।'[९] हम यह नहीं जानते कि हमारे लिए क्या करना श्रेष्ठ है, हम जीतेंगे या वे हमे जीतेंगे। शोक और मोह आदि मानस विकार इस दशा का कारण बनते हैं।

सभी मनुष्यों को विषम परिस्थितियों में मोह होता है, जबकि यही वह अवसर है, जिसमें मन की हर दुर्बलता का त्यागकर एक वीर योद्धा की भांति संघर्ष करने की आवश्यकता होती है। श्री भगवान कहते हैं- अर्जुन!'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्'।[१०] इस विषम काल में तुम्हें यह अज्ञान जनित मोह कैसे हो गया है? यह तो 'अनार्यजुष्टम्'- अनार्य पुरुषों द्वारा आचरण करने योग्य है। तुम तो आर्य हो, दैवी सम्पदा के धनी हो।[११] तुम अपने सहज गुणों को भी भूल गए हो, तुम्हारा ज्ञान भ्रम में परिणत हो गया है।[१२] यह आचरण आर्य पुरुषों के लिए उचित नहीं है। हे परमतपस्वी अर्जुन! हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को त्यागकर युद्ध के लिए खड़े हो जाओ।[१३]

इस प्रकार वैदिक चिन्तन की सारभूता 'भगवद्गीता' शोक और मोह से आक्रान्त चित्त के अज्ञान को निवृत्त कर हमें सकारात्मक चिन्तन की दिशा प्रदान करती है। 'भगवद्गीता' का प्रारम्भ 'विषादयोग' से हुआ है। 'अर्जुनविषादयोग' इसका प्रथम अध्याय है। यहाँ अर्जुन प्रतीक है उस समस्त मानव- जाति का जो,

---

८. यजुर्वेद- ३४.१
९. भगवद्गीता- २.६
१०. भगवद्गीता- २.२
११. भगवद्गीता- १६.५-......**संपद दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।**
१२. भगवद्गीता- १.३०-......**भ्रमतीव च मे मनः।**
१३. भगवद्गीता- २.३-......**क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।**

कालक्रम से प्राप्त विषम परिस्थितियों में शोक और मोह से उद्विग्न दुःखी, उदास, उत्साहहीन और विवेकहीन हो जाते हैं। प्रतिकूल परिस्थितियों में उत्पन्न मानसिक तनाव हमारी थोड़ी सी असावधानी के कारण हमारे आत्मबल को कुछ इस प्रकार झकझोर देता है कि हमारे साहस की जड़ें हिल जाती हैं। ऐसी दशा में मन की पीड़ा और अधिक घनीभूत होने लगती है। सब ओर से संतप्त 'मन' अर्जुन की भांति मृत्यु को ही श्रेयस्कर समझने लगता है।[१४] विषाद की इस अवस्था में, जिसे नकारात्मक चिन्तन की चरम परिणति कहा जा सकता है, 'भगवद्गीता' के उपदेष्टा योगीराज श्रीकृष्ण एक कुशल मनौवैज्ञानिक और मनोचिकित्सक की भांति सकारात्मक चिन्तन की विलक्षण दृष्टि प्रदान करते हैं। निःसन्देह 'भगवद्गीता' आध्यात्मिक ग्रन्थ होने के साथ-साथ प्रथमतः मनोविज्ञान का एक अद्भुत शास्त्र है, जो मानव-मन को निर्विकार बनाकर शनैः-शनैः आत्मा में प्रविष्ट होने का मार्ग प्रशस्त करता है।[१५]

मानव की जीवन-यात्रा अनन्त है। उस अनन्त यात्रा में परम पुरुषार्थ की ओर, अपने चरम लक्ष्य की ओर कौन कितना आगे बढ़ पाया है, इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए भगवद्गीताकार ने मानस-चिकित्सा के विविध उपायों का उपदेश दिया है, जो भिन्न-भिन्न मनुष्यों द्वारा पृथक्-पृथक् आचरण करने योग्य हैं।

भारतीय धर्मशास्त्रों में साधक की सामर्थ्य के अनुसार साधन की व्यवस्था की गयी है। श्रीकृष्ण उच्च स्वर में अर्जुन से कहते हैं- 'कर्मण्येवाधिकारस्ते'[१६] हे अर्जुन! तुम्हारा अधिकार कर्म में है। कर्मत्याग करके संन्यास ग्रहण करने से तुम्हारा काम नहीं चलेगा। उक्त परिप्रेक्ष्य में निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि जो जिस प्रकार का अधिकारी है, वह गीता में उसी प्रकार के अधिकार की शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

मूल प्रश्न यह है कि हम अपने जीवन के प्रति क्या दृष्टिकोण अपनाते हैं? दृष्टिकोण का चुनाव करने की स्वतन्त्रता हमसे कोई छीन नहीं सकता। अर्जुन कहते हैं- भगवन्! सम्मोहित चित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ, क्योंकि मैं अपनी ही मानसिक स्थिति से घबरा गया हूँ, मेरा सहज तेजोमय स्वभाव आवृत्त हो गया है, जो निश्चित रुप से श्रेयस्कर हो, वह मुझे बतलाइए। मैं आपका शिष्य हूँ, मुझे शिक्षा दीजिए, मैं आपकी शरण में आया हूँ।[१७] तात्पर्य यह है कि अनिश्चय और अनिर्णय की स्थिति में, विवेक-शून्यता की स्थिति में सद्शास्त्रों, सत्पुरुषों और ईश्वर की शरण में जाकर उनकी कृपा से करणीय आचरण का ज्ञान प्राप्त करना मानव का सर्वश्रेष्ठ धर्म है। श्रुति मनुष्य को सावधान करते हुए कहती है- 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।'[१८] दुस्तर संसार-सागर से पार होने का सरल उपाय वे अनुभवी महापुरुष ही बता सकते हैं, जो स्वयं इसे पार कर चुके हैं।

'भगवद्गीता'- का बीजमन्त्र है- 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्।'[१९] 'गीता' हमें बताती है कि हमें कैसा

---

१४. भगवद्गीता- १.४६-धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।

१५. भगवद्गीता- ६.२४-२५ संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः........।

१६. भगवद्गीता- २.४७

१७. भगवद्गीता- २.७-कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वाम्।

१८. कठो०- १.३.१४

१९. भगवद्गीता- २.११

चिन्तन करना चाहिए। क्या शोच्य है और क्या अशोच्य? मनुष्य देह और उसमें स्थित आत्मा का क्या स्वरूप है? सुख- दुःखादि द्वन्द्वों का क्या अस्तित्व है? इत्यादि। बिना आत्मज्ञान के महान् शोक-सागर से उद्धार होना सम्भव नहीं है, ऐसा विचार कर भगवान् वासुदेव आत्मज्ञान की प्रस्तावना करते हुए कहते हैं- 'जो शोक करने योग्य नहीं है, उनके लिए शोक करते हो और प्रज्ञावानों की भांति बोलते भी हो। पण्डितगण मृत्युधर्मा देह को नश्वर जानकर मृत अथवा जीवित प्राणियों के लिए शोक नहीं करते हैं। इसलिए तुम पण्डित बनो, प्रज्ञावान बनो।' 'पाण्डित्यं निर्विद्य'- इस श्रुति के अनुसार-

पण्डा आत्मविषया बुद्धिः येषां ते हि पण्डिताः।[२०]

'आत्मविषयक बुद्धि का नाम पण्डा है और वह बुद्धि जिनमें है, वही पण्डित है।' इस प्रकार गीता का आरम्भ हमारे 'अहं' और 'मम' का नाश करने के लिए हुआ है। देहात्मबुद्धि अर्थात् देह ही आत्मा है, इस बुद्धि का नाश करने के लिए हुआ है। यही वह अज्ञान है, जो सर्वदुःखों का कारण है।

सकरात्मक चिन्तन की दिशाएँ-

वैचारिक साधाना के सतत अभ्यास से चित्त सन्मार्ग में प्रवृत्त होता है। एतदर्थ, भगवद्गीता में वर्णित सकरात्मक चिन्तन की दिशाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

(१)आत्मा और देह-विषयक ज्ञान-

मानव जीवन नित्य और अनित्य तत्वों का संघात रूप है। इसमें आत्मा नित्य है और देह अनित्य। आत्मा सदा रहने वाला है[२१] और शरीर मरणधर्मा है।[२२] एक निश्चित काल के पश्चात् यह नष्ट हो जाता है। अव्यक्त आत्मा पुनः-पुनः एक शरीर के नष्ट हो जाने पर दूसरे नवीन शरीर को धारण करता है।[२३] जन्म और मृत्यु शरीर के होते हैं, आत्मा के नहीं। इस प्रकार आत्मा की नित्यता तथा शरीर की अनित्यता का ज्ञान मृत्यु-दुःख से निवृत्ति का उपाय हैं। यहाँ सकारात्मक चिन्तन की दो धाराएँ स्फुट होती हैं-

(१)इस लोक यात्रा में बन्धु-बान्धवों, मित्रों आदि के साथ हमारा स्नेह सम्बन्ध शरीर के माध्यम से होता है। शरीर का नष्ट होना, उस सम्बन्ध विशेष के नष्ट होने का प्रमाण है, मन में ऐसी धारणा करके प्रियजन के विछोह से उत्थित मोह के निवारण का सतत अभ्यास करना श्रेयस्कर है। भगवान् कृष्ण उपदेश देते हैं- 'जन्म और मृत्यु अपरिहार्य है और जो अपरिहार्य है, अवश्यम्भावी है, उसके लिए शोक करना उचित नहीं।'[२४] 'भगवद्गीता' में स्पष्ट उल्लेख है कि आत्मा को जन्म, जरा, मरणादि शरीर के धर्मों से सर्वथा असम्पृक्त एवं निर्विकार जानकर स्थिरमति-पुरुष इस विषय में मोह नहीं करते हैं।[२५] उक्त कथन का मूल भाव सकारात्मक सोच की ओर इंगित करता है। ऐसा चिन्तन हमारे व्यवहार को अनुशासित कर जीवन-पथ

---

२०. बृहदारण्यको०- ३.५.१ तथा भगवद्गीता-शांकरभाष्य-२.११
२१ भगवद्गीता २.१८ अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः।
२२ भगवद्गीता २.२० अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
२३ भगवद्गीता २.२२ तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।
२४ भगवद्गीता २.२७ जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥
२५. भगवद्गीता- २.१२, १३ आदि

की विभिन्न समस्याओं और दु:खों के निराकरण में परम सहायक होता है।

(२) मनुष्य के भीतर विराट् आत्मा का निवास है।[२६] जो सदा अजेय है।[२७] यही विराट् आत्मा हमारे प्राणों को स्फूर्ति देती है, इत्यादि रूपेण आत्मा के गुणों का चिन्तन हमारे सकारात्मक दृष्टिकोण को विकसित करता है, हमारे आत्मबल को जगाता है। आत्मबल एक ऊर्जा है, आत्मा की शक्ति है जो हमें प्रतिकूलताओं से जूझने का साहस और प्रेरणा देती है। मानव-मन की अन्तर्धारा में बहने वाली यह एक ऐसी शक्ति है, यदि हम इसकी पहचान कर लें और इसकी उपयोगिता को समझ लें, तो वह मन की उस ग्रन्थि को कभी जागरूक नहीं होने देगी जो हममें पराजय और निराशा की भावना को उद्वेलित करती है।

(२) शीतोष्ण और सुख-दु:ख की अनित्यता-

साधारण मनुष्य ही नहीं, अपितु आत्मज्ञानी को भी शीतोष्ण और सुख-दु:ख की अनुभूति होती है। इससे विचलित न होने के लिए 'भगवद्गीता' में इस प्रकार का चिन्तन दिया गया है कि स्थूल जगत् के सभी विषय शीत-उष्ण और सुख-दु:ख देने वाले हैं।[२८] शीत कभी सुख रूप होता है, कभी दु:ख रूप। इसी तरह उष्ण भी अनिश्चित रूप है, परन्तु सुख और दु:ख निश्चित रूप हैं। सुख की तरह दु:ख का आना स्वाभाविक है। सुख-दु:ख जीवन-धारा के दो किनारे हैं, जिनके बीच हमारे भौतिक जीवन का प्रवाह बहता रहता है। अन्तर मात्र इतना है कि सुख हमें प्रिय लगता है और दु:ख अप्रिय, किन्तु जो अनिवार्य है, उसे तो भोगना ही है। अत एव, जीवन के साथ दु:ख को स्वीकार करना ही होगा।

दु:ख निवारण के विभिन्न उपाय करने पर भी अनेकों बार जीवन में कुछ ऐसा घटित हो जाता है, जिसका प्रतीकार सम्भव नहीं हो पाता। ऐसे विषयों में भगवान कृष्ण समझाते हैं कि 'शीत-उष्ण और सुख-दु:ख उत्पत्ति-विनाशशील हैं इसलिए इन अनित्य भावों को तुम सहन करना सीखो'। 'दु:ख-सुख में समभाव जिस धीर पुरुष को इन्द्रियों के ये विषय व्याकुल नहीं करते हैं, वह अमृतत्व को प्राप्त करने के योग्य होता है।'[२९] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सुख की अनित्यता जहाँ हमें धीर और गम्भीर बनने को प्रेरित करती है, वहीं दु:ख की अनित्यता हमें मानसिक बल प्रदान करती है कि यह भी सदा रहने वाला नहीं है, इसका भी अन्त होगा। तितिक्षा अर्थात् सहिष्णुता का यह गुण चित्त की स्थिरता में परम सहायक होता है।

जीवन के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण मोड़ पर हमें अनेक अप्रत्याशित कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, लेकिन उनके समक्ष पराभव स्वीकार नहीं करना चाहिए और न ही विचलित होना चाहिए। दु:खात्मक विपरीतताएँ हमें इस योग्य बना देती हैं कि हम जीवन की वास्तविकता को समझने लगते हैं और अपने उद्देश्य तथा जीवन-पथ के प्रति सजग हो जाते हैं। सम्भवत: इसी अभिप्राय से भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि यह जीवन संघर्ष तुम्हें स्वत: प्राप्त हुआ है। तुमने इसकी इच्छा नहीं की थी। यह स्वर्ग का

---

२६. बृहदारण्यको०-३.४.१-आत्मा सर्वान्तर:।

२७. भगवद्गीता- २.२४- अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम्......।

२८. भगवद्गीता- २.१४ ......शीतोष्णसुखदु:खदा:......।

२९. भगवद्गीता- २.१५- समदु:खसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।

खुला हुआ द्वार है। ऐसा दुर्लभ और शुभ अवसर किसी भाग्यशाली को ही प्राप्त होता है।[३०]

कर्म की विराट् चेतना

तत्त्वज्ञानार्थी को आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान सहजता से नहीं हो पाता है। अत एव, अन्तःकरण की शुद्धि[३१] के द्वारा आत्मोपलब्धि की योग्यता प्राप्त कराने के उद्देश्य से भगवान् कृष्ण आदेशात्मक वाक्य में कहते हैं- 'कर्मण्येवाधिकारस्ते'[३२] – तुम्हारा केवल कर्म में अधिकार है। कर्म इस सृष्टि का परम तत्त्व है। जो कर्म में लगा रहेगा, उसके जीवन में शिवसंकल्पों की सकारात्मक विचारों की कमी नहीं रहेगी, क्योंकि वह जो कर्म करेगा, उसके पीछे कोई उद्देश्य अवश्य होगा और वही उद्देश्य उसकी अन्तरात्मा में आशा का आकार ग्रहण करता रहेगा। निराशा का सामना कर्ममय जीवन में भी होता है, अन्तर केवल इतना होता है कि कर्ममय जीवन को जीने वाला व्यक्ति निराशा को अस्थाई विचार के रूप में ग्रहण करता है। वहीं अकर्मण्य व्यक्ति निराशा को स्थाई तत्त्व मान बैठता है तथा नए प्रयों की ओर अग्रसर नहीं हो पाता है। सूत्र रूप में कह सकते हैं कि गति ही जीवन है और विश्रान्ति ही मृत्यु है। कर्मण्यता ही आशा है और अकर्मण्यता निराशा। इसी भाव को स्पष्ट करते हुए भगवद्गीताकार कहते हैं कि- 'स्वधर्मानुसार कर्त्तव्यकर्म न करने से धर्म और यश की हानि होती है तथा पाप की प्राप्ति होती है। अपयश प्रतिष्ठित पुरुष के लिए मृत्यु से भी अधिक दुःखदायी होता है'।[३३] इतना ही नहीं कर्म से विमुख हुआ गुणी पुरुष भी लघुता को प्राप्त हो जाता है।[३४] शत्रु ऐसे व्यक्ति की सामर्थ्य की निन्दा करते हैं। इससे अधिक और दुःखप्रद क्या हो सकता है?[३५] यहाँ यह स्पष्ट है कि नकारात्मकता की घोर निराशा में कर्ममय संघर्ष के द्वारा ही उस पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। महापुरुष कर्म के द्वारा ही परमसिद्धि को प्राप्त हुए हैं।[३६]

कर्म करते हुए कर्मों के फल रूप दुःख-सुख के बन्धन से कैसे मुक्त हुआ जा सकता है, इस विषय में 'भगवद्गीता' में दो उपाय बताए गये हैं- (१) समत्वयोग अर्थात् फल की प्राप्ति और अप्राप्ति में समदृष्टि[३७] और कर्मयोग अर्थात् असंग भाव से ईश्वरार्पण कर्म।[३८] यही बुद्धि युक्त कर्म है, बुद्धियोग है। इस बुद्धि से युक्त हुआ विद्वान् पुरुष सुकृत् और दुष्कृत् पुण्य और पाप-दोनों को त्याग देता है[३९], यही कर्म का कौशल है, यही कर्मयोग है। कर्म, बन्धन का कारण होते हैं, उनसे बचे रहना ही कर्मकौशल है। कर्म से मुक्ति प्राप्त करने की चातुरी है। अन्य अर्थों में, निष्काम भाव से कर्म करते हुऐ मन को फलासक्ति से

---

३०. भगवद्गीता- २.३२- यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्.....।
३१. भगवद्गीता- ५.११- योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगंत्यक्त्वात्मशुद्धये।
३२. भगवद्गीता- २.४७
३३. भगवद्गीता- २.३१-३४
३४. भगवद्गीता- ३.३५-येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्।
३५. भगवद्गीता- ३.३६ -निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।
३६. भगवद्गीता- ३.२० कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताः जनकादयः।
३७. भगवद्गीता- २.४८ सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।
३८. भगवद्गीता- २.५० ....योगः कर्मसु कौशलम्।
३९. भगवद्गीता- २.५१ कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।

हटाकर आत्मा वा परमात्मा में लगाने का कौशल ही कर्मयोग है।

प्रकारान्तर से पुनः भगवान् कृष्ण वैचारिक चिन्तन का कौशल प्रदान करते हुए उपदेश देते हैं कि 'हे अर्जुन' तू निस्त्रैगुण्य, निर्द्वन्द्व, नित्य सत्त्वस्थ, निर्योगक्षेम और आत्मवान् बन।[४०]

(१) निस्त्रैगुण्य-

सांसारिक सभी विषय त्रिगुणात्मक होने से सुख-दुःख-मोहात्मक हैं।[४१] इस कारण मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को, सारे इच्छा भेदों को भलीभांति त्यागकर निष्कामी बनें;[४२] क्योंकि विषयों की कामना नकारात्मक चिन्तन का मूल है। इसके प्रभाव से अनर्थों की परम्परा प्रारम्भ हो जाती है।[४३]

(२) निर्द्वन्द्व-

सुख-दुःख के हेतुभूत परस्पर विरोधी युग्मों का नाम द्वन्द्व है। यश-अपयश, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि द्वन्द्वों से रहित बनें अर्थात् इनके प्रति समदृष्टि रखने से चित्त में स्थिरता आती है।[४४]

(३) नित्य सत्त्वस्थ-

सदा सत्त्वगुण के आश्रित हों। अभय, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञानयोग में स्थिति आदि दैवीगुणों को धारण कर जीवन को यज्ञमय बनाएँ।[४५]

(४) निर्योग क्षेम-

अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति का नाम 'योग' और प्राप्त वस्तु के रक्षण का नाम 'क्षेम' है। प्रधान रूप से पदार्थों की प्राप्ति और उनकी रक्षा में तत्पर मनोवृत्ति को निवृत्त कर आत्मचिन्तन में लगाएँ।

(५) आत्मवान्-

आत्मवान् बनें। देह से पृथक् स्वयं को आत्मा जानें और आत्मा से आत्मा में सन्तुष्ट रहें जो अपनी आत्मा में अर्थात् अपने आप में सन्तुष्ट रहता है, वह दारूण दुःख से भी विचलित नहीं होता है।[४६]

उक्त प्रकारेण भगवद्गीता में सकारात्मक चिन्तन की विविध दिशाएँ वर्णित हैं, जिनसे हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि बाहर की अपेक्षा भीतर देखना अधिक श्रेयस्कर है। निःसन्देह इस संसार में वास्तविक सुख को वही अनुभव कर सकता है, जिसने अपनी आत्मा की महानता को आँक लिया है और

---

४०. भगवद्गीता- २.४५ ....निस्त्रैगुण्यो.............आत्मवान्।
४१. भगवद्गीता- ७.१३ त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः..........।
४२. भगवद्गीता- २.५५ प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
४३. भगवद्गीता- २.६२-६३- ध्यायतो विषयान् पुंसः........प्रणश्यति।
४४. भगवद्गीता- २.३८, ५६-५७ आदि
४५. भगवद्गीता- ३.९- यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
४६ भगवद्गीता ६.२२ न दुःखेनापि गुरुणापि विचाल्यते।

जो उसकी निष्कलुष परिधि में ही आगे की पथ-रेखा का सन्धान पाता है। अन्धकार को भेदने के लिए प्रकाश की तलाश करनी ही होगी। अथर्ववेद के ऋषि प्रार्थना करते हैं-'यथा सूर्यो अतिभाति......'[४७].- 'जिस प्रकार सूर्य स्वयं प्रकाश रूप है, उसी प्रकार हम भी आत्मप्रकाश से परिपूर्ण होकर तेजस्वी बनें।' 'गीता' का शक्तिमन्त्र है- 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'।[४८] 'आत्मशरणागति' ही गीता की शक्ति है। यह शक्ति प्राप्त किए बिना अभय प्राप्त नहीं हो सकता। जीवन में जो कुछ स्पृहणीय है, संग्रहणीय है- स्नेह, सम्पत्ति व्यवसाय, सम्मान-सब कुछ नष्ट हो जाने के बाद भी जीवन अर्थहीन नहीं हो जाता है मनुष्य को यह स्वानुभूतिजन्य बोध होना ही चाहिए कि अर्थहीन प्रतीत होने वाले दुःख-बहुल विश्व-प्रप;च के पीछे कोई अर्थ है। जीवन सोद्देश्य है। संसार, संसार के लिए नहीं है, परम पुरुषार्थ के लिए है। इसमें हम सफल हों, इसके लिए दुःख अनिवार्य है, आवश्यकता है उसके प्रति अपना दृष्टिकोण बदलने की।

---

४७ अथर्व.१०.३.१७
४८ भगवद्गीता १८.६६

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ0202-205) ISSN 0974 – 8830

शब्दार्थ-मीमांसा

डॉ विक्रम कुमार:[1]

भाषामाहात्म्यम्

मानवजीवने भाषा माहात्म्यं भजते सा च खलु शब्दाश्रिता। भर्तृहरिकथनानुसारम्- न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।[2] लोके न किंचिद् एतादृक् ज्ञानं विद्यते यच्छन्दज्ञानं विना भासेत। दण्डिनश्चाप्युक्तिरिदमेव समर्थयति-

इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।[3]

'शब्द' धातोः घञ् प्रत्यये यद्वा 'शप्' आक्रोशे धातोः दनि प्रत्यये 'शब्द' शब्दो निष्पद्यते। केचन तु अर्थावबोधिका वर्णराशिरेव शब्दः इति मन्यन्ते।

शब्दार्थसम्बन्धः

वस्तुतः शब्दार्थयोः पारस्परिकः नित्यः सम्बन्धः। एकस्याभावे अपरस्य सत्ता विलीयते। शब्दोऽर्थं विना अर्थाभिव्यक्तिश्च शब्दं विना नैव तिष्ठति। तदुक्तं महाभाष्यकारेण- **'नित्ये शब्दार्थसम्बद्धे'** इति। कालिदासोऽपि प्राह- **'वागर्थाविव सम्पृक्तौ'।**[4] निरुक्तकृता यास्काचार्येणापीदमेव समर्थितम्-यद् **गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्।**[5] इति।

रुद्रट-वामन-भामह-आनन्दवर्धन-मम्मटादयः सर्वेऽप्याचार्याः काव्यशास्त्रिणः शब्दार्थयुगलमेव काव्यत्वेन परिगणयन्ति। अनेन शब्दार्थसम्बन्धः तेषां मते स्पष्ट एव शब्दस्यार्थाभिव्यक्तिमाध्यमत्वात्। **'यस्मिन्नुच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते। तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम्।।'**[6] इति भर्तृहरिमतेन येन शब्देन योऽर्थः प्रतीयते स एव तस्यार्थः।

वैयाकरणानामनुसारं जगदिदं शब्दब्रह्मणो विवर्त एव। अतः तेषां मते शब्दार्थयोस्तादात्म्यसम्बन्धः सिद्ध्यति। अत्र च तादात्म्यसम्बन्धे सत्यप्यभेदेऽनिर्वचनीयभेदस्तिष्ठति। यथा- मृद्घटयोः सत्यपि अभेदात्मके

---

१ प्रोफेसर, संस्कृत विभागः, पंजाब विश्वविद्यालयः, चण्डीगढ़म्
२ वा.प.-१.१२३
३ काव्यादर्श- १.४.
४ रघुवंशः १.१.
५ नि.१-१८
६ वा.प. २.३३७

तादात्म्यसम्बन्धेऽनिर्वचनीयभेदोऽपि भवत्येव। अत एव घटेनैव पानादिक्रिया सम्भवति न मृन्मात्रेण। तथैव शब्दार्थयोः सत्यपि अभेदे अर्थेणैव (पायसादिना वस्तुना) मुखं पूर्यते न तु तु 'पायस' शब्देनैव। शब्दार्थयोरभेदे श्रुतिरपि प्रमाणम्- 'ओ३म् इतीदं सर्वम्'।[७] अखिलं जगदिदं प्रणवरूपमेवेति। भर्तृहरिणाप्युक्तम्-

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥
आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपञ्च दृश्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपञ्च प्रकाशते॥[८]

अर्थात्- अनाद्यनन्तविकाररहितं शब्दतत्त्वमेव परं ब्रह्म। तेनैवांखिलमिदं जगत् विवर्तत्वेन वरीवर्त्ति। यथा ब्रह्म स्वयं कूटस्थोऽपि सन् आत्मानं जगद्रूपेण प्रकाशयति तथा शब्दोऽपि स्वरूपम् अर्थांश्चानेकान् द्योतयति।

मीमांसामतम्-

मीमांसकानां मते शब्दार्थयोः सम्बन्धः कुण्डवेदीवत् नापि संयोगसम्बन्धः, सूत्रपटवत् नापि समवायसम्बन्धः, नापि समवायसम्बन्धमूलकसंश्लेषलक्षणः सम्बन्धः, न चात्र कार्यकारणभाव-निमित्तनैमित्तिकभाव-आश्रयाश्रयिभाव-अविनाभावो वा सम्बन्धः। शब्दार्थयोस्तु वाच्यवाचकयोः नियमितनियोगः समयरूपः सम्बन्धः। जैमिनिरपि प्राह- **'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः'**।[९] इति

नैयायिकमतम्-

नैयायिकानां मते ईश्वरसंकेत एव शब्दार्थयोः सम्बन्धः। वाचस्पतिमिश्रमतानुसारं सर्गादौ ईश्वरः उत्पन्नेभ्यः महर्षिभ्यः साक्षात् संकेतेन शब्दार्थम् उपादिशत्। परम्परया च अवरैरपि संकेतो गृहीतः। वाचस्पतिमिश्रमते सर्वे शब्दाः सर्वार्थप्रतिपादनेऽपि समर्थाः। ईश्वरसंकेतस्तु प्रकाशकमात्रमेव। अतः शब्दार्थयोः नित्यः सम्बन्धः। सम्बन्धज्ञानञ्च योगाभ्यासेनैव सम्भवति। एक एव शब्दब्रह्मस्वरूपः स्फोटः सर्वेषां शब्दानां तेषामर्थानां च उपादानकारणम्। अतः स्फोट एव शब्दरूपोऽर्थरूपश्चोभयात्मकः। यथा उपादानभूतस्य मृदः घटादिकार्यं तथैव शब्दब्रह्मस्वरूपस्य स्फोटस्य शब्दार्थरूपं कार्यमिति मतम्।

बौद्धमतम्

बौद्धास्तु शब्दार्थयोः बोध्यबोधकभावसम्बन्धमेव मन्यन्ते। नात्र तादात्म्यस्तदुत्पत्तिर्वा सम्बन्धः। शब्दस्तु अर्थप्रज्ञापकः। शब्देन अर्थज्ञाने बौद्धा अपि सम्बन्धमेव नियामिकाशक्तित्वेन मन्यन्ते।

---

७ माण्डूक्योपनिषद् १.१.
८ वा.प.१.१.
९ मी.श्लो.वा.

वेदान्तमतम्-

यथा शब्दात्मकः अखिलो वाक्प्रपञ्चः प्रणवस्यैव विकारः तथैव अखिलः अर्थप्रपञ्चः, सर्वे पदार्थः अव्यक्तस्येश्वरस्यैव विकाराः। **'अकारो वै सर्वा वाक्'** अनेन वाचकः शब्दरूपो विकारः प्रणवाभिन्न इति सिद्ध्यति। **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** अनेन वाच्यः अर्थरूपो विकारः (वस्तुरूपप्रपञ्चः) ईश्वरादभिन्न इति सिद्ध्यति। अतः वेदान्तमते शब्दार्थयोरभिन्नत्वमेव सिद्ध्यति। यथा जीवेश्वरयोः मृद्घटयोश्च सत्यप्यभेदे व्यावहारिकभेदः वर्तते तथैव शब्दार्थयोरपि व्यवहारवशाद्भिन्नत्वं मन्यत एव।

केषांचन विदुषां मते यथा एकस्मिन्नेव फले भिन्नभिन्नरूपरसगन्धादिनां तादात्म्यं भवति तथैव एकस्मिन्नेव शब्दे अनेकार्थानां तादात्म्यं भवति। लघुमंजूषाकृत् नागेशभट्टः संकेतः पदपदार्थयोः पारस्परिकः अध्यासरूपो भवतीति मनुते। पदपदार्थयोः वाच्यवाचकभावः स्वतन्त्रः सम्बन्ध एव शक्तिः तद्ग्राहकं च पारस्परिकम् अध्यासमूलं तादात्म्यम् इति पतञ्जलिमतम्।

शब्दशक्तिः

शब्दार्थयोरयं सम्बन्धः शक्ति-वृत्ति-व्यापारादिनामभिः प्रसिद्धः। काव्यशास्त्रिणां मते त्रिविधः शब्दः वाचकः लक्षकः व्यञ्जकश्च। त्रिविधशब्दैस्त्रिविधा अर्थाः ज्ञायन्ते। ते तु वाच्यलक्ष्यव्यंग्याः। त्रिविधार्थज्ञाने च त्रिविधशब्दशक्तयः स्वीकृताः :- अभिधालक्षणाव्यञ्जना चेति। दार्शनिकाः व्यञ्जनावृत्तिं मिथ्यापयन्ति। महावैयाकरणः नागेशभट्टः त्रिविधशब्दशक्तीन् स्वीकरोति। शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः। 'वृत्तिश्च शक्ति- लक्षणान्यतरः सम्बन्धः। 'इत्थं नैयायिकाः अभिधा लक्षणा चेति शब्दस्य शक्तिद्वयं स्वीकुर्वन्ति।

व्यक्तिविवेककृत् महिमभट्टः शब्दस्याभिधाशक्तिमेवांगीकरोति। 'शब्दस्यैका अभिधा शक्तिः' इति। मीमांसका अभिधालक्षणाव्यतिरिक्तं तात्पर्याख्यं शब्दव्यापारं मन्चते येन तात्पर्यार्थः बुध्यते। मीमांसासम्प्रदाये कुमारिलभट्टानुयायिभिरेवायं व्यापारोऽगीक्रियते न तु प्रभाकरमतानुयायिभिः। मीमांसकः मुकुलभट्टोऽपि अभिधालक्षणाख्यं शक्तिद्वयमेव स्वीकरोति 'शब्दस्य च मुख्येन लाक्षणिकेन वाभिधाव्यापारेणार्थावगतिहेतुत्वम्।'[१०]

अद्वैतवेदान्तमते शब्दवृत्तिः

अद्वैतवेदान्तिनः शब्दार्थयोः सम्बन्धः वृत्तिरिति कथयन्ति। वस्तुतः अद्वैतवेदान्तस्याध्यात्मिकस्वरूपाध्ययने वृत्तिरियं सहायिका। अभावेऽस्याः अद्वैतवादप्रतिपादनं सम्पूर्णतां नैव भजते। अन्तःकरणस्य परिणामविशेषः वृत्तिरित्युच्यते। **'वर्तनं वृत्तिः'**[११] इति वेदान्तिनां मतम्। एषां मते द्विविधावृत्तिः-लौकिकविषयसम्बन्धिता वृत्तिः आध्यात्मिकवृत्तिश्च।

लौकिकविषयसम्बन्धितां वृत्तिं स्पष्टयन् वेदान्तपरिभाषायामुक्तम्- 'यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाकारं भवति तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वारा

---

१० अभिधावृत्तिमातृका

११ वेदान्तसारः

घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते। स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते।'

अन्तःकरणस्येयं वृत्तिः इन्द्रियार्थसन्निकर्षे सत्येव भवति। वृत्तिस्तु ज्ञानावच्छेदिका न तु ज्ञानरूपा। ज्ञानावच्छेदिकात्वाद्योपचारेण सा ज्ञानाभिधेया।

इत्थं वेदान्तमते लौकिकविषयगतमज्ञानमपाकृत्य तस्य विषयस्य वास्तविकज्ञानमेव शब्दवृत्तिकार्यम्। आध्यात्मिकवृत्तिस्तु **'अहम् ब्रह्मास्मि'**। इदम् खलु अनुभववाक्यम्। यदा अधिकारी गुरुणा **'तत्त्वमसि'** वाक्यं बोधते तदात्मानं ब्रह्मस्वरूपमनुभवति। अत अनुभवरूपेयमाध्यात्मिकवृत्तिः।

नैयायिकमते शब्दवृत्तिः

नैयायिकमते अभिधया योऽर्थः प्रतीयते सोऽभिधेयार्थः वाच्यार्थः मुख्यार्थो वा। मुख्यार्थग्रहणं च प्रत्यक्षसंकेतेनैव भवति। प्रत्यक्षसंकेतश्च ईश्वरेच्छारूपः। उक्तमन्नंभट्टेन- 'अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इति ईश्वरेच्छा संकेतः शक्तिः'।[१२] परं नव्यनैयायिकास्तु 'ईश्वरेच्छा न शक्तिः किन्त्विच्छैव तेनाधुनिकसंकेतोऽपि शक्तिरस्त्येवाहुः[१३]- अद्वैतवेदान्तिनोऽपि आहुः **'शक्तिर्नाम पदानामर्थेषु मुख्या वृत्तिः।'**[१४]

उपर्युक्तविवरणेन स्पष्टं यत् शब्दशक्तिज्ञानं विना अर्थज्ञानं नैव भवति। तस्मादर्थज्ञानस्य कारणं शक्तिज्ञानमिति। संकेतश्चात्र शक्तिः।

एवं शब्दार्थसम्बन्धः शब्दशक्तिश्च सर्वैः काव्यशास्त्रिभिः दर्शनाचार्यैश्चाभिमता।

---

१२ तर्कसंग्रहः
१३ न्याय सिद्धान्त मुक्तावली
१४ वेदान्तपरिभाषा

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ0206-213) ISSN 0974 – 8830

आधुनिक युग में-संस्कृत की उपादेयता

प्रो० (डॉ०) ब्रह्मदेव[1]

सा विद्या या विमुक्तये विद्या वह है जो अज्ञान, अविद्या, अन्धकार, दरिद्रता, दुर्गुणों तथा दुर्व्यसनों से मुक्ति दिलाने में समर्थ हो। ये क्लेश युग, देश, स्थान, काल की निरपेक्षता से मानव समाज में सदैव न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान रहते हैं। विद्या प्राप्ति का आत्यन्तिक उद्देश्य इन क्लेशों का विनाश ही है। तकनीकी युग में मनुष्य का चिन्तन एवं प्रवृत्ति नितान्त स्वार्थेन्मुखी है। स्वाध्याय आज के व्यस्त कार्यक्रम का हिस्सा नहीं रह गया है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति की प्रवृत्ति उसी कार्य के प्रति होती है जिसमें उसे लाभ दिखायी दे। इस सन्दर्भ में संस्कृत साहित्य में बड़ी प्रसिद्ध उक्ति है- **प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते** लेकिन वहाँ प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों को प्रयोजन मांना गया है तभी महाभाष्यकार कह उठे हैं- **ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च**[2] क्योंकि स्वाध्याय को पुरुषार्थ चतुष्टय में महत्त्वपूर्ण चतुर्थ प्रयेजन **मोक्ष** का साधन बताया गया है। पतञ्जलि द्वारा प्रयुक्त निष्कारण पद भी यह संकेत कर रहा है कि यदि वेद वेदाङ्ग के अध्ययन का कोई प्रत्यक्ष प्रयोजन अथवा सद्य लाभ न भी दिखाई दे तब भी ब्राह्मण का धर्म है कि वह वेदाध्ययन सतत करता रहे। इस स्वाध्याय का प्रयोजन महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में दर्शाया है- **स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः**[3] अर्थात् स्वाध्याय से इष्टदेव परमात्मा की प्राप्ति होती है। लेकिन सम्प्रति शिक्षा के प्रति हमारा दृष्टिकोण एकदम परिवर्तित है। हम वही पढ़ते पढ़ाते हैं जिसका सम्बन्ध प्रभूत अर्थोपार्जन से हो। **विद्ययाऽमृतमश्नुते** अद्यतनीय समाज में इस शास्त्रीय धारणा के पोषक जन बहुत नहीं हैं। ऐसे में यह विचारना आवश्यक हो जाता है कि तकनीकी युग में संस्कृत अध्ययन क्यों? देखिये, देश, काल, स्थान की अपेक्षा के बिना जैसें सूर्य की उपादेयता चराचर जगत् के लिए शाश्वत रूप से रहती है तथैव युग कोई भी हो, मानव समाज के लिए सामाजिक मूल्यों, विधि-विधानों, उदात्त-भावों, आचरणों की आवश्यकता सदैव रहती है। न केवल इतना ही योग, आयुर्वेद, ध्यान ऐसे विषय हैं जो आज के भाग-दौड़ भरे जीवन में भोजन की तरह अनिवार्य हैं। **इसी के साथ प्राचीन समस्त ज्ञान विज्ञान का भण्डार भी संस्कृतभाषा में ही निहित है। गणित, रसायन, भौतिकी, वानस्पतिकी, कृषि, जन्तु आदि विज्ञानों से सम्बन्धित और ज्योतिर्विद्या, शस्त्रास्त्रविद्या, विमानविद्या, वास्तुविद्या, भूगर्भविद्या, राजनीति, प्रबन्धन जैसे विषयों से सम्बद्ध सूत्र और ग्रन्थ आधुनिक दृष्टि से विवेचना की अपेक्षा रखते हैं। भारद्वाज महर्षि द्वारा प्रणीत यन्त्रसर्वस्व ग्रन्थ का उपलब्ध वैमानिकप्रकरण तात्कालिक उत्कृष्ट विमानविद्या का उदाहरण है। जिसका अध्ययन यह सोचने पर बाध्य करता है कि उस समय के विमान आजकल के विमानों से**

---

१. संस्कृत-विभाग, गुरुकुलकांगड़ीविश्वविद्यालय, हरिद्वार

२. महाभाष्य पस्पशाह्निक के मुख्य प्रयोजन आगम के अन्तर्गत।

३. योगदर्शन २.४४

तकनीकी की दृष्टि से श्रेष्ठ थे। सरकारी मशीनरी का इस ओर ध्यान तथा अनुसन्धान अपेक्षित है। प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज भी इसी को ध्यान में रख के करवाई की जानी चाहिए। जिससे अध्यात्म में ही नहीं, अपितु भौतिक विज्ञान में भी भारत का लौहा मनवाया जा सकेगा और समस्त विश्व प्राचीन भारत की मनीषा के सामने नतमस्तक होगा। इस समय देश, काल की सीमाओं से परे गीता और योग का पठन पाठन एवं प्रचलन संस्कृत की प्रासङ्गिकता का शंखनाद स्वयं कर रहे हैं। बस, आवश्यकता है उनकी उचित प्रस्तुति तथा थोड़े से सरकारी सहयोग की। यदि हम गीता तथा योग के अध्ययन अध्यापन में मूल पुस्तकों का प्रयोग करवाने में समर्थ हो सकें तथा इस सम्बन्ध में कुछ अन्य सुझावों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो कोई कारण नहीं कि संस्कृत **अर्थकरी** विद्या सिद्ध न हो। ज्ञान-विज्ञान को छोड़ भी दिया जाए तो भी आर्थिकदृष्टिकोण से निम्नलिखित विचार भी संस्कृत की प्रासंगिकता को सिद्ध करते हैं।

आर्थिक प्रासङ्गिकता-

संस्कृत साहित्य में विद्या अध्ययन के विविध प्रयोजनों में अर्थकरी विद्या का भी उल्लेख है। प्रख्यात काव्यशास्त्री आचार्य मम्मट काव्य के प्रयोजन बताते समय **काव्यं यशसेऽर्थकृते** कह कर अर्थ की महत्ता अङ्गीकार करते हैं। महात्मा विदुर जीवन के छः सुखों में अर्थकरी विद्या का स्थान अन्यतम मानते हैं[4]। पुरुषार्थचतुष्टय में भी अर्थ का स्थान द्वितीय है। आधुनिक युग में अर्थ की दृष्टि से संस्कृत विषयक कुछ बिन्दु विचारणीय हैं। यथा-

१. किसी भी देश के लिए **राष्ट्रभाषा** प्राण की तरह होती है। हमारे देश में सामान्य नागरिक, शिक्षक, चिकित्सक, समाचारवाचक, व्यापारी, छात्र, समाचारपत्र तथा टी. वी. सर्वत्र अशुद्ध उच्चारण व लेखन को देख किस सहृदय का हृदय क्रन्दन न करेगा। वर्णों के उच्चारण स्थान ही नहीं, अपितु संयुक्त वर्णों में कौन-कौन से वर्णों का संयोग है, प्रायः हिन्दी वर्णमाला के आधारवाला छात्र नहीं जानता। यथा- 'ज्ञ' एक संयुक्त वर्ण के रूप में हिन्दीवर्णमाला में प्रयुक्त होता है। यह 'ज्' 'ञ्' 'अ' इन तीन वर्णों का संयोग है- यह शायद ही कोई हिन्दीप्रेमी जानता हो। हलन्त का चिह्न शुद्ध व्यञ्जन को बताता है अर्थात् क्, ख्, ग्, च्, ट्, त् आदि ही व्यञ्जन कहे जाते हैं। क, ख आदि के रूप में लिखा वर्ण अकार सहित है, उच्चारण की सुविधा के लिए वर्णमाला में रखा गया है- इससे सभी अपरिचित हैं। इसीलिए आशीर्वाद, कृपया, कृपा, पूज्य, पूजनीय, उज्ज्वल, श्रीमती जैसे अनेकों सार्थक व सुन्दर पद वर्तनी और उच्चारण दोंनों दृष्टियों से अशुद्ध होकर अपनी गरिमा खो रहे हैं। इस विकट प्रश्न का समाधान मेरी सामान्य बुद्धि के अनुसार यह है कि प्राथमिक स्तर पर जिन शिक्षकों की नियुक्ति की जाए उन्होंने स्नातक उपाधि तक अथवा कम से कम वरिष्ठ माध्यमिक स्तर (१२वीं) तक संस्कृत विषय अवश्य पढ़ा हो। कृपया तृतीया का रूप है, पूजनीय अनीयर् प्रत्ययान्त है, श्रीमती डीप् प्रत्यय युक्त है इस सन्तोषजनक उत्तर का मूल संस्कृत ही है। वहीं समाचार पत्रों तथा टी. वी. समाचारों के शुद्धता हेतु भाषाविशेषज्ञों के पदों का सृजन किया जाए और वहाँ नियुक्ति संस्कृतज्ञों की हो।

---

४. विदुरनीति १. ८७, अर्थागमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च। वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन्।।

२. **योग डिप्लोमा** और **योग एम. ए.** जो मूल रूप से संस्कृत के ही विषय हैं, वहाँ संस्कृत का वह स्थान नहीं है, जो आवश्यक है क्योंकि आसन, प्राणायाम ही तो योग नहीं हैं। योग शिक्षक के लिए महर्षि पतञ्जलि प्रणीत योगदर्शन में प्रतिपादित अष्टाङ्गयोग- यम, नियम आदि का अध्ययन अध्यापन करणीय है। छात्रहित की दृष्टि से यदि पी० टी० आई० तथा सभी शारीरिक शिक्षक (Lecturer of Physical Education) पाँच **यम** अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह एवं पाँच **नियम** अर्थात् शौच (आन्तरिक व बाह्य शुद्धता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान से सम्यक् परिचित हों तो अत्यन्त उपादेय होगा साथ ही साथ अरबों डालर व्यय करके भी जिस एड्स का समाधान विश्व नहीं ढूँढ़ पा रहा है, उसके लिए यम, नियम सहित योग रामबाण सिद्ध होगा।

३. **बी. ए. एम. एस.** के इच्छुक विद्यार्थियों द्वारा संस्कृत एक विषय के रूप में अवश्य पढ़ी होनी चाहिए, क्योंकि आयुर्वेद का समस्त साहित्य संस्कृत में है। संस्कृतपृष्ठभूमि के बिना आयुर्वेद का विशेषज्ञ कोई कैसे बन सकता है ?

४. हिन्दी एम. ए. में **काव्यशास्त्र** एक पत्र के रूप में पढ़ाया जाता है। बिना संस्कृताध्ययन इस पत्र का अध्यापन अतीव दुष्कर कार्य है। अत: हिन्दी प्राध्यापक हेतु बी. ए. में संस्कृत विषय अनिवार्य किया जाना चाहिए।

५. **प्राचीन भारत** नाम से एक पत्र **इतिहास एम. ए.** में पढ़ाया जाता है। क्या यह आवश्यक नहीं कि उस प्राध्यापक को वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, आरण्यक, दर्शनों का प्रारम्भिक ज्ञान अवश्य हो।

६. न्यायालयों में लम्बित मुकद्दमों की लम्बी सूची से देश की ऊर्जा, समय और धन की महती हानि हो रही है। साथ ही इस कारण से व्यक्ति जिस मानसिक तनाव से ग्रस्त रहता है उसका प्रतिकार करने का सामर्थ्य किसी संसाधन में नहीं है। संस्कृत साहित्य केवल साहित्य ही नहीं, अपितु समग्र जीवन दर्शन है। **इसके आचारशास्त्र का प्रभाव इतना प्रबल है कि अपराधों एवं अनैतिक कार्यों में संस्कृताध्येताओं की संलिप्तता का प्रतिशत न के बराबर है।** यदि निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया जाए तो न केवल नैतिक दृष्टि से अपितु आर्थिक दृष्टि से भी यह सौदा लाभ का है।

सामाजिक प्रासङ्गिकता-

समाज के लिए आवश्यक गुणों सर्वभूतहितकामना, मैत्री, करुणा, सत्संगति, सदाचार, उदारता, समता, परोपकार, दान, उत्साह आदि का चिन्तन मनन संस्कृत साहित्य में प्रभूत मात्रा में उपलब्ध होता है। जीवन का कोई भी पक्ष कोई भी समस्या क्यों न हो सब का समाधान संस्कृत साहित्य देता है। सामाजिकता के सन्दर्भ में संस्कृत साहित्य के छोटे से ग्रन्थ विदुरनीति का मन्तव्य क्या है ? आधुनिक समस्याओं के समाधान में विदुरनीति कहाँ तक सहायक है ? आर्थिकयुग का सामाजिक विदुरनीति का अध्ययन क्यों करे ? इन्हीं जिज्ञासाओं के साथ विदुरनीति पर विचार करते हैं।

समाज के लिए अनिवार्य योग्यता परहित चिन्तन का समय भागदौड़ भरे जीवन में मनुष्य के पास नहीं है, लेकिन महात्मा विदुर के अनुसार न केवल स्वस्थ समाज हेतु, अपितु व्यक्ति के आत्महित हेतु भी परहित चिन्तन आवश्यक है-

यः सर्वभूतप्रशमे निविष्टः सत्यो मृदुर्मानकृच्छुद्धभावः।

अतीव स ज्ञायते ज्ञातिमध्ये महामणिर्जात्य इव प्रसन्नः।।[५]

तथा जो व्यक्ति अपने द्रव्य का उपयोग बाँटकर करता है, कठोर परिश्रम करता है, याचना करने पर शत्रुओं को भी देता है उसे अनर्थ छोड़ जाते हैं।[६] अष्टम अध्याय में विद्या के सन्दर्भ में विचार किया गया है। अतीव सरल शब्दों में विदुर कहते हैं-

असूयैकपदं मृत्युरतिवादः श्रियो वधः। अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः।।[७]

तथा आलस्य करना, मदकारी पदार्थों का सेवन, एकाग्रचित्त न होना, व्यर्थ का वार्तालाप, जड़ता और लालच इन्हें विद्यार्थी त्याग दें। आज भी विदुर द्वारा वर्णित दोष विद्यार्थियों में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। मादक पदार्थों के सेवन से बचाने के लिए सरकार ने नियम बनाया कि अट्ठारह साल से कम आयु वालों को गुटका आदि तम्बाकूयुक्त पदार्थ नहीं दिए जायेंगे, लेकिन इस नियम की दुर्गति से सब परिचित हैं। व्यर्थ के वार्तालाप का एक नया रूप आया है-Chatting जो अपने आप में एक गम्भीर समस्या ही नहीं है, अपितु अन्य कई समस्याओं एवं रोगों की जननी है। विद्यार्थियों के सन्दर्भ में विदुर का सन्देश आज भी अत्यन्त प्रासङ्गिक है।

संगति के प्रति भी व्यक्ति जागरूक रहे। संग दोष विद्या नाश के साथ-साथ सर्वनाश का कारण बनता है। जैसे लोगों के साथ व्यक्ति का व्यवहार होता वह वैसा ही बन जाता है।[८] उत्तमजनों का ही संग करे यह विदुर का मत है। यथा-

उत्तमानेव सेवेत प्राप्तकाले तु मध्यमान्। अधमांस्तु न सेवेत य इच्छेद् भूतिमात्मनः।।[९]

मार्कण्डेय पुराण में भी कहा गया है कि-

संगः सर्वात्मना त्याज्य स चेत् त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्त्तव्यः सन्तः संगस्य भेषजम्।।[१०]

जीवन के छः सुखों में सत्पुरुषों के साथ मित्रता भी अन्यतम है। ऐसा भी हम विदुरनीति में पढते हैं।[११] अधुनातन समाज में भी व्यक्ति की उन्नति और अवनति में संगति प्रत्यक्ष कारण है। अतः महात्मा विदुर का श्रेष्ठ संग का सन्देश हमारे लिए सर्वतोभावेन स्वीकरणीय है।

परस्पर भेदभाव रखने वाले वैभव तथा सुविधासम्पन्न होने पर भी सुख का अनुभव नहीं कर पाते,

---

५. विदुरनीति १.१२५

६. वही १.१२३, मितं भुंक्ते समविभज्याश्रितेभ्यो मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा। ददात्यमित्रेष्वपि याचितः संस्तमात्मवन्तं प्रजहत्यनर्थाः।।

७. वही ८.४

८. वही ४.१३, यादृशै संनिविशते यादृशाँश्चोपसेवते। यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृभ्भवति पुरुषः।।

९. वही ४.२०

१०. मार्कण्डेय पुराण ३७.२३

११. विदुरनीति १.९४, आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः सद्भिर्मनुष्यै सह सम्प्रयोगः। स्व प्रत्ययावृत्तिरभीतवासः षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन्।।

इस सम्बन्ध में विदुरनीतिकार ने बहुत सुन्दर कहा है-

स्वास्तीर्णानि शयनानि प्रपन्ना न वै भिन्ना जातु निद्रं लभन्ते।
न त्रीषु राजन् रतिमाप्नुवन्ति न मागधैः स्तूयमाना न सूतैः।।[१२]

इसी प्रकरण में आगे लिखते हैं कि भेद को प्राप्त हुए मनुष्य धर्म का आचरण नहीं कर पाते, न सुख को प्राप्त करते हैं, न उन्नति को, न ही शान्ति के।[१३] भेद को प्राप्त हुए व्यक्ति को पथ्य की बात अच्छी नहीं लगती, न ही उसे अप्राप्त की प्राप्ति होती है, न ही वह प्राप्त को रक्षित करने में समर्थ होता है तथा अन्त में विनाश को ही प्राप्त होता है।[१४] ऐसा लगता है मानो विदुर हमारे समाज की आज की स्थिति वर्णन कर रहे हैं। सम्प्रति देश के प्रतिष्ठित संस्थान आपस की कलह, मनोमालिन्य, भेदभाव के कारण विनाश के कगार पर खड़े हैं। महात्मा विदुर का यह सन्देश व्यक्ति, घर, परिवार, संस्था, समाज व विश्व के किसी भी पायदान पर खड़े मानव के लिए ग्राह्य है। समृद्धि को बढाने वाले कारणों की चर्चा करते हुए विदुर कहते हैं-

धृतिः शमो दमः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा। मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः।।[१५]

एक अन्य स्थान पर भी बड़े मनोज्ञ श्लोक द्वारा निर्दिष्ट किया गया है कि प्राणियों के प्रति मधुर व्यवहार, अनसूया, सहनशीलता, धैर्य और मित्रों का अपमान न करना ये सब आयु वृद्धि के कारण हैं।[१६] सामान्य रूप से समाज पर दृष्टिपात करें तो इन्हीं गुणों का अभाव परस्पर वैरभाव, कटुता एवं पारिवारिक अशान्ति का कारण है। इनसे उत्पन्न छोटे- छोटे विवाद ही कालान्तर में संघर्ष का कारण बनते हैं। सहनशीलता और निन्दा न करना दोनों ही गुण स्वस्थ समाज की मूलभूत आवश्यकता है। महात्मा विदुर के अनुसार दुःख का कारण ईर्ष्या, घृणा, असन्तुष्टि, क्रोध और पराश्रितता भी है-

ईर्ष्या घृणी न सन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः। परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः।।[१७]

प्रथम अध्याय में पण्डित के लक्षणों के माध्यम से सामाजिकों के लिए अत्यन्त अनुकरणीय निर्देश देते हुए विदुर लिखते है-

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते। अनास्तिकः श्रद्दधान एतत् पण्डितलक्षणम्।।
क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्रीस्तम्भो मान्यमानिता। यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते।।[१८]

---

१२. वही ४.५५

१३. वही ४.५६, न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः। न वै सुखं भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति।

१४. वही ४.५७, न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम्। भिन्नानां वै मनुजेन्द्र परायणं न विद्यते किञ्चिदन्यद्विनाशात्।।

१५. वही ६.३७

१६. वही ७.५२, मार्दवं सर्वभूतानामनसूया क्षमा धृतिः। आयुष्याणि बुधाः प्राहुर्मित्राणां चाविमानना।।

१७. वही १.९५

१८. वही १.२१, २२

जो मनुष्य श्रेष्ठ कार्यों में अनुराग रखते हैं। ऐश्वर्यप्राप्ति के कार्य करते हैं और कल्याण करने वालों की निन्दा नहीं करते वे पण्डित कहे जाते हैं।[१९] जो व्यक्ति आत्मसम्मान में हर्षित नहीं होता तथा अपमान से दुःखी नहीं होता एवं जो गंगासागर के समान शान्त है, वही पण्डित है।[२०] प्रथम अध्याय में चौदह श्लोकों में पण्डित के लक्षण वर्णित हैं। अन्तिम श्लोक अतीव मनोहारी है-

श्रुतं प्रज्ञानुं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा। असम्भिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः।।[२१]

अथर्ववेद में कहा गया है- **सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि**[२२] ।विदुरनीति में आगत उक्त श्लोक समस्त बुद्धिजीविवर्ग के लिए अनुकरणीय है तथा सभ्यमानव समाज की आधारशिला है। पुरुष के जीवन को प्रकाशित करने वाले आठ गुणों की चर्चा करते हुए विदुरनीति में कहा गया है-

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च।।[२३]

सर्वे भवन्तु सुखिनः इस सूक्ति के क्रियान्वयन हेतु यह भी आवश्यक है कि हम अपने आचरण का परीक्षण करें और दूसरों के साथ आत्मवत् व्यवहार करें। विदुर के अनुसार-

न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः। संग्रहेणैष धर्मः स्यात् कामदन्यः प्रवर्तते।।[२४]

समाज में कितनी भी तकनीक क्यों न आ जाए परन्तु संसार में मानवीय गुणों की अपनी महत्ता है। दैनिक व्यवहार हो या व्यापार सत्य नामक गुण का माहात्म्य सर्व स्वीकृत है। पारिवारिक जीवनरूपी महल तो सत्यरूपी स्तम्भ के बिना अविलम्ब धराशायी हो जाता है। वैवाहिक संस्था के विघटन में असत्य व्यवहार भी अन्यतम कारण है। ईर्ष्या, असूया, छल छद्म हमारे व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन को खोखला कर देते हैं। अत एव अच्छे ग्रन्थों के भूयोभूय पठन, मनन, चिन्तन पर संस्कृत साहित्य जोर देता है। वेदपारायण, अखण्डरामायण- पाठ आदि के मूल में स्वाध्याय ही रहा होगा। आज के युग में तो इन ग्रन्थों का अर्थ सहित अध्ययन अत्यन्त ही उपादेय है।

सदाचार-

सभ्य समाज के लिए सदाचार अनिवार्य आवश्यकता है। विश्व स्तर पर व्याप्त कदाचार के नग्न ताण्डव में आचरण की अशुचिता ही कारण है। धनकुबेरों की सूची में भारतीयों की संख्या निरन्तर बढ रही है लेकिन सदाचार की दृष्टि से हम किसी सूची में नहीं हैं। देश में सर्वत्र कदाचार को बढावा देने वाले हॉर्डिंग्स लगे हैं। ब्रह्मचर्य, सदाचार, महापुरुषों के इस सम्बन्ध में अनुभूत प्रयोग विषयक विज्ञापन भी

---

१९. वही १. ३०, आर्यकर्माणि रज्यन्ते भूतिकर्माणि कुर्वते। हितं च नाभ्यसूयन्ति पण्डिता भरतर्षभ।।
२०. वही १. ३१, न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमानेन तप्यते। गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते।।
२१. वही १.३४
२२. अथर्ववेद १.१.४
२३. विदुरनीति १.१०४
२४. वही ७.७१

लोकहित में प्रसारित करवाये जाएँ तो निश्चित रूप से सकारात्माक परिणाम होगें, विज्ञापन के इस युग में यह प्रयास निरर्थक होगा ऐसा नहीं कहा जा सकता, यतो हि मनुष्य की उन्नति अवनति उसके विचारों पर निर्भर करती है। किसी भी विपरीत अथवा कुत्सित विचार से आक्रान्त होने पर क्षणभर में व्यक्ति के पतित होने की सम्भावना रहती है। विदुरनीतिकार ने शील के सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर कहा है-

शीलं प्रधानं पुरुषे तद् यस्येह प्रणश्यति। न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बन्धुभिः।।[२५]

विदुर अन्य एक स्थान पर लिखते हैं जो पुरुष निन्दित कर्म को मोहवश करता है उन दूषित कर्मों के द्वारा उसका सम्पूर्ण जीवन ही नष्ट हो जाता है।[२६] महात्मा विदुर के अनुसार तो पराई त्री को बुरे विचार से स्पर्श करना विनाश का कारण है[२७]

मानसिक बल-

आजकल की कार्यप्रणाली में न केवल दरिद्र बल्कि धनी, वृद्ध, युवक, युवती, साधनसम्पन्न व्यापारी, लाखों का वेतन पाने वाला अभियन्ता, प्रबन्धक, चिकित्सक, आई. ;आई. टी. जैसी विश्वविख्यात संस्था का अध्यापक, छात्र सभी मानसिक दौर्बल्य, उदासीनता, दुविधा, भय जैसे नकारात्मकभावों से आक्रान्त हैं। चिन्ता और भय मानव के असीम शक्तिसम्पन्न मस्तिष्क पर अनावश्यक बोझ डालकर सतत क्षीण बना डालते हैं। संस्कृत साहित्य में ऐसी अनेकों सूक्तियाँ व श्लोक हैं, जो निराश हताश मानव में उत्साह का संचार करती हैं। रामायण के किष्किन्धाकाण्ड में महर्षि वाल्मीकि वाणी विकलता को दूर करने का सन्देश देती है-

बालिशस्तु नरो नित्यं वैक्लव्यं योऽनुवर्तते। स मज्जत्यवशः शोके भाराक्रान्तेव नौर्जले।।[२८]

विदुर इस विषय में कहते हैं- मानसिक शक्ति सम्पन्न व्यक्ति गहन वनों, आपत्तियों, शस्त्रों के उद्यत होने पर भी भय नहीं मानता।[२९] योगवासिष्ठ में कहा गया है-

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः। आत्मात्मना न चेत्रातः तदुपायोऽस्ति नेतरः।।[३०]

महात्मा बुद्ध का सन्देश है- **अप्पदीपो भव।** महाकवि भारवि के महाकाव्य किरातार्जुनीयम् की सूक्ति उदास हृदयों को संजीवनी पिलाती हुई कहती है कि जलती हुई अग्नि को लांघने का साहस कठोर व्यक्ति भी नहीं कर पाते जबकि राख के समूह को क्षुद्रजन भी लाँघ जाते हैं।[३१] महाकवि माघ मानव को स्वाभिमान रक्षा हेतु उद्बोधित करते हुए कहते हैं-

---

२५. वही २.४८

२६. वही ६.२१, अप्रशस्तानि कार्याणि यो मोहादनुतिष्ठति। स तेषां विपरिभंशाद् भ्रंश्यते जीवितादपि।।

२७. वही १.७०, हरणं च परस्वानां परदाराभिमर्शनम्। सुहृदश्च परित्यागत्रयो दोषाः क्षयावहाः।।

२८. वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धा काण्ड ७.१०

२९. विदुरनीति ७.६७, कान्तारे वनदुर्गेषु कृच्छ्रास्वापत्सु सम्भ्रमे। उद्यतेषु च शस्त्रेषु नास्ति सत्त्ववतां भयम्।।

३०. योगवासिष्ठ ६.१६२.१८

३१. किरातार्जुनीयम् २.२०, ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मनां जनः।

मा जीवन् यः परावज्ञादु:खदग्धोऽपि जीवति[३२]

तथा वहीं-

पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति। स्वास्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः।।[३३]

सात्विक विचार भी सांसारिक परेशानियों को कम करने में सहायक होते हैं। भगवान् कृष्ण कहते हैं- **ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः।**[३४] पश्चिमी जगत् के मनोशरीरवैज्ञानिकों एवं चिकित्सकों ने आध्यात्मिक शक्ति से रोगहरण की शक्ति को स्वीकार किया है। जब तक भूतल पर जीवन है तब तक जीवन्त जीवन की उपादेयता भी है। संस्कृत साहित्य मानवीय गुणों का आगार है। इसके छोटे-छोटे ग्रन्थ, सूक्तियाँ मानव में उत्साह, आशा, निर्भयता आदि गुणों का संचार करती हैं। अतः कहा जा सकता है कि चाहे युग कोई भी हो संस्कृत सदैव प्रासंगिक है।

संस्कृत के महाकाव्य रामायण में प्रबन्धन के सूत्रों को आज सब स्वीकार करते हैं और जब अमेरिकी संसद् **सहनाववतु** के पावन उद्घोष से आरम्भ हो रही है तो भारतीयों द्वारा संस्कृत पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाना समय की माँग है। हमारे शासन को विद्वानों का परामर्श लेकर इस दिशा में अपनी सतर्कता का परिचय देना चाहिए। संस्कृतज्ञों को भी अपने कर्त्तव्य, दिशा एवं समय सभी को विचारते हुए उत्तरदायित्व का वहन करना चाहिए क्योंकि **काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः।**

---

३२. शिशुपालवधम् २.४५
३३. वही २.४६
३४. गीता १४.१८

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ0214-221) ISSN 0974 – 8830

संस्कारों की संख्या तथा वर्त्तमान युग में उनकी प्रासांगिकता

डॉ. चन्द्रकुमारी[1]

इस संसार में सभी मनुष्य सुख प्राप्ति के इच्छुक होते हैं किन्तु सुख का जो मूल तत्त्व है उसका ज्ञान नहीं करते। भारतीय संस्कृति संस्कार प्रधान है। संस्कृति तथा संस्कार दोनों एक मूल से ही विकसीत हैं किन्तु दोनों के अर्थों में अन्तर है। संस्कार कार्य है तथा संस्कृति कारण।

प्रस्तुत शोध पत्र का प्रतिपाद्य है संस्कार क्या है, इसकी संख्या कितनी है, इसका हमारे जीवन में क्या प्रयोजन है,और हमारे जीवन में होना कितना आवश्यक है।

मनुष्य का जीवन संस्कार से ही परिशुद्ध होता है। संस्कार के द्वारा उसका भौतिक और आध्यात्मिक जीवन निखर उठता है। हिन्दू जीवन पद्धति में वर्णधर्म और आश्रमधर्म की व्यवस्था शास्त्रों द्वारा विहित है। वर्ण तथा आश्रम के पूर्ण समन्वय व सफलता के लिए शास्त्रकारों ने संस्कारों की व्यवस्था की है। प्राणिजीवन शास्त्र तथा जीवविज्ञान भी इस बात को स्वीकार करता है कि मानव के परिष्कृत व सुसंस्कृत रूप के लिए संस्कार उसी प्रकार आवश्यक है जैसे वनस्पतियों के समुचित विकास के लिए उनको संस्कारित करना। अपरिष्कृत को परिष्कृत कर उसमें नवीनता व विशेषता लाना या विलक्षण योग्यता उत्पन्न करना ही संस्कार है।

संस्कार शब्द के व्युत्पत्ति जन्य अर्थ से भी यही ध्वनि निकलती है –'**संस्करणं संस्कारः।**' मीमांसक यज्ञाङ्गभूत पुरोडाश आदि की विधिवत् शुद्धि से इसका आशय समझते हैं।[2] संस्कार के विषय में स्मृति में कहा गया है–

तत्र संस्कारो नाम आत्मशीरान्यतरनिष्ठो। विहितक्रियाजन्योऽतिशयपुण्यविशेषः।।[3]

संस्कारों की संख्या

मानव जीवन के लिए कितने संस्कार आवश्यक है इस विषय में मतभेद है।

पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार–१ विवाह,२ गर्भाधान ३ पुंसवन ४ सीमन्तोन्नयन ५ जातकर्म ६ नामकरण ७ निष्क्रमण ८ अन्नप्राशन ९ चूड़ाकरण १० उपनयन ११ केशान्त १२ समावर्तन १३ अन्त्येष्टि।[4]

आश्वालयन गृह्यसूत्र– १ विवाह २ गर्भाधान ३ पुंसवन ४ सीमन्तोन्नयन ५ जातकर्म ६ नामकरण ७

---

१. विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, kumarichanda60@gmail.com chandascss@gmail.com, M-9958243606

२ हिन्दू संस्कार पृ.१८

३ मनुस्मृति २/२८

४ हिन्दू संस्कार पृ० २०

चूड़ाकर्म ८ अन्नप्राशन ९ उपनयन १० समावर्तन ११ अन्त्येष्टि।[५]

बौधायन गृह्यसूत्र -१ विवाह २ गर्भाधान ३ पुंसवन ४ सीमन्तोन्नयन ५ जातकर्म ६ नामकरण ७ उपनिष्क्रमण ८ अन्नप्राशन ९ चूड़ाकर्म १० कर्णवेध ११ उपनयन १२ समावर्तन १३ पितृमेध।[६]

मनु के अनुसार -१ गर्भाधान २ पुंसवन ३ सीमन्तोन्नयन ४ जातकर्म ५ नामधेय ६ निष्क्रमण ७ अन्नप्राशन ८ चूड़ाकरण ९ उपनयन १० केशान्त ११ समावर्तन १२ विवाह १३ श्मशान।[७]

गौतमस्मृति में ४० संस्कारों का विवेचन है-१ गर्भाधान, २ पुंसवन, ३ सीमन्तोन्नयन, ४ जातकर्म, ५ नामकरण, ६ अन्नप्राशन, ७ चौल, ८ उपनयन, ९-१२ चार वेदव्रत, १३ स्नान, १४ सहधर्मचारिणी संयोग, १५-१९ पञ्चमहायज्ञ, २०-२६ अष्टक, पार्वण, श्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री, आश्वयुजी, २७-३३ अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास्य, चातुर्मास्य, आग्रयाणेष्टि, निरुढ--पशुबन्ध, सौत्रामणि, ३४-४० अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम।[८]

व्यासस्मृति -१ गर्भाधान, २ पुंसवन, ३ सीमन्तोन्नयन, ४ जातकर्म, ५ नामक्रिया, ६ निष्क्रमण, ७ अन्नप्राशन, ८ वपनक्रिया, ९ कर्णवेध, १० व्रतादेश, ११ वेदारम्भ, १२ केशान्त, १३ स्नान, १४ उद्वाह, १५ विवाहाग्निपरिग्रह, १६ प्रेताग्नि संग्रह।[९]

परवर्ती स्मृतियों में सोलह संस्कारों के नाम दिए गए हैं।[१०] वर्तमान में भी संस्कारों की संख्या सोलह ही मानी गई है। स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा पण्डित भीमसेन शर्मा ने सोलह संस्कारों को ही लोकप्रिय तथा आवश्यक माना है। संस्कारों की गणना में अन्त्येष्टि संस्कार गृह्यसूत्रों धर्मसूत्रों और स्मृतियों द्वारा उपेक्षित रही थी। इसका कारण यह समझा जाता है कि अन्त्येष्टि एक अशुभ संस्कार है जिसका शुभ संस्कारों के साथ वर्णन उचित नहीं समझा गया। चूँकि मृत्यु के साथ ही व्यक्ति की जीवन की कथा का अन्त हो जाता है और मरणोत्तर संस्कारों का व्यक्तित्व के परिष्कार पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव प्रतीत नहीं होता, इसलिए भी उसकी उपेक्षा की गई होगी। किन्तु इतना होते हुए भी अन्त्येष्टि एक संस्कार के रूप में स्वीकृत तो था ही। अन्त्येष्टि समन्त्रक संस्कारों में एक है और इसका सम्पादन भी अन्त्येष्टि सम्बन्धी वैदिक मन्त्रों के द्वारा होता है।[११]

षोडश संस्कारों का परिचय[१२]

१. गर्भाधान- गृहस्थ जीवन में प्रवेश के उपरान्त प्रथम कर्त्तव्य के रूप में इसे मान्यता प्राप्त है।

---

५ हिन्दू संस्कार पृ० २१
६ हिन्दू संस्कार पृ० २१
७ मनुस्मृति २/१६,२६,२९
८ गौतम स्मृति ८/२१
९ व्यास स्मृति १/१४,१५
१० धर्मशास्त्रीय विषयों का परिशीलन पृ. २१४
११ ऋग्वेद १०/१४/१६
१२ धर्मशास्त्र का इतिहास पृ. १८१,१८२

इसका प्रचलन वैदिक काल से हुआ था।[१३] सांस्कृतिक रूप से गर्भाधान संस्कार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यहाँ हम उन व्यक्तियों को पाते हैं जो अपनी स्त्री के समीप सन्तति-उत्पत्ति रूप एक निश्चित उद्येश्य को लेकर श्रेष्ठ से श्रेष्ठ सन्तान की उत्पत्ति के लिए एक पूर्व नियत रात्रि में निश्चित प्रकार से ऐसी धार्मिक पवित्रता को लेकर जाते थे जो भावी संतान को निर्मल करती थी।

२. पुंसवन- यह संस्कार गर्भ के तीसरे महीने में गर्भस्थ शिशु के समुचित विकास की कामना से किया जाता था।[१४] पुराणों में यह वर्णित है कि तेजस्वी पुत्र की प्राप्ति के लिए यह संस्कार किया जाता था।[१५] पुंसवन का अभिप्राय सामान्यत: उस कर्म से था जिसके अनुष्ठान से पुरुष संतान का जन्म होता हो। पुंसवन संस्कार तब होता था जब बालक के भौतिक शरीर का निर्माण प्रारंभ हो जाता था। 'सुपर्णोऽसि' इस कथन के द्वारा गर्भस्थ शिशु के स्वस्थ सबल होने की कामना की जाती थी। इसके अतिरिक्त इस संस्कार के अवसर पर उच्चारित तथा पठित मन्त्रों के प्रभाव से व्यक्ति में विगत जन्मों को स्मरण करने की क्षमता का संचार होता था।

३. सीमन्तोन्नयन- सीमन्तोन्नयन संस्कार का आयोजन गर्भ के चौथे महीने में किया जाता था। अर्थात् जब बच्चे के मानसिक शरीर का निर्माण प्रारंभ हो जाता तब सीमन्तोन्नयन संस्कार किया जाता था। इस संस्कार में गर्भिणी स्त्री के केशों (सीमन्त) को ऊपर उठाया (उन्नयन) जाता था। यह संस्कार किसी पुरुष नक्षत्र के समय सम्पन्न किया जाता था। इस संस्कार से गर्भवती स्त्री के चित्त में एक सुदृढ भावना उत्पन्न हो जाती थी जो उसमें आत्मविश्वास और सन्तान के प्रति कर्त्तव्य का समावेश कराती थी।[१६]

४. जातकर्म- पुत्रजन्म के समय जातकर्म संस्कार होता था। इस बारे में मनुस्मृति में कहा गया है- **'मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्।'**[१७] अर्थात् नाभि छेदन के पहले जातकर्म संस्कार होता था। बच्चे को सोना, घृत तथा मधु का गृह्योक्त मन्त्रों से प्राशन कराया जाता था। अनिष्टकारी शक्तियों का कुप्रभाव बच्चे पर न पड़े इस उद्येश्य से यह संस्कार किया जाता था।

५. नामकरण- नामकरण संस्कार शिशु के जन्म के बाद दूसरा संस्कार माना जाता है। आचार्यों ने शिशु जन्म के बाद दश दिनों तक सूत्तक माना है उसके बाद नामकरण संस्कार की प्रक्रिया सम्पन्न करने का विधान है। मनुस्मृति में इस बारे में कहा गया है-

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत्।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते।।[१८]

इस संस्कार में किसी शुभ और मंगल घड़ी में देवपूजन और यज्ञाहुति का आयोजन होता था।

---

१३ अथर्ववेद ५/२५/३
१४ आश्वालयृन गृह्यसूत्र १६/२२
१५ वायु पुराण १६/१२
१६ पारस्कर·गृह्यसूत्र १/१४/२
१७ मनुस्मृति २/२९
१८ मनुस्मृति २/३०

तत्पश्चात् शिशु के दाहिने कान में पिता उसका नाम कहता था।

६. निष्क्रमण-यह संस्कार जन्म के चौथे मास में किया जाता था। जन्म के बाद जब पहली बार सन्तान को घर से बाहर निकाला जाता है तो निष्क्रमण कहा जाता था। यह संस्कार प्राय: जन्म के चौथे मास में होता था।[१९] उक्त मास में किसी मंगलमय तिथी को शुभ मुहूर्त में पूजा हवन आदि सम्पन्न कर सन्तान को दर के बाहर प्राकृतिक वातावरण में लाया जाता था। शिशु को माँ की गोद में देकर सर्वप्रथम उसे सूर्य का दर्शन कराया जाता था। इस संस्कार का व्यावहारिक अर्थ यह प्रतीत होता है कि एक निश्चित समय के पश्चात् बालक को दर के बाहर उन्मुक्त वायु में लाना चाहिए और यह अभ्यास निरन्तर प्रचलित रहना चाहिए।

७. अन्नप्राशन- अन्नप्राशन संस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् छठे मास में किया जाना चाहिए। मनु का कहना है कि -**'षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मंगलं कुले।'**[२०] अन्नप्राशन संस्कार के दिन सर्वप्रथम यज्ञीय भोजन के पदार्थ अवसरोचित वैदिक मन्त्रों के साथ स्वच्छ किए और पकाए जाते थे और भोजन तैयार हो जाने के बाद वाग्देवता को आहुति की जाती थी तथा शिशु की समस्त इन्द्रियों की सन्तुष्टि के लिए प्रार्थना की जाती थी जिससे वह सुखी और सन्तुष्ट जीवन व्यतीत का सके। इस संस्कार का महत्त्व था कि माता उचित समय पर शिशु को अपना दूध पिलाना बन्द कर दे।

८. चूड़ाकर्म-शिशु के सिर के केश को जब सर्वप्रथम काटने का आयोजन किया जाता था तब यह संस्कार चूड़ाकर्म कहा जाता था। इसकी अपर संज्ञा मुंडन भी है। आश्वालयन गृह्यसूत्र में कहा गया है- **'तेन ते आयुषे वपामि सुश्लोकाय स्वस्तये।'**[२१] इस संस्कार का प्रयोजन दीर्घ आयु तथा कल्याण की प्राप्ति था। इस संस्कार में शिखा को छोड़कर शिर के सभी केश कटवा दिए जाते थे। प्राय: यह संस्कार देवालयों में सम्पन्न किए जाते थे जहाँ विधिपूर्वक हवन पूजन के साथ मातृकाओं और देवों की स्तुति की जाती थी। हिन्दू समाज में आज भी मुण्डन संस्कार का आयोजन बड़े ही विधि-विधानपूर्वक तथा प्रसन्नता के साथ किया जाता है।

९. कर्णवेध-संस्कार के रूप में कर्णवेध तथा उससे सम्बन्धित विधि-विधानों का उद्भव आधुनिक काल में हुआ, गृह्यसूत्रों में इसका उल्लेख नहीं पाया जाता। किन्तु मध्य युग में यह अनिवार्य संस्कार था। देवल ने कहा है कि जिस ब्राह्मण का कर्णवेध न हुआ हो उसे श्राद्ध में आमन्त्रित नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसको देखने वाले का पुण्य नष्ट हो जाता है।[२२] यह संस्कार शिशु को सुशोभित तथा उसे अलंकृत करने के निमित्त किया जानेवाला धार्मिक संस्कार था जो संतान के जन्म के सातवें या आठवें मास में किया जाता था। किसी शुभ दिन के पूर्वार्द्ध में यह संस्कार देव पूजन आदि धार्मिक क्रियाओं के साथ सम्पन्न किया जाता था।

१०. विद्यारम्भ-बालक की अवस्था जब पाँच वर्ष की हो जाती थी जब उसे शिक्षा प्रदान करने की

---

१९ पारस्कर गृह्यसूत्र १/१७
२० मनुस्मृति २/३४
२१ आश्वालयन गृह्यसूत्र १/१७/१२
२२ वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश पृ.२६१

व्यवस्था की जाती थी, अर्थात् पहले पहल बच्चे द्वारा वर्णाक्षर सीखा और पढा जाना विद्यारम्भ संस्कार कहा जाता था। यह संस्कार प्राय: चौल संस्कार के बाद ही किया जाता था। किसी शुभ मुहूर्त में शिक्षक के द्वारा पट्टी पर ऊँ तथा स्वस्तिक के साथ वर्णमाला स्वर तथा व्यंजन लिखे जाते थे। सूर्य के उत्तरायण रहने पर शुभ दिन और शुभ मुहूर्त में विनायक, सरस्वती, बृहस्पति देवता की पूजा की जाती थी। पूजा हवन सम्पन्न कर अक्षरारम्भ कराया जाता था।

११. उपनयन-हिन्दू समाज में उपनयन संस्कार का अत्यधिक महत्त्व है। इस संस्कार की सम्पन्नता से बालक वर्ण का सदस्य बनता था और वह द्विज कहलाता था। ब्राह्मणकाल में उपनयन को पूर्णत: कर्मकाण्ड का रूप मिल गया और इसकी विधि निश्चित हो गई। यह एक ऐसा संस्कार था जो विद्या सीखने वालों को गायत्री मन्त्र सिखाकर किया जाता था। किन्तु अब इसका शिक्षामूलक अर्थ समाप्त हो गया है तथा इसका प्रयोग एक विशिष्ट संस्कार 'यज्ञोपवीत' के लिए किया जाता है। इसके लिए उचित समय निर्धारित है जैसे ब्राह्मण के लिए जन्म से लेकर आठ वर्ष तक, क्षत्रिय के लिए ग्यारहवाँ वर्ष, वैश्य के लिए बारहवाँ वर्ष।[२३] धर्मशास्त्रों में वर्णन है कि ब्राह्मण अगर बिना यज्ञोपवित पहने भोजन करता है तो उसे प्रायश्चित्त करना चाहिए। वस्तुत: हिन्दू समाज में उपनयन संस्कार का कल भी और आज भी बहुत ही महत्त्व है। पहले मनुष्य की सामाजिक और शैक्षणिक उपलब्धियाँ इस संस्कार के सम्पन्नता के पश्चात् ही सम्भव थी।

१२. वेदारम्भ - संस्कार के रूप में इसका उल्लेख सर्वप्रथम व्याससमृति में उपलब्ध होता है।[२४] इस संस्कार के द्वारा चारों वेदों के अध्ययन के लिए नियम निर्धारित किए जाते हैं। वेदारम्भ संस्कार करने के लिए अग्नि स्थापन, हवन, मातृका पूजन आदि कृत्य किए जाते थे।

१३. केशान्त- यह संस्कार विद्यार्थी के सोलहवें वर्ष में सम्पन्न किया जाता था। इस संस्कार में शिखासहित सम्पूर्ण सिर का मुण्डन होता था। इस विधि की समाप्ति पर ब्रह्मचारी गुरु को एक गौ दान में देता था।

१४. समावर्तन-समावर्तन संस्कार शिक्षा समाप्ति के बाद करने का विधान है। समावर्तन का अर्थ है वेदाध्ययन के पश्चात् गुरुकुल से घर की ओर प्रत्यावर्तन। समावर्तन के समय ब्रह्मचारी गुरु को यथाशक्ति दक्षिणा देते थे तथा घर जाने की अनुमति लेते थे।[२५] समावर्तन संस्कार केवल उन्हीं का किया जाता था जो अपने सम्पूर्ण अध्ययन की समाप्ति तथा व्रतों का पालन कर चुकते थे। प्राचीनकाल का समावर्तन आज के उपाधि वितरण समारोह के समान था। आजकल जो परीक्षा में उत्तीर्ण दोषित होते हैं वे ही उपाधि वितरण समारोह में सम्मिलित हो सकते हैं।

१५. विवाह-हिन्दू संस्कृति में विवाह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विवाह के बाद ही व्यक्ति जीवन के विस्तृत क्षेत्र में प्रवेश करता है। गृहस्थ जीवन का प्रारम्भ यहीं से माना जाता है। हिन्दू धर्मशास्त्रों में विवाह को धार्मिक संस्कार माना गया है इसमें धर्म का स्थान प्रधान है सामाजिकता तथा वैधानिकता का क्रम।

---

२३ मनुस्मृति २/३६, ३७, ३८
२४ व्याससमृति १/१४
२५ मनुस्मृति २/२४६

यज्ञ, होम, मन्त्रपाठ, देवताओं का आवाहन तथा वेद मन्त्रों के साथ वैवाहिक क्रिया सम्पन्न करना हिन्दू विवाह संस्कार के प्रधान अंग हैं।मनु ने विवाह के आठ प्रकारों की चर्चा की है- १ ब्राह्म २ दैव ३ आर्ष ४ प्राजापत्य ५ आसुर ६ गन्धर्व ७ राक्षस ८ पैशाच।[२६]

१६. अन्त्येष्टि- अन्त्येष्टि मनुष्य का वह अन्तिम संस्कार है जो मृत्यु के बाद किया जाता है। इसमें मृत व्यक्ति के पार्थिव शरीर का दाह संस्कार किय जाता है। दाह क्रिया के पहले तथा बाद अनेक धार्मिक कृत्य होते हैं। शवदाह के बाद अशौचकाल प्रारंभ होता है जिसकी अवधि साधारणत: तेरह दिनों की होती है। पिण्डदान, श्राद्धकर्म और ब्राह्मण भोजन के बाद मृतक का परिवार शुद्ध माना जाता है। अन्त्येष्टि क्रिया से सम्बन्धित ये नियम पूर्व में भी थे और आज भी हैं।अन्त्येष्टि संस्कार होने से व्यक्ति अपने उक्त संस्कारों के द्वारा परलोक में विभिन्न परिस्थितियों में विजय प्राप्त कर सकता है।[२७]

किन्तु आधुनिक समय में विवाह, उपनयन, अन्नप्राशन, नामकरण, तथा अन्त्येष्टि नामक संस्कारों को छोड़कर अन्य संस्कार बहुधा नहीं किए जा रहे हैं। इनमें भी नामकरण तथा अन्नप्राशन मनाए तो जाते हैं, किन्तु बिना मन्त्रोच्चारण तथा पुरोहित को बुलाए। साधारणतया लोग समझते हैं कि प्राचीन काल की प्रत्येक बात अन्धविश्वासपूर्ण है। किन्तु ऐसा है नहीं, लोगों को धर्म तथा संस्कार में छिपे हुए अनुशासन, नैतिकता तथा धैर्य तथा कर्मों के उद्येश्य को समझना चाहिए।

संस्कारों का प्रयोजन

संस्कारों का उद्देश्य मनुष्यों के लोक तथा परलोक दोनों को सुधारना है। याज्ञवल्क्य का मत है कि संस्कार करने से बीज गर्भ से उत्पन्न दोष मिट जाते हैं।[२८] संस्कार करने के प्रमुख प्रयोजन निम्न हैं -

१. अशुभ प्रभावों का प्रतिकार - संस्कार हमारे उपर से अशुभ शक्तियों से बचाता है। यथा जातकर्म संस्कार करने से शिशु के उपर कोई भी अवांछित शक्तियाँ अपना प्रभाव नहीं डाल सकतीं।[२९] विद्यार्थी जीवन की समाप्ति के समय जब दण्ड का त्याग का दिया जाता था तो समावर्तन संस्कार के अवसर पर वह दृढतर वंश दण्ड को धारण करता था। यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि पशुओं और शत्रुओं से रक्षा के लिए ही नहीं वरन् राक्षसों तथा पिशाचों से रक्षा के लिए भी संस्कार आवश्यक है।[३०]

२. अभिष्ट फल की प्राप्ति -संस्कारों का भौतिक उद्येश्य है धन धान्य पशु संतान दीर्घजीवन सम्पत्ति शक्ति और बुद्धि की प्राप्ति। वस्तुत: संस्कार गृह्यकृत्य थे और स्वभावत: उनके अनुष्ठान के समय घरेलू जीवल के लिए आवश्यक सभी वस्तुओं की भावना देवों से की जाती थी। और देवता उनकी आकांक्षाओं की पूर्ति किया करते थे।[३१] मनु के अनुसार स्वाध्याय, व्रत, होम, तर्पण, यज्ञ (पञ्चमहायज्ञ) के अनुष्ठान से

---

२६ मनुस्मृति ३/२१
२७ बौधायन गृह्यसूत्र १/४३
२८ याज्ञवल्क्यस्मृति १/१३
२९ पारस्कर गृह्यसूत्र १/१६/१९
३० पारस्कर गृह्यसूत्र २/६/२६
३१ शांखायन गृह्यसूत्र १/१४/५

यह शरीर ब्रह्म प्राप्ति के योग्य बन जाता है, तथा द्विजों को गर्भाधान आदि संस्कार वैदिक कर्मों के साथ करना चाहिए जो इहलोक तथा परलोक दोनों को पवित्र करते हैं।[३२]

३. नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान- आध्यात्मिकता हिन्दुत्व की एक प्रमुख विशेषता है अत: संस्कार व्यक्ति के आन्तरिक व आध्यात्मिक तत्त्वों के बाह्य प्रतीक थे। संस्कार सम्पन्न करने से व्यक्ति ऐसा समझते थे जैसे कोई अदृश्य वस्तु उनके समस्त व्यक्तित्व को पवित्र कर रही हो। यजुर्वेद में कहा गया है कि संस्कार के बिना मनुष्य आत्मशान्ति तथा आनन्द से वंचित रहते हैं।[३३] अत: संस्कारों का उद्देश्य व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना था जिससे वह अपने को मानवीय तथा अतिमानव शक्तियों से पूर्ण बना सके। संस्कार मानव के परिष्कार तथा शुद्धि में सहायता पहुँचाते थे,मनुष्य की समस्त भौतिक तथा आध्यात्मिक महत्त्वाकांक्षओं को गति देते तथा अन्त में उसे जटिलताओं तथा समस्याओं के संसार से सरल तथा सानन्द मुक्ति प्रदान करते थे। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक के संस्कार व्यवहार में मानव जीवन तथा उसके विकास की क्रमबद्ध योजना का कार्य करते थे। गर्भाधान से उपनयन तक संस्कार शरीर के संस्कार परक होते हैं जिससे पात्रता अर्जित होती है क्योंकि सत्कर्म के अभ्यास से ही संस्कार हृदय में स्थित होते हैं-

प्राप्यपुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वती समा:।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।[३४]

अथर्ववेद में वेदाध्ययन की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि ब्रह्मचर्य अच्छे गार्हस्थ्य की आधारशीला है। अपने शिष्य को उत्तम सभ्य बनाने के लिए आचार्य उसके लिए सतत चिन्तित रहते थे।[३५] पुन: विवाह संस्कार के बारे में कहा गया है कि यह केवल स्त्री-पुरुष के साथ रहने का रूप नहीं है, वरन विवाह के उपरान्त पति-पत्नी अपने धार्मिक और कौटुम्बिक उत्तरदायित्व की ओर जागरूक हों अर्थात् सामाजिक तथा धर्मिक कर्त्तव्यों के प्रति सचेत हों।[३६] यही वेदों का आदर्श है,भारतीय परिवार की आदर्श आधारशीला है,समाज में एकता बनाने का मार्ग है, यह आदर्श वैश्विक है सार्वत्रिक है तथा सदा ध्यान में रखने योग्य है।

भारतीय संस्कृति के अनुसार आत्मसाक्षात्कार या ईश्वर की प्राप्ति या मोक्ष की प्राप्ति ही जीवन का परमलक्ष्य कहा जाता है। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक के सारे संस्कार और गुरुकुल प्रवेश से लेकर मृत्यु तक की सारी चेष्टाएँ इन्हीं में निहित हैं।

अत: संस्कार सम्पन्न व्यक्ति से ही राष्ट्र का सर्वांगीण विकास हो सकता है। समाज की सुव्यवस्था के लिए सुख-शान्ति की अभिवृद्धि के लिए संस्कार सम्पन्न व्यक्ति की आवश्यकता है। अत: सर्वथा सर्व

---

३२ मनुस्मृति २/२६,२७
३३ यजुर्वेद ४०/११
३४ गीता ६/४१
३५ अथर्ववेद ११/५
३६ अथर्ववेद १४/१२

प्रकार से जब तक संसार में संस्कारों का पालन नहीं होता है तब तक **'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः'** की कल्पना भी नहीं कह जा सकती है। जब विकास सिद्ध है, उन्नयन निश्चित है, तो उसकी उपलब्धि के लिए सोपान भी होने चाहिए और आर्य जाति में संस्कारों की प्रतिष्ठा इन्हीं सोपानों के रूप में हुई है। हमारे शरीर और आत्मा दोनों स्वस्थ रहें, इसके लिए हमें अपनी संस्कृति और संस्कार दोनों को जीवित रखना होगा। अतः यज्ञों में या संस्कारों में जो नियम किए जाते हैं अर्थात् उन अवसरों पर देवताओं को आहुति प्रदान कर उन्हें अपने अनुकूल बनाकर जो अभिष्ट सिद्धि की जाती है इससे विश्व संरचना के सिद्धांत को भी विकसीत किया जाता है। आज का मानव जो अपनी सुख तथा शान्ति के लिए इधर से उधर भटकता फिरता है मन की परेशानियों को दूर करने के लिए मनोवैज्ञानिक की सहायता लेता है तो केवल संस्कार ही मावन के अंदर वह शान्ति उत्पन्न करने में सक्षम है।

आजकल बड़े-बड़े बोर्ड पर विज्ञापन देकर दूरदर्शन,आकाशवाणी के द्वारा भोजन से पूर्व हाथ धोना आदि की शिक्षा दी जाती हैं और लोग इनका अनुसरण करते हैं अगर वे हमारे शास्त्रों में वर्णित संस्कारों का थोड़ा भी अध्ययन कर लें तो इसकी आवश्यकता नहीं होगी। तो संस्कार वे क्रियाएँ तथा रीतियाँ हैं जो योग्यता प्रदान करती हैं-

'योग्यताञ्चदधानाः क्रियाः संस्काराः इत्युच्यते।' अतः संस्कार एक प्रकार की आध्यात्मिक सीढियों का कार्य करते हैं जिसके द्वारा शरीर और उसके कार्य पूर्णता की प्राप्ति में सहायक होते हैं और इस प्रकार व्यक्ति के जीवन को परिष्कृत करने के लिए सोलह संस्कारों की व्यवस्था की गई है।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ0222-229) ISSN 0974 – 8830

सुभाष वेदालङ्कार की संस्कृत काव्य साधना

डॉ. कुलदीप सिंह आर्य[१]

सुभाषतेऽलङ्कुरुते च वेदान् विद्वान्मनीषी सु वाचिसिद्धः।
विद्योतते पण्डितमण्डलीनामार्य सुभाषः सुतरां नदीष्णः॥
विशालभालोल्लिखितप्रबोधो वेशेन दान्तो विनयेन शान्तः।
केशेन शोभेण विलासितास्यः प्रसन्नहास्यः स्फुरदार्यगात्रः॥
गिर्वाणवाणी परिपाकदीप्तिः कविः सुकाव्य-प्रणयीद्धकीर्तिः।
राराजते ग्रस्य रसालवाणी वीणां जिगीषुः कविपर्षदीव॥[२]

विश्व की अनेक भाषाएं एवं सभ्यताएं कालकवलित हो गईं, किन्तु संस्कृत एवं संस्कृति आज भी विश्व के प्रांगण में अपना सम्मानपूर्ण, गौरवमय स्थान बनाए हुए है। वेदों की ऋचाओं से जो ज्ञानधारा प्रस्फुटित हुई वह आज भी अबाध गति से चलायमान है। संस्कृत भाषा का साहित्यिक तथा ज्ञान-विज्ञान परक इतिहास मात्र एकवर्गीय चेतना की अभिव्यक्ति ही नहीं बल्कि इसमें मानव सभ्यता एवं संस्कृति के स्वस्थ मूल्यों की बहु आयामी दिशाएँ मुखरित हुई हैं। संस्कृत के आधुनिक महाकवियों में प्रो. सुभाष वेदालंकार की संस्कृत काव्य साधना गौरवपूर्ण है।

महाकवि का परिचय

संस्कृत जगत् के प्रसिद्ध मनीषी, वेदज्ञ, साहित्यकार, लेखक, महाकवि एवं आधुनिक संस्कृत गीतकार प्रो. सुभाषवेदालंकार का जन्म १३ अप्रैल १९४२ को पाकिस्तान के टांक शहर में हुआ। गुरुकुल कुरुक्षेत्र की संस्कृत शिक्षा व्यवस्था एवं स्वप्रतिभा प्रमाण उन्होंने कक्षा सात में पढ़ते हुए संस्कृत पद्य बनाकर दिया। घन वयस्तेजसा हेतुच गुरुकुल काँगड़ी एवं राजस्थान विश्वविद्यालय में उच्चशिक्षा लेते हुए आपने अपनी प्रतिभा के बल पर बहुत सी छात्रवृत्तियाँ प्राप्त कीं और संस्कृत के चिन्तन को सरलता की कसौटी पर परख कर व्यापक विस्तार दिया।

संस्कृतं जनभाषा स्यात् सकलैरनुभूयते।
व्यवहारं विना सा तु जनभाषा भवेत्कथम्॥[३]

राजस्थान के राजकीय महाविद्यालयों में संस्कृत की दुन्दुभि बजाते हुए राज्य के बहुत से महाविद्यालयों में प्राध्यापक रूप में सेवाएं दीं और राजस्थान विश्वविद्यालय के श्रेष्ठ आचार्य के रूप में सन्

---

१. अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, डी.ए.वी. कॉलेज, अमृतसर।
२. डॉ. सुरेद्र मोहन कृत पद्य वाङ्मय मधुपर्क पृ. २।
३. डॉ. शिवसागर त्रिपाठी द्वारा लिखित सुभाष दशकम् से।

२००२ को शासकीय सेवाओं से संन्यास लिया। वर्तमान में प्रो. साहब का जीवन संस्कृत के लिए समर्पित है संस्कृत लेखन, गायन एवं जीवन सब कुछ संस्कृत के लिए समर्पित है।[४]

प्रो. सुभाष वेदालंकार की संस्कृत साधना

प्रोफेसर साहब की ख्याति सम्पूर्ण भारत में संस्कृत लेखक के रूप में है। विद्यार्थी काल से ही लेखन का जो तप प्रारम्भ हुआ वह अनावरत चलायमान है। उनकी सौ से अधिक कृतियाँ संस्कृत जगत् में प्रसिद्ध हैं।

१. संस्कृत गद्य रचनाएं-

१. भारतीय संस्कृति, २. महाकवि कल्हण, ३. संस्कृत निबन्ध पारिजात, ४. कुरल चित्रणम्, ५. हृदयेश्वरी-गृहेश्वरी, ६. महाराणा प्रताप चरित्रम्, ७. कुरलाचित्रणम्।

२. सम्पादित एवं व्याख्यात रचनाएं-

१. वेदों की वैज्ञानिक विवेचना, २. संस्कृत दर्शन दीपिका, ३. महाकवि कल्हण एवं राजतरंगिणी, ४. ईशावास्योपनिषद्, ५. कठोपनिषद्, ६. शुकनासोपदेश, ७. किरातार्जुनीयम्, ८. श्रीमद्भगवद्गीता, ९. नीतिशतकम्, १०. कुमारसम्भवम्, ११.ऋक्सूक्तमंजरी, १२. लघुसिद्धान्तकौमुदी भाग १-३, १३. संस्कृत गद्यतरंगिणी, १४. संस्कृत गद्य सौरभम्, १५. संस्कृत सोपानम्, १६. संस्कृत सौरभम्, १७. कर्मयोगी, १८. वैदिक चिन्तन धारा।

सुभाष वेदालङ्कार की काव्यकृतियाँ

१. **भारतगौरवम्-** भारत गौरवम् नाम खण्ड काव्य में ११२ पद्य हैं जो हरिगीतिका छन्द में निबद्ध हैं। सम्भवत संस्कृत काव्यों में यह प्रथम ऐसा काव्य है जिसमें हरिगीतिका हिन्दी के छन्द हो। इसमें भारत का गौवरगान है। भारत के महापुरुषों, यज्ञकर्त्ता तपस्वी, श्री राम, योगीराज श्री कृष्ण, गौतम बुद्ध, महावीर स्वामी, महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द आदि महापुरुषों का गुणगान किया है। साथ ही चारों वेदों, उपनिषद्, धर्मशात्र, पुराण, दर्शन आदि विषयें का भी वर्णन किया है, ११ मार्च २००२ को प्रकाशित हुआ।

२. **अमृतलहरी-** यह काव्य भी मार्च २००२ में प्रकाशित हुआ। इसमें गुरु भक्ति, अतिथि सेवा, आत्मविश्वास, धैर्य, यज्ञ, सत्य आदि तत्वों को जीवन के उन्नायक स्वीकार किया गया है और रामकृष्ण, महर्षि दयानन्द आदि के मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी है। इस काव्य में अनुष्टुप, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, सृग्धरा, वसन्ततिलका, इद्रवज्रा, उपेद्रवज्रा छन्दों का प्रयोग है।

३. **ईशस्तोत्रम्-** इस काव्य में कवि ने ईश्वर के भिन्न भिन्न नामों की स्तुति की है। सम्पूर्ण काव्य शिखरिणी छन्द में निबद्ध है।

४. **संस्कृतिसुधा-** १५१ पद्यों में निबद्ध इस कृति में भारतीय संस्कृति की अनुपम झाँकी प्रस्तुत की गई है। आर्य समाज के सिद्धान्तों पर यह कृति आधारित है।

---

४. प्रो. सुभाष वेदालंकार ग्रन्थ।

५. **संस्कृतशिशुगीतम्-** ४० गीतों के इस काव्य में कवि ने अत्यन्त सरल, सरस भाषा में समाज को भारतीय संस्कृति की शिक्षा दी है।

६. **संस्कृतचलचित्रगीतम्-** फिल्मी धुनों पर आधारित इस काव्य में मनमोहक संगीतबद्ध गीत हैं। संस्कृत को जनभाषा बनाने में इस पुस्तक का विशेष महत्त्व है।

७. **ईशकाव्यम्-** कवि ने ईशावस्योपनिषद् के १८ मन्त्रों की संस्कृत व्याख्या ३६ पद्यों के माध्यम से की है।

८. **मनीषाचरितम्-** खण्ड काव्य के रूप में कवि ने ४० (मन्दाक्रान्ता छन्द) पद्यों के द्वारा हृदय की बात अपनी विदुषी पत्नी को समझाते हुए उनका चरित्र चित्रण प्रस्तुत किया है।

९. **श्रीमद्भगवद्गीतम्-** इस काव्य में मनीषी कवि ने गीता के वेदानुकूल कथ्य को स्पष्ट किया है। इसमें २०० पद्य हैं।

१०. **शैक्सपीयरशतकम्-** यद्यपि कवि की यह कृति अप्रकाशित है तथापि यह विद्या की दृष्टि से विशेष है। इसमें शैक्सपीयर की उक्तियों को सरस कविता के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

११. **अमरेश्वर-यात्रा-विलास-** २५० पद्यों के इस काव्य में कवि ने अमरनाथ यात्रा का भक्तिपूर्ण वर्णन किया है।

१२. **कश्मीरदर्शनम्-** इस कृति में ५०० पद्य हैं। कवि ने अत्यन्त सरल भाषा में जम्मू कश्मीर के दर्शनीय स्थानों का चित्रण किया है।

१३. **वाराणसीविलासः-** कवि ने २५० पद्यों में इस काव्य की रचना में वाराणसी के दर्शनीय एवं ऐतिहासिक स्थानों का वर्णन किया है।

१४. **अयोध्याविलासः-** मनीषी कवि ने इस काव्य के माध्यम से अयोध्या के धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थानों का वर्णन किया है।

१५. **उत्तराँचलविलासः-** १००० पद्यों के इस काव्य में कवि ने उत्तर भारत के दिल्ली, नैनीताल, हरिद्वार, देहरादून, मसूरी, कुरुक्षेत्र, चंडीगढ़, हिमाचल प्रदेश, अमृतसर एवं जम्मूकश्मीर का वर्णन किया है।

१६. **राजस्थानविलासः-** मनीषी कवि ने राजस्थान के विभिन्न ऐतिहासिक नगरों का जयपुर विलासः अजमेर विलासः, जोधपुर विलासः, माउंट आबू विलास, चित्तौड़गढ़ विलासः, उदयपुर विलासः, बांसबाड़ा विलासः, इद्रगढ़ विलासः, भरतपुर विलासः आदि अध्यायों के रूप में चित्रण किया है।

१७. **पश्चिमाँचलविलासः-** ४०० पद्यों वाले इस काव्य में मुम्बई, पूना, बंगलूर, मैसूर, मलेरकोटला, रंगपट्टन आदि नगरों का सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है।

१८. **हिमाद्रिविलासः-** मनीषी कवि ने इस काव्य में हिमाचल प्रदेश के प्रमुख नगरों- शिमला, मणिकर्ण, गरली, धर्मशाला, ज्वाला जी, चिन्तपूर्णी का सजीव चित्रण किया है।

१९. **चंडीगढ़विलासः-** मनीषी कवि ने इस काव्य में चंडीगढ़ की भव्यता आधुनिकता एवं सौन्दर्य का वर्णन किया है।

२०. **वैदिक-संस्कृत-पीयूषम्-** भारतीय वैदिक संस्कृति पर आधारित यह एक अनुपम खंड काव्य है। जिसमें विविध विषय हैं।

२१. **दक्षिणावर्तविलास:-** कवि मनीषी का यह प्रौढ़ महाकाव्य है जिसमें ११ सर्ग हैं इसमें दक्षिण भारत के प्रमुख नगर–मद्रपुर, महाबलिपुरम, तिरुपति, रामेश्वर, मदुरै, मीनाक्षी मन्दिर व विष्णु मन्दिर, कन्याकुमारी, त्रिवेद्रम के धार्मिक आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व पर प्रकाश डाला है।

२२. **महाराणाप्रतापचरितम्-** इस लघु काव्य में कवि ने महाराणा प्रताप के चरित्र का वर्णन किया है।

२३. **संस्कृतदेशभक्तिगीतम्-** कवि का यह काव्य सरल संस्कृत गीतों का संग्रह है। भारत भर में यह पुस्तक बहुत लोकप्रिय है।

२४. **कुरलचित्रणम्-** कवि ने तमिलनाडू के पूर्व मुख्यमन्त्री श्री करुणानिधि द्वारा लिखित पुस्तक का संस्कृत पद्यानुवाद किया है।

२५. **स्वप्नसुन्दरी-** कवि की प्रौढ़ रचना महाकाव्य के रूप में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसमें लगभग २५०० पद्य हैं जिन्हें २२ सर्गों मे विभक्ति किया गया है। इस कृति की कथा का आधार नायक सुधीर का स्वप्न है जिसे रात्रि में एक लावण्यमयी युवती दिखती है और नायक उस पर अनुरक्त हो जाता है और स्वप्न में उसके साथ भमण करता है।

२६. **विजयवल्लभचरितम्-** महाकवि की यह प्रौढ़ रचना है। इस महाकाव्य में १६ सर्ग हैं। इसमें जैन मुनि आचार्य विजयवल्लभ सूरी के वैदिक सिद्धान्तों का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है।

२७. **अमेरिकावैभवम्-** यह महाकवि का प्रौढ़ महाकाव्य है जिसमें २१ सर्ग हैं- जिनमें अमेरिका के न्यूयार्क, ह्यूटन, शिकागो, स्मोकी माउँनटेन (धूमगिरि) अटलान्टा आदि स्थानों एवं महानगरों का बड़े ही सुन्दर रूप में वर्णन किया है।

२८. **तपोवनशतकम्-** महाकवि ने इस काव्य में देहरादून स्थित तपोवन आश्रम का अध्यात्म एवं पर्यावरण परक वर्णन किया है।

२९. **विश्वविद्यालयवैभवम्-** इस काव्य में १७५ पद्य हैं। मनीषी कवि ने इस में राजस्थान के अजमेर में स्थित महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय का बड़े ही सुन्दर रूप में चित्रण किया है।

३०. **ऋषि-उद्यानम्-** महर्षि दयानन्द की प्रवचन स्थली ऋषि उद्यान में होने वाली गतीविधियों का बड़े भाव विभोर होकर कवि ने चित्रण किया है।

डॉ. सुभाष वेदालंकार के काव्य का कलापक्ष

प्रो. सुभाष वेदालंकार आधुनिक संस्कृत साहित्य के समृद्ध महाकवि एवं उपासक के रूप में दृष्टिगोचर हैं उनका सम्पूर्ण जीवन संस्कृत साधना में रत है। उनके साहित्य की विशालता उनकी प्रतिभा का स्वत: प्रमाण है। वर्तमान समय जो आंगल भाषा एवं संस्कृति प्रधान होता जा रहा है उसमें ऐसे कवि की रचनाओं को देखकर कौन सोच सकता है कि संस्कृत साहित्य का ह्रास हो रहा है?

भाषा- मनीषी कवि की भाषा सरल, सरस तथा हृदयस्पर्शी है। डॉ. द्विजेद्र लाल शर्मा के शब्दों में-

सारल्यं तव काव्य-वाक्यचरिते सर्वत्र प्रस्फोटितम्।
अम्भोजं च यथा सुवास-वितरत् सर्वप्रियत्वं गतम्।

भूयस्त्वं समुदार-सत्त्व-विभवः सर्वान् प्रियानादधद्,
वद्योऽस्येव सदापि प्रेम निलय स त्वं जये सर्वथा।।[५]

भाषा की सरलता दर्शनीय है-

ईश्वररस्तु निराकारः स्वयम्भूः सर्वशक्तिमान्।
सर्वाधारः स सर्वज्ञः सर्ववेद मयोहि सः।।
न तस्य प्रतिमास्ति काचिन्निराकारस्य संभवेत्।
जडपूजा सदा हेया तस्मान्मंगलकांक्षिभिः।।[६]

अन्यत्र-

प्रातः सायं भजनीयम्, प्रातः सायं नमनीयम्
सत्यं वचनं वदनीयम्, वेद-पुस्तकं पठनीयम्
मन्दं-मन्दं हसनीयम्, मन्दं मन्दं वदनीयम्।[७]

डॉ. साहब की भाषा के विषय में प्रसिद्ध है-

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रिय-हितं च यत्।

प्रो. साहब के पद्य से उनकी भाषा के प्रति निष्ठा एवं निश्छलता स्पष्ट हो जाती है-

संस्कृतं न मृतं न मरिष्यति रे चलतीहमुदा तद्यलिष्यति रे।
वेदज्ञानं गृहे गृहे कण्ठे कण्ठे संस्कृतम्।।

व्याकरण के भयंकर पाण्डित्य से दूर डॉ. साहब की भाषा कभी तो हिन्दी से भी सरल लगती है-

चल रे शूर वीर चल, चल रे शूर वीर चल,
भव प्रतापवत् महान् छिन्धि शत्रु-दुर्जयान्।।

अतः प्रो. साहब की भाषा सीधी, प्रेरणामयी और चित्रमयी है। उनके इसी गुण ने लाखों लोगों को संस्कृत के प्रति प्रेरित किया।

छन्द- मनीषी कवि ने अपने काव्य में- अनुष्टुप्, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, स्रग्धरा, वसन्ततिलक, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा आदि संस्कृत छन्दों का भरपूर पाण्डित्यपूर्ण प्रयोग किया है। साथ ही हिन्दी की छन्द हरिगीतिका एवं आधुनिक फिल्मी धुनों का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। महाकवि कालिदास ने मन्दाक्रान्ता छन्द में मेघदूत की रचना की और प्रो. सुभाष जी ने मनीषा चरितम् इसी छन्द में लिखा। उनके काव्यों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि कोई भी छन्द में लिखना उनके लिए कठिन नहीं है-

राजस्थानप्रदेशस्य गौरवं परमं मतम्।
योद्धृणां नगरं सूर्यं नगरीति श्रुतञ्च यत्।[८]

---

५. डॉ. द्विजेद्र लाल शर्मा द्वारा लिखित पद्य - वाङ्मय मधुपर्क ग्रन्थ।
६. दयानन्द विलास ६-७।
७. संस्कृत गीतशतकम् - पृष्ठ ८६।

कवि के गीतों में आधुनिकता का सम्मिश्रण देखिए-

ऐ मालिक तेरे बन्दे हम...धुन पर गीत-

ईश! भक्तास्त्वदीया वयम्, स्याम सत्कर्मयुक्ता वयम्

सत्पथा सर्वदा इह चलेम मुदा, सर्व एव सुपुत्रा वयम्।[९]

अलंकार वर्णन- कवि ने अपने काव्य में उपमा, रूपक, यमक, अनुप्रास, विभावना, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा आदि शब्द और अर्थ दोनों प्रकार के अलंकारों का वर्णन किया है। उपमा का उदाहरण देखें-

नवनीतसमां काम्यां मृणालैरिव निर्मिताम्।

चन्दनशीतलां रम्यां विहसन्तीञ्च चन्द्रिकाम्॥

रम्भास्तम्भ समे जंघे मृदुले दधतीं परे।

कामिनीं चद्रकाधौतां मधुरां मृदुभाषिणीम्॥[१०]

रस वर्णन- स्वप्न सुन्दरी काव्य में कवि ने काव्य में शृंगार रस को प्रमुखता प्रदान की है।

अङ्गीकृतोऽत्र शृंगारो मुख्यत्वेन मया रसः।

उपन्यस्ता रसाश्चान्ये यत्र तत्र तथा मुदा॥[११]

कवि के काव्य में वीर, शृंगार, हास आदि रसों का भरपूर प्रयोग है। यद्यपि कवि की अन्तश्चेतना में अध्यात्म भी सर्वत्र दृष्टिगोचर हुआ है।

अन्य गुण रीति आदि- कवि की भाषा में माधुर्य ओज और प्रसाद तीनों गुणों का स्वाभाविक चित्रण हुआ है-

माधुर्य गुण देखें-

विमलम् दानम् देयम् देयम्, विमलम् गानम् गेयम् गेयम्।

विमलम् चित्तम् नेयम् नेयम्, मलिनम् मित्रम् हेयम् हेयम्॥[१२]

ओज गुण-

प्रताप! ते प्रतापेन तपन्तु तापकारिणः,

ततापं से प्रतापस्य प्रतापेन भयान्वितः।

प्रताप-ताप संतप्ताः प्रतापेन भयन्विता;

अधः कर्त्तुं प्रतापस्य प्रतापं स प्रजापतिः॥[१३]

---

८. जोधपुर विलास से।
९. संस्कृत गीत शतकम् - पृष्ठ ८।
१०. स्वप्न सुन्दरीकाव्य जयपुर विलास - १५-१४।
११. वही-१०।
१२. संस्कृत-गीतशतकम् - पृष्ठ ८५।
१३. वही -

इस प्रकार कवि भाषा की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। भाषा का जैसा प्रयोग चाहा वैसे ही कवि ने कर दिया। कहीं कहीं तो गीतों के माध्यम से प्रत्यय प्रयोग सिखाए हैं।

प्रो. सुभाष वेदालंकार के काव्य का भावपक्ष

प्रोफेसर साहब का जहाँ जहाँ अध्ययन अध्यापन हुआ वहाँ-वहाँ के सिद्धान्तों एवं विचारों का प्रभाव उन पर पड़ता गया। प्रो. साहब एक अध्यापक हैं। भाषा प्रचारक के जो गुण उनमें हैं वे आजकल कम ही दिखते हैं, वे वैदिक संस्कृति के प्रचारक हैं, वे ऋषि दयानन्द के भक्त हैं और वे संस्कृत के विद्वान् मनीषी भी हैं। अत: इस सभी वातावरण का प्रभाव उन पर पड़ना निश्चित था।

१. **काव्य का कथानक-** प्रो. साहब के काव्य ऐतिहासिक भी हैं और मौलिक भी। श्रीमद्भगवत्गीतम् ईशकाव्यम् कुरलचित्रणम्, महाराणाप्रतापचरितम् वैदिकपीयूषम् आदि अनेक काव्य उनके ऐतिहासिक काव्य की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। तथा स्वप्नसुन्दरी महाकाव्यम्, अमृतलहरी, ईशस्तोत्रम्, संस्कृतिसुधा, संस्कृत-शिशु-गीतम्, संस्कृतचलचित्रगीतम्, मनीषाचरितम्, कश्मीरदर्शनम् तथा विलास काव्य ये सभी मौलिक काव्य हैं।

प्रो. सुभाष वेदालंकार की विशेषता यह है कि कालिदास के समान इन्होंने स्वप्न सुन्दरी महाकाव्य की रचना स्वप्न के आधार पर की जो मानवीयकरण अलंकार और शैली का अद्भुत प्रमाण है।

मनीषी कवि ने भारतीय संस्कृति के तत्त्व सत्य, अंहिसा, यज्ञ, दान, सेवा आदि का भरपूर वर्णन किया है। इनके काव्य पर आर्य वैदिक विचारधारा स्पष्ट रूप से दिखाई देती है और भाषा के सुपुत्र एवं प्रचारक होने में उन्होंने कोई कमी नहीं छोड़ी।

मनीषी कवि ने संस्कृत के साहित्य की सेवा एवं विस्तार तन, मन, धन से किया है, तथा कर रहे हैं ऐसा मेरा विश्वास है। कविता में प्रकृति चित्रण भरपूर हुआ है-

कमनीयमिहोद्याने तस्मिन्नुत्सैरलंकृते।
सौन्दर्यं दर्शनीयं वै पुष्पाणां पक्षिणान्तथा।।
काननं कमनीयञ्च दृश्यते वनराजिषु।
शोभितं पुष्पवृक्षैश्च सरोभिः परिवेष्टितम्।। [१४]

भवन वर्णन, नगर वर्णन भी अत्यन्त मर्मस्पर्शी है-

गुलाबी नगर जयपुर का चित्रण देखें-

पुरातनं यन्नगरं विभाति निगद्यते पिंकसिटीति लोके।
रक्तानि वेश्मानि तदापणाश्च पदे पदे शिल्पकलां वहन्ति।। [१५]

कवि के काव्य मे आर्यसिद्धान्तों की चर्चा देखें-

पाखण्डखण्डनं कुर्वन् मूर्तिपूजां विखण्डयन्।

---

१४. जयपुर विलास - ५२, ८७।
१५. जयपुर विलास - ३२।

विचचार महर्षिस्स सर्वस्मिन् राज्यमण्डते॥
पाखण्डाखण्डितास्तेन धर्मविघ्नविनाशितः।
यज्ञाः प्रवर्तितास्सर्वे जडपूजा च निन्दिता॥ [१६]

किं कवस्तेन काव्येन किं काण्डेण धनुष्मतः वाली कहावत कवि पर चरितार्थ होती है।

काव्य की दिशा

मनीषी कवि ने संस्कृत काव्य लेखन की पुरातन परम्पराओं को अपनाते हुए नये आयाम स्थापित किए हैं। कवि ने काव्य की नवीनता नगरों, प्रदेशों के चित्रण में विशेष है। कश्मीरदर्शनम्, वाराणसीविलासः, अयोध्याविलास, उत्तराँचलविलासः, राजस्थानविलासः आदि काव्य संस्कृत साहित्य को नई दिशा प्रदान कर रहे हैं। संस्कृत के पुरातन साहित्य में दर्शनीय स्थान पर बहुत काव्य नहीं हैं।

संस्कृत भाषा समृद्धि की दृष्टि से आज भी अद्वितीय है अतः उसे लेखकों में जहाँ सुबन्धु बाणभट्ट जैसे विद्वान् हैं वहाँ वाल्मीकि एवं व्यास जैसे सहज हृदय भी, प्रो. सुभाष जी ने संस्कृत साहित्य को सरल एवं गीतात्मक काव्य दिये, वे निश्चित रूप से संस्कृत प्रचार में मील के पत्थर बनेंगे, बहुत सारी भाषाएं मानव को केवल संगीतबद्ध होने के कारण आकर्षित करती हैं और आसानी से हृदयग्राही हो जाती हैं। इसी प्रकार मनीषी कवि ने हजारों की संख्या में जो लयबद्ध गीत प्रस्तुत किए हैं, यह नया दृष्टिकोण है। विभिन्न कार्यक्रमों पर इनके गीत ही सुनने को मिलते हैं। इनके द्वारा कैसेट एवं सीडी निर्माण भी संस्कृत को प्रसारित करने में रामबाण होगा। अवसाने–

वेदस्य त्वमलंकृति स्वयमहो वेदोऽस्ति तेऽलंकृति-
विद्यासेवनमेव ते व्रतमहो त्वं देव भाषाप्रियः।
समृद्धि रचनासु सारबहुलां भूयश्च संसाधनम्,
लेखैर्भाषण-शिक्षणैः श्रुतिसुधैस्त्वं तत्र मग्नः सदा॥ [१७]

---

१६. दयानन्द विलास – २१-२२।
१७. डॉ. द्विजेद्र लाल शर्मा द्वारा लिखित पद्य।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ0230-237) ISSN 0974 – 8830

साहित्यिक शोध के लिए उपादेय सन्दर्भ-ग्रन्थ : एक दिग्दर्शन

डॉ. पूनम भारद्वाज[1]

साहित्यिक शोध के लिए अनुसंधान, अन्वेषण, गवेषणा, अनुशीलन, परिशीलन, सर्वेक्षण आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है, परन्तु इनमें से शोध और अन्वेषण ही अधिक प्रचलित हैं। संस्कृत की 'शुध्' धातु से निष्पन्न शोध शब्द का अर्थ है- शुद्ध होना, निर्मल होना, अपनी मूलभूत स्थिति को प्राप्त होना।[2] अनुसंधान शब्द 'अनु' और 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'धा' धातु से बना है। 'अनु' का अर्थ है- पीछे लगना, अनुसरण करना या पुनः पुनः करना, और संधान का अर्थ है- निशान लगाना, लक्ष्य बाँधना या निश्चित करना।[3] इस प्रकार अनुसंधान शब्द का अर्थ हुआ- पूर्ण एकाग्रता एवं धैर्यपूर्ण सतत परिश्रम से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ना और लक्ष्य-प्राप्ति-पर्यन्त निरन्तर बढ़ते रहना।

अज्ञात, अल्पज्ञात अथवा अन्यथा ज्ञात विषय का कठोर परिश्रम, विवेक एवं लगन से किया गया निर्णयप्रधान वैज्ञानिक अध्ययन ही शोध अथवा अनुसंधान है।

एस.एन. गणेशन के अनुसार 'अनुसंधान अथवा शोध उस प्रक्रिया या कार्य का नाम है, जिसमें बोधपूर्वक प्रयत्न से तथ्यों का संकलन करके सूक्ष्मग्राही एवं विवेचक बुद्धि से उनका अवलोकन विश्लेषण करके नए तथ्यों या सिद्धान्तों का उद्घाटन किया जाता है। दूसरे शब्दों में, पहले अज्ञात वस्तुओं, तथ्यों या सिद्धान्तों के आविष्कार की बोधपूर्वक क्रिया ही अनुसंधान है।'[4]

संस्कृत साहित्य के शोधक्षेत्र को दो विधाओं में बाँटा जा सकता है-

(क) तथ्यान्वेषणपरक शोध

(ख) तथ्याख्यानपरक शोध

(क) तथ्यान्वेषणपरक शोध

प्राचीन हस्तलिखित मातृकाओं की सहायता से किसी ग्रन्थ का आलोचनात्मक प्रामाणिक सम्पादन तथ्यान्वेषणपरक शोध कहलाता है। विभिन्न ग्रन्थों में प्रकीर्ण उद्धरणों के आधार पर किसी ग्रन्थ का पुनर्निर्माण भी इसी श्रेणी में आता है।[5]

---

१. A10 आर्मी फ्लेट्स, सेक्टर ४, माता मनसा देवी काम्प्लेक्स, पंचकूला (हरियाणा)

२. द्र. 'ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी', लेखक मोनियर विलियम्स, पृ. १०९१

३. वही, पृ. ४०;शुन्ध शुद्धौ भ्वादिगण ६२, डु ;धाञ् धारणपोषणयो:, जुहोत्यादिगण १७, द्र. माधवीया धातुवृत्ति

४. अनुसंधान-प्रविधि, सिद्धान्त और प्रक्रिया, पृ. १३

५. तु. 'अनुसंधान और आलोचना', लेखक डॉ. नरेन्द्र 'अनुसंधान की प्रक्रिया' सम्पादक सावित्री सिन्हा तथा विजयेन्द्र स्नातक, दिल्ली, १९७६, पृ. २-३,

(ख) तथ्याख्यानपरक शोध

उपलब्ध तथ्यों की नवीन व्याख्या अथवा उन तथ्यों का तुलनात्मक अध्ययन तथ्याख्यानपरक शोध कहलाता है। लोकप्रचलित किसी ग्रन्थ का सर्वांगीण सर्वेक्षण इसी श्रेणी का शोध कहलाता है।[६]

उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के शोध कार्यों की सामग्री भी द्विरूपा होती है- मौलिक और सहायक। मूलभूत सामग्री के अन्तर्गत उन तथ्यों को स्थान प्राप्त होगा, जिनके अभाव में आधेय की कल्पना नहीं हो सकती। उसी प्रकार इस आधारभूत सामग्री के अभाव में शोधसृष्टि की कल्पना आकाशकुसुम सूंघने के समान होगी। सहायक ग्रन्थ अध्येतव्य (विवेच्य) विषय को समझने, आधार ग्रन्थों के परीक्षणों तथा साक्ष्य द्वारा नवीन प्रकाश डालने में उपयोगी सिद्ध होते हैं। इनको उपस्कार ग्रन्थ भी कह सकते हैं। इसके चुनाव में भी पूरी सावधानी बरतनी चाहिए। साम्प्रदायिक आग्रह, समसामयिक परिस्थितियों का दबाव, निहित स्वार्थों का हित इत्यादि अनेक कारण विभिन्न ग्रन्थों में मिथ्या जानकारी के आश्रय बन जाते हैं। अध्येता को इन आवरणों को भेदकर सत्य की खोज करनी चाहिए।

१. तथ्यान्वेषणपरक शोध के लिए उपोदय सन्दर्भग्रन्थ

यदि शोधार्थी का विषय नवीन तथ्यों के अन्वेषण से सम्बद्ध है अर्थात् किसी हस्तलिखित ग्रन्थ के सम्पादन से सम्बन्धित है तो उसे निम्नलिखित सन्दर्भ ग्रन्थों की आवश्यकता होती है-

मूलग्रन्थ

तथ्यान्वेषणपरक शोध में प्राचीन हस्तलिखित मातृकाएं एवं उन मातृकाओं की अन्य लिपियों में उपलब्ध प्रतिलिपियां मूल सामग्री होती हैं। उदाहरणार्थ- महाभारत के आदि पर्व के सम्पादन में विभिन्न लिपियों में उपलब्ध २३५ मातृकाओं का प्रयोग किया गया है।[७] इस प्रकार की सामग्री शोधकर्त्ता को विभिन्न प्राचीन ग्रन्थालयों, व्यक्तिगत संग्रहालयों एवं देवस्थानों में जा कर संकलित करनी होती है। ऐसी सामग्री के लिए उसे या तो पूर्ववर्ती शोधकों के ग्रन्थों में कुछ सूचनाएं मिलती हैं या फिर उसे स्वयं स्वाध्याय और चिन्तन द्वारा अनुकूल और मूल सामग्री की प्राप्ति के लिए सम्भावित स्थानों का पता लगाना पड़ता है। थियोडर आफ्रेक्ट द्वारा विरचित कैटेलॉगस-कैटेलॉग्राम[८] तथा मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित न्यू कैटेलागस-कैटेलॉग्राम[९] ग्रन्थ विभिन्न संस्थाओं में उपलब्ध मातृकाओं की सूचना देने वाले महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। विभिन्न पुस्तकालयों द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीग्रन्थ भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रलेख हैं।

---

६. वही

७. देवनागरी की १०७, बंगाली की ३२, ग्रन्थ की ३१, तेलुगु की २८, मलयालम की २६, नेपाली की ५, शारदा की ३, मैथिली की १, कन्नड़ की १ और नन्दिनागरी की १, कुल २३५ मातृकाएं। द्र. प्रस्तावना (त्तवसमहवउमदं) भाग, आदिपर्व, महाभारत, सम्पादक वी.एस. सुक्थंकर, पूना।

८. Catalogu's Catalogorum by Theodor Aufrecht, Franz Steiner Verlang Gmbh, WIESBADEN, 1962

९. New Catalogu's Catalogorum by K. Kunjunni Raja, University of Madras, Vol. X, 1978

सहायकग्रन्थ

मूल मातृका से सम्बन्धित टीकाएं, प्रकीर्ण उद्धरण, अन्यभाषीय अनुवाद, सार-ग्रन्थ, अनुकृति ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार की अन्य कृतियां सहायक सामग्री के अन्तर्गत आते हैं।

१.२.१ टीकाग्रन्थ

प्राचीन टीकाकार मूल ग्रन्थ की शब्दश: व्याख्या किया करते थे। इस स्थिति में ग्रन्थकार का मूल पाठ टीका में सुरक्षित मिल जाता है। टीका की सहायता लेकर सम्पादक लेखक के मूल पाठ को ढूँढ सकता है। उदाहरणार्थ- मेघदूत के सम्पादन में सरस्वतीतीर्थ की विद्वदनुरंजिनी, स्थिरदेव की बालप्रबोधिनी, दक्षिणावर्तनाथ की प्रदीप, मल्लिनाथ की संजीवनी, पूर्णसरस्वती की विद्युल्लता, सनातन गोस्वामी की तात्पर्यदीपिका, भरतमल्लिक की सुबोधा तथा चारित्रवर्द्धन, वल्लभदेव एवं कृष्णदेव की टीकाएं उपयोगी हो सकती हैं। पूना से प्रकाशित महाभारत के सम्पादन में अर्जुन मिश्र, नीलकण्ठ तथा रगर्भ की टीकाओं का उपयोग किया गया है।

१.२.२ उद्धरणग्रन्थ

लुप्त पाठ के पुनर्निर्माण के उद्धरण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। परवर्ती ग्रन्थकार, विशेषकर दार्शनिक, पूर्वाचार्यों के मतों को प्राय: यथावत् उद्धृत करते हैं। इस प्रकार के उद्धरणों को संकलित करके ग्रन्थ का पुनर्निर्माण किया जा सकता है। उदाहरणार्थ- उद्योतकर ने न्यायवार्तिक ग्रन्थ में दिङ्नागप्रणीत प्रमाणसमुच्चय के उद्धरणों को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार न्यावार्तिक की वाचस्पतिमिश्रप्रणीत तात्पर्यटीका में प्रमाणसमुच्चय के बहुत से उद्धरण उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार के उद्धरण प्रमाणसमुच्चय के पुनरुद्धार में उपयोगी हैं। इसी प्रकार महाभाष्य, काशिका, न्यास, पदमंजरी, महाभाष्यदीपिका आदि व्याकरण ग्रन्थों में प्रसिद्ध वैयाकरण आपिशलि के बहुत से मत प्राप्त होते हैं, जिनके आधार पर आपशिलव्याकरण के सूत्रपाठ, धातुपाठ और गणपाठ आदि का स्वरूप निर्धारण किया जा सकता है। नाटयशास्त्र की टीका अभिनवभारती में भट्टोद्भट, लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक इत्यादि आचार्यों के रसविषयक मन्तव्य उद्धृत हैं[१०], जिनके आधार पर अनेक रसविषयक मन्तव्यों को जाना जा सकता है।

१.२.३ अन्यभाषीय अनुवाद

विद्यानुरागी कुछ लोग लोकप्रिय अथवा अत्यन्त उपयोगी स्वाभीष्ट ग्रन्थ का अनुवाद करवा लेते हैं। इस प्रकार के अनूदित ग्रन्थों में मूल ग्रन्थ का भाव सुरक्षित होने के कारण सम्पादक पाठालोचन में इन ग्रन्थों की सहायता ले सकता है। महाभारत के सम्पादन में अकबर के सभासद् द्वारा किया गया परसियन अनुवाद अत्यन्त सहायक रहा है। दिङ्नागप्रणीत प्रमाणसमुच्चय के पुनर्निर्माण में एम.हटरी ने वसुधररक्षितकृत तिब्बती अनुवाद की सहायता ली है। काशकृत्स्नधातुपाठ की चन्नवीर कवि द्वारा लिखित कन्नड व्याकरण के आधार पर श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने काशकृत्स्न व्याकरण के १५० सूत्र प्रकाशित किए हैं।[११]

---

१०. द्र. नाट्यशास्त्र ६.३१ पर अभिनवभारती, पृ. ६२१, ६२४, ६४१

११. प्रकाशक : भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर, सं. २०२२

१.२.४ सारग्रन्थ

कुछ लोकप्रिय ग्रन्थों के सार रूप में रूपान्तर प्राप्त होते हैं। पाठ-निर्धारण में इस प्रकार के ग्रन्थों का भी उपयोग किया जा सकता है। उदाहरणार्थ- महाभारत के सम्पादन में तेलुगु कवि नान्नयभट्ट द्वारा लिखित आन्ध्रभारतम् तथा कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र की भारतमंजरी का उपयोग किया गया है।[१२]

१.२.५ अनुकृतिग्रन्थ

कुछ विद्वान् लोकप्रिय ग्रन्थ का अनुकरण करते हुए उसी जैसे नए ग्रन्थ की रचना करते हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों में आदर्श ग्रन्थ का पाठ सुरक्षित रहता है। 'जिनसेनप्रणीत पार्श्वाभ्युदय' काव्य में मेघदूत के पद्यों के चतुर्थ चरण यथावत् उपलब्ध होते हैं, जो सही पाठचयन में परम सहायक हैं। मेघदूत की पद्धति पर ही लिखे गए विक्रमकृत नेमिदूत और चारित्रसुन्दरगणीकृत शीलदूत भी मेघदूत के सम्पादन में सहायक हो सकते हैं।

१.२.६ ग्रन्थकार की अन्य कृतियां

किसी ग्रन्थ का सम्पादन करते समय ग्रन्थकार की अन्य कृतियां अत्यन्त सहायक हो सकती हैं, क्योंकि ग्रन्थकार प्राय: अपनी कृतियों से ही उदाहरण देता है। उदाहरणार्थ- रसगंगाधर के सम्पादन में पण्डितराज जगन्नाथ की अन्य कृतियां- भामिनी-विलास, गंगालहरी, सौन्दर्यलहरी आदि प्रयुक्त की जा सकती हैं।

१.२.७ संग्रहग्रन्थ एवं लक्षणग्रन्थ

संग्रहकार और लक्षणग्रन्थकार अपने-अपने ग्रन्थों में प्रसंगोपयोगी गद्य अथवा पद्य को उद्धृत किया करते हैं। इस प्रकार के सन्दर्भों को भी पाठानुसन्धान के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। भर्तृहरिप्रणीत शतकत्रय के सम्पादन में डी.डी. कौसाम्बी ने नरेन्द्रप्रभसूरिकृत अलंकारमहोदधि तथा जल्हणकृत सूक्तिमुक्तावली का प्रयोग किया है। इसी प्रकार शिंगभूपालप्रणीत नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ रसार्णवसुधाकर में अभिरामराघव, कन्दर्पसम्भव, आनन्दकोशप्रहसन, वीरभद्रविजृम्भण आदि विविध ग्रन्थों के सैकड़ों पद्य ढूँढे जा सकते हैं।[१३]

२. तथ्याख्यानपरक शोध के लिए उपादेय सन्दर्भ-ग्रन्थ

यदि शोध का विषय तथ्याख्यानपरक हो अर्थात् प्राप्त सामग्री की नई व्याख्या या नए मूल्यांकन से सम्बन्धित हो तो शोधार्थी को निम्नलिखित सन्दर्भ-ग्रन्थों की आवश्यकता होती है-

---

१२. द्र. प्रस्तावना (च्तवसमहवउमदं), आदिपर्व, महाभारत, सम्पा. वी.एस. सुक्थंकर, पूना

१३. द्र. रसार्णवसुधाकर (आड्यार संस्करण) के पृ. १७६, ३६१, ३९१, ४०४-६; १८४; ६७, ६८, ४१०, ४३०, ४३८, ४३९; ४०२, ४०३, ४०५, ४०६, ४४२

२.१ मूलग्रन्थ

तथ्याख्यानपरक शोध में विवेच्य ग्रन्थ ही मूल सामग्री होता है। शोधार्थी जिस ग्रन्थ का समीक्षात्मक अध्ययन अथवा तुलनात्मक अध्ययन करना चाहता है उसी ग्रन्थ के विभिन्न संस्करण मूल सामग्री होते हैं। जैसे- भरतनाट्यशास्त्र, महाभाष्य, पातञ्जल योगसूत्र, ऋक्प्रातिशाख्य आदि।

२.२ सहायकग्रन्थ

तथ्याख्यानपरक शोध में आलोचनात्मक ग्रन्थ सहायक सामग्री के अन्तर्गत आते हैं। इसके अतिरिक्त उपयोगी तथ्य जुटाने में लक्षणग्रन्थ, इतिहासग्रन्थ, अभिनन्दनग्रन्थ, शब्दकोश, विश्वकोश, पारिभाषिककोश, अनुक्रमणिका, पत्र-पत्रिकाएं, विविध भाषण और शिलालेख आदि भी सहायक सिद्ध होते हैं।

२.२.१ लक्षणग्रन्थ

किसी ग्रन्थ का समीक्षात्मक अध्ययन करते समय लक्षणग्रन्थों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। किसी ग्रन्थ का काव्यशास्त्रीय अध्ययन करते समय नाट्यशास्त्र, ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश आदि ग्रन्थों द्वारा निर्धारित मापदण्डों का आश्रय लिया जाता है। विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध अपाणिनीय प्रयोगों पर दृष्टिपात करते समय अष्टाध्यायी तथा पाणिनीय सम्प्रदाय के महाभाष्य, सिद्धान्तकौमुदी आदि ग्रन्थों को ध्यान में रखना होगा।

२.२.२ इतिहासग्रन्थ

इतिहासग्रन्थों में ऐतिहासिक घटनाओं का लेखा-जोखा रहता है। इस प्रकार के ग्रन्थ साहित्यकारों के जीवनवृत्त पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। बाणभट्ट के जीवनवृत्त पर प्रकाश डालने के लिए हर्षवर्धन-सम्बन्धी ऐतिहासिक घटनाओं की सहायता ली जा सकती है। शिंगभूपालप्रभृति नरेश (राजा) होते हुए भी प्रबुद्ध साहित्यशास्त्री थे, अतः शिंगभूपाल के जीवनवृत्त से सम्बद्ध तथ्य 'दक्कन का प्राचीन इतिहास' इत्यादि इतिहास ग्रन्थों में ढूँढे जा सकते हैं। कल्हणकृत राजतरंगिणी में अनेक कवियों और उनके आश्रयदाता नरेशों का इतिवृत्त देखा जा सकता है।

२.२.३ अभिनन्दनग्रन्थ एवं स्मृतिग्रन्थ

प्रसिद्ध विद्वानों को सम्मानित करते समय अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशित किए जाते हैं, जिनमें विद्वानों के विविध विषयों से सम्बन्धित शोध-पत्र सम्मिलित होते हैं। शोधार्थी इन अभिनन्दन ग्रन्थों में प्रकाशित अपने विषय से सम्बन्धित शोध-पत्रों से आवश्यक तथ्य जुटा सकता है।[१४] लखनऊ से १९६७ में प्रकाशित गोपीनाथ कविराज अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित 'उणादिसूत्राणि पाणिनिश्च' (लेखक- प्रो. एच.ए. फडके)

---

१४. ओरियण्टल रिसर्च, इन्स्टीच्यूट बडोदा से प्रो. ए.एन. जानी अभिनन्दनग्रन्थ 'अरुणभारती' प्रकाशित हुआ है, जिसमें संकलित इतिहास, पुराण, दर्शन आदि विषयों से सम्बन्धित ३६ शोध-पत्रों से अभीष्ट सामग्री ली जा सकती है।

शोध-पत्र उणादि सूत्रों के कर्तृत्व पर विचार करने वाले शोधार्थी के लिए उपयोगी हो सकता है। वेद कुमारी घई अभिनन्दन ग्रन्थ 'वेदगौरवम्'[१५] वैदिक साहित्य और संस्कृति, व्याकरणशास्त्र, ज्योतिर्विज्ञान, काव्यशास्त्र, पुरालिपिशास्त्र, धर्मशास्त्र, भारतीय-दर्शन, पाण्डुलिपिविज्ञान तथा प्रादेशिक भाषाओं के विविध पक्षों से सम्बद्ध संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी माध्यम से लिखित ७० विद्वत्तापूर्ण शोध लेखों का सुन्दर संकलन है, जिनसे शोधार्थी को अपनी अभीष्ट सामग्री प्राप्त हो सकती है। इसी प्रकार प्रोफेसर वाचस्पति उपाध्याय अभिनन्दनग्रन्थ 'वाचस्पतिवैभवम्'[१६] में प्राच्यविद्या की विभिन्न शाखाओं से सम्बद्ध ९५ शोधनिबन्धों का संग्रह किया गया है, जो संस्कृत साहित्य की विभिन्न शाखाओं पर शोधकार्य के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री जुटा सकता है। इसी दृष्टि से स्मृतिग्रन्थों का भी उपयोग किया जा सकता है। प्रोफेसर श्रीनिवास शास्त्री (कुरुक्षेत्र) की स्मृति में प्रकाशित स्मृतिग्रन्थ 'श्रीज्ञानामृतम्' में प्रकाशित ७७ शोध-पत्र आठ प्रखण्डों में विभक्त हैं, जिनमें वैदिक अध्ययन, काव्यशास्त्र, व्याकरण एवं भाषा विज्ञान, भारतीय धर्म एवं दर्शन, बौद्ध दर्शन एवं तर्कशास्त्र, ललितकलाएं, प्राचीन भारतीय विज्ञान तथा समाजशास्त्र आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

२.२.४ कोशग्रन्थ

साहित्यिक शोध के लिए विभिन्न प्रकार के कोशों की अत्यन्त आवश्यकता होती है। शब्दकोश अर्थप्रत्यायन में सहायक होते हैं तो विश्वकोश संस्कृति, धर्म, दर्शन आदि के विषय में विस्तृत जानकारी देते हैं। पारिभाषिक कोशों से पारिभाषिक शब्दों की विस्तृत व्याख्या प्राप्त की जा सकती है।

Encyclopaedia of Indian Philosophy;
The American People Encyclopaedia;
Purāṇic Encyclopaedia.
इत्यादि विश्वकोश अत्यन्त महत्त्वशाली ग्रन्थ हैं।

२.२.५ अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका शोधार्थी के मार्ग को पर्याप्त प्रशस्त करती है। इस प्रकार के ग्रन्थों में सभी शब्दों का सन्दर्भ अंकित रहता है, जिससे शोधार्थी सम्बद्ध स्थलों को जल्दी ही देख सकता है। 'वैदिक साहित्य में कुरु और कुरुक्षेत्र' इस विषय को लेकर शोध-पत्र लिखते समय विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर द्वारा प्रकाशित वैदिकपदानुक्रमकोष[१७] की सहायता से सम्बद्ध स्थल थोड़े समय में ही देखे जा सकते हैं।

---

१५. सम्पादक प्रोफेसर केदारनाथ शर्मा, संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू, २००९
१६. प्रकाशक- D.K. Print World (P) Ltd. New Delhi, 2011
१७. वैदिकपदानुक्रमकोष की पद्धति पर ही कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के संस्कृत एवं प्राच्य विद्या संस्थान में महाभारतपदानुक्रमकोष तैयार हो रहा है, जो निश्चित रूप से शोधक्षेत्र में महत्त्वपूर्ण उपकरण सिद्ध होगा। इसके सात खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं तथा अग्रिम खण्डों पर कार्य चल रहा है। इस संस्थान से हरिवंशपदानुक्रमकोष भी २००० ई. में प्रकाशित हुआ है।

२.२.६ पत्र-पत्रिकाएं

पत्र-पत्रिकाएं सामग्रीसंकलन का महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। समय-समय पर प्रकाशित होने वाले शोध-पत्रों की सहायता से शोधार्थी नवीन तथ्यों की उद्भावना कर सकता है। कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय की पत्रिका 'प्राची ज्योति' विभिन्न शोध-पत्रों का सार तो प्रस्तुत करती ही है, विभिन्न विषयों पर किए जा रहे शोधकार्यों की भी सूचना प्रस्तुत करती है। 'नागरीप्रचारिणीपत्रिका' (वाराणसी) तथा कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय की पत्रिका 'सम्भावना' के शोधविशेषांकों में साहित्यिक शोध की प्रक्रिया और प्रविधि से सम्बद्ध बहुमूल्य सामग्री संकलित की है, जो शोधार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona; Journal of the Asian Society, Bombay; Vishveshvaranand Indological Journal (Panjab University), Hoshiarpur.

संस्कृतविमर्श, शोधप्रभा, स्वरमंगला, गुरुकुलपत्रिका, ब्रह्मविद्या, वेदविद्या, विश्व संस्कृतम् और सारस्वती सुषमा आदि कुछ प्रमुख शोध-पत्रिकाएं हैं।

२.२.७ शिलालेख

शिला लेखों पर उत्कीर्ण प्रशस्तियाँ और विभिन्न विज्ञप्तियां शोधकार्यों में सहायक होती हैं। विद्वानों ने महाकवि भारवि के काल-निर्धारण में ऐहोल के शिलालेख की भाषा का आश्रय लिया है। इसी प्रकार शिंगभूपाल के काल-निर्धारण में राचकोण्ड के आस-पास विद्यमान विभिन्न शिलालेखों से साक्ष्य प्राप्त किए जा सकते हैं।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि तथ्यान्वेषणपरक और तथ्याख्यानपरक दोनों ही प्रकार के शोध के लिए नाना प्रकार के सामग्रीस्रोत हो सकते हैं। शोधार्थी को इन सभी सन्दर्भग्रन्थों का विचारपूर्वक सम्यक् विवेचन करके अपने शोधकार्य के लिए उपयोगी सामग्री को संकलित करना चाहिए। यदि शोध पूरी निष्ठा और लगन के साथ शोधकार्य में प्रवृत्त होगा तो निश्चित रूप से उसका शोध-कार्य साहित्य-जगत् की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि होगी।

अन्य सहायक-ग्रन्थ

१. **अनुसंधान की प्रक्रिया**, सम्पादक सावित्री सिन्हा एवं विजयेन्द्र स्नातक, दिल्ली, १९७६
२. **साहित्यिक शोध के सिद्धान्त एवं समस्याएँ**, सम्पादक देवराज उपाध्याय, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा, १९६३
३. **शोध : तत्त्व एवं दृष्टि**, रामेश्वर लाल खण्डेलवाल, सरदार पटेल यूनिवर्सिटी, वल्लभ विद्यानगर, गुजरात, १९६८
४. **शोध और समीक्षा**, सुरेश चन्द्र गुप्त, रवीन्द्र प्रकाशन, आगरा, १९६७
५. **अनुसंधान की रूपरेखा**, राजेन्द्रपाल सिंह, गया प्रसाद एण्ड संस, आगरा, १९६६

६. **शोधप्रविधि**, विनयमोहन शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३
७. **शोधतन्त्र और सिद्धान्त**, शैल कुमारी, लोकवाणी प्रकाशन, दिल्ली
८. **नागरी प्रचारिणी पत्रिका**, शोधविशेषांक, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत् २०२९
९. **सम्भावना पत्रिका**, शोधविशेषांक, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, १९७२

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2013 अंक 19 (पृ0238-242) ISSN 0974 – 8830

क्रियायोग : समग्र व्यक्तित्व विकास

उध्यम सिंह[1]

महर्षि पतञ्जलि योग सूत्र के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। दर्शन को विज्ञान की भाषा में प्रस्तुत करने वाले महर्षि पतञ्जलि अपने योगसूत्र में व्यक्तित्व विकास की तकनीकों का वर्णन करते हैं। उनका प्रत्येक सूत्र स्वयं के जीवन में अभ्य स करने पर ही अपना रहस्य प्रकट करता है। एक सूत्र का रहस्य जाने बिना अगले सूत्र को जाना नहीं जा सकता। स्वयं प्रयोगधर्मी होकर, योगमय जीवन जीकर ही इन्हें अनुभूत किया जा सकता है। मनुष्य परमात्मा का राजकुमार कहा जाता है। परमात्मा के पास जो विभूतियाँ हैं वे सभी उसने मनुष्य शरीर में बीजरूप में भर दी हैं। लेकिन अविद्या, अज्ञान के कारण वे सब अदृश्य ही बनी रह जाती हैं। व्यक्तित्व की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है। जैसा चित्त होता है, उसी प्रकार का हमारा व्यक्तित्व होता है। चित्त के वैज्ञानिक महर्षि पतञ्जलि व्यक्तित्व के निर्धारक चित्त के परिमार्जन, परिष्कार के लिए विभिन्न तकनीकों का वर्णन करते हैं। क्रियायोग महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रणीत ऐसी ही तकनीक है जो व्यक्तित्व का समग्र विकास करती है। प्रस्तुत शोध पत्र में क्रियायोग द्वारा व्यक्तित्व के समग्र विकास का आधार मानकर प्रस्तुत किया है।

महर्षि पतञ्जलि और व्यक्तित्व

पातंजल योग में व्यक्तित्व को समाधिस्थ योगी के रूप में चित्रित किया गया है। योगदर्शन में कैवल्य की अवस्था को व्यक्तित्व विकास का चरमोत्कर्ष कहा है। अविद्यादि क्लेशों[2] के कारण हम इस अवस्था से दूर ही बने रहते हैं। अविद्या, अज्ञान ही व्यक्तित्व विकास में बाधा बनकर सामने आती है जो समस्त दु:खों का मूल कारण भी है। योग की तकनीकों के अभ्यास के द्वारा विवेक ज्ञान के उदय होने पर अविद्या, अविवेक के बन्धन क्रमशः शिथिल होने लगते हैं और व्यक्तित्व विकसित होने लगता है। इस अवस्था में गुण अपने कारण में लीन हो जाते हैं। अर्थात् पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।[3] यही कैवल्य है। इसी अवस्था में व्यक्तित्व को समग्रता प्राप्त होती है।

क्रियायोग: व्यक्तित्व विकास-

क्रियायोग को परिभाषित करते हुए महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं-

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।[4]

---

१ असिस्स्टेंट प्रोफेसर, मानवचेतना एवं योगविज्ञान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

२ अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा: । २.३

३ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। १.३

४ तप:स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग: । २.१

अर्थात्- तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान तीनों क्रियायोग हैं। स्व कर्तव्यों का पालन करते हुए जो शारीरिक, मानसिक कष्ट हमें मिलते हैं, उन्हे सहर्ष सह लेना ही तप कहा गया है। स्वाध्याय स्वयं के अध्ययन के रुप में परिभाषित किया गया है। वेद, शास्त्र, महापुरुषों के द्वारा कहे गये वाक्य का पठन-पाठन एवं इष्टदेवता के मन्त्र का जप स्वाध्याय कहा गया है। ईश्वर के प्रति शरणागति ही ईश्वरप्रणिधान कहा जाता है।

स्वामी विवेकानन्द इस सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि कर्म के सहारे योग की ओर बढ़ना क्रियायोग है[५]। क्रियायोग के अनुष्ठान से साधक समाधि की अवस्था तक पहुँच जाता है। क्रियायोग का प्रथम तत्व है तप। तप एक प्रकार से लाभ-हानि, सुख-दुःख, गरमी-सर्दी, भूख-प्यास को को सहन करना है। तप को हम 'आध्यात्मिक जीवनशैली' कह सकते हैं।

तपस्वी जीवन शैली-

व्यक्तित्व के समग्र विकास हेतु तप का बड़ा महत्त्व है। व्यक्तित्व विकास की इस तकनीक में तप को जीवन शैली के रूप में परिभाषित किया है। वासना, तृष्णा, अहंता से पिंड छुड़ाकर परमात्मा की और अग्रसर होने का नाम तप है, इस पथ पर जो शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाएं होती हैं, तपस्वी उन्हें सहज भाव से सह लेता है। तप का अर्थ भूखे रहना, पानी अथवा धूप में खड़े रहना नहीं है। तप एक तरह से हमारी आध्यात्मिक जीवनशैली एवं चिन्तन शैली है जो हमारे शारीरिक और मानसिक विकारों को धुलने के साथ-साथ इनकी क्षमताओं के विकास का कार्य करती है। महर्षि व्यास तप को परिभाषित करते हुए कहते हैं- **'तपो द्वन्द सहनम्'** अर्थात् द्वन्दों को सहन करना ही तप है। मन को दुखित करने वाली घटनाएं हमारे जीवन में दिन-प्रतिदिन घटती रहती है जिनसे हमारे मन में द्वन्द्व पैदा हो जाता है, ओर असमंजस में जीवन चलता रहता है। लेकिन ऐसे समय में हमारी चिन्तनशैली ऐसी हो कि हम अपने जीवन लक्ष्य की राह पर चलते रहें भटके नहीं और इन द्वन्दों को सहन करते हुए आगे बढ़ जायें। जीवन में दुःख यथार्थ एवं कटु सत्य है, क्योंकि सुख-दुःख जीवन के दो पहलू हैं। दुःख को यदि धैर्य, साहस और विवेकपूर्ण ढंग से सहा जाए तो तप का प्रतिरूप बन जाता है।

तप के प्रकार

शास्त्रों में तीन प्रकार के तप का उल्लेख मिलता है।

१ कायिक-

कायिक तप के अन्तर्गत शारीरिक तप आते हैं- महापुरुषों, देवगणों, गुरु का पूजन, आदर सत्कार करना। पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अंहिसा का पालन करना शारीरिक तप कहा गया है।[६]

२ वाचिक-

वाचिक तप के अन्तर्गत मन में किसी प्रकार का उद्वेग न करने वाला, प्रिय, हितकारी और यथार्थ

---

५ स्वामी विवेकानन्द, राजयोग पृ.सं. १४३

६ देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्। ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।। श्रीमद्भगवद्गीता १७.१४

वचन बोलना, वेद का अध्ययन करना आता है, यह सब वाचिक तप कहे गए हैं।[७]

३ मानसिक-

मन की प्रसन्नता, शान्तभाव, मनोनिग्रह, मौन और अन्त:करण के भावों की शुद्धि को मानसिक तप कहा गया है।[८]

तप के परिणाम

हम सभी जानते हैं कि स्वास्थ्य सम्बन्धी सभी तरह की परेशानियां चाहे वे शारीरिक हों या फिर मानसिक किसी न किसी तरह के असंयम के कारण ही पनपती हैं। असंयम से जीवन की प्रतिरोधक शक्ति में कमी आती है और बीमारियां घेर लेती हैं, जबकि संयमरूपी तप प्रतिरोधक शक्ति की लौह दीवार बनकर खड़ी हो जाती है। 'संयम रूपी तप से जीवन इतना शक्तिशाली होता है कि किसी भी तरह के जीवाणु-विषाणु अथवा फिर नकारात्मक विचार प्रवेश ही नहीं कर पाते हैं।'[९] एक प्रकार से तप हमारे अन्दर शारीरिक और मानसिक तौर पर प्रतिरोधी क्षमता विकसित करता है। जिससे हम सभी प्रकार के आघातों को सह सकते हैं।

तप के सतत अभ्यास से शरीर और इन्द्रियों का मल धुल जाता है। अत: तपस्वी जीवन शारीरिक एवं मानसिक अशुद्धियों के शोधन का सोपान है। जैसे ही शरीर और मन के शोधन की प्रक्रिया पूर्ण होती है। तप के द्वारा योगाग्नि प्रकट की जाती है। 'व्यायाम से शरीरबल और अध्ययन से बुद्धिबल, व्यवसाय से धनबल बढ़ता है। इसी प्रकार आत्मिक पुरुषार्थ की तपश्चर्या से योगाग्नि प्रकट होती हैं। शाप-वरदान देने से दूसरों को सहायता करना इसी के द्वारा सम्भव होता है।'[१०] उपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि तप के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान प्राप्त हो जाने पर मन वश में हो जाता है। मन के वश में होने से आत्मा की प्राप्ती होती है और आत्मा प्राप्त हो जाने पर संसार से मुक्ति मिल जाती है।[११]

स्वाध्याय-

क्रियायोग का द्वितीय चरण स्वाध्याय है। व्यक्तित्व विकास की तकनीकों में स्वाध्याय का बड़ा महत्त्व है। जीवन में आयी समस्याओं को हल करने के लिए बोध एवं ज्ञान को होना अत्यन्त आवश्यक है। बिना ज्ञान के हम भौतिक अथवा अध्यात्मिक क्षेत्र किसी में भी प्रगति नहीं कर सकते हैं। अत: ज्ञान प्राप्त करने का प्रमुख उपाय स्वाध्याय है। स्वाध्याय करने से विचार चिन्तन के बिन्दु बनते हैं। चिन्तन से चरित्र का निर्माण होता है और जैसा हमारा चरित्र होता है वह व्यवहार के माध्यम से लोगों के सामने आता है। अत: स्वाध्याय एक प्रकार से जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन करने की विधा है। इसी संदर्भ में स्वामी

---

७ अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्। स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।। श्रीमद्भगवद्गीता १७.१५७

८ मन:प्रसाद: सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रह:। भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।। श्रीमद्भगवद्गीता १७.१६

९ अखण्ड ज्योति (२००९) मई पृ.सं. १७

१० अखण्ड ज्योति (२००४) अक्टूबर पृ.सं.३७

११ तपसा प्राप्यते सत्वं सत्त्वात्संप्राप्यते मन:। मनसा प्राप्यते त्वात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तत इति। मैत्रायणीउपनिषद ३.३

विवेकानंद लिखते हैं कि स्वाध्याय या पठन-अध्ययन, यहाँ पठन का तात्पर्य क्या है ? नाटक, उपन्यास या कहानी की पुस्तक का पाठन नहीं, वरन् उन ग्रन्थों का पाठन, जो यह शिक्षा देते हैं कि आत्मा की मुक्ति कैसे होती है।[१२] मोक्षशास्त्रों का अध्ययन एवं प्रणव जप को स्वाध्याय कहा गया है।[१३] शास्त्र निर्देश करते हैं कि स्वाध्याय में प्रमाद नही करना चाहीए।[१४] श्रेष्ठ साहित्य के प्रकाश में आत्मानुसंधान की ओर गति स्वाध्याय है।

स्वाध्याय का प्रभाव-

स्वाध्याय को हम चिकित्सा कह सकते हैं। स्वाध्याय एक प्रकार से हमारे जीवन में चिकित्सा के रूप में कार्य करता है। यदि किसी प्रकार मन को निरोग कर लिया जाए तो जीवन पूर्ण रूप से निरोग हो सकता है। यदि हमारे सोच-विचार का तंत्र ही दूषित है तो उसके प्रभाव शारीरिक रोगों एवं व्यावहारिक गड़बड़ियों के रूप में उभरेंगे। मानसिक आरोग्य की ओर ध्यान दिये बिना शरीर को स्वस्थ करने की सोचना या व्यावहारिक दोषों का निवारण करना पेड़ की जडों को काटकर पत्तों को सींचते रहना जैसा हो जाएगा। जब तक सोच विचार के तन्त्र में विकृति बनी रहेगी, शारीरिक, मानसिक परेशानियां बनी रहेंगी। सोच-विचार या बोध के तंत्र को निरोग करने की सार्थक एवं प्रभावी प्रक्रिया स्वाध्याय से बड़कर कुछ नहीं है। श्रद्धा पूर्वक स्वाध्याय का अनुष्ठान करने वाले साधक को अभालाषित इष्टदेव का साक्षात्कार हो जाता है।[१५]

ईश्वर प्रणिधान-

क्रियायोग का तृतीय बिन्दु ईश्वर प्रणिधान है। तीनों बिन्दु एक दूसरे से गहन रूप से जुड़े हैं। तप के साथ स्वाध्याय और इन दोनों के साथ ईश्वर प्रणिधान। सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास की अन्तिम क्रिया है। ईश्वर प्रणिधान या प्रभु शरणागति क्रियायोग का शिखर है।

जीवन में ईश्वर की स्थापना -

ईश्वर प्रणिधान अर्थात ईश्वर को धारण करना, स्थापित करना। ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में बैठा हुआ है सर्वव्यापक परमात्मा सभी के रोम-रोम में याम है। फिर भी मनुष्य उसे भूला हुआ है। सभी लोग ईश्वर को जानते भी है और मानते हैं पर व्यवहार में ईश्वरत्व दिखायी नहीं देता। वास्तविक तथ्य यह है कि जीवन में ईश्वर को गौण स्थान पर रखा जाता है। ईश्वर को धन सम्पदा, बेटा, पोता, जीत, स्वास्थ, विद्या, बुद्धि, स्वर्ग, मुक्ति आदि प्राप्त करने के लिए अथवा कोई विपत्ति में पड़ने पर पुकारते हैं।

पतञ्जलि सुझाव देते हैं कि हमें ईश्वर को धारण अर्थात् स्थापित करके जीवन जीना चाहीए। इसका अर्थ है ईश्वर को अपने हृदय मंदिर में, अन्तःकरण में स्थापित कर चौबीस घण्टे का साथी बना लेना चाहीए। जब मनुष्य ईश्वर की साक्षी में जीवन जीता है तो उसके कर्म दिव्य बनते चले जाते हैं। भक्त में भगवान के गुण आने लगते हैं, उसकी कमिया कम होकर ईश्वरीय गुणों का समावेश होने लगता है। जिस

---

१२ स्वामी विवेकानन्द, राजयोग पृ.सं. १४३

१३ मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। योगसूत्र व्यास भाष्य २.४३

१४ स्वाध्यायायान्मा प्रमदः। तैत्तिरीयोपनिषद्। ११.१

१५ स्वाध्ययादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। योगसूत्र २.४४

प्रकार चन्दन वृक्ष के समीप उगने वाले वृक्षों में भी चंदन की सुगन्धी आ जाती है, उसी प्रकार ईश्वर के सम्पर्क में रहने वाले के कार्य और विचार, भाव सत्य से परिपूर्ण होने लगते हैं। परमात्मा महान है, दिव्य है, सत्य है, चेतन्य है, आनन्दमय है, ईश्वर के सानिध्य सामिप्य से यह सभी गुण साधक के अन्दर विकसित होने लगते हैं। अन्त में ईश्वर के प्रति शरणागत होने का परिणाम समाधि के रूप में मिलता है।[१६]

जीवन लक्ष्य की प्राप्ति-

क्रियायोग की तीनों क्रियाएं सम्पूर्ण व्यक्तित्व विकास के लक्ष्य की ओर ले जाती हैं। तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर के प्रति समर्पित जीवन जीने से जीवन में आने वाली कठिनाइयों, विघ्नों का नाश स्वयमेव होने लगता है। क्रियायोग के निरन्तर अभ्यास से अविद्यादि दोषों का निवारण हो जाता है और साधक समाधि अवस्था तक पहुँच जाता है।[१७] परिणाम स्वरूप मनुष्य अपने स्व में स्थित हो जाता है एवं कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है जो मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य है।

---

१६ समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। योगसूत्र २.४४

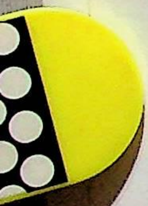
१७ समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च। २.२

विद्वत्परिचय:

१.	प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री	प्रोफेसर एवं सम्पादक गुरुकुल शोधभारती, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)
२.	प्रो॰ मनुदेव बन्धु	प्रोफेसर वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
३.	डॉ. उमा जैन	रीडर संस्कृत-विभाग, मु॰ला॰ एण्ड जयना॰ खे॰ गर्ल्स कॉलेज, सहारनपुर।
४.	डॉ॰ योगेश शास्त्री	(विद्यालय-विभाग), गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
५.	डॉ॰ बी॰ नाज	विभागाध्यक्ष संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय, बिलासपुर (रामपुर)
६.	प्रो॰ सत्यदेव निगमालङ्कार	अध्यक्ष-श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गु॰कां॰वि॰वि॰, हरिद्वार)
७.	दीप नारायण	(शोधच्छात्र, सर्वदर्शनविभाग), श्रीलालबहादुरशास्त्री राष्ट्रिय-संस्कृत-विद्यापीठ, (मानित-विश्वविद्यालय) नवदेहली-१६ **Emial-deepnarayanskt@gmail.com** Mob. 09990686833
८.	डॉ. जितेन्द्र कुमार	प्राध्यापक, संस्कृत विभाग, श्री प्र.सिं.बा.राज. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, शाहपुरा, भीलवाड़ा (राज.)
९.	डॉ॰ कुमरपाल	अध्यक्ष संस्कृत विभाग, श्री ब्रजेन्द्र जनता महाविद्यालय, बिसावर, हाथरस (उ॰ प्र॰), निवास- बी:७२४ ट्राँस यमुना कॉलोनी, रामबाग,आगरा (उ॰ प्र॰) २८२००६, मो॰ नं॰ ९४५६२७६७८८
१०.	डॉ. आशा सिंह	असिस्टेण्ट प्रोफेसर-संस्कृत, राजीव गांधी शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मन्दसौर (मध्यप्रदेश)
११.	डॉ. नवीन चन्द्र भट्ट एवं डॉ. ममता ध्यानी	सहायक प्राध्यापक योग शिक्षा विभाग, एस.एस.जे. परिसर, (कु.वि.वि.)

१२.	डॉ. सुनीता जायसवाल	विभागाध्यक्षा संस्कृत, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय चकियां चन्दौली (उ.प्र.)
१३.	प्रो० वेदप्रकाश उपाध्याय:	एम.ए. (द्वय), डी. फिल्., डी.लिट्., आचार्यत्रय, प्रोफेसर एमेरिटस, संस्कृत-विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय: चण्डीगढ़म्।
१४.	प्रो. विजयपाल शास्त्री	प्रोफेसर, दर्शन विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
१५.	डॉ. विभा अग्रवाल	असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
१६.	डॉ० प्रशान्त राठौर	एम.ए. गोल्ड मेडलिस्ट, यू.जी.सी. नेट, पी-एच.डी. (गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार), Email: **drprashantrathor@gmail.com**
१७.	डॉ. राकेश गिरि	वरिष्ठ प्रवक्ता- मानव चेतना व योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
१८.	रमेश साँभरिया	शोधार्थी- मानव चेतना व योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।
१९.	डॉ० निरुपमा त्रिपाठी	वरिष्ठ प्रवक्ता (संस्कृत), कानपुर विद्यामन्दिर महिला (पी०जी०) महाविद्यालय, स्वरूपनगर, कानपुर।
२०.	डॉ. मौहर सिंह	असिस्टैण्ट प्रोफेसर संस्कृत विभाग, गुरुकुल कांगड़ी, विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२१.	डॉ. गोपाल लाल	असिस्टैण्ट प्रोफेसर संहिता एवं संस्कृत विभाग, आयुर्वेद संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
२२.	डॉ० शालिमा तबस्सुम	एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत, कुमायूँ विश्वविद्यालय, एस०एस०जे० परिसर अल्मोड़ा
२३.	डॉ. राकेश शास्त्री	अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, श्री गोविन्द गुरु राजकीय महाविद्यालय, बांसवाडा (राज.)
२४.	डॉ० सुरेन्द्र कुमार	असिस्टेंट प्रोफेसर, मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
२५.	अरुण कुमार	शोधार्थी मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी

		विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२६.	डॉ० मृदुल जोशी	असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग कन्या गुरुकुल परिसर, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२७.	डॉ. सरस्वती पुंढीर	डॉ. सरस्वती पुण्डीर प्रवक्ता जिला शिक्षा एव प्रशिक्षण संस्थान रुड़की
२८.	डॉ० मीना मनराल	असिस्टैण्ट प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र, कुमायूँ विश्वविद्यालय, एस०एस०जे० परिसर, अल्मोड़ा, meena.manral@gmail.com
२९.	डॉ० सोहनपाल सिंह आर्य	प्रोफेसर-दर्शन विभाग, गु० कां० वि०, हरिद्वार, **E-mail: sohanpalarya@yahoo.com mob.No: 09897273663**
३०	डॉ० तुलसी देवी	डॉ० तुलसी देवी-महात्मा गाँधी बा०पी०जी० कॉलेज, फिरोजाबाद उ०प्र०
३१	डॉ विक्रम कुमार	प्रोफेसर, संस्कृत विभागः, पंजाब विश्वविद्यालयः, चण्डीगढ़म्
३२.	प्रो० ब्रह्मदेव	संस्कृत-विभाग, गुरुकुलकांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
३३	डॉ. चन्द्रकुमारी	विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, kumarichanda60@gmail.com chandascss@gmail.com, M-9958243606
३४.	डॉ. कुलदीप सिंह आर्य	अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, डी.ए.वी. कॉलेज, अमृतसर।
३५.	डॉ. पूनम भारद्वाज	ए १० आर्मी फ्लेट्स, सेक्टर ४, माता मनसा देवी काम्प्लेक्स, पंचकूला (हरियाणा)
३६.	ऊधम सिंह	असिस्स्टेंट प्रोफेसर, मानवचेतना एवं योगविज्ञान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.



शोधलेख विषयक दिशानिर्देश

- गुरुकुल-शोध-भारती गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की षाण्मासिक शोध-पत्रिका है। यह प्रमुख रूप से वेद, वैदिक एवं लौकिक साहित्य, धर्म, दर्शन, संस्कृति, योग, आयुर्वेद तथा अन्य प्राच्यविद्या से सम्बन्धित शोधपरक आलेखों को प्रकाशित करने के लिये कृतसङ्कल्प है।
- गुरुकुल-शोध-भारती में शोधनिबन्ध मूल्याङ्कन कराने के पश्चात् प्रकाशित किये जाते हैं। अतः विद्वान् लेखकों से अनुरोध है कि वे वही निबन्ध इस पत्रिका के लिये प्रस्तुत करें, जो सब प्रकार से शोध की कसौटी पर खरे हों।
- शोध-निबन्ध मौलिक होना चाहिये। किसी अन्य विद्वान् की पुस्तक अथवा निबन्ध की नकल करके निबन्ध भेजना बौद्धिक अपराध तथा अपनी प्रतिभा का हनन है।
- गुरुकुल-शोध-भारती में केवल शोध-निबन्ध ही प्रकाश किये जायेंगे। जिनमें शोध-प्रविधि का प्रयोग नहीं किया गया है, ऐसे लेखों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं होगा।
- किसी अन्य पत्रिका में पूर्व प्रकाशित निबन्ध को पुनः प्रकाशित करने के लिये कृपया न भेजें।
- शोध-निबन्ध में लेखक का निष्कर्ष सुसङ्गत, प्रमाणिक एवं तथ्यों पर आधारित तथा परम्परा से पोषित होना चाहिये। **साथ ही उसमें अपने कथन या निष्कर्ष को पुष्ट करने के लिये न्यूनतम १५ से अधिक प्रमाण देने चाहिये।**
- अन्धविश्वास को बढ़ावा देने वाले निबन्धों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं हो सकेगा, अतः अन्धविश्वास का समर्थन करने वाले निबन्ध कृपया न भेजें।
- गुरुकुल-शोध-भारती में प्रकाशन हेतु शोधनिबन्ध की मूलप्रति प्रेषित करें, **फोटो स्टेट प्रति** स्वीकार्य नहीं होगी। साथ ही **हस्तलिखित लेख** भी स्वीकार नहीं होंगे। अतः विद्वानों से अनुरोध है कि टंकण के उपरान्त शोधन करके लेख प्रेषित करें, जिससे लेख शुद्धतम रूप में प्रकाशित किया जा सके।
- अधिक उचित होगा कि आप अपना निबन्ध **माइक्रोसोफ्ट वर्ड** डाक्यूमेंट में टाइप करायें और फुटनोट **ALT+CTRL+F** के माध्यम से डालें। इस प्रकार फुटनोट डालने में त्रुटि की सम्भावना नहीं रहती है। यदि उक्त उपाय अपनाना संभव न हो तो **फुटनोट निबन्ध के अन्त में दें,** जिससे उनको यथास्थान प्रस्तुत किया जा सके।
- टंकण कराते समय यह ध्यान रखना अपेक्षित है कि निबन्ध **'कृतिदेव ०१०'** अथवा **वॉकमैन चाणक्य** के साइज १४ में टाइप कराया जाए। टंकण के उपरान्त, शोधन करके सी.डी. अथवा ईमेल से प्रेषित करें।
- विद्वान् ईमेल से भी अपने निबन्ध प्रेषित कर सकते हैं। ईमेल का पता है- **gyanprakashshastri@gmail.com or gyanprakashshastri@live.com**
- सी.डी. अथवा ईमेल के साथ-साथ लेखक को अपने शोधलेख की हार्ड कॉपी प्रेषित करना भी आवश्यक है, जिससे मूल्यांकन के लिये शोधलेख प्रेषित किया जा सके।
- यह पत्रिका विश्वविद्यालय की www.gkvharidwar की साइट पर देखी जा सकती है। लेखक और पाठक उक्त साइट से पत्रिका डाउनलोड कर सकते हैं।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र के प्रकाशन

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	कीमत रु.
1.	स्वामी श्रद्धानन्द	500 रु.
2.	वेद का राष्ट्रिय गीत	200 रु.
3.	श्रुतिपर्णा	95 रु.
4.	वैदिक साहित्य संस्कृति एवं समाज दर्शन	500 रु.
5.	वेद और उसकी वैज्ञानिकता	300 रु.
6.	शोध सारावली	220 रु.
7.	भारतवर्ष का इतिहास (दो खंडों में)	350 रु. प्रति खंड
8.	क्लासिकल राइटिंग ऑन वैदिक एण्ड संस्कृत लिट्रेचर	80 रु.
9.	दीक्षालोक	500 रु.
10.	स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख	500 रु.
11.	स्वामी श्रद्धानन्द की सम्पादकीय टिप्पणियां	450 रु.
12.	कुलपुत्र सुनें	300 रु.
13.	ग्लिम्पस आर्फ इनवायरमेन्टल परसेप्ट्स ऑफ वैदिक लिट्रेचर	50 रु.
14.	स्वामी श्रद्धानन्द समग्र मूल्यांकन	300 रु.
15.	पं0 इन्द्रविद्यावाचस्पति कृतित्व के आयाम	300 रु.
16.	बातें मुलाकातें	125 रु.
17.	वेदों की वर्णन शैलियां	50 रु.
18.	हिन्दी काव्य को आर्यसमाज की देन	400 रु.
19.	श्रुति विचार सप्तक	500 रु.
20.	स्तूप निर्माण कला	55 रु.
21.	ईशोपनिषद्‌भाष्य	40 रु.
22.	इन्द्रविद्यावाचस्पति	40 रु.
23.	भारतवर्ष का इतिहास (तृतीय खंड)	55 रु.
24.	अग्निहोत्र	25 रु.
25.	वेद विमर्श	25 रु.
26.	आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति	25 रु.
27.	आहार	35 रु.
28.	वैदिक वन्दना गीत	25 रु.
29.	ऋषिदेव विवेचन	25 रु.
30.	विष्णु देवता	25 रु.
31.	सोम	20 रु.
32.	ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार	25 रु.
33.	अध्यात्म रोगों की चिकित्सा	40 रु.
34.	गुरुकुल की आहुति	12 रु.
35.	ब्राह्मण की गौ	25 रु.
36.	ऋषि-रहस्य	25 रु.
37.	धर्मोपदेश (भाग प्रथम और द्वितीय)	25 रु. प्रति खंड
38.	वैदिक कर्त्तव्य शास्त्र	40 रु.
39.	मेरा धर्म	500 रु.
40.	गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय कलेण्डर भाग-1	250 रु.

विश्वविद्यालय से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं का विवरण

1.	गुरुकुल पत्रिका	वार्षिक मूल्य 100 रु.
2.	वैदिक पॉथ	वार्षिक मूल्य 100 रु.
3.	प्राकृतिक एवं भौतिकीय शोध विज्ञान पत्रिका	वार्षिक मूल्य 500 रु.
4.	आर्य भट्ट	वार्षिक मूल्य 100 रु.
5.	गुरुकुल बिजनेस रिव्यू (GBR)	वार्षिक मूल्य 100 रु.

नोट :-ये सभी पुस्तकें कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के नाम ड्राफ्ट भेजकर निम्न पते से प्राप्त की जा सकती है। क्रमांक १ से १२ एवं क्रमांक १८ तथा १९ पर ५० प्रतिशत तथा अन्य सभी पुस्तकों पर २० प्रतिशत की छूट देय है।

पुस्तकें मंगाने का पता :- पुस्तकालयाध्यक्ष/व्यवसाय प्रबन्धक, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४ (उत्तराखण्ड)

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार फोन : 01334-245975, 9837007222

ओ३म्

ISSN 0974 - 8830

गुरुकुल-शोध-भारती

षाण्मासिकी शोधपत्रिका

मूल्याङ्कित शोधपत्रिका

(A Refereed Research Journal)

अंक 20 सितम्बर, 2013



स्मृति अंक

पूज्य आचार्य प्रवर डॉ. पं. रामनाथ वेदालंकार को सादर समर्पित

सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

कुलपिता, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय



स्वामी श्रद्धानन्द जी

१८५६-१९२६

ISSN0974 – 8830

।।ओ३म्।।

गुरुकुल-शोध-भारती

षाण्मासिकी शोधपत्रिका मूल्याङ्कित शोधपत्रिका

(A Refereed Research Journal)

अंक 20, सितम्बर 2013



स्मृति अंक

पूज्य आचार्य प्रवर डॉ. पं. रामनाथ वेदालंकार को सादर समर्पित

सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

सम्पादक-मण्डल

मुख्यसंरक्षक	प्रो. रामप्रकाश, कुलाधिपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)
संरक्षक	प्रो. सुरेन्द्र कुमार, कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)
सम्पादक	प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड) 09219513135, gyanprakashshastri@gmail.com
परीक्षकत्व	प्रो. बलदेव सिंह मेहरा, पूर्व प्रोफेसर संस्कृत-विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)
प्रकाशक	प्रो. ए.के. चोपड़ा, कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)
व्यवसाय प्रबन्धक	प्रो. श्रवण कुमार शर्मा, निदेशक पुस्तकालय विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)
एक प्रति का मूल्य	रु0 75.00 पचहत्तर रुपये
वार्षिक मूल्य	रु0150.00 एक सौ पचास रुपये
पञ्च-वार्षिक मूल्य	रु0 500.00 पाँच सौ रुपये (ग्राहक बनने हेतु **कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार,** के नाम ड्राफ्ट बनवाकर **पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार,** के नाम प्रेषित करें।) दूरभाष:-01334-214404
प्रकाशनीय शोधलेख	शोधलेख विषयक दिशा निर्देश उपान्तिम पृष्ठ में दिये गये हैं।

परामर्शदात्री समिति

1. प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री, पूर्व आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)
2. प्रो. वीरेन्द्र अलंकार, अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़
3. प्रो. कमलेश चौकसी, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद (गुजरात)
4. प्रो. शशि तिवारी, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली
5. प्रो. केशव नारायण विद्यालंकार, संस्कृत-विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय हैदराबाद (आन्ध्रप्रदेश)
6. प्रो. बलवीर सिंह आचार्य, पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक (हरयाणा)

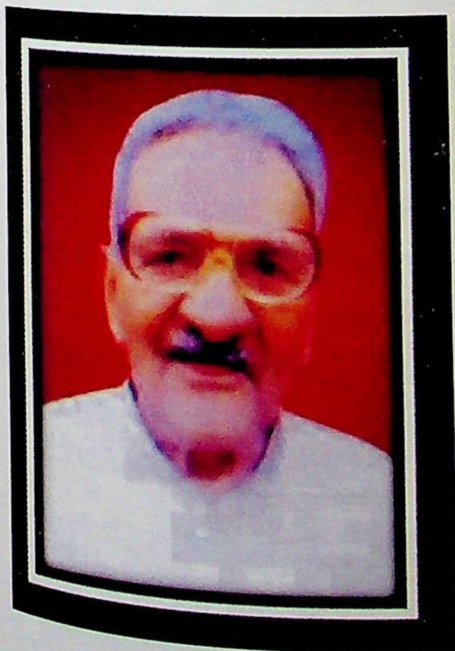
विषय-सूची

सम्पादकीयम्

गतिशीलता प्रकृति का स्वाभाविक नियम है। इस गतिशीलता के कारण ही यह समस्त संसार एक से दूसरी स्थिति में संक्रमण कर पाता है। अपने उन्मत्त उन्माद में बहती हुई नदियाँ, समय के साथ बदलते हुए मौसम, जीवन को जीवित रहने का वरदान देने वाली वायु और हम सब भी तो इस गतिशीलता के पर्याय और साक्षी हैं। प्रकृति यदि गतिरहित होती तो जीवन अभिशाप बन जाता। माता के उदर से बाहर आने वाला शिशु सदा पराश्रित ही रहता, और हम फिर कुमार, युवा, प्रौढ़ और अन्त में वृद्धावस्था के सौन्दर्य को कैसे उपलब्ध होते? **'सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्'** का हमें कभी ज्ञान भी न होता।

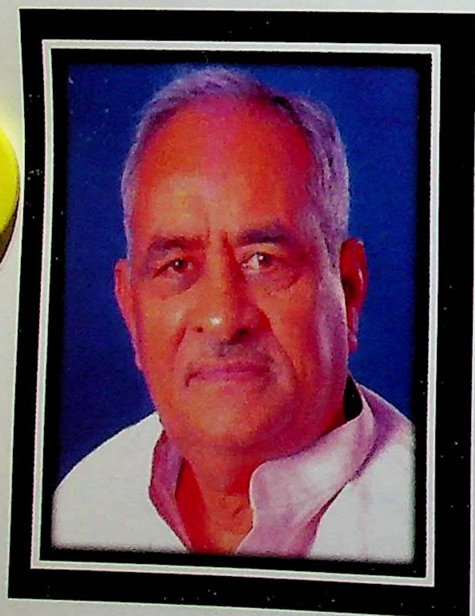
गत अंक के पश्चात् से गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के परिदृश्य में कुछ ऐसे परिवर्तन हुए हैं, जिन्हें मानवीय भाषा में शुभ और अशुभ के विश्वासों में आबद्ध कर सकते हैं, परन्तु प्रकृति जिन ऋत के नियमों में बँध कर चल रही है, उसमें अशुभ जैसा कुछ भी नहीं है, यह उसकी अपनी क्रीडा है, आगे आने वाले वसन्त की यह आहट है, सूर्य के उदय होने का संकेत है, एक नये उत्साह में भरकर एक नूतन योजना को सामने रखकर चलने का समय है।

गुरुकुल काँगड़ी ने विश्व को ऐसे स्वनामधन्य विद्वान् दिये हैं, जो विश्वविद्यालय की पहिचान बने, कुलमाता जिनको पाकर धन्य हुई, जिनके अवदान के समक्ष संसार श्रद्धापूर्वक नतमस्तक है, देव दयानन्द की दृष्टि को सामने रखकर जिन्होंने विश्व को वेद का संदेश दिया, आज की वह पीढ़ी जो सेवा के विराम को उपलब्ध हो चुकी है या फिर अवसान की ओर उन्मुख है, उन सबके गुरु रहे हैं, ऐसे वेदमनीषी पूज्य **आचार्य प्रवर रामनाथ वेदालंकार** ने अपने ज्योतिःपुञ्ज से न जाने कितनों को आलोकित किया। अन्त में, प्रकृति के अटल नियमों में बँधकर शतायु के पूर्व बिन्दु का स्पर्श करते हुए अप्रैल २०१३ में इस नश्वर संसार के परिदृश्य से ओझल हो गये। कुलमाता ने समस्त कुलवासियों के साथ मिलकर अपने इस अमर सुपूत को भावभीनी पुष्पवृष्टि करते हुए श्रद्धाञ्जलि दी, जो या तो पूज्या माता दमयन्ती के लिये देखने में आयी थी या फिर आचार्य प्रवर के लिये। हम सभी अन्तेवासी उन्हें आदर के साथ स्मरण करते हुए उनके दिखाये मार्ग पर चलने के लिये अपने को वचनबद्ध मानते हैं।



जो कभी अभिशाप प्रतीत होता है, कालान्तर में वही वरदान सिद्ध होता है, जो दुःख और

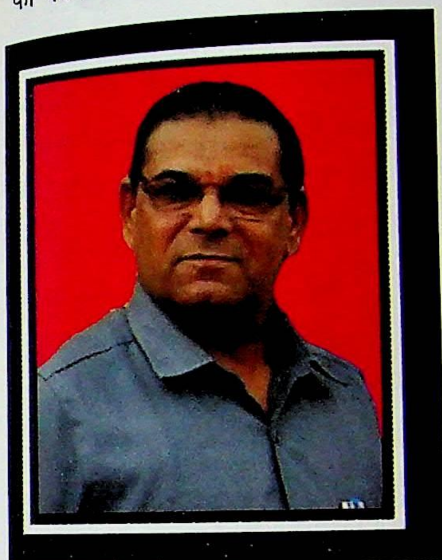
पीड़ा का कारक प्रतीत होता है, वही कुछ समय पश्चात् माँ की गोद में आकर विरासत को संभालने वाला बन जाता है। इसलिये सुख भी दुःखरूप हो सकता है और दुःख भी सुखरूप। किसी ने यह कल्पना भी नहीं की थी कि गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय का ४४ की पंक्ति में खड़ा होना दुर्भाग्य के अतिरिक्त कुछ और भी हो सकता है। घोर निराशा के वातावरण में विश्वविद्यालय में एक नये संविधान ने जन्म लिया और उस संविधान को अपनाने का जोखिम भरा साहस **प्रो. स्वतन्त्र कुमार**, निवर्तमान कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी, ने उठाया और उसको अन्तिम सोपान पर पहुँचाने में **श्री सुदर्शन शर्मा**, पूर्व कुलाधिपति, गुरुकुल काँगड़ी, ने भरपूर सहयोग प्रदान किया। उस समय कतिपय लोगों को यह कुछ कटु प्रतीत हुआ होगा, परन्तु इस वृक्ष से गुरुकुल में शान्ति का पुष्प प्रस्फुटित हुआ।



नये संविधान की परिणति यह रही कि गुरुकुल के इतिहास में प्रथम बार एक ऐसा व्यक्ति कुलाधिपति के रूप में अभिषिक्त हुआ, जो **विश्वविद्यालय की गरिमा के अनुरूप विद्वान्** और आर्यसमाज की अपेक्षा के अनुरूप देव दयानन्द के पथ का अनुयायी है। कुलपिता स्वामी श्रद्धानन्द ने गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना करते समय प्राच्य और पाश्चात्य दोनों विद्याओं के उचित समन्वय पर बल दिया था। संस्था के मूल में निहित इस उद्देश्य की पूर्ति माननीय **प्रो. रामप्रकाश, सांसद राज्यसभा,** के कुलाधिपति के रूप में प्रतिष्ठित होने से होती दिखायी दे रही है। आप जहाँ रसायनशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् हैं, वहीं विज्ञान की निकषा पर अग्निहोत्र को परखने वाले भी हैं, वहीं दयानन्द के गुरु स्वामी विरजानन्द तथा दयानन्द के साहित्य प्रचार प्रसार से जनसामान्य को सुपथ पर चलने के लिये प्रेरित कर रहे हैं।

जब एक बार वीणा के तार उचित तालमेल के साथ झंकृत होने लगें, फिर उससे निकलने वाला संगीत बेसुरा कैसे हो सकता है? गुरुकुल काँगड़ी की धात्री माँ की तरह जब तीनों प्रान्तीय सभाएँ एक हो गयीं, तब उनकी गोद में शयन करने वाला शिशु निश्चिन्त होकर प्रगति की गाथा न लिखे, यह नहीं हो सकता, उसके कदम सही दिशा में बढ़ेंगे ही। और यही हुआ भी, गुरुकुल के अधिकारियों के उचित समन्वय का परिणाम यह हुआ कि गुरुकुल को एक सुयोग्य कुलपति मिला।

प्रो. सुरेन्द्र कुमार ने १० जुलाई २०१३ को गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति पद का कार्यभार ग्रहण किया। आर्यसमाज ने हमेशा से इस विश्वविद्यालय को सुयोग्य कुलपति प्रदान किये हैं, परन्तु वे आर्यसमाज के प्रति अधिक समर्पित रहे और शिक्षा के प्रति कम, उनकी प्राथमिकता गुरुकुल न होकर आर्यसमाज रही। इस कारण गुरुकुल में शिक्षा को जो दिशा मिलनी चाहिये थी, वह नहीं मिल पायी। प्रथम बार यह देखने को मिला कि कुलपति शिक्षा के प्रति भी उतने ही समर्पित हैं, जितने कि आर्यसमाज के प्रति। विश्वविद्यालय परिवार के लिये यह प्रसन्नता का विषय है कि वर्तमान कुलपति प्रो. सुरेन्द्र कुमार अपने शोधकार्यों के कारण आर्यसमाज में जाने जाते हैं, साहित्यिक क्षेत्र में आप शोधकार्यों के कारण लब्धप्रतिष्ठ हैं। गवेषणापूर्ण शोध और उसकी रसपूर्ण अभिव्यक्ति में आप सिद्धहस्त माने जाते हैं। अत: अब यह अपेक्षा की जा सकती है कि विश्वविद्यालय मं शोध के नये आयाम विकसित होंगे।



अतीत में वर्तमान के निवर्तमान और भविष्य के वर्तमान होने की प्रक्रिया में गुरुकुल के वातावरण में अशान्ति और विकलता का भाव अपने पैर पसारता रहा है, दुर्दिन के समान दुश्चिन्ताएँ आकर घेरती रही हैं। यह दुर्लभ संयोग प्रथम बार हुआ कि सम्पूर्ण प्रक्रिया शान्ति और सौहार्दपूर्ण वातावरण में सम्पन्न हुई। इस कारण विश्वविद्यालय की शक्ति विकास कार्यों में लगी रही, उसमें दुश्चिन्ता का भाव कहीं नहीं देखने को मिला।

सर्वदा ही वर्तमान से अतीत अच्छा लगता रहा है। बचपन के सपने सुहाने लगते हैं। गुरुकुल के अतीत के पन्नों पर दृष्टिपात करें, वहाँ आदर्श के उच्च प्रतिमान गढ़े गये हैं, विद्वत्ता के पर्याय स्थापित हुए हैं, आर्यसमाज की दुन्दुभि का स्वर आज की अपेक्षा कहीं अधिक गहरा रहा है, परन्तु इस सब के बीच एक अभाव खटकता है कि हमारी पुरानी पीढ़ी कितनी भी तपस्वी और यशस्वी क्यों न रही हो, वहाँ **'सं गच्छध्वं सं वदध्वम्'** की भावना तिरोहित है। उस चित्रपट पर सब कुछ सुन्दर होने पर भी, रंगों में वह तालमेल नहीं है, जो हृदय का स्पर्श करता हो। इस बार कुछ ऐसा देखने को मिला कि लोगों का हृदय बोला और मस्तिष्क कुछ गौण होगया।

यह कोई रहस्य की बात नहीं है कि निवर्तमान ने वर्तमान परिदृश्य में बने रहने के लिये वे सारे उपाय प्रयोग में लाये, जो लाये जा सकते थे। इसलिये भविष्य को वर्तमान बनने के लिये न केवल महत् प्रतीक्षा करनी पड़ी, न केवल धैर्यंधुर होने का परिचय देना पड़ा, अपितु आँखों पर पट्टी बाँधे खड़ी न्याय की देवी के समक्ष वे सब तथ्य प्रस्तुत करने पड़े, जो उसे दिखायी दे सकें। स्वाभाविक रूप से यह सारा संघर्ष विषाद, कुण्ठा और असंयम का जनक हो सकता था, परन्तु ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। एक आर्य को जैसा होना चाहिये था, वे सब वर्तमान पीढ़ी में देखने

को मिला। अतीत में ऐसे क्षण शायद दुर्लभ रहे हों, लेकिन हम सभी इस घटना के साक्षी बने। जिन मनस्वियों के संयम, उदारता, सहिष्णुता का यह परिणाम रहा है, प्रान्तीय सभाओं के शीर्ष पर विराजमान वे सभी अधिकारी नमनीय और वन्दनीय हैं, उन्होंने समाज के समक्ष उज्ज्वल चरित्र प्रस्तुत किया है, अतः ये आर्यसमाज के लिये आदर्श हैं। यह परम्परा इसी प्रकार आगे बढ़ती रहे, आर्यसमाज के अनुयायियों की प्रतिष्ठा को समाज आदर्श के रूप में देखे, यह प्रभु से प्रार्थना है।

व्यवस्था को अव्यवस्था बना देने में प्रमुख भूमिका ऋत के अनुपालन न करने की है। प्रत्येक संस्था का ऋत है, नियम है, यदि वह उसमें आबद्ध रहती है तो फिर अन्याय, अव्यवस्था और अकर्मण्यता का जन्म नहीं हो सकता। गुरुकुल काँगड़ी में सबसे अधिक समय तक कुलसचिव के पद का दायित्व निर्वाह कर रहे **प्रो. अशोक कुमार चोपड़ा** की प्रतिबद्धता भी ऋत के अनुपालन में रही है। आज विश्वविद्यालय परिवार सुखद स्थिति का अनुभव कर रहा है, उसके मूल में न्याय की देवी के निर्देशों का यथावत् अनुपालन करना एक प्रमुख कारण रहा है। इसी प्रकार ४४ के मध्य आना दुर्भाग्यपूर्ण है, परन्तु उससे बच निकलने के लिये विधिसम्मत जो भी हो सकता है, वह कुलसचिव के स्तर से किया गया है।

विश्व में गुरुकुल काँगड़ी का महत्त्व तब भी था, जब इसको विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से विश्वविद्यालय का स्तर प्राप्त नहीं हुआ था। हमारी पहिचान तब भी थी, जब हम मात्र अपने पैरों पर खड़े थे, जब हम किसी अनुदान के सहारे नहीं थे। परन्तु समय के साथ गुरुकुल काँगड़ी को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का आश्रय प्राप्त हुआ। जिस समय यह विश्वविद्यालय बना था, उस समय अलंकार स्तर पर मात्र ३० छात्र थे और कतिपय शिक्षक तथा अन्य कर्मचारी थे, लेकिन आज की तिथि में गुरुकुल परिवार में ५०० से अधिक शिक्षक और कर्मचारी हैं। यह सब विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सहयोग के कारण है। प्रस्तुत प्रकरण में भी विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का प्रयास रहा है कि जो भी हो, वह विधिसम्मत होना चाहिये। इसका सुखद परिणाम हम सबने देखा है। अतः हम सभी विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अधिकारियों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

--

अन्त में, यही प्रभु से प्रार्थना है कि जीवन का प्रारम्भ मधु से हो और उसका अवसान भी मधुरता में हो। सर्वत्र मधुरता का साम्राज्य हो

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद्भूयासं मधुसंदृशः।। (अथर्व. १.३४.३)

विदुषां वशंवदः

(प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री)

सम्पादक

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ05-12) ISSN 0974 – 8830

आचार्य रामनाथ वेदालंकार की दृष्टि में महर्षि दयानन्द की वेदप्रतिपादित शिक्षाविषयक अवधारणा

प्रो. सुरेन्द्र कुमार[१]

मानव की विकास यात्रा में जितने भी अन्य साधन हैं, उन सबकी तुलना में शिक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिये अथर्ववेद ने माता के गर्भ से उत्पन्न होने वाले मनुष्यों को पशु नाम से अभिहित किया है।[२] यजुर्वेद भी यज्ञ का वर्णन करता हुआ कहता है कि देवों ने पुरुषरूपी पशु को बाँधा।[३] कहने का अभिप्राय यह है कि माता के गर्भ से जन्म लेने वाला बालक न केवल असमर्थ होता है, अपितु उस स्थिति में वह न अपने लिये उपयोगी है और न समाज के लिये। इसलिये चेतना के उत्कर्ष के लिये देवों अर्थात् विद्वान् अध्यापकों ने पुरुषरूपी अर्थात् बालक रूप पशु को बाँधा। यहाँ **'अबध्नन्'** अर्थात् बाँधने से अभिप्राय मनुष्य की चेतना को केन्द्रित करने से है और यदि यह केन्द्रीकरण आत्मोन्मुख हो जाए, तब मनुष्य अपने चरम लक्ष्य को उपलब्ध होने की ओर अग्रसर होने लगता है।

इस प्रकार हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि मानव की विकास यात्रा का प्रारम्भ शिक्षा से हुआ है और आज वह जिस शिखर को छू रहा है, उसके मूल में भी शिक्षा है और जब कभी वह पूर्णता को उपलब्ध होगा तो उसका कारण भी शिक्षा ही होगी।

वेद ने जीवन और जगत् के सत्यों को बहुत सरल भाषा में अनुस्यूत कर मानवता के लिये प्रस्तुत किया है, परन्तु मर्म को न समझ पाने वाला विद्वत् समाज वेदार्थ को न जाने किन-किन विरुद्ध दिशाओं में ले जाता रहा है, उस भ्रष्टार्थ से न अपना भला हुआ और न समाज का। महर्षि दयानन्द ने वेदार्थ की इस दुर्गति को देखकर, जैमिनिपर्यन्त ऋषियों की परम्परा का अवगाहन करते हुए वेद के सत्य स्वरूप को समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। उन्होंने विश्व को प्रथम बार यह अहसास कराया कि वेद मात्र कर्मकाण्ड तक सीमित नहीं हैं, उनकी उपयोगिता प्राणिमात्र के कल्याण में निहित है।

महर्षि दयानन्द ने वेदभाष्य तथा अन्य साहित्य का प्रणयन करते हुए वेदमूलक सिद्धान्तों का प्रतिपादन स्थान-स्थान पर किया है। महर्षि के विचारों को सरलता पूर्वक आत्मसात् कराने के लिये गुरुकुल परम्परा से उद्भूत विद्वानों ने सराहनीय योगदान दिया है। उनके महनीय प्रयास के फलस्वरूप वेदविद्या के विभिन्न विभाग स्पष्ट रूप से विद्वनों तथा जनसामान्य का पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं।

महर्षि दयानन्द का साक्षात् दर्शन कर और उनके जीवन और उपदेशों से प्रेरणा लेकर वाल्मीकि की तरह जिन्होंने अपने जीवन का कायाकल्प किया, ऐसे कालजयी मुंशीराम ने आचार्य मुंशीराम के रूप में

---

१. कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२. अथर्ववेद १४.२.२५ वि तिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः।
३. यजु०३१.१५ सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः। देवा यद्यज्ञं तन्वानाऽअबध्नन् पुरुषं पशुम्॥

अपने को रूपान्तरित होते हुए गंगा के पावन तट हरिद्वार में गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की स्थापना की। सर्वमेध यज्ञ करने वाले आचार्य मुंशीराम की तपस्या के प्रभाव से इस गुरुकुल ने न जाने कितने वेदभाष्यकार, इतिहासज्ञ, साहित्य मर्मज्ञ समर्थ विद्वान् दिये, जिनको पाकर कुलमाता अपने को गौरवान्वित अनुभव करती है। उन्हीं विद्वानों की सुदीर्घ और बहुआयामी परम्परा में आचार्य रामनाथ वेदालंकार ऐसे शास्त्रज्ञ और समाज के लिये आदर्श प्रस्तुत करने वाले विद्वान् हुए, जिन्होंने महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों के आलोक में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। जिस प्रकार देव दयानन्द ने वेदों का सार प्रस्तुत किया, उसी प्रकार गुरुकुल की कोख से जन्म लेने वाले विद्वानों ने दयानन्द के साहित्य का सार प्रस्तुत किया है और आचार्य रामनाथ वेदालंकार ने इसी दिशा में आगे बढ़ते हुए शिक्षा, राजनीति, कलाकौशल, नारी, अध्यात्म सम्बन्धी विचारों को आधार बनाकर अनेक रोचक और उपयोगी साहित्य दयानन्द की दृष्टि से प्रस्तुत किया। हम इस आलेख में आचार्य रामनाथ वेदालंकार द्वारा महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति, कलाकौशल को लेकर लिखे गये ग्रन्थ के शिक्षा खण्ड से वेदप्रतिपादित शिक्षा के स्वरूप का विवेचन करने का प्रयास कर रहे हैं।

आचार्य रामनाथ वेदालंकार ने महर्षि दयानन्द की शिक्षा विषयक अवधारणा को स्पष्ट करने के लिये निम्न शीर्षकों के लेकर लिखा है-शिक्षा की परिभाषा, शिक्षा के उद्देश्य और फल, शिक्षा की अनिवार्यता, शिक्षा सबके लिये, कन्या-शिक्षा, शूद्रों का अध्ययन में अधिकार, शिक्षा के पात्र, तीन शिक्षक, शिक्षणालय, शिक्षापद्धति (१.अध्यापन, योग्यता के अनुसार अध्यापन, परीक्षापूर्वक अध्यापन, अध्यापन रीति, २.प्रश्नोत्तर, ३.पुनरावृत्ति, ४.क्रियात्मक ज्ञान, ५.अर्थज्ञानपूर्वक अध्ययन), विद्याप्राप्ति के चार प्रकार, शिक्षा में दण्ड का स्थान, शिक्षा के विषय (पाठ्यक्रम), आर्षग्रन्थ ही क्यों?, त्याज्य ग्रन्थ, शिक्षा में संस्कृत का स्थान, विदेशी भाषाओं का अध्ययन, विस्तृत ज्ञान, सहशिक्षा, विद्या पढ़ने-पढ़ाने के विघ्न, शिक्षक कैसे हों? गुरु के कर्तव्य (गर्भ के समान धारण करना, शरीर-आत्मा-मन आदि का पवित्रीकरण), दुर्गुणों का निवारण, सद्गुणों का आधान आदि, शिष्य कैसे हों? शिष्य के कर्तव्य, गुरु-शिष्य के समन्वित कर्तव्य, गुरु-शिष्य परस्पर कैसे वर्तें? गुरु-शिष्य का समाज में सम्मान, शिक्षा-क्षेत्र में राजा के कर्तव्य।[४]

उपर्युक्त विषय-सूची के अवलोकन से ज्ञात होता है कि आचार्य प्रवर ने महर्षि दयानन्द के शिक्षा विषयक विचारों को विस्तृत परिप्रेक्ष्य में देखा, समझा और प्रस्तुत किया है। ग्रन्थ के स्वल्प कलेवर में आचार्य रामनाथ वेदालंकार ने इतनी सामग्री प्रस्तुत कर दी है कि जिसके आधार पर एक शोधप्रबन्ध सरलता से तैयार किया जा सकता है। हम प्रस्तुत आलेख में महर्षि की वेदप्रतिपादित शिक्षाविषयक अवधारणा का विवेचन कर रहे हैं।

महर्षि दयानन्द **'उप॑ नो दे॒वा अव॒सा ग॑म॒न्त्वङ्गि॑रसा॒म्'** मन्त्र के व्याख्यान में शिक्षा की उपयोगिता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं-**'जिज्ञासवो येषां विदुषां विद्वांसो वा जिज्ञासूनां सामीप्यं गच्छेयुस्ते नैव विद्याधर्मसुशिक्षाव्यवहारं विहायान्यत्कर्म कदाचित्कुर्य्युः, यतो दुःखहान्या सुखं सततं सिध्येत्।** ज्ञानप्रचार सीखनेहारे जन जिन विद्वानों के समीप वा विद्वान् जन जिन विद्यार्थियों के समीप जावें वे

---

४. महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति और कला-कौशल सम्बन्धी विचार- विषयसूची।

विद्या, धर्म और अच्छी शिक्षा के व्यवहार को छोड़ कर और कर्म कभी न करें, जिससे दुःख की हानि होके निरन्तर सुख की सिद्धि हो।'[५]

शिक्षा के विषय में महर्षि का स्पष्ट अभिमत है कि शिक्षार्थी को विद्याध्ययन करते समय कोई अन्य कार्य नहीं करना चाहिये, क्योंकि इसके विना वह पूरी तरह शिक्षा के लिये समर्पित नहीं हो सकता। पूर्ण समर्पण के विना यथावत् विद्या अधिगत नहीं हो सकती। जहाँ महर्षि का कथन व्यावहारिक है, वहीं चेतावनी है कि व्यक्तिगत या अंशकालिक अध्ययन कर कोई विद्यार्थी विद्वान् नहीं हो सकता। जबकि अद्यतनीन शिक्षा व्यवस्था न केवल दूरस्थ माध्यमों से अपितु विना किसी गुरु या विशेषज्ञ के परामर्श के भी अध्ययन की अनुमति प्रदान करती है। उसका दुष्परिणाम समाज के सामने है, ऐसे छात्र पल्लवग्राही अध्ययन के आधार पर उपाधि प्राप्त कर कार्य कर रहे हैं। इस प्रकार के अध्ययन से न विद्या के साथ न्याय है और न वृत्ति के अनुरूप दायित्व का सम्यक् निर्वाह हो पाता है।

'ई॒यि॒वांस॒मति॒ स्रिधः॑ शश्व॑ती॒रति॒ स॒श्चतः॑' मन्त्र के व्याख्यान के अवसर पर शिक्षा के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए महर्षि कहते हैं–**'यथा सिंहं दृष्ट्वा मृगादयः पलायन्ते तथैव सुशिक्षिता विदुषीः प्रजाः समीक्ष्य पाखण्डिनो विलीयन्ते।'** जैसे सिंह को देख के हरिण आदि भाग जाते हैं, वैसे ही सुशिक्षायुक्त विद्वान् प्रजाजनों को देखकर पाखण्डी लोग नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।'[६]

भारत की पराधीनता को देखकर महर्षि के मन में पीड़ा है, उनकी दृष्टि में भारत के पराधीन होने में विद्याध्ययन का लोप भी एक महत्त्वपूर्ण कारण रहा है–**'विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ाना वा बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्याभाषणादि कुलक्षण, वेदविद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं।'**[७] एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं–**'यह दोष इस देश में बहुत काल से पड़ा हुआ है। अर्थात् महाभारत के युद्ध में जब अच्छे-अच्छे पूर्ण विद्वान् वेद और शास्त्रादिक के जानने वाले चल बसे, विद्या का प्रचार तथा सत्य उपदेश की व्यवस्था छूट कर तमाम देश में नाना प्रकार के विघ्न और उपद्रव उठने लगे, लोगों ने अपना-अपना छप्पर अपने-अपने हाथ में छाने की फिक्र की और इस थोड़े से सुख के लोभ में उत्तम-उत्तम विद्याओं को ऐसा हाथ से खो बैठे कि जिससे उनका विचारा हुआ लाभ भी नष्ट हो गया और तमाम अपने देश को भी धर कर डुबा दिया। बड़े शोक की बात यह है कि आँखों से देखकर भी कूप में ही गिरना अच्छा समझ कर, अपनी अज्ञानता पर दुःखी और लज्जावान् होने की जगह भी बराबर हठ ही करते चले जाते हैं। इसका परिणाम न जाने क्या होना है।'**[८]

उक्त वक्तव्यों के आलोक में पूर्व मन्त्र में प्रस्तुत महर्षि की शिक्षाविषयक अवधारणा को समझा जा सकता है। यदि प्रजाजन विद्वान् होंगे, तब कोई उन्हें मूर्ख नहीं बना सकेगा। उन्होंने विद्याप्राप्त व्यक्ति की तुलना सिंह से की है, जिस प्रकार सिंह के सामने आते ही हिरण भाग खड़े होते हैं, उसीप्रकार शिक्षित

५. दयानन्दभाष्य, ऋ०१.१०७.२
६. दयानन्दभाष्य, ऋ०३.९.४
७. स०प्र०दश०समु०
८. भ्रा०नि०

प्रजाजनों के होने पर पाखण्डी लोग नौ दो ग्यारह हो जाते हैं। महर्षि ने तो और भी अधिक कठोर भाषा का प्रयोग किया है, वे कहते हैं कि **'सुशिक्षायुक्त विद्वान् प्रजाजनों को देखकर पाखण्डी लोग नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं।'**[९]

आचार्य रामनाथ वेदालंकार कहते हैं-'विद्या के द्वारा अविद्या का नाश होकर विज्ञान रूप प्रकाश की उत्पत्ति होती है, ऐसा निम्न मन्त्र के भाष्य में महर्षि ने वर्णित किया है'[१०]-

यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।

अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्य१न्ये अशक्नुवन्।। ऋ०५.४०.९

'हे मनुष्या! यथा मेघः सूर्यमावृत्याऽन्धकारं जनयति तथैवाऽविद्यात्मानमावृत्याऽज्ञानं जनयति यथा सूर्ये मेघं हत्वाऽन्धकारं निवार्य प्रकाशमाविष्करोति तथैव प्राप्ता विद्याऽविद्यां विनाश्य विज्ञानप्रकाशं जनयति। एतद्विवेचनं विद्वांसो जानन्ति नेतर इति। हे मनुष्यो! जैसे मेघ सूर्य्य को ढाप के अन्धकार को उत्पन्न करता है, वैसे ही अविद्या आत्मा का आवरण करके अज्ञान को उत्पन्न करती है और जैसे सूर्य मेघ का नाश और अन्धकार का निवारण करके प्रकाश करता है, वैसे ही प्राप्त हुई विद्या अविद्या का नाश करके विज्ञान के प्रकाश को उत्पन्न करती है, इस विवेचन को विद्वान् जन जानते हैं, अन्य नहीं।'[११]

उपर्युक्त मन्त्र के व्याख्यान में दयानन्द ने दो प्रकार से विद्या के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। प्रथम वे कहते हैं कि जिस प्रकार मेघ सूर्य को आच्छादित कर अन्धकार को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार अविद्या आत्मा को आच्छादित करके अज्ञान को उत्पन्न करती है। द्वितीय- वे कहते हैं कि जिस प्रकार सूर्य मेघ का वध करके अन्धकार को दूर कर प्रकाश को प्रकट करता है, उसी प्रकार विद्या अविद्या का विनाश करके विज्ञान के प्रकाश को उत्पन्न करती है। प्रथम प्रकार में नकारात्मक रूप में विद्या के महत्त्व को बताया है, जबकि द्वितीय प्रकार में सकारात्मक रूप में। अन्धकार के समान अज्ञान अन्धा बना देने वाला होता है, यह कहकर उससे ऊपर उठने का संदेश दिया है, जबकि द्वितीय में सूर्य के समान विद्या अविद्या की विनाशक है, यह कहकर विद्या के ग्रहण करने में सदा उद्यत रहना चाहिये, का निहितार्थ है।

शिक्षा को प्राप्त कर मनुष्य विवेकी होकर जगत् की उन्नति कर सकता है, इसलिये मनुष्य के जीवन में शिक्षा अपरिहार्य है, इस कथ्य का निरूपण वे अन्यत्र करते हुए कहते हैं[१२]-**'यदि मनुष्येषु यथावत्सुशिक्षा भवेत्तर्हि कनिष्ठा मध्यमोत्तमा जना विवेकिनो भूत्वा यथावज्जगदुन्नतिं कर्तुं शक्नुयुः।** जो मनुष्यों में यथायोग्य उत्तम शिक्षा हो तो कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम जन विचारशील होकर यथायोग्य जगत् की उन्नति कर सकें।'[१३]

विद्या के ग्रहण से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा भी निर्देश महर्षि ने

---

९. दयानन्दभाष्य, ऋ०३.९.४

१०. महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति और कला-कौशल सम्बन्धी विचार, पृ०५

११. दयानन्दभाष्य, ऋ०५.४०.९

१२. महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति और कला-कौशल सम्बन्धी विचार, पृ०६

१३. दयानन्दभाष्य, ऋ०५.५९.६

वेदभाष्य में किया है[१४]-**'ये मनुष्या मातापितृभ्यां जन्म प्राप्याऽष्टमं वर्षमारभ्याऽऽचार्याद्विद्याग्रहणेन द्वितीयं जन्म प्राप्नुवन्ति ते स्तुत्याः सन्तो धर्मार्थकाममोक्षान् साद्धुं शक्नुवन्ति।** जो मनुष्य माता और पिता से जन्म को प्राप्त होकर आठवें वर्ष से प्रारम्भ करके आचार्य से विद्या के ग्रहण से द्वितीय जन्म को प्राप्त होते हैं, वे स्तुति करने योग्य हुए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध करने को समर्थ होते हैं।'[१५]

आचार्य रामनाथ वेदालंकार महर्षि के शिक्षा विषयक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि 'महर्षि दयानन्द शिक्षा की अनिवार्यता के कट्टर पक्षपाती थे। वे इस विषय में किञ्चिन्मात्र भी ढील देने को तैयार न थे। उनके विचारानुसार 'वे माता-पिता सन्तानों के पूर्ण वैरी हैं, जिन्होंने अपने सन्तानों को विद्या प्राप्त नहीं करायी।'[१६] वे इससे भी एक कदम आगे बढ़ कर यह कहते हैं कि जो माता-पिता अपने सन्तानों को अध्ययन हेतु विद्यालयों में न भेजें, वे दण्डित किये जाने चाहियें। वेदभाष्य करते हुए वे कहते हैं-**'पितृभी राजनीतौ स्वकुले वाऽयं दृढो नियमः कर्त्तव्यो यावन्त्यस्माकमपत्यानि स्युस्तावन्ति ब्रह्मचर्येण समस्तविद्याग्रहणाय ब्रह्मचर्यं कुर्य्युर्योऽस्य विच्छेदं कुर्यात्तं राजा कुलीनाश्च भृशं दण्डयेयुः।** पितृजनों को राजनीति वा अपने कुल में यह दृढ़ नियम करना चाहिये कि जितने हमारे सन्तान हैं, वे ब्रह्मचर्य्य से समस्त विद्याओं के ग्रहण के लिये ब्रह्मचर्य्य आश्रम को करें, जो इसका विनाश करे उसे राजा वा कुलीन निरन्तर दण्ड देवें।'[१७]

महर्षि दयानन्द की शिक्षा विषयक अवधारणा का महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि वे शिक्षा सबके लिये अनिवार्य मानते हैं। आचार्य रामनाथ वेदालंकार महर्षि की उक्त विशेषता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि 'शिक्षा के विषय में इस प्रकार की अनिवार्यता किसी वर्गविशेष के लिये न करके महर्षि ने मनुष्यमात्र के लिये प्रतिपादित की थी। वे सब वर्णस्थ स्त्री-पुरुषों को अनिवार्य रूप से विद्याध्ययन व वेदाध्ययन का अधिकारी मानते थे। इस विषय में यह भी ज्ञातव्य है कि जिस समय स्वामी दयानन्द ने इन विचारों का उल्लेख किया था, उस समय समाज के धर्माधिकारियों ने स्त्रियों व शूद्रों को विद्याध्ययन के अधिकार से वञ्चित किया हुआ था। वेदाध्ययन के लिये तो यहाँ तक प्रतिबन्ध था कि यदि कोई शूद्र वेदमन्त्र पढ़ ले या सुन ले तो उसके लिये जिह्वोच्छेदन तथा कानों में सीसा एवं लाख पिघला कर डालने का तथा कण्ठस्थ कर लेने पर जान से मार देने के दण्ड का विधान था।[१८] परन्तु महर्षि इस विचारधारा के कट्टरविरोधी थे। वे अपने वेदभाष्य में सबके लिये विद्याध्ययन को आवश्यक बताते हुए लिखते हैं[१९]-**'विद्वद्भिर्विद्याप्रचाराय सर्वेभ्यो मनुष्येभ्यो नित्यं सार्थाः साङ्गाः सरहस्याः सस्वरहस्तक्रिया वेदा**

---

१४. महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति और कला-कौशल सम्बन्धी विचार, पृ०६
१५. दयानन्दभाष्य, ऋ०६.७.४
१६. सत्यार्थ-प्रकाश, समु०२, पृ०५६, महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति और कला-कौशल सम्बन्धी विचार, पृ०६
१७. दयानन्दभाष्य, ऋ०६.५२.९
१८. महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति और कला-कौशल सम्बन्धी विचार, पृ०७-८ 'अथास्य वेदमुपशृण्वतः त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणमिति.......उच्चारणे जिह्वोच्छेदः, धारणे शरीरभेद इति।'
१९. महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति और कला-कौशल सम्बन्धी विचार, पृ०७-८

उपदेष्टव्याः। यदि कश्चित्सुखमिच्छेत्सङ्गेन वेदविद्यां प्राप्नुयात्। नैतया विना कस्यचित्सत्यं सुखं भवति। तस्मादध्यापकैरध्येतृभिश्च प्रयत्नेन सकला वेदा ग्राहयितव्या ग्रहीतव्याश्चेति। विद्वानों को योग्य है कि विद्या के प्रचार के लिये मनुष्यों को निरन्तर अर्थ, अङ्ग, उपाङ्ग, रहस्य, स्वर और हस्तक्रिया सहित वेदों को उपदेश करें और ये लोग अर्थात् मनुष्यमात्र इन विद्वानों से सब वेद विद्या को साक्षात् करें। जो कोई पुरुष सुख चाहे तो वह विद्वानों के संग से विद्या को प्राप्त करे तथा इस विद्या के विना किसी को सत्य सुख नहीं होता, इससे पढ़ने-पढ़ाने वालों को प्रयत्न से सकल विद्याओं को ग्रहण करना वा कराना चाहिये।'[२०]

इसी प्रकार के विचार अन्यत्र व्यक्त करते हुए महर्षि कहते हैं-'**यथा सर्वैर्विद्वद्भिर्मैत्रीमुत्तमशीलं च धृत्वा सर्वेभ्यो मनुष्येभ्यो यथार्था विद्या उपदेष्टव्याः। यथा परमेश्वरेण वेदद्वारा सर्वा विद्याः प्रकाशितास्तथैवाध्यापकैः सर्वे मनुष्या विद्यायुक्ताः सम्पादनीया इति।** जैसे विद्वान् लोग सब मनुष्यों को मित्रपन और उत्तम शील धारण कराकर उनके लिये यथार्थ विद्याओं की प्राप्ति और जैसे परमेश्वर ने वेदद्वारा सब विद्याओं का प्रकाश किया है, वैसे विद्वान् अध्यापकों को भी सब मनुष्यों को विद्यायुक्त करना चाहिये।'[२१]

एक अन्य मन्त्र के व्याख्यान के अवसर पर अपने मन्तव्य को और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त करते हुए महर्षि कहते हैं-'**परोपकारिभिर्विद्वद्भिर्नित्यं प्रयत्नेन सुशिक्षाविद्यादानाभ्यां सर्वे मनुष्याः सुशिक्षिता विद्वांसः सम्पादनीयाः। एते चाध्यापकान् विदुषो मनोवाक्कर्मभिः सत्कृत्य सुसंस्कृतैरन्नादिभिर्नित्यं सेवन्ताम्। नहि कश्चिदपि विद्यादानग्रहणाभ्यामुत्तमो धर्मोऽस्ति तस्मात् सर्वैः परस्परं प्रीत्या विद्योन्नतिः सदा कार्य्या।** परोपकारी विद्वानों को उचित है कि नित्य प्रयत्नपूर्वक अच्छी शिक्षा और विद्या के दान से सब मनुष्यों को अच्छी शिक्षा से युक्त विद्वान् करें। तथा इतर मनुष्यों को भी चाहिये कि पढ़ाने वाले विद्वानों को अपने निष्कपट मन, वाणी और कर्मों से प्रसन्न करके ठीक-ठीक पकाए हुए अन्न आदि पदार्थों से नित्य सेवा करें। क्योंकि पढ़ने और पढ़ाने से पृथक् दूसरा कोई उत्तम धर्म नहीं है, इसलिये सब मनुष्यों को परस्पर प्रीतिपूर्वक विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।'[२२]

इस प्रकार महर्षि दयानन्द की दृष्टि में पढ़ने और पढ़ाने से कोई उत्तम कर्म नहीं है। जो सर्वोत्तम हैं, वह सबको मिलना ही चाहिये। शिक्षा विषयक महर्षि के विचारों में जो प्रौढ़ता और स्पष्टता परिलक्षित होती है, वह उनके समकालीन किसी अन्य चिन्तक में देखने को नहीं मिलती।

जिस प्रकार महर्षि सभी बालकों को पढ़ाने के लिये कटिबद्ध हैं, उसी प्रकार वे कन्याओं के पढ़ाने के लिये भी प्रतिबद्ध दिखायी देते हैं। आचार्य रामानाथ वेदालंकार महर्षि के इस चिन्तन को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं-'वेदों में भी ऐसे अनेक मन्त्र हैं, जिनमें स्पष्ट रूप से कन्या-शिक्षा का वर्णन है। ऋषि ने अपने वेदभाष्य में उन मन्त्रों का व्याख्यान करते हुए कन्या-शिक्षा का विशद रूप से प्रतिपादन किया

---

२०. दयानन्दभाष्य, ऋ०१.४०.६
२१. दयानन्दभाष्य, ऋ०१.४३.३
२२. दयानन्दभाष्य, ऋ०१.६१.१६

है। .... निम्नलिखित मन्त्र में माता, अध्यापिका और उपदेशिका इन तीन देवियों के सम्पर्क में रह कर कन्याओं को विद्याग्रहण हेतु उपदेश किया है'[२३]-

सरस्वती साधयन्ती धियं न इळा देवी भारती विश्वतूर्तिः।
तिस्रो देवीः स्वधया बर्हिरिदमच्छिद्रं पान्तु शरणं निषद्य।। ऋ० २.३.८

'एका जननी द्वितीया अध्यापिका तृतीयोपदेशिका स्त्री कन्याभिः सदोपसेवनीया यतो धीविद्ये नित्यं वर्द्धेताम्। एक माता, दूसरी पढ़ानेवाली और तीसरी उपदेश करनेवाली स्त्री कन्याओं को सदा समीप में सेवनी चाहिये, जिससे बुद्धि और विद्या नित्य बढ़ें।'[२४]

स्त्रीशिक्षा का उल्लेख करते हुए वे एक अन्य मन्त्र के व्याख्यान के अवसर पर कहते हैं-

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।
अप्रशस्ताइव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि।। ऋ० २.४१.१६

अन्वयः-हे अम्बितमे देवितमे नदीतमे सरस्वत्यम्ब! त्वं येऽप्रशस्ताइव वयं स्मसि तान्नः प्रशस्तिं प्राप्तान् कृधि।।१६।।

भावार्थः-यावत्यः कुमार्य्यस्सन्ति ता विदुषीणां सकाशादधीयीरन् ता ब्रह्मचारिण्यो विदुषीरेवं प्रार्थयेयुर्भवत्योऽस्मान् विद्यासुशिक्षायुक्तान् कुरुतेति। जितनी कुमारी हैं वे विदुषियों से विद्या अध्ययन करें और वे कुमारी ब्रह्मचारिणी विदुषियों की ऐसी प्रार्थना करें कि आप हम सबों को विद्या और सुशिक्षा से युक्त करें।[२५]

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट रूप से प्रतिपादित हो जाता है कि महर्षि कन्या-शिक्षा के लिये उतने ही समर्पित थे, जितने कि बालकों के लिये। पुनर्जागरण काल के वे एकमात्र ऐसे पुरोधा हैं, जिन्हें अनिवार्य रूप से सर्वशिक्षा अभिप्रेत है। यही कारण है कि **स्त्रीशूद्रौ नाधीयेताम्** की उद्घोषणा के चलते हुए भी उन्होंने न केवल स्त्री के शिक्षा के अधिकार को सुनिश्चित किया, अपितु शूद्रों के लिये भी वे उतने ही प्रतिबद्ध दिखायी देते हैं। उनकी यह प्रतिबद्धता मात्र अध्ययन तक सीमित नहीं है, वे तो वेद पढ़ने का अधिकार भी शूद्रों सहित सबको देते हैं-

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय।। यजु० २६.२

भाष्यम्-अस्याभिप्रायः-परमेश्वरः, सर्वमनुष्यैर्वेदाः पठनीयाः पाठ्या इत्याज्ञां ददाति। तद्यथा-(यथा) येन प्रकारेण, (इमाम्) प्रत्यक्षभूतामृग्वेदादिचतुष्टयीं, (कल्याणीम्) कल्याणसाधिकां, (वाचम्) वाणीं, (जनेभ्यः) सर्वेभ्यो मनुष्येभ्योऽर्थात् सकलजीवोपकाराय, (आवदानि) आसमन्तादुपदिशानि, तथैव सर्वैर्विद्वद्भिः सर्वमनुष्येभ्यो वेदचतुष्टयीं वागुपदेष्टव्येति। इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि वेदों के पढ़ने-

२३. महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति और कला-कौशल सम्बन्धी विचार, पृ०११
२४. दयानन्दभाष्य, ऋ०२.३.८
२५. दयानन्दभाष्य, ऋ०२.४१.१६

पढ़ाने का सब मनुष्यों को अधिकार है, और विद्वानों को उनके पढ़ाने का। इसलिये ईश्वर आज्ञा देता है कि हे मनुष्य लोगो! जिस प्रकार मैं तुमको चारों वेदों का उपदेश करता हूँ, उसी प्रकार से तुम उनको पढ़के सब मनुष्यों को पढ़ाया और सुनाया करो। क्योंकि यह चारों वेदरूप वाणी सबकी कल्याण करने वाली है। तथा (आवदानि जनेभ्यः) जैसे सब मनुष्यों के लिये मैं वेद का उपदेश करता हूँ, वैसे ही सदा तुम भी किया करो। (ब्रह्मराजन्याभ्याः शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय) अर्थात् वेदाधिकार जैसा ब्राह्मणवर्ण के लिये है, वैसा ही क्षत्रिय, अर्य्य=वैश्य, शूद्र, पुत्र, भृत्य और अतिशूद्र के लिये भी बराबर है। क्योंकि वेद ईश्वरप्रकाशित है। जो विद्या का पुस्तक होता है, वह सबका हितकारक है। और ईश्वररचित पदार्थों के दायभागी सब मनुष्य अवश्य होते हैं। इसलिये उसका जानना सब मनुष्यों को उचित है।[२६]

उपर्युक्त वेद के प्रमाण से महर्षि ने यह सिद्ध किया है कि वेद पढ़ने का अधिकार मात्र किसी वर्गविशेष का पैतृक अधिकार नहीं है। यह परम पिता परमात्मा के द्वारा सब मनुष्यों के कल्याणार्थ दिया गया है, अतः इस पर सबका समान रूप से अधिकार है। महर्षि का यह प्रमाण इतना पुष्ट और तर्क पर आधारित है, जो वेद मात्र अपने लिये मानते थे, उनका मुख इस प्रमाण के समक्ष मौन होकर रह गया।

उपर्युक्त विस्तृत विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि महर्षि दयानन्द ने समाज के समक्ष जो शिक्षा विषयक आधार प्रस्तुत किया, उसमें मानवमात्र की उन्नति का मूल निहित है। महर्षि के शिक्षा विषयक विचारों का अध्ययन करते समय इस तथ्य का भी स्मरण करना चाहिये कि जन्म के आधार पर महर्षि उस वर्ग से आते हैं, जिसने अध्ययन पर एकाधिकार जमाए रक्खा था। एक प्रकार से उन्होंने अपने वर्ग के हितों की परवाह न करते हुए मानवमात्र के कल्याण के लिये एक योजना समाज के समक्ष रक्खी। जहाँ सारा समाज स्वार्थ के लिये समर्पित हो, वहाँ स्व से ऊपर उठकर वही देख सकता है, जो मन, वचन और कर्म से पवित्र हो और परोपकार के लिये समर्पित हो तथा जिसने सबमें परमात्मतत्त्व का दर्शन कर लिया हो। दयानन्द की इन्हीं विशेषताओं ने उन्हें महर्षि पद पर अभिषिक्त किया है। जिस प्रकार महात्मा गाँधी के लिये बापू सम्बोधन किसी का दिया नहीं है, उसी प्रकार दयानन्द के लिये महर्षि सम्बोधन भी। महर्षि के काल में उनकी मान्यताएँ दूर की कौड़ी प्रतीत होती थीं, परन्तु आज वे सर्वग्राह्य और सर्वस्वीकार्य हैं, यही उनका ऋषित्व है। आज समाज और सरकार ने महर्षि दयानन्द द्वारा प्रस्तुत प्रायः सभी सिद्धान्तों को ग्रहण करके अपनी योजना का अंग बना लिया है। अनिवार्य शिक्षा, निःशुल्क एवं समान शिक्षा, स्त्री-शिक्षा, सर्वशिक्षा अभियान जैसी नीतियाँ मूलतः महर्षि दयानन्द की देन हैं। घोर रूढ़िवाद के युग में महर्षि दयानन्द ने जो इन सर्वहितकारी विचारों को दृढ़ता के साथ उपस्थित किया, वह किसी वैचारिक क्रान्ति से कम नहीं था।

२६. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, अधिकारानधिकारविषय के अन्तर्गत शूद्रों के वेदाध्ययन के प्रमाण रूप में वही मन्त्र प्रस्तुत किया गया है। महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति और कला-कौशल सम्बन्धी विचार, पृ०१४.१५

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ013-33) ISSN 0974 – 8830

वैदिक शब्दार्थ विचार और आचार्य रामनाथ वेदालंकार की मन्त्रार्थदृष्टि

प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री[1]

आचार्य रामनाथ वेदालंकार वेदभाष्यकारों की उस परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसमें वेद मात्र यज्ञीय कर्मकाण्ड तक सीमित नहीं हैं। आचार्य जैमिनि तथा उनके अनुवर्ती स्कन्द, उद्गीथ, दुर्ग, सायण प्रभृति सभी आचार्य एक स्वर से वेद की उपयोगिता यज्ञ तक मानते रहे हैं। आचार्य जैमिनि ने मन्त्र की अर्थवत्ता सिद्ध करने के लिये जितने प्रमाण दिये हैं, उन सब में यज्ञ निहित है। कहने का आशय यह है कि आचार्य जैमिनि यज्ञ के लिये वेद का अस्तित्व स्वीकार करते हैं और उनके अनुसार यज्ञ का फल अदृष्ट या फिर स्वर्ग की प्राप्ति है। लेकिन आचार्य रामनाथ वेदालंकार उक्त परम्परा पर यद्यपि कोई टिप्पणी नहीं करते, तथापि वे गत २५०० वर्षों से चली आ रही परम्परा का अनुगमन करते हुए भी दिखायी नहीं देते, यह तथ्य सिद्ध करता है कि वे उक्त परम्परा का अनुमोदन नहीं करते हैं।

आचार्य रामनाथ वेदालंकार ने जिस मन्त्रार्थ की परम्परा का अनुगमन किया है, क्या यह उनकी स्व दृष्टि है? या फिर किसी विशिष्ट धारा में रहने के फलस्वरूप यह निर्मित हुई है? निश्चित रूप से उत्तर दिया जा सकता है कि यह उनके चिन्तन का सुफल नहीं है। यह परम्परा उन्हें देव दयानन्द के अनुयायी होने के फलस्वरूप प्राप्त हुई है।

आचार्य रामनाथ वेदालंकार ने वेद और वेदार्थ को समझने के लिये अनेक प्रयास किये, जैसे-सामवेदभाष्य, वैदिक नारी, वैदिकशब्दार्थविचार, वेदों की वर्णनशैलियाँ आदि-आदि। प्रस्तुत आलेख आचार्य रामनाथ वेदालंकार के वैदिकशब्दार्थविचार पुस्तक पर आधारित है। उक्त ग्रन्थ में आचार्यवर ने अनेक शब्दों के अर्थों पर विचार किया है। उन सबको लेना तो सम्भव नहीं है, परन्तु हम यहाँ अज शब्द के अर्थचिन्तन पर विचार करते हुए आचार्य प्रवर की मन्त्रार्थदृष्टि का अन्वेषण करने का प्रयास कर रहे हैं।

अनेकार्थसंग्रह के अनुसार अज का अर्थ है-छाग, वर, विष्णु, रघुपुत्र, विधाता, कामदेव।[2] अमरकोष के अनुसार अर्थ है-विष्णु, हर, छाग।[3] उक्त पद की दो व्युत्पत्ति आचार्य प्रवर देते हैं-

प्रथम-'न जायते इत्यजः' कि जो जन्म नहीं लेता, वह अज है। इस पक्ष में न+√जन् से 'ड' प्रत्यय[4] होकर अज शब्द व्युत्पन्न होता है।

द्वितीय- 'अजति गच्छतीत्यजः' कि जो गमन करता रहता है, वह 'अज' है। इस पक्ष में √अज्

---

१. प्रोफेसर एवं अध्यक्ष श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२. अनेकार्थसंग्रह २.६६
३. अमरकोष ३.३०
४. अष्टा०३.२.१०१

से पचादि अच् प्रत्यय[५] होकर अज शब्द व्युत्पन्न होता है।

उपर्युक्त दोनों निर्वचनों के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि प्रथम निर्वचन के आधार पर अज शब्द का अर्थ अनादि और अजन्मा है, जबकि द्वितीय व्युत्पत्ति के आधार पर शीघ्रगमन करने के कारण वह अज है।

उपर्युक्त व्युत्पत्ति और अर्थ देने के उपरान्त आचार्य रामनाथ वेदालंकार श्वेताश्वतर उपनिषद् में वर्णित प्रहेलिका को प्रस्तुत करते हैं, जिसमें अज शब्द ईश्वर, जीव और प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त है।[६]

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥[७]

उपर्युक्त मन्त्र की प्रथम एवं द्वितीय पंक्ति में अज पद का स्त्रीलिंग रूप प्रकृति के अर्थ में तथा पुल्लिंग रूप तृतीय पंक्ति में जीव के अर्थ में और चतुर्थ पंक्ति में ईश्वर के अर्थ में प्रयुक्त है।

वैदिक संहिताओं का जहाँ तक प्रश्न है, उनमें यह अज शब्द, परब्रह्म, जीव, प्रकृति, सूर्य, वह्नि, पवन आदि अर्थों में प्रयुक्त है।[८] प्रस्तुत आलेख में हम उक्त कतिपय अर्थों के परिप्रेक्ष्य में अज शब्द का परीक्षण करते हुए आचार्य प्रवर की मन्त्रार्थदृष्टि को अन्वेषित करने का प्रयास कर रहे हैं-

परब्रह्म

परंब्रह्म अज नाम से अभिहित हुआ है। इसका कारण स्पष्ट करते हुए आचार्य रामनाथ वेदालंकार कहते हैं कि परमात्मा अजन्मा, सर्वव्यापक, कामादि शत्रुओं अथवा दुर्जनों का प्रक्षेपक होने से अज है।[९] यहाँ आचार्यप्रवर ने अज का परमात्मा अर्थ मानने में दोनों व्युत्पत्तियों का उपयोग किया है। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार परब्रह्म अजन्मा तथा द्वितीय व्युत्पत्ति के आधार पर वह सर्वव्यापक, कामादि शत्रुओं अथवा दुर्जनों का प्रक्षेपक सिद्ध होता है। परब्रह्म अर्थ की पुष्टि में प्रमाण देते हुए आचार्य कहते हैं-

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्॥ ऋ० १.१६४.६

कोई जिज्ञासु पूछता है- **(अचिकित्वान्)** वस्तुतः तत्त्व को न जानता हुआ मैं **(अत्र)** इस विद्वत्सभा में **(चिकितुषः)** विदितवेदितव्य **(कवीन्)** विद्वानों से **(विद्मने)** परमार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिये **(पृच्छामि)** प्रश्न कर रहा हूँ। **(न विद्वान्)** मैं विद्वान् नहीं हूँ, जिज्ञासा से प्रेरित होकर प्रश्न कर रहा हूँ, न

५. अष्टा०३.१.१३४ नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः।
६. वैदिकशब्दार्थविचार पृ०१
७. श्वेता०४.५
८. वैदिकशब्दार्थविचार पृ०१
९. वैदिकशब्दार्थविचार पृ०१ अजन्मत्वात्, सर्वगतत्वात्, कामादिरिपूणां दुर्जनानां वा प्रक्षेपकत्वाच्च।

कि किसी की परीक्षा लेने के लिये। मेरा प्रश्न है **(किमपि स्वित्)** कि क्या कोई भी **(एकम् अजस्य रूपे)** एक वस्तु अज के रूप में विद्यमान है? उस अज में क्या वैशिष्ट्य है? सुनो, **(यः)** जिस अज ने **(इमा)** इन **(षट् रजांसि) लोका रजांसि उच्यन्ते** (निरु०४.१९) छः लोक अर्थात् पञ्चभूत, प्रकृति ये सब मिलकर छः। अथवा अग्नि, पृथिवीलोक, वायु, अन्तरिक्षलोक, आदित्य, द्युलोक ये सब मिलकर छः। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और मन ये सब मिलाकर छः। अथवा षट् ऋतुएँ। अथवा तीन प्रकार की भू और द्यु तीन प्रकार, इस प्रकार सब मिलाकर छः लोक होते हैं, मन्त्र भी कहता है कि तीन प्रकार की भूमि और तीन प्रकार के द्युलोक होते हैं- **तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीँरुत द्यून्** (ऋ०२.२७.८)। वह अज इन सबको **(वि, तस्तम्भ)** विशेष करके धारण करता है। अथवा **षट् रजांसि** का तात्पर्य काम आदि षट् शत्रुओं को जो विशेष रूप से स्तम्भित कर देता है। प्रश्न यह है कि अज कौन है? मन्त्र में वर्णित छाग सामान्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह षट् लोकों को धारण करने में समर्थ है। इसलिये यह जन्मादि के बन्धन से पृथक् परमात्मा ही है।[१०] यहाँ तात्पर्यवृत्ति के आधार पर आचार्य प्रवर ने असामान्य छाग का अर्थ परमात्मा ग्रहण किया है।

महर्षि दयानन्द उपर्युक्त मन्त्र को अग्निप्रयोग से विमानादि यान चलाने के प्रकरण में रखते हैं, उक्त मन्त्र का अर्थ करते हुए वे कहते हैं कि प्रस्तुत मन्त्र में एक अविद्वान् व्यक्ति विद्यावान् से विशिष्ट विद्या को जानने के लिये प्रश्न कर रहा है। उसका प्रश्न है कि जो पृथिवी आदि स्थूल तत्त्वों को इकट्ठा करता है, क्या वह प्रकृति या जीव के रूप में एक है, इसको तुम कहो। कहने का आशय यह है कि प्रकृति और जीव के साथ परमात्मा एक या उससे भिन्न है।[११] चाहे हम आचार्य प्रवर के अर्थ का अवलोकन करें या फिर दयानन्द के। दोनों ही मन्त्रार्थों में मन्त्र का वक्तव्य गूढ है। अध्येता को अज की प्रकृति के आधार पर उसके स्वरूप का निर्धारण स्वयं करना है।

सायण उक्त मन्त्र का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि देवता तत्त्व को न जानता हुआ मैं विशेष रूप से उस तत्त्व को जानने की इच्छा से क्रान्तदर्शी तत्त्ववेत्ता से परमार्थ ज्ञान के लिये पूछता हूँ। यह प्रश्न मैं अज्ञानवश पूछ रहा हूँ। जिस परमेश्वर ने छः लोकों को स्थापित किया है। यद्यपि लोक सात हैं, फिर छः लोकों की चर्चा करने का कारण यह है कि सातवाँ लोक अज अर्थात् जन्मादि के बन्धन से रहित चतुर्मुख ब्रह्म के स्वरूप में स्थित है, वह सामान्य रूप से किसी के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। कुछ विशिष्ट उपासक ही अर्चि आदि मार्ग से उसे प्राप्त करते हैं। अथवा **'षट् रजांसि'** विलक्षण षट् ऋतुओं को उसने स्तम्भित किया। अज अर्थात् गमनशील या जन्मरहित आदित्य के रूप में दृश्यमान एकमात्र अद्वितीय कुछ है, जो वाक्, मन आदि से अप्राप्य है, उस तत्त्व के विषय में पूछता हूँ। अथवा **'षट्**

---

१०. वैदिकशब्दार्थविचारः पृ२-०१

११. दयानन्दभाष्य, ऋ०.१.१६४.६ पदार्थः-(अचिकित्वान्) अविद्वान् मैं (चित्) भी (अत्र) इस विद्याव्यवहार में (चिकितुषः) अज्ञानरूपी रोग के दूर करनेवाले (कवीन्) पूरी विद्यायुक्त आप्तविद्वानों को (विद्वान्) विद्यावान् (विद्मने) विशेष जानने के लिये (न) जैसे पूछे वैसे (पृच्छामि) पूछता हूँ, (यः) जो (षट्) छः (इमा) इन (रजांसि) पृथिवी आदि स्थूल तत्त्वों को (वि, तस्तम्भ) इकट्ठा करता है (अजस्य) प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण वा जीव के (रूपे) रूप में (किम्) क्या (स्वित्, अपि) ही (एकम्) एक हुआ है, इसको तुम कहो॥६॥

रजांसि' का तात्पर्य है कि जिसने त्रिविध भूलोकों और त्रिविध द्युलोकों को धारण किया। उस अज परब्रह्म के रूप में नानाविकारों को प्राप्त करने वाला जगत् क्या एक रूप है। नाममात्र अविशेष है, एकरूप है, इस उत्तर की विवक्षा में यह प्रश्न है।[१२] यहाँ मन्त्र में सायण जगत् और परमात्मा की एकता का प्रतिपादन मान रहे हैं, यही उनके उत्तर की विवक्षा है।

आचार्य आत्मानन्द उक्त मन्त्र का भाष्य करते हुए कहते हैं-'न जानता हुआ सम्यक् जानने वाले कवि [प्रौढ विद्वान्] से परोक्षज्ञान के विषय में पूछता हूँ। शास्त्रश्रवणादि करने पर भी मैं परमार्थ रूप से विद्वान् नहीं हूँ। मैं आपकी कृपा से इन काम आदि षट् रजो गुण के विकारों को रोक लूँगा। प्रश्न का कारण यह है कि नित्य आत्मा के रूप में यहाँ एक ही रूप आदरणीय है या अनेक रूप, यह मैं पूछता हूँ। इस विषय में कल्प है-अज्ञानी और अपण्डित मैं कामादि षट् रिपुओं को रोककर पूछता हूँ कि आत्मा एक है या अनेक।'[१३] आत्मानन्द ने मन्त्र में उत्तर की विवक्षा नहीं मानी है। मन्त्र प्रश्न पर ही समाप्त हो जाता है, जबकि अन्य सभी आचार्य प्रश्न के साथ उत्तर को विवक्षित मान रहे हैं।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर कह सकते हैं कि मन्त्रार्थ में आचार्यों के मतभेद के स्थल निम्न

---

१२. सायणभाष्य, ऋ०१.१६४.६ (अचिकित्वान्) देवतातत्त्वमजानन्नहं (चिकितुषः) विशेषेण तत्त्वं जानतः (कवीन्) क्रान्तदर्शिनः अधिगतपरमार्थान् (अत्र) अस्मिन् तत्त्वविषये (पृच्छामि)। किमर्थम्। (विद्मने) देवनाय परमार्थज्ञानाय। किं जानन्नेव पराभवाद्यर्थं नेत्याह। (विद्वान्) (न) पृच्छामि अपि तु अज्ञानादेव। (यः) परमेश्वरः (तस्तम्भ) स्तम्भितवान् नियमितवान्। 'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय' (छा.उ.८.४.१) इति श्रुतेः। किम्। (किम्)। (इमा) इमानि (षट्) (रजांसि) लोकान् रञ्जनात्मकान्। 'लोका रजांस्युच्यन्ते' (निरु.४.१९) इति निरुक्तम्। यद्यपि लोकाः सप्त तथापि सत्यलोकस्य कर्मिणां सर्वेषां साधारणत्वाभावात् षडित्युक्तम्। ननु षडेवोक्ताः सप्तमः किमिति न निर्दिष्टः इति। उच्यते। (अजस्य) जननादिरहितस्य चतुर्मुखस्य ब्रह्मणः (रूपे) स्वरूपे (एकम्) सत्यलोकाख्यं पुनरावृत्तिरहितं स्थानं (किमपि) (स्वित्) किं स्विदेव। तत्र केनाप्यधिगन्तुं शक्यमित्यर्थः। कैश्चिदेवोपासकैः अर्चिरादिमार्गेण गन्तव्यत्वात् इति भावः। यद्वा। षड्रजांसि विलक्षणाः षड्तवः। तान्यस्तम्भयत्तत्त्वम्। अजस्य गमनशीलस्य जन्मरहितस्य वा आदित्यस्य रूपे रूप्यमाणे दृश्यमाने मण्डले एकमद्वितीयं किमपि स्वित्। यत्किंचिदवाङ्मनसगम्यं तत्वमस्ति तत्पृच्छामि। 'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा.उ.१.६.६) इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितं तत्त्वमित्यर्थः। अथवा षडिमानि रजांसि त्रिविधान् भूलोकांश्च यस्तस्तम्भ। 'तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीरुत द्यून्' (ऋ.सू.२२७.८) इति निगमः। तस्याजस्य परब्रह्मणो रूपे नानाविकारभाजि जगति किमपि स्विदेकम् एकात्मकमस्तीति प्रश्नः। अविशेषमस्ति नाममात्रम् एकरूपमस्तीत्युत्तरविवक्षया प्रश्नः। 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यम्' (क.उ.२.६.१३) इति श्रुतेः॥६॥

१३. आत्मानन्दभाष्य, ऋ०१.१६४.६ (अचिकित्वान्) अजानन्। (चिकितुषः) सम्यग्जानतः। (चित्) सम्यक् (कवीन्) ज्ञापने प्रौढान् (पृच्छामि)। (विद्मने) परोक्षज्ञानाय (न) एव विद्वान्। शास्त्रश्रवणादिना (विद्वान्) इव वर्तमानोऽप्यहं परमार्थतो नैव विद्वान्। योऽहं विशेषेण (तस्तम्भ) स्तम्भिष्यामि (इमा) इमानि प्रसिद्धानि कामादीनि (षड्) (रजांसि) मलानि रजोगुणकार्याणि वा युष्मप्रसादात्। प्रश्नकारणमाह। (अजस्य) नित्यस्यात्मनोऽत्र (रूपे) स्वरूपे जगति (किं) (स्विदेकम्) एव रूपमादरणीयम् (अपि) स्विदनेकमेव रूपमादरणीयमिति सोऽहं पृच्छामि। अत्र कल्पः-अज्ञः पृच्छाम्यहं तज्ज्ञाः सम्यग्बुद्ध्या अपण्डितः। एको वानेक आत्मेति योऽहं स्तम्भितषड्रिपुः॥ इति॥६॥

हैं-**अजस्य, एकम्, न, वि तस्तम्भ, विद्मने, रजांसि।**

'अजस्य' का तात्पर्य जहाँ दयानन्द प्रकृति या जीव मानते हैं,[१४] वहीं रामनाथ वेदालंकार परमात्मा ग्रहण करने के पक्ष में हैं,[१५] जबकि आचार्य सायण जननादिरहित चतुर्मुख ब्रह्म के रूप में स्थित सातवाँ लोक लेते हैं[१६] पक्ष में गमनशील, जन्मरहित हिरण्मय पुरुष या फिर आदित्य भी स्वीकार करते हैं[१७] और आत्मानन्द नित्य आत्मा मानते हैं।[१८] यदि शाब्दिक अर्थ देखा जाए तो कह सकते हैं कि प्रकृति, जीव और परमात्मा ये सभी जन्म नहीं लेते हैं, अतः इनको अज नाम से अभिहित किया जा सकता है। उक्त मन्त्र का देवता विश्वेदेवा: है, यदि हम देवता के आधार पर निर्णय करने का प्रयास करें, तब भी कोई विशेष सहायता मिलती दिखायी नहीं देती।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कह सकते हैं कि आचार्य रामनाथ वेदालंकार ने प्रस्तुत मन्त्र में अज का अर्थ परमात्मा ग्रहण किया है। आचार्य प्रवर रामनाथ वेदालंकार आत्मानन्द और सायण को नाम लेकर उद्धृत भी करते हैं, इसलिये यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मन्त्रार्थ में जहाँ उन पर दयानन्द का प्रभाव काम कर रहा है, वहाँ सायण और आत्मानन्द का भी है। दयानन्द के व्याख्यान में परमात्मा का मन्त्र का भाग न होने पर भी प्रश्न के उत्तर से विवक्षित है, जबकि शेष सभी व्याख्याकारों की दृष्टि में यह अज पद का पदार्थ है।

'एकम्' का तात्पर्य दयानन्द **अजस्य** के साथ जोड़कर करते हुए कहते हैं कि क्या जगत् का स्तम्भन करने वाला परमात्मा प्रकृति के रूप में एक हुआ है या फिर जीव के रूप में।[१९] रामनाथ वेदालंकार **'अजस्य रूपे किम् स्वित् एकम्'** क्या कोई एक वस्तु अज अर्थात् परमात्मा के रूप में विद्यमान है?[२०] दोनों आचार्यों के अर्थ करने की दिशा भिन्न है। दयानन्द प्रकृति या जीव में समस्त जगत् के कारण परब्रह्म के एकत्व का दर्शन कर रहे हैं, वहीं रामनाथ वेदालंकार अज अर्थात् परमात्मा के साथ किस अन्य की समानता है, का उत्तर ढूँढने का प्रयास कर रहे हैं। यदि हम सायण के भाष्य में इस बात को जानने का प्रयास करते हैं तो उनका मत है कि लोक सात हैं, **'षट् रजांसि'** से मन्त्र ने छः का कथन कर दिया है, शेष एक बचे हुए सत्यलोक का **'एकम्'** के द्वारा निर्देश किया गया है।[२१] आत्मानन्द की दिशा इन सब आचार्यों से भिन्न है, वे कहते हैं कि आत्मा का एक रूप आदरणीय है या अनेक रूप। कहने का

---

१४. दयानन्दभाष्य, ऋ०१.१६४.६ प्रकृतेर्जीवस्य वा।
१५. वैदिकशब्दार्थविचार पृ०१
१६. सायणभाष्य, ऋ०१.१६४.६ जननादिरहितस्य चतुर्मुखस्य ब्रह्मणः।
१७. सायणभाष्य, ऋ०१.१.६४.६ अजस्य गमनशीलस्य जन्मरहितस्य वा आदित्यस्य रूपे रूप्यमाणे दृश्यमाने मण्डले एकमद्वितीयं किमपि स्वित्। यत्किंचिदवाङ्मनसगम्यं तत्वमस्ति तत्पृच्छामि। 'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयःपुरुषो दृश्यते ' (छा.उ.१.६.६) इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितं तत्त्वमित्यर्थः।
१८. आत्मानन्दभाष्य, ऋ०१.१६४.६ नित्यस्याऽऽत्मनः।
१९. दयानन्दभाष्य, ऋ०१.१६४.६
२०. आत्मानन्दभाष्य, ऋ०१.१६४.६ नित्यस्याऽऽत्मनः।
२१. सायणभाष्य, ऋ०१.१.६४.६ सत्यलोकाख्यं पुनरावृत्तिरहितस्थानम्।

आशय यह है कि आत्मा एक है या अनेक। अपने कथन को विवृत करने के लिये वे निम्न वचन उद्धृत करते हैं-

अज्ञः पृच्छाम्यहं तज्ज्ञाः सम्यग्बुद्ध्या अपण्डितः।
एको वानेक आत्मेति योऽहं स्तम्भितषड्रिपुः॥[२२]

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कह सकते हैं कि जिस प्रकार अज पद का अर्थ अस्पष्ट है, उसी प्रकार **एकम्** पद का अर्थ भी अस्पष्ट है, इसीकारण भाष्यकारों ने अपने-अपने मन्तव्य के अनुसार अर्थ ग्रहण किया है। इनमें से कौनसा अर्थ मूल के अधिक निकट है, कह पाना सम्भव नहीं है।

'न' का अर्थ दयानन्द **'इव'** ग्रहण करते हैं;[२३] वहीं रामनाथ वेदालंकार 'निषेध'।[२४] सायण भी निषेध अर्थ लेते हैं,[२५] जबकि आत्मानन्द दयानन्द के समान **'इव'** अर्थ ग्रहण करने के पक्ष में हैं।[२६] हम इस स्थिति को देखकर कह सकते हैं कि शब्द का क्या अर्थ है, यह अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है, इसके विपरीत भाष्यकार अपनी चिन्तनशक्ति के आधार पर जो अर्थ ग्रहण करना चाहता है, वह अर्थ ग्रहण कर लेता है। इसमें औचित्य और अनौचित्य का प्रश्न उनकी दृष्टि में महत्त्वपूर्ण नहीं है। ऐसी अनिश्चय की स्थिति मन्त्रार्थ की दृष्टि से कितनी उपयोगी है, इस विषय पर पाठक स्वयं विचार करें। **'न'** एक ऐसा पद है, यदि उसका अर्थ निषेध मान लिया जाए तो मन्त्र का सम्पूर्ण अर्थ ही परिवर्तित हो जाता है। ऐसे पद के विषय में अर्थनिर्धारण का आधार न होना, आगे आने वाले भाष्यकारों को स्वच्छन्द बनाने का मार्ग प्रशस्त करता है।

आचार्य यास्क ने **'न'** के अर्थ के निर्धारण करने का एक मार्ग दिया है, उसके अनुसार संज्ञा से पूर्व में आने पर यह निषेधार्थक होता है, जबकि पश्चात् आने पर यह उपमार्थक होता है।[२७] यदि इस आधार पर परीक्षण करें तो आचार्य प्रवर का **'न'** का निषेधात्मक अर्थ ग्रहण करना यास्क के मापदण्ड के अनुरूप है।

'वि तस्तम्भ' का दयानन्द ने **'इकट्ठा करता है'**, अर्थ किया है, रामनाथ वेदालंकार ने **'विशेष करके धारण करता है'** अर्थ ग्रहण किया है। अथवा **षट् रजांसि** का तात्पर्य काम आदि षट् शत्रुओं को जो विशेष रूप से स्तम्भित कर देता है किया है। सायण स्तम्भित [नियमित] किया, यह अर्थ ग्रहण करते

---

२२. आत्मानन्दभाष्य, ऋ०१.१६४.६ एकमेव रूपमादरणीयम्, अनेकमेव रूपमादरणीयमितिसोऽहं पृच्छामि।
२३. दयानन्दभाष्य, ऋ०१.१६४.६
२४. वैदिकशब्दार्थविचार पृ०१-२
२५. सायणभाष्य, ऋ०१.१६४.६ किं जानन्नेव पराभवाद्यर्थं नेत्याह। पृच्छामि अपि तु अज्ञानादेव।
२६. आत्मानन्दभाष्य, ऋ०१.१६४.६
२७. निरु०१.४ नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायामुभयमन्वधायं 'नेन्द्रं देवममंसतेति' (ऋ०१०.८६.१) प्रतिषेधार्थीयः पुरस्तादुपाचारस्तस्य यप्रतिषेधति। 'दुर्मदासो न सुरायाम्' (ऋ०८.२.१२) इत्युपमार्थीय उपरिष्टादुपचारस्तस्य येनोपमिमीते।

हैं।[२८] जबकि आत्मानन्द स्तम्भित का अर्थ रोकना करते हैं, यह रोकना कामादि षट् रिपुओं से है।[२९] धारण करना, अन्तरिक्ष में स्थापित करना अथवा रोकना अर्थ हो, सभी अर्थ उक्त धातु से ग्रहण किये जा सकते हैं।

'विद्मने' का अर्थ दयानन्द ने **'विज्ञानाय'** किया है,[३०] रामनाथ वेदालंकार ने **'परमार्थज्ञानाय'** लिया है,[३१] सायण **'देवनाय परमार्थज्ञानाय'** करते हैं,[३२] वहीं आत्मानन्द **'परोक्षज्ञानाय'** करते हैं।[३३] प्रस्तुत स्थल पर भी रामनाथ वेदालंकार सायण का अनुसरण करते दिखायी देते हैं।

'षट् रजांसि' पद उक्त मन्त्र के सबसे अधिक विवादास्पद पदों में से हैं। रामनाथ वेदालंकार ने उक्त पद के व्याख्यान में सबसे अधिक विकल्प प्रस्तुत किये हैं। उक्त पद का अर्थ करते हुए दयानन्द कहते हैं-**'पृथिव्यादीनि स्थूलतत्त्वानि'**। यहाँ सम्भवतः दयानन्द का मन्तव्य पञ्च महाभूतों से है, लेकिन पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों के साथ वे छठे तत्त्व के रूप में किसे ग्रहण कर रहे हैं, यह अस्पष्ट है। रामनाथ वेदालंकार **'षट् रजांसि'** के निम्न छः अर्थ देते हैं-१. **लोका रजांसि उच्यन्ते** (निरु०४.१९) छः लोक अर्थात् पञ्चभूत, प्रकृति ये सब मिलकर छः, २. अग्नि, पृथिवीलोक, वायु, अन्तरिक्षलोक, आदित्य, द्युलोक ये सब मिलकर छः, ३. पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और मन ये सब मिलाकर छः, ४. षट् ऋतुएँ. ५. तीन प्रकार के भूलोक और तीन प्रकार के द्युलोक, सब मिलाकर छः, इनकी मन्त्र से पुष्टि हो जाती है- **तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रींरुत द्यून्** (ऋ०२.२७.८), ६. **षट् रजांसि** का तात्पर्य काम आदि षट् शत्रु।

महर्षि दयानन्द ने **'षट् रजांसि'** का अर्थ **पृथिव्यादि स्थूलतत्त्व** ग्रहण किया है, उसको रामनाथ वेदालंकार ने प्रथम ग्रहण किया है. और दयानन्द के मन्त्रव्याख्यान में छठे पदार्थ की जो अस्पष्टता रह गयी थी, उसको भी प्रकृति का परिगणन करके स्पष्ट कर दिया है, साथ ही यास्क के प्रमाण से उसे पुष्ट किया है। लेकिन यहाँ यह द्रष्टव्य है कि दयानन्द ने पृथिवी आदि स्थूल महाभूत लिये हैं, जबकि रामनाथ वेदालंकार पञ्चभूत अर्थात् सूक्ष्मभूतों का ग्रहण कर रहे हैं। यद्यपि सूक्ष्मता से विचार किया जाए तो दयानन्द का मत अधिक युक्तिसंगत है, क्योंकि लोक का तात्पर्य है-जिसका दर्शन किया जा सके। इस दृष्टि से दयानन्द का मत समीचीन प्रतीत होता है, परन्तु इसको स्वीकार करने में छठा स्थूल तत्त्व कौनसा है, अनुत्तरित रह जाता है। संभवतः इससे प्रेरित होकर रामनाथ वेदालंकार ने **'षट् रजांसि'** से प्रकृति और पञ्चभूतों **(सूक्ष्मभूतों)** का ग्रहण किया है।

षट् रजांसि का द्वितीय अर्थ रामनाथ वेदालंकार ने अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक किया है। इन छः तत्त्वों में से तीन (पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक) लोक हैं और तीन उनके

---

२८. सायणभाष्य, ऋ०१.१६४.६ स्तम्भितवान् नियमितवान्। 'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय' (छा.उ.८.४.१) इति श्रुतेः।
२९. आत्मानन्दभाष्य, ऋ०१.१६४.६
३०. दयानन्दभाष्य, ऋ०१.१६४.६
३१. वैदिकशब्दार्थविचार पृ०१-२
३२. सायणभाष्य, ऋ०१.१६४.६
३३. आत्मानन्दभाष्य, ऋ०१.१६४.६

अधिष्ठाता (अग्नि, वायु, आदित्य) देवता हैं। यह आचार्य यास्क के **'तिस्रो देवताः'** का व्याख्यान प्रतीत होता है। इस अर्थ को ग्रहण करने से छः की समस्या का सफलता पूर्वक समाधान हो जाता है, परन्तु क्या अग्नि, वायु और आदित्य को लोक मानकर रजस् पद से ग्रहण किया जा सकता है, यह अवश्य विचारणीय है।

षट् रजांसि का तृतीय अर्थ रामनाथ वेदालंकार ने पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और मन ग्रहण किया है। यदि रजस् पद के मूल अर्थ **रञ्जनाद् रजांसि** को ध्यान में रक्खा जाए तो कह सकते हैं कि विषयों से रंग जाने के कारण ये भी रजस् हैं। आचार्य आत्मानन्द ने इसका कुछ संकेत देते हुए कहा है-**'मलानि रजोगुणकार्याणि वा'**। उक्त अर्थ को ग्रहण करने के मूल में यास्क का आख्यातज सिद्धान्त काम कर रहा है, परन्तु उसके अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण से उक्त अर्थ की पुष्टि होती दिखायी नहीं देती। इसलिये यह कहना उपयुक्त प्रतीत होता है कि यौगिक आधार पर अर्थ ग्रहण करने की भी एक सीमा है, उसका उल्लंघन न हो इसका अवश्य ध्यान रखा जाना चाहिये।

षट् रजांसि का चतुर्थ अर्थ रामनाथ वेदालंकार ने षट् ऋतुएँ किया है। आचार्य सायण भी यह अर्थ करते हैं, परन्तु वे इन ऋतुओं को विलक्षण बतलाते हैं।[३४] यदि रजस् के रञ्जनपरक अर्थ को ध्यान में रक्खा जाये तो कह सकते हैं कि ऋतुएँ भी प्रकृति को अपने रंग में रंग देती हैं। लेकिन समस्या वहीं आकर रुकती है कि परम्परा भी क्या ऋतुओं को रजस् नाम से अभिहित करती आयी है? या केवल यौगिक आधार पर अर्थ की संगति लगाते हुए मन्त्रार्थ किया जा सकता है? आधुनिक समीक्षकों को इस विषय में गम्भीर चिन्तन करने के उपरान्त मर्यादा को रेखांकित करना चाहिये।

षट् रजांसि का पञ्चम अर्थ रामनाथ वेदालंकार ने तीन प्रकार के भूलोक और द्युलोक ग्रहण किया है। मन्त्र से भी इस अर्थ की पुष्टि होती है- **तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीँरुत द्यून्** (ऋ०२.२७.८)। आचार्य सायण भी यह अर्थ ग्रहण करते हैं और प्रमाण में उक्त मन्त्र प्रस्तुत करते हैं।[३५] मन्त्र से भी तीन भूलोकों और द्युलोकों की अवधारणा की पुष्टि होती है, परन्तु वे तीन प्रकार कौनसे हैं, यह तथ्य सायण और रामनाथ वेदालंकार के व्याख्यान से स्पष्ट होता हुआ दिखायी नहीं देता है।

षट् रजांसि का षष्ठ अर्थ रामनाथ वेदालंकार ने **षट् रजांसि** का तात्पर्य काम आदि षट् शत्रु लिया है। आचार्य आत्मानन्द ने उक्त सम्पूर्ण सूक्त का अर्थ अध्यात्मपरक किया है, अतः वे भी **षट् रजांसि** का अर्थ कामादि षट् मल अथवा षट् रजोगुण के कार्य करते हैं।[३६] रञ्जनकर्म करने के कारण कामादि मलों अथवा शत्रुओं को रजस् कहा जा सकता है।

आचार्य रामनाथ वेदालंकार ने उक्त **षट् रजांसि** पद के छः अर्थ प्रस्तुत किये हैं, उनमें से प्रथम अर्थ आचार्य दयानन्द से ग्रहण किया है, द्वितीय अर्थ निरुक्त के **तिस्र देवताः** से प्रभावित है, तृतीय अर्थ

---

३४. सायणभाष्य, ऋ०१.१६४.६ यद्वा। षड्रजांसि विलक्षणाः षड्तवः। तान्यस्तम्भयत्तत्त्वम्।
३५. सायणभाष्य, ऋ०१.१६४.६ अथवा षडिमानि रजांसि त्रिविधान् भूलोकांश्च यस्तस्तम्भ। 'तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीरुत द्यून्' (ऋ.सू.२२७.८) इति निगमः।
३६. आत्मानन्दभाष्य, ऋ०१.१६४.६ इमानि प्रसिद्धानि कामादीनि षड् रजांसि मलानि रजोगुणकार्याणि वा।

आत्मानन्द के निकट है, चतुर्थ और पञ्चम अर्थ सायण से ग्रहण किया है तथा षष्ठ अर्थ आत्मानन्द के प्रभाव से ग्रहण किया गया है। इस प्रकार **षट् रजांसि** के सभी अर्थ ऐसे किये गये हैं, जिनमें किसी न किसी परम्परा का आश्रय लिया गया है।

रजांसि पद के प्रसंग में जिस स्थिति का दर्शन हो रहा है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भाष्यकार अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप अर्थ ग्रहण कर रहे हैं। यदि इसका निहितार्थ ग्रहण किया जाए तो कह सकते हैं कि सभी ने अपने मन की वृत्ति को मन्त्र पर आरोपित करके अर्थ का सृजन किया है।

यदि उक्त अज पद के सम्बन्ध में विचार करें तो कह सकते हैं कि मन्त्र की दिशा परमात्मपरक है। दयानन्द ने अवश्य अज का तात्पर्य प्रकृति या जीव लिया है, लेकिन उनकी दृष्टि में भी मन्त्र का निहितार्थ परमात्मा के प्रतिपादन में है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि भाष्यकार किसी निश्चित संकेत के आधार पर अर्थ ग्रहण नहीं करते, वरन् अपनी मनःस्थिति के अनुकूल अर्थ ग्रहण करते हैं। यह प्रवृत्ति वेद के पोषण में किस सीमा तक सहायक है, इस पर गम्भीरता पूर्वक मनन करने की आवश्यकता है।

आचार्य रामनाथ वेदालंकार अज शब्द के परब्रह्म परक होने में एक अन्य प्रमाण प्रस्तुत करते हैं-

तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः॥[३७]

(आपः) आपः अर्थात् व्याप्त। प्रकृतिरूप समत्व को प्राप्त होकर सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों ने **(तमित्)** उसी **(गर्भम्)** कारणावस्था में निहित तत्त्व को **(प्रथमम्)** पहले **(दध्रे)** अपने अन्दर स्थापित किया। **(यत्र)** जिस गर्भ में **(विश्वे देवाः)** सभी महद्, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा प्रभृति **(समगच्छन्त)** संगत हुए। **(एकम्)** कारण में एकीभूत उस **(अजस्य)** जन्मरहित नित्य परमात्मा के **(नाभौ अर्पितम्)** जैसे नाभि से सम्बद्ध गर्भ होते हैं, उसी प्रकार परमात्मा से सम्बद्ध है, **(यस्मिन्)** जिस एक रूप में **(विश्वानि)** समस्त **(भुवनानि)** भूतजात स्थित होते हैं, यह सर्गविचार है।[३८]

उपर्युक्त मन्त्र में अजस्य पद आया है, उसका अर्थ करता हुआ महीधर कहता है कि जन्मरहित परमेश्वर की नाभिस्थानीय स्वरूप के मध्य में एकविभक्तिक अर्थात् अनन्यभूत बीजरूप कुछ स्थापित किया।[३९] महीधर के वक्तव्य को पढ़ने के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि परमात्मा की नाभिस्थानीय स्वरूप में किसी ने गर्भ स्थापित किया अर्थात् गर्भ स्थापित करने वाला तत्त्व कोई और है, परन्तु रामनाथ वेदालंकार इस विसंगति से बचते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार गर्भ नाभि से सम्बद्ध होते हैं, उसी प्रकार

---

३७. ऋ०१०.८२.६, यजु०१७.३०
३८. वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०२
३९. यजु१७.३०. अजस्य जन्मरहितस्य परमेश्वरस्य नाभावधि नाभिस्थानीयस्य स्वरूपस्य मध्ये एकविभक्तिमनन्यभूतं किंचिद् बीजं गर्भरूपमर्पितं स्थापितम्।

यह संसार परमात्मा से सम्बद्ध है अर्थात् उसे किसी अन्य ने सम्बद्ध नहीं किया, वह ऋत नियम से सम्बद्ध चला आ रहा है।[४०] आचार्य सायण उक्त मन्त्र का व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि उसी विश्वकर्मा को सृष्टि से पूर्व आपः ने धारण किया, जहाँ समस्त देव इन्द्रादि संगत होते हैं। उस अज की नाभि में एक अण्डा स्थित है, जिस अण्डे में समस्त भूतजात स्थित होते हैं। अथवा जन्मरहित ब्रह्म की स्वनिर्मित जल में सोते हुए नाभि में समस्त जगत् को बाँधने वाले उदक में एक ब्रह्माण्ड स्थापित किया। इस विषय में मनु का प्रमाण है-सृष्टि के आदि में जल हुआ, उसी में वीर्य गिरा, उससे कोटि सूर्य के समान आभामण्डित सुवर्ण का अण्डा पैदा हुआ।[४१]

जहाँ रामनाथ वेदालंकार ने **आपः** का अर्थ प्रकृति किया है, वहाँ सायण जल कर रहे हैं। **विश्वे देवाः** का अर्थ सायण इन्द्रादि करते हैं, जबकि रामनाथ वेदालंकार महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा आदि लेने के पक्ष में हैं। उक्त सूक्त का देवता विश्वकर्मा है, अतः सभी भाष्यकारों ने **तम्** का अर्थ **विश्वकर्मा** लिया है, परन्तु रामनाथ वेदालंकार **तमित्** को गर्भ के साथ जोड़कर अर्थ करते हैं। और एक बार भी विश्वकर्मा का नाम नहीं लेते हैं। हम कह सकते हैं कि एक प्रकार से आचार्य प्रवर सूक्त के प्रकरण से काटकर मन्त्रार्थ कर रहे हैं। अर्थ में नवीनता अवश्य है, परन्तु देवता की उपेक्षा विचारणीय हो सकती है।

इसके अतिरिक्त यदि दयानन्द की दृष्टि से विचार करें तो आचार्य दयानन्द ने प्रमुख रूप से **आपः** के दो अर्थ किये हैं-१. उदक. २. प्राण।[४२] परन्तु दयानन्द या किसी अन्य भाष्यकार या फिर किसी अन्य स्रोत से आपः का अर्थ प्रकृति सिद्ध होता हुआ दिखायी नहीं देता है। इसी प्रकार **विश्वे देवाः** का अर्थ महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा भी किसी स्रोत से पुष्ट होता हुआ दिखायी नहीं देता है। भाष्यकार के भाष्य में नवीनता स्वागतयोग्य है, परन्तु केवल यौगिक आधार पर नवीनता को आकार देना विचारणीय हो सकता है।

समुद्रोऽसि विश्वव्यचा अजोऽस्येकपादहिरसि बुध्न्यो वागस्यैन्द्रमसि सदोऽस्यृतस्य द्वारौ।

---

४०. वैदिकपदार्थविचार, ऋ०१०.८२.६ अजस्य जन्मरहितस्य परमात्मनः नाभौ अर्पितं, यथा नाभ्या सम्बद्धा गर्भा जायन्ते तथा तेन परमात्मना सम्बद्धमित्यर्थः।

४१. सायणभाष्य, ऋ०१०.८२.६ अनया पूर्वमत्रोक्तस्य प्रश्नस्योत्तरमभिधीयते। (तमित्) तमेव विश्वकर्माणम् (गर्भम्) गर्भस्थानीयम् (प्रथमम्) इतरसृष्टेः पूर्वम् (आपः) (दध्रे) धृतवत्यः। (यत्र) गर्भे (विश्वे) सर्वे (देवाः) इन्द्रादयः (समगच्छन्त) संगता भवन्ति। तस्य (अजस्य) (नाभावधि) नाभौ। अधीति सप्तम्यर्थानुवादी। (एकमर्पितम्) इत्यण्डाभिप्रायेणोक्तम्। अण्डं हि प्राक्सर्गान्नाभिस्थाने तिष्ठति। (यस्मिन्) अण्डे (विश्वानि) (भुवनानि) सर्वाणि भूतजातानि (तस्थुः) तिष्ठन्ति। अथवा। अजस्य जन्मरहितस्य ब्रह्मणः स्वसृष्टे जले शयानस्य नाभौ सर्वजगद्बन्धक उदक एकं ब्रह्माण्डमर्पितं स्थापितम्। शिष्टं समानम्। अथास्मिन्नर्थे स्मृति-'अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवाकिरत्। तदण्डमभवद्धैमं सूर्यकोटिसमप्रभम्' (मनु.१.८-९) इति॥६॥

४२. दयानन्दभाष्य, ऋ० १.८.७ जलानि, वाऽऽप्नुवन्ति शब्दोच्चारणादिव्यवहारान् याभिस्ता आपः प्राणाः। आप इत्युदकनामसु पठितम्। (निघं०१.१२) आप इति पदनामसु पठितम्। (निघं०५.३) आभ्यां प्रमाणाभ्यामप्शब्देनात्रोदकानि सर्वचेष्टाप्राप्तिनिमित्तत्वात् प्राणाश्च गृह्यन्ते।

मा मा सन्ताप्तमध्वनामध्वपते प्र मा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि देवयाने भूयात्।।[४३]

मन्त्र का देवता अग्नि है। परमात्मारूपी अग्नि से प्रार्थना की जा रही है। हे परमात्मन्! **(समुद्रोऽसि)** उपादान कारण प्रकृति में से जिस निमित्त कारण के द्वारा भूत जगत् बाहर की ओर आते हैं, या ज्ञान का पारावार होने से तुम समुद्र हो, **(विश्वव्यचाः)** सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त होने से तुम विश्वव्यचा हो, **(अजोऽसि)** अजन्मा होने से तू अज है, **(एकपाद्)** तुम्हारे एक पाद में समस्त विश्व समाहित है, मन्त्र कहता है-**'पादोऽस्य विश्वा भूतानि'** (ऋ०१०.९०.३), इसलिये तुम एकपाद हो, **(अहिरसि)** समस्त विद्याओं में व्यापनशील होने से अहि हो, [दयानन्द], हीन नहीं होते हो, इसलिये अहि हो, [महीधर]। **(बुध्न्यः)** बुध्न्य का अर्थ अन्तरिक्ष, मस्तिष्क या हृदय है, अतः इनमें निवास करने से तुम बुध्न्य हो। अथवा अन्तरिक्ष में रहने वाला मेघ हो अर्थात् मेघ के समान जीवन प्रदाता हो, **(वागसि)** हे परमात्मन्! तुम वेदवाणी का उपदेश करने से वाक् हो, **(ऐन्द्रमसि)** इन्द्र अर्थात् जीवात्मा के बल होने से ऐन्द्र हो। **(ऋतस्य द्वारौ)** हे सत्य के द्वारभूत जीवात्मन् और परमात्मन्! तुम दोनों **(मा)** मुझे **(मा सन्ताप्तम्)** सन्तप्त मत करो। **(अध्वानाम् अध्वपते)** हे अध्वपते! सभी के जीवनपथ के रक्षक परमात्मन्! **(मा)** मुझे **(तिर)** जीवनमार्ग पर बढ़ाओ। **(देवयाने)** जिस देवयान के **(पथि)** मार्ग में सदाचारी विद्वान् जाते हैं, उस मार्ग पर **(मे)** मेरा **(स्वस्ति)** कल्याण हो, ऐसी प्रार्थना है।[४४]

उपर्युक्त मन्त्र का व्याख्यान महर्षि दयानन्द करते हुए कहते हैं-'जैसे परमेश्वर सब प्राणियों का गमनागमन कराने हारे जगत् में व्यापक और अजन्मा है, जिसके एक पाद में विश्व है वा व्यापनशील तथा अन्तरिक्ष में होनेवाला है और वाणीरूप है, परमैश्वर्य्य का स्थान रूप है और सत्य के मुखों को संताप कराने वाला नहीं है। हे धर्म-व्यवहार के मार्गों को पालन करने हारे विद्वानो! वैसे तुम भी संताप न करो। हे ईश्वर! मुझ को धर्मशिल्प के मार्ग से पार कीजिये और मेरे इस विद्वानों के जाने-आने योग्य मार्ग में जैसे सुख हो, वैसा अनुग्रह कीजिये।'[४५]

उपर्युक्त मन्त्र के व्याख्यान के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द के मार्ग का अनुसरण करते हुए भी आचार्य रामनाथ वेदालंकार ने अनेकशः मौलिकता का परिचय दिया है। जैसे दयानन्द **समुद्र** का अर्थ गमनागमन कराने हारा जगत् करते हैं, जबकि रामनाथ वेदालंकार **'समुद्द्रवन्ति भूतानि येन निमित्तकारणेन प्रकृत्युपादानात् स समुद्रः ज्ञानपारावारो वा तथाविधः असि।'** उपादान कारण प्रकृति में से जिस निमित्त कारण के द्वारा भूत जगत् बाहर की ओर आते हैं, या ज्ञान का पारावार होने से वह समुद्र है। इसी प्रकार **ऋतस्य द्वारौ** का अर्थ दयानन्द **'(ऋतस्य) सत्यस्य कारणस्य व्यवहारस्य वा (द्वारौ) बाह्याभ्यन्तरस्थे मुखे'** हे धर्म-व्यवहार के मार्गों को पालन करने हारे विद्वानो! करते हैं, जबकि रामनाथ वेदालंकार **'ऋतस्य सत्यस्य द्वारौ द्वारभूतौ हे परमात्मजीवात्मानौ'** हे सत्य के द्वारभूत जीवात्मन् और परमात्मन्! करते हैं।

---

४३. यजु०५.३३
४४. वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०३
४५. दयानन्दभाष्य, यजुर्वेद ५.३३

आचार्य प्रवर ने क्वचित् मन्त्र के देवता का उल्लेख किया है और क्वचित् मन्त्र के देवता का उल्लेख किया विना ही मन्त्रार्थ किया है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि जहाँ उन्हें मन्त्रार्थ करते समय देवता का प्राधान्य प्रतीत हुआ, वहाँ उन्होंने देवता का उल्लेख किया है और जहाँ देवता गौण है, उसका उल्लेख किये विना भी अर्थ की संगति हो सकती है, वहाँ उसका उल्लेख नहीं किया है। जबकि सिद्धान्त यह है कि विना ऋषि, देवता और छन्द के मन्त्रार्थ नहीं करना चाहिये।[४६] आधुनिक भाष्यकारों में महर्षि दयानन्द ने ऋषि, देवता और छन्द देकर प्राचीन परम्परा का अनुगमन किया है। यह उचित प्रतीत होता है कि मन्त्रार्थ करते समय ऋषि और छन्द का उल्लेख भले ही न हो, पर देवता का उल्लेख अवश्य होना चाहिये और मन्त्रार्थ के साथ उसकी संगति भी लगायी जानी चाहिये।

जीवात्मा

आचार्य रामनाथ वेदालंकार कहते हैं कि अज का एक अर्थ जीव भी होता है। वह उत्पन्न नहीं होता या फिर शरीर में कर्मफल के भोग के लिये गमन करता है या फिर कर्म करता है या शत्रुओं का प्रक्षेप करता है, इसलिये जीवात्मा को अज कहते हैं।[४७] मन्त्र से जीवात्मापरक अर्थ पुष्ट करने के लिये आचार्यप्रवर निम्न मन्त्र देते हैं-

अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्॥ ऋ० १० . १६ . ४

उक्त मन्त्र का विनियोग अन्त्येष्टिकर्म में है। जीवितशरीर के दो भाग हैं-१. अज अर्थात् नित्यभाग आत्मा, २.पाञ्चभौतिक देह। अजभागविषय में मन्त्र में प्रार्थना की जा रही है। (जातवेदः) हे जातवेद! प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों को जानने वाले हे परमात्मन्! **(अजः भागः)** मृत शरीर से निकलकर पुनर्जन्म के लिये जाने वाला मृतक का जीवात्मरूप भाग, **(तम्)** उसको **(तपस्व)** पके हुए कर्मफल की प्राप्ति के लिये प्रेषित करो। **(ते)** तेरी **(शोचिः)** पवित्र न्याय की शक्ति **(तम्)** उसको **(तपतु)** फल के परिपाक के लिये उन्मुख करे, **(ते)** तेरी **(अर्चिः)** प्रदीप्त क्रियाशक्ति **(तम्)** उसको **(तपतु)** फल के लिये उन्मुख करे। **(याः)** जो **(ते)** तेरे **(शिवाः)** सुख प्रदान करने के **(तन्वः)** स्वरूप वाले और जो तेरे न्याय करने के गुण-कर्म-स्वभाव हैं, **(ताभिः)** उनसे **(एनम्)** इस मृतक जीवात्मा को **(सुकृताम्)** पुण्यकारी **(लोकम्)** लोकों को **(वह)** पहुँचाओ। मन्त्र कहता है-**जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः॥** (ऋ०१.१६४.३०) **मृतस्य**=मृत शरीर का **अमर्त्यः**=अमरणधर्मा **जीवः**=जीव **मर्त्येन**=मरणधर्म वाले शरीर से **सयोनिः**=योनिरूपी गृह को प्राप्त होकर **स्वधाभिः**=भोग की इच्छाओं से **चरति**=विचरण करता है।[४८]

---

४६. प्रथमाष्टक, प्रथमाध्याय की भूमिकात्मक कारिका -अर्थज्ञान ऋषिज्ञानं भूयिष्ठमुपकारकम्। वक्ष्यन्त ऋषयस्तस्मात् स्वरूपस्थास्तु देवताः॥

४७. वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०३ न जायते नित्यत्वाद्, अजति गच्छति शरीराणि कर्मफलभोगाय, अजति कर्माणि करोतीति वा, शत्रून् प्रक्षिपतीति वा। शत्रून् प्रक्षिपतीति वा।

४८. वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०३

आचार्य उद्गीथ उक्त मन्त्र का अर्थ करते हुए कहते हैं कि उत्पन्न न होने वाला, नित्य, अन्तस् में रहने वाला शरीरेन्द्रियभाग से व्यतिरिक्त जो अज है, अङ्गार के ताप से उस भाग का संस्कार करो, तेरी सुख प्रदान करने वाली मूर्तियाँ इस यजमान को शोभनकर्म करने वाले पितृलोक में ले जायें।[४९]

उद्गीथ और आचार्यप्रवर के समान सायण भी अज का अर्थ जीवात्मा ही ग्रहण करते हैं और कहते हैं कि जन्म से रहित शरीर-इन्द्रिय आदि भागों से व्यतिरिक्त अन्तस् में रहने वाला जो भाग है, हे अग्ने! अपने ताप से उस भाग को तप्त करो, उसी प्रकार तुम्हारी शोककारक ज्वालाविशेष उस भाग को भी तप्त करे। इसके अतिरिक्त तेरी प्रदीप्त होने वाली ज्वालाविशेष उसको भी तप्त करे। तप्त, शोचिः, अर्चिः शब्दों में संताप के तारतम्य का भेद है। हे जातवेद! तेरी जो मूर्तियाँ हैं, वे सुख की हेतु हैं, न कि तापप्रदान करने वाली, उन मूर्तियों से प्रेत **(मृतात्मा)** को शोभनकर्म करने वाले स्थान में ले जाओ।[५०]

उपर्युक्त आचार्यत्रय के मन्त्रार्थ पर दृष्टिपात करने पर स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ उद्गीथ और सायण तपसा, तपतु, तपस्व आदि पदों का अर्थ ताप से तप्त करना मान रहे हैं, वहीं आचार्य प्रवर जीवात्मा को परिपक्व फल को प्राप्त कराने के लिये उन्मुख करने की बात कर रहे हैं। जब जीवात्मा शरीर से बाहर निकल चुका है, उस समय उसे अङ्गार पर रक्खें या शीतल हिम पर, उसे न तो उससे कष्ट होता है और न सुख। इसलिये उद्गीथ और सायण की मन्त्रार्थ की दिशा प्रेतपरक होते हुए भी मरणोत्तर जीवन की प्रतीति नहीं कराती हैं, जबकि मन्त्र का उद्देश्य मरणोत्तर जीवन की दिशा में आगे बढ़ने का है।

आचार्य प्रवर अज पद के जीवात्मा अर्थ की दृष्टि से एक और उदाहरण देते हैं-

आ न॑यै॒तमा र॑भस्व सु॒कृतां॑ लो॒कमपि॑ गछतु प्रजा॒नन्।
ती॒र्त्वा तमां॑सि बहु॒धा म॒हान्त्य॒जो नाक॒मा क्र॑मतां तृ॒तीय॑म्॥१॥ (अथर्व० ९.५.१)

इस मन्त्र का देवता अज है। सायण इस मन्त्र का विनियोग बताते हुए कहते हैं कि पञ्चौदन नाम के यज्ञ में आहुति दिये जाते हुए जीवित और मारित अज की इस सूक्त में प्रशंसा की गयी है। इस प्रकार लाया गया अज उक्त प्रकार से मारे जाने और संस्कृत किये जाने पर इन्द्र को तृप्त करके तृतीय नाक नाम

---

४९. उद्गीथभाष्य, ऋ०१०.१६.४ (अजः) अनुत्पत्तिधर्मकः नित्यः अन्तरपुरुषलक्षणः (भागः) शरीरेन्द्रियादिभागस्य व्यतिरिक्तः (तम्) तम् (तम्) भागम् (तपसा) सन्तापेनाऽङ्गारगतेन (तपस्व) सन्तापय संस्कुर्वित्यर्थः (तम्) तम् एव भागम् (ते) तव (शिवाः) सुखाः प्रह्लादिन्यः (तन्वः) मूर्तयः (ताभिः) तनुभिः (वह) प्रापय (एनम्) यजमानम् (सुकृताम्) शोभनकर्मकारिणां पितृणाम् (लोकम्) स्थानम्। सुकृताम् एव लोकम् (उ) उ इति एवार्थे सुकृताम् एव लोकम्।

५०. सायणभाष्य, ऋ०१०.१६.४ (अजः) जननरहितः शरीरेन्द्रियादिभागव्यतिरिक्तोऽन्तरपुरुषलक्षणो यः (भागः) अस्ति हे अग्ने ते त्वदीयेन (तपसा) तापनेन (तम्) तादृशं भागम् (तपस्व) तप्तं कुरु। तथा (ते) तव (शोचिः) शोकहेतुः ज्वालाविशेषः (तम्) भागम् (तपतु) संस्करोतु। अपि च (ते) तव (अर्चिः) भासको ज्वालाविशेषः (तम्) भागं तपतु संस्करोतु। तपःशोचिरर्चिःशब्दानां संतापतारतम्येन भेदः। हे (जातवेदः) (ते) तव (याः) (तन्वः) मूर्तयः (शिवाः) सुखहेतवो न तु तापप्रदाः (ताभिः) (एनम्) तनूभिः प्रेतम् (सुकृताम्) शोभनकर्मकारिणाम् (लोकम्) स्थानम् (वह) प्रापय। उशब्दः पूरणः॥

के स्वर्ग में अथवा सुकृत पुण्यलोक में जाता है।[५१] आचार्य प्रवर इस विनियोग पर अपनी प्रतिक्रिया देते हुए कहते हैं कि आश्चर्य है कि छाग पशु के अग्नि में आहुति दिये जाने पर स्वर्गगमन मान लिया गया है, यह कितना विचित्र मार्ग है। वस्तुतः, अज यहाँ जीवात्मा है, जो अनादि और अनश्वर है, तीसरा नाक मोक्षलोक है, जिसके लिये कहा गया है-**यत्र॑ दे॒वा अ॒मृत॑मानशा॒नास्तृ॒तीये॒ धाम॑न्न॒ध्यैर॑यन्त।** (यजु०३२.१०)।

उक्त मन्त्र का अर्थ है- **(एतम्)** इस अज=अजन्मा नित्य, देहविशिष्ट मोक्ष की कामना करने वाली ज़ीवात्मा को ज्ञानकर्मयोग के स्थल पर **(आनयत)** लाओ, हे अज=जीवात्मन् **(आरभस्व)** ज्ञानकर्मयोग को प्रारम्भ करो। **(अजः)** यह अज जीवात्मा जीवित रहकर **(प्रजानन्)** शुभ ज्ञान और कर्म के संग्रह को जानता हुआ **(सुकृताम्)** पुण्यशाली लोगों के **(लोकम्)** मोक्षलोक को **(अपि)** भी **(गच्छतु)** प्राप्त हो। यह अज जीवात्मा **(बहुधा)** बहुत प्रकार से **(महान्ति)** गहन **(तमांसि)** अज्ञान-मोहादि अन्धकारों को **(तीर्त्वा)** पार करके **(तृतीयम्)** तीसरे **(नाकम्)** ब्रह्मानन्दस्वरूप मोक्ष में **(आक्रमताम्)** आरूढ़ हो। भौतिक सुख प्रथम नाक है, अध्यात्मसुख द्वितीय नाक है और मोक्षसुख तृतीय नाक है।[५२]

आचार्य प्रवर ने जो अर्थ प्रस्तुत किया है, वह न केवल युक्तिसंगत है, अपितु वेद के सिद्धान्तों से भी मेल खाता है। महर्षि दयानन्द **तृतीये धामन्** का **'तृतीये**=जीवप्रकृतिभ्यां विलक्षणे **धामनि**=आधारभूते' अर्थ करते हैं।[५३] जीव और प्रकृति से विलक्षण केवल जगदीश्वर है, दयानन्द की दृष्टि में वही तृतीय धाम है। आचार्य प्रवर रामनाथ वेदालंकार भी इसी मत का अनुसरण करते हुए दिखायी देते हैं। इस प्रकार दयानन्द की दृष्टि का अनुसरण करते हुए मन्त्रार्थ करना आचार्य प्रवर की मन्त्रार्थदृष्टि का आधारभूत अवलम्ब है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि दयानन्द की दृष्टि का अवलम्बन करने में क्या नवीनता है? दयानन्द ने जो संकेत दिये हैं, उनको स्पष्ट रूप से विवृत करने में आचार्य प्रवर का योगदान है।

आदित्य

अज के परमात्मा और जीवात्मा अर्थ का प्रतिपादन करने के उपरान्त आचार्य प्रवर अज का आदित्य अर्थ देते हैं। निरन्तर अपनी धुरी पर गमन करने या अन्धकार का निवारण करने से आदित्य को अज कहते हैं। निम्नलिखित मन्त्र से अज का आदित्य अर्थ स्पष्ट होता है-

यः श्वे॒तााँ अधि॑निर्णिजश्च॒क्रे कृ॒ष्णााँ अनु व्र॒ता।
स धाम॑ पू॒र्व्यं म॑मे॒ य स्क॒म्भेन॒ वि रोद॑सी अ॒जो न द्यामधा॑रय॒न्नभन्तामन्यके॒ स॑मे॥[५४]

---

५१. सायणभाष्य, अथर्व०९.५.१ अस्मिन् सूक्ते पञ्चौदने नाम सवे हूयमानस्याजस्य जीवतो मारितस्य च प्रशंसा। आपराजिताया आनीयमानोऽजः प्रोक्तप्रकारेण हतः संस्कृतश्च इन्द्रं तर्पयित्वा तृतीयनाके नाम स्वर्गभागे यद्वा सुकृतां पुण्यलोकं गच्छति।

५२. वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०४

५३. दयानन्दभाष्य, यजु०३२.१०

५४. ऋ०८.४१.१०

उक्त मन्त्र का देवता वरुण है। यास्क ने **'वरुणो वृणोतीति सतः'** सत् का वरण करने से वरुण है, कहा है। महर्षि दयानन्द ने **'यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून् वृणोति, अथवा यः शिष्टैर्मुमुभिर्धर्मात्मभिर्व्रियते वर्यते वा स वरुणः परमेश्वरः, अथवा वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः'** यह निर्वचन किया है।[५५] जो वरुण परमेश्वर **(व्रता)** व्रतों अर्थात् कर्मों को **(अनु)** कर्म के अनुकूल **(अधिनिर्णिजः)** अधिगत रूपों को [निर्णिक् यह रूपवाचक नाम है (निरु०३.७)] **(श्वेतान्)** दिवस में पदार्थों को श्वेतप्रभा वाला **(कृष्णान्)** रात्रि में कृष्णवर्ण का **(चक्रे)** करता है, वह वरुण **(स्कम्भेन)** जैसे कोई दण्ड से वैसे **(पूर्व्यम् धाम)** अन्तरिक्ष **(रोदसी)** द्यावापृथिवी को **(विममे)** मापता है। मन्त्र कहता है-**मानेनेव तस्थिवाँ अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण।** (ऋ०५.८५.५) अन्तरिक्ष में स्थित होता हुआ वरुण जैसे कोई दण्ड से नापता है, वैसे पृथिवी और सूर्य को मापता है। इसके अतिरिक्त वह **(अजो न)** आदित्य के समान **(द्याम्)** द्युलोक को **(अधारयत्)** धारण करता है। वही वरुण हमारा अनुशास्ता हो, जिससे **(अन्यके)** अन्य कामक्रोधादि **(समे)** सभी शत्रु **(नभन्ताम्)** नष्ट हो जायें।[५६]

आचार्य सायण उक्त मन्त्र का व्याख्यान कुछ भिन्न रूप में करते हुए कहते हैं-'जो वरुण अपनी रश्मियों को दिन में श्वेत तथा रात्रि में कृष्णवर्ण का कर लेता है, वह वरुण कर्मों को लक्ष्य बनाकर कर्म के अनुरूप अन्तरिक्ष और द्युलोक को माप लेता है। इसके अतिरिक्त वह स्कम्भ अर्थात् अन्तरिक्ष के द्वारा जैसे आदित्य द्युलोक को धारण करता है, उसी प्रकार वह द्यावापृथिवी को धारण करता है।'[५७]

आचार्य सायण ने **स्कम्भेन** का अर्थ **अन्तरिक्षेण** किया है, जबकि आचार्य प्रवर **मानेनेव** करते हैं। इसके अतिरिक्त **नभन्तामन्यके समे** मन्त्रांश के व्याख्यान में मतभेद है। आचार्य यास्क ने **नभन्तामन्यके समे** मन्त्रांश का व्याख्यन **मा भूवन्नन्यके सर्वे** किया है।[५८] तदनुसार **नभन्ताम्** का अर्थ होगा **मा भूवन्, अन्यके** पद को यद्यपि यास्क ने स्पष्ट नहीं किया है, परन्तु निरुक्तवृत्तिकार स्कन्द **अन्यके कुत्सिता असद् द्विषः** अर्थ करते हैं।[५९] जबकि आचार्य प्रवर ने **अन्यके** का अर्थ **कामक्रोधाद्याः शत्रवः** किया है। **नभन्ताम्** का अर्थ आचार्य प्रवर **हिंस्यन्ताम्** करते हैं, यह यास्क से अनुमोदित अर्थ नहीं है, परन्तु निरुक्तवृत्तिकार स्कन्द नभ धातु का यास्क प्रतिपादित अर्थ तो बताते ही हैं, साथ में उसका हिंसा अर्थ भी प्रतिपादित करते हैं।[६०]

---

५५. सत्यार्थप्रकाश प्रथमसमुल्लास

५६. वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०५

५७. सायणभाष्य, ऋ०८.४१.१० (यः) वरुणः (निर्णिजः) आत्मीयान् रश्मीन् दिवा (श्वेतान्) (अधि) (चक्रे) अधिकरोति तथा रात्रौ (कृष्णान्) चक्रे (सः) वरुणः (अनु) (व्रता) कर्माणि लक्षीकृत्योभयविधकर्मानुगुणं (पूर्व्यम्) (धाम) अन्तरिक्षं दिवं वा (ममे) निर्ममे। अपि च (यः) (स्कम्भेन) अन्तरिक्षेण (अजो) (न) यथा आदित्यः (द्याम्) धारयति तथा (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (वि) (अधारयत्) विधारयति स वरुण इत्यर्थः।

५८. निरु०१०.५

५९. स्कन्दवृत्ति, निरु०१०.५

६०. स्कन्दवृत्ति, निरु०१०.५ नभन्तां न भवन्तु माभूवन्नित्यर्थः। नभतीति वधकर्मसु पाठात्। नभन्तां हन्यन्ताम्।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य प्रवर ने प्रकरण के अनुरूप अर्थ की संगति लगायी है। इसके साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अज का अर्थ आदित्य भी होता है।

आदित्य अर्थ की पुष्टि में एक और मन्त्र प्रस्तुत करते हुए आचार्य रामनाथ वेदालंकार कहते हैं-

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे।

तेन देवा देवतामग्र आयंस्तेन रोहान् रुरुहुर्मेध्यासः॥ अथर्व०४.१४.१

(अजः) आदित्य **(अग्नेः)** अग्नि के **(शोकात्)** ताप से **(अजनिष्ट)** उत्पन्न हुआ। अग्निप्रधान होने से यह अग्नि से उत्पन्न हुआ है। **(सः)** उसने **(अग्रे)** सम्मुख **(जनितारम्)** उत्पादक परमेश्वर को **(अपश्यत्)** देखा। **(तेन)** उस अज [आदित्य] के प्रकाश से प्रकाशमान **(देवाः)** सोम, मङ्गल, बुध, गुरु, शुक्र, पृथिवी आदि ग्रहोपग्रह **(अग्रे)** आदि से ही **(देवताम्)** देवत्व अर्थात् दीप्यमानत्व को **(आयन्)** प्राप्त हुए। **(मेध्यासः)** पूज्य जगत् यज्ञ के सम्पादन करने वाले देव दीप्यमान ग्रह--उपग्रह **(तेन)** उस आदित्य से आकृष्ट हुए अपनी-अपनी परिधि में स्थित रहते हुए **(रोहान्)** गगनमण्डल में **(रुरुहुः)** आरोहण करते हैं।[६१]

निस्सन्देह उपर्युक्त मन्त्र में भी अज पद आदित्य अर्थ में प्रयुक्त है।

अज एकपात्

अज एकपाद् निरुक्त में द्युस्थानी देवताओं में परिगणित है। निरुक्त में निर्वचन है-**अज एकपात्। अजनः एकः पादः। एकेन पादेन पातीति वा। एकेन पादेन पिबतीति वा। एकोऽस्य पाद इति वा।** (निरु०१२.२९) आदित्य को ही अज एकपाद् कहा जाता है, क्योंकि वही भ्रमरक के समान घूमता हुआ अपनी धुरी पर भ्रमण करता है। जैसे कोई दो या चार पादों से चलता है, उस प्रकार सूर्य नहीं चलता है। अथवा जो गतिमान् होकर एक ही रश्मिसमूह से सभी की रक्षा करता है अथवा एक ही रश्मिजाल से रसों का पान करता है, इसलिये सूर्य को अज एकपाद् कहा जाता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण कहता है-**अज एकपादुदगात् पुरस्तात् .... तं सूर्यं देवमजमेकपादम्** (तै.ब्रा.३.१.२.८)। परमेश्वर को भी अज एकपाद् कहा जाता है, क्योंकि यह कभी भी उत्पन्न नहीं होता, इसका एक पाद जगत् में है, मन्त्र कहता है-**पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥** (ऋ०१०.९०.३)। वायु को भी अज एकपाद् कहा जाता है, यद्यपि निरुक्त में इसका परिगणन मध्यस्थानी देवताओं में नहीं किया गया है। अज का अर्थ वेगशील, आकाश में एकपाद पर स्थित है, गोपथ-ब्राह्मण कहता है-**वायुरेकपात् तस्याकाशं पादः।** (गो.ब्रा.२.९)। कुछ आचार्य अज एकपाद् का तात्पर्य चन्द्रमा या मेघ से लेते हैं। अनेक देवता वाली ऋचा में अज एकपाद् का प्रयोग देखिये-

शं नो अज एकपाद्देवो अस्तु शं नोऽहिर्बुध्न्यः १ शं समुद्रः। (ऋ०७.३५.१३)

आचार्य प्रवर ने जो अज एकपाद् के अर्थ बताये हैं, उसकी पुष्टि में मन्त्र का प्रमाण नहीं दिया है। अतः मन्त्र की पुष्टि के अभाव में उक्त अर्थ अज एकपाद् के हैं, यह नहीं कहा जा सकता।

---

६१. वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०५

अग्नि

अग्नि भी अज है, इस सम्बन्ध में आचार्य प्रवर महीधर को उद्धृत करते हुए कहते हैं-**अजति आहवनीयरूपेण यज्ञप्रदेशे गच्छतीत्यजः**। (महीधरभाष्य, यजु०५.३३)। उपर्युक्त अर्थ की पुष्टि में निम्न ऋचा है-

अजमनज्मि पयसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम्॥ अथर्व०४.१४.६

मैं **(दिव्यम्)** देदीप्यमान **(सुपर्णम्)** शोभन ज्वालारूप पक्ष से युक्त **(पयसम्)** वृष्टि करने वाले **(बृहन्तम्)** महान् **(अजम्)** यज्ञ के अग्नि को **(पयसा)** पयस् के विकार **(घृतेन)** घृत से **(अनज्मि)** प्रज्वलित करता हूँ। **(तेन)** उसके द्वारा हम लोग **(सुकृतस्य)** पुण्य के फलस्वरूप **(लोकम्)** लोक को **(गेष्म)** जायें। इसी बात को कहा जा रहा है कि **(स्वः)** आनन्दस्वरूप परमेश्वर को **(आरोहन्तः)** आरूढ़ होकर प्राप्त करते हुए **(उत्तमम्)** उत्तम **(नाकम्)** सुखमय उत्कृष्टतम मोक्ष को **(अभि गेष्म)** प्राप्त हों।

यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, इसकी पुष्टि उक्त सूक्त के मन्त्र से हो जाती है-

स्वर्यन्तो नापेक्षन्तऽआ द्याꣳ रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारꣳ सुविद्वाꣳसो वितेनिरे॥ यजु०१७.६८।

अजमनज्मि मन्त्र में अज पद आत्मपरक रूप में भी व्याख्यान किया जा सकता है। **(अजम्)** जीवात्मा को मैं **(पयसा)** माधुर्य **(घृतेन)** दिव्य आनन्द के रस और तेज से **(अनज्मि)** प्रकाशित करता हूँ।[६२]

उक्त सूक्त के **अजो ह्यग्नेरजनिष्ट** (अथर्व०४.१४.६) मन्त्र को आचार्य प्रवर ने अज पद के आदित्य अर्थ के प्रसंग में व्याख्यान किया है। उक्त सूक्त का देवता अग्नि और आज्य है। इस दृष्टि से देखे जाने पर अज को यज्ञाग्नि मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है, परन्तु उसी स्थान पर अज का अर्थ आदित्य करना विचारणीय हो सकता है। केवल संगति लगा देने भर से कोई अर्थ मन्त्र का वास्तविक अर्थ नहीं माना जा सकता। उसकी संगति सम्पूर्ण सूक्त के तद्देवताक मन्त्रों में लगनी चाहिये, तभी कोई अर्थ ऋषि का अभीष्ट हो सकता है।

पूष्णो वाहनाः

पूषन् देवता का वाहन भी अज है। निघण्टु १.१५ में **अजाः पूष्णः** कहा है। अज के उक्त अर्थ के समर्थन में निम्न प्रमाण द्रष्टव्य है-

आ ते रथस्य पूषन्नजा धुरं ववृत्युः।
विश्वस्यार्थिनः सखा सनोजा अनपच्युतः॥ ऋ०१०.२६.८

(पूषन्) हे पूषन्! हे परिपुष्ट जीवात्मन्! **(ते)** तेरी **(रथस्य)** शरीररथ की **(धुरम्)** धुर को

---

६२. वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०७

(अजाः) गतिशील प्राण **(ववृत्युः)** आवर्तन करते हैं। **(त्वम्)** तुम **(विश्वस्य)** सब **(अर्थिनः)** याचक के **(सखा)** अभिलषित शक्ति के प्रदान करने वाले होने से मित्र के समान **(सनोजाः)** सनातन और **(अनपच्युतः)** अपराजित हो। अथवा **(पूषन्)** हे पूषन्! सब ओर से परिपुष्ट परमात्मन्! **(ते)** तेरी **(रथस्य)** ब्रह्माण्ड रूपी शकट की **(धुरम्)** धुरा **(अजाः)** जन्म न लेने वाले अजन्मा जीव या गतिशील अग्नि-वायु-जल-विद्युत्-पर्जन्य-भूमि-सूर्य आदि **(ववृत्युः)** वहन करते हैं।[६३] शेष पूर्ववत्। यह अध्यात्मपरक अर्थ है।

(पूषन्) हे पूषन्! हे सूर्य! **'अथ यद् रश्मिपोषं पुष्यति तत्पूषा भवति** (निरु०१२.१८) जो रश्मियों से पोषण करता है, इसलिये सूर्य का नाम पूषा है। ब्राह्मण कहता है-**'असौ वै पूषा योऽसौ (सूर्यः) तपति'** (कौ.ब्रा.५.२, गो.ब्रा.१.२०) जो सूर्य तपता है, वह सूर्य पूषा है। **(ते)** तेरे **(रथस्य)** रथ के **(धुरम्)** धुर को **(अजाः)** गतिशील रश्मियाँ **(ववृत्युः)** वहन करती हैं। मन्त्र कहता है-**'उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥'** (ऋ०१.५०.१)। शेष अर्थ समान है। ब्राह्मण वायु को भी पूषा कहते हैं-**'अयं वै पूषा योऽयं (वातः) पवते। एष हीदं सर्वं पुष्यति'** (श.ब्रा.१४.२.१.९)। सूर्य के समान वायु के पक्ष में भी मन्त्र का अर्थ घटित किया जा सकता है।[६४]

छागः

जिस प्रकार लोक में अज शब्द छाग का वाचक है, उसी प्रकार वेद में भी। इसका निर्वचन है-**'अजति गच्छति गृह्णाति द्वौ पादावुपरि कृत्वा वृक्षशाखादिकम् इत्यजः छागः'** यह दो पैर ऊपर करके वृक्ष शाखा आदि को पकड़ लेता है, इसलिये छाग को अज कहते हैं। छाग अर्थ के समर्थन में निम्न ऋचा द्रष्टव्य है-

> **दीर्घं ह्यङ्कुशं यथा शक्तिं बिभर्षि मन्तुमः।**
> **पूर्वेण मघवन् पदाजो वयां यथा यमो देवी**
> **जनित्र्यजीजनद् भद्रा जनित्र्यजीजनत्॥ ऋ०१०.१३४.६**

उक्त मन्त्र का देवता इन्द्र है। सेनापति को उद्बोधन दिया जा रहा है। **(मन्तुमः)** हे सैन्यविद्या में निष्णात सेनाध्यक्ष! तुम **(यथा)** जैसे **(दीर्घम्)** विस्तृत **(अङ्कुशम्)** अङ्कुश को **(बिभर्षि)** धारण करते हो वैसे **(शक्तिम्)** शत्रु को पराजित करने वाले बल को भी धाररण करो। अन्यथा शक्तिरहित अंकुश से क्या लाभ? **(मघवन्)** हे मघवन्! शस्त्रादिविद्या के वैभव से सम्पन्न! **(यथा)** जैसे **(अजः)** छाग **(पूर्वेण)** देह के पूर्वभाग में विद्यमान **(पदा)** पैरों से **(वयाम्)** शाखा को [**वयाः शाखाः वेतेः, वातायना भवन्ति,** निरु०१.४] आकर्षित करता है, वैसे **(यमः)** शत्रुओं को नियन्त्रित करो। तुमको **(देवी)** दिव्य **(जनित्री)** माता ने **(अजीजनत्)** उत्पन्न किया है, **(भद्रा)** कल्याणकारिणी **(जनित्री)** माता ने **(अजीजनत्)** उत्पन्न किया

---

६३. वैदिकशब्दार्थविचारः पृ८-०७

६४. वैदिकशब्दार्थविचारः पृ८-०७

है, इसलिये तुम शत्रुओं पर नियन्त्रण करो।[६५] उक्त मन्त्र का व्याख्यान करते हुए आचार्य सायण ने भी अज का अर्थ छाग ही लिया है।[६६]

योद्धा

योद्धाओं को भी अज कहा जाता है। इस पक्ष में निर्वचन होगा-**'अजन्ति गच्छन्ति शत्रून् प्रति, यद्वा अजन्ति प्रक्षिपन्ति शस्त्रास्त्राणि ते'** कि शत्रुओं के प्रति युद्ध के लिये गमन करते हैं अथवा शस्त्रास्त्रों का प्रक्षेपण करते हैं, इसलिये योद्धाओं को अज कहा जाता है। इसके समर्थन में ऋचा है-

आवदिन्द्रं यमुना तृत्सवश्च प्रात्र भेदं सर्वताता मुषायत्।
अजासश्च शिग्रवो यक्षवश्च बलिं शीर्षाणि जभ्रुरश्व्यानि॥१९॥

इन्द्र सेनाध्यक्ष का नाम है। यास्क निर्वचन करते हैं-**'इदञ्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा'** (निरु०१०.८) यह इन्द्र शत्रुओं का विदारण करने वाला या फिर शत्रुओं को युद्धक्षेत्र से भगा देने वाला है। **(यमुना)** शत्रुओं पर नियन्त्रण करने में समर्थ होने के कारण सेना यमुना है, वह सेना **(इन्द्रम्)** सेनाध्यक्ष की ओर **(आवत्)** जाती है, **(तृत्सवः)** हिंसक अन्य वीर भी सेनाध्यक्ष को प्राप्त होते हैं, उसके पश्चात् **(अत्र)** इस **(सर्वताता)** युद्ध में वह इन्द्र **(भेदम्)** विदारक शत्रु को **(प्र मुषायत्)** अच्छी प्रकार हनन करता है। **(अजासः)** शस्त्रास्त्र प्रक्षेपक, **(शिग्रवः)** अव्यक्त शब्द करने वाले **(यक्षवः)** युद्ध में भिड़ने वाले योद्धा युद्ध में **(अश्व्यानि)** अश्व सम्बन्धी **(शीर्षाणि)** शिरों को **(बलिम्)** बलि को **(जभ्रुः)** लाते हैं।[६७]

आचार्य दयानन्द ने उक्त मन्त्र का अर्थ निम्न किया है-जो शस्त्र और अस्त्रों के छोड़ने, सांकेतिक बोली बोलने और संग करने वा नियम करने और मारने वाले जन इस राज्यपालनरूपी यज्ञ में भोगने योग्य पदार्थ और बड़ों के इन शिरों को धारण करते हैं और जो विदीर्ण करने वा एक एक से तोड़-फोड़ करने को चुराता छिपाता है वा जो परमैश्वर्य्यवान् की रक्षा करे, वे सब श्रेष्ठ हैं।[६८]

आचार्य प्रवर कहते हैं कि मैंने **तृत्सवः, अजासः, शिग्रवः, यक्षवः** शब्दों के यौगिक अर्थ महर्षि दयानन्द के भाष्य से ग्रहण किये हैं। सायण ने उक्त पदों के अर्थ जनपदविशेष अर्थ में स्वीकार किये हैं।[६९]

---

६५. वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०८
६६. सायणभाष्य, ऋ०१०.१३४.६ (दीर्घम्) आयतम् (अङ्कुशम्) सृणिं (यथा) (बिभर्षि) एवमायताम् (शक्तिम्) हे (मन्तुमः)। मन्तुर्ज्ञानम्। तद्वन्। 'मतुवसो रुः' इति संबुद्धौ नकारस्य रुत्वम्। ईदृशेन्द्र (बिभर्षि) धारयसि। 'डुभृञ् धारणपोषणयोः'। जौहोत्यादिकः। श्लौ 'भृञामित्' इत्यभ्यासस्येत्वम्। हे (मघवन्) धनवन्निन्द्र (यथा) (पूर्वेण) देहस्य पूर्वभागे वर्तमानेन (पदा) पादेन (अजः) छागः (वयाम्) शाखामाकर्षति तथा पूर्वोक्तया शक्त्याकृष्य (यमः) शत्रून् नियच्छसि। यमेर्लेट्यडागमः। 'बहुलं छन्दसि' इति शपो लुक्। गतमन्यत्॥६॥
६७. वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०९
६८. दयानन्दभाष्य, ऋ०७.१८.१९
६९. वैदिकशब्दार्थविचारः पृ०९

इस स्पष्टोक्ति के आधार पर कहा जा सकता है कि उक्त मन्त्र का अर्थ आचार्य प्रवर ने दयानन्द से प्रभावित होकर किया है, परन्तु फिर भी दो पद ऐसे हैं, जो दयानन्द के मत से भिन्न हैं-**बलिम्** और **अश्व्यानि**। जहाँ दयानन्द ने **बलिम्** का अर्थ **भोग्यं पदार्थम्** किया है, वहीं **अश्व्यानि** का **महतामिमानि** किया है। जबकि आचार्य प्रवर **अश्व्यानि** का **अश्वसम्बन्धीनि** तथा **बलिम्** का **बलि** अर्थ करते हैं। यदि दयानन्द भी उक्त दोनों पदों के अर्थ आचार्य प्रवर के अनुसार करते, तब मन्त्रार्थ की संगति में **अश्व्यानि** के लोकप्रचलित अर्थ को परिवर्तित करने की आवश्यकता न होती।

मन्त्रार्थ की सार्थकता का आधार संगति को माना जाए या फिर मन्त्र की आत्मा की सहज अभिव्यक्ति को? निस्सन्देह प्रत्येक विचारशील व्यक्ति यही कहेगा कि संगति मन्त्रार्थ की सफलता का आधार नहीं हो सकती। यह संगति विद्योत्तमा के प्रश्नों के उत्तर में दिखाये गये मौन कालिदास के संकेतों में भी विद्वत्समाज ने स्थापित करके दिखा दी थी, इससे विद्योत्तमा को तो निरुत्तर किया जा सकता है, परन्तु सत्य को स्थापित नहीं किया जा सकता।

प्रश्न यह नहीं है कि किसने कितना सुन्दर अर्थ मन्त्र में से निकाल कर दिखा दिया, यह एक कौतुक भी हो सकता है। यह धरा वेद के साथ होते हुए खिलवाड़ की साक्षी बनी है, एक युग आया जैमिनि ने अपने विद्या के बल से वेद की दिशा को यज्ञ की ओर परावर्तित कर दिया और एक दूसरे युग के फिर हम साक्षी बने, जब देव दयानन्द ने अपने विद्या कौशल से जैमिनि और उनकी परम्परा के अनुगमन करने वाले स्कन्द से लेकर सायण, मुद्गल पर्यन्त अनुसरण की जाने वाली मन्त्रार्थशैली की दिशा को एक दूसरें कोण की ओर मोड़ दिया। आचार्य प्रवर रामनाथ वेदालंकार दूसरी धारा से प्रभावित होकर मन्त्रार्थ कर रहे हैं। परन्तु प्रश्न अब भी अनुत्तरित नहीं, अपितु अस्पृष्ट है कि जो अर्थ किया जा रहा है, वह वेद का स्वाभाविक और वास्तविक अर्थ है। यास्क के आख्यातज सिद्धान्त को आगे रखकर उसका यौगिक नामकरण करते हुए जो मन्त्रार्थ सृष्टि की जा रही है, वह परम्परा से कितना अनुमोदन प्राप्त कर सकी है, यह अभी अनुसन्धान का विषय है, विना अन्वेषण के देवता आदि की उपेक्षा करते हुए नवीन देवता का गठन करके मन्त्रार्थ करना स्वाभाविक और वास्तविक किस सीमा तक कहा जा सकता है, इसका उत्तर आगे आने वाला समय देगा। हमारे पास जो भी संसाधन हैं, वे सभी दोनों परम्पराओं का निश्चयात्मक रूप से पोषण करने में समर्थ नहीं हैं। फिर भी आज हम यह कह सकने की स्थिति में हैं कि कम से कम से सायण ने जिस धारा में बहकर मन्त्रार्थ किया, वह मन्त्र का स्वाभाविक अर्थ नहीं है। वेद को यज्ञ तक सीमित कर देना ऋषियों की प्रतिभा पर प्रश्नचिह्न लगाने से कम नहीं है।

अज पद के दो निर्वचन प्राप्त होते हैं, एक में न+√जन् तथा दूसरी √अज् से। ऐसा प्रतीत होता है कि ये दो निर्वचन यह सूचित करते हैं कि अज पद दो मूलों से चला आ रहा है, इसलिये एक अज पद यदि ईश्वर, जीव या प्रकृति वाचक है तो दूसरा अज पशु का वाचक है। ब्राह्मणग्रन्थ बहुमत से द्वितीय पक्ष के साथ खड़े दिखायी देते हैं, इसी प्रकार लोकमत भी दूसरे पक्ष का अनुगामी है, जबकि प्रथम मत विशेष रूप से वेद में देखने को मिलता है, यद्यपि वेद में नित्य सत्ता और पशु ये दोनों अर्थ पाये जाते हैं। इस विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि वैदिक साहित्य (संहिता) में ये दोनों विद्यमान थे, परन्तु लोकयात्रा में प्रथम अर्थ तिरोहित सा हो गया।

उक्त निष्कर्ष के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मन्त्रार्थ करते समय हमें एक ही मन्त्र में अज के दोनों अर्थ नहीं ग्रहण करने चाहिये। मन्त्र का तात्पर्य या तो नित्य सत्ता के अर्थ में होगा या फिर पशु के अर्थ में। नित्य और अनित्य का संयोजन युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता, क्योंकि मन्त्र की विवक्षा दोनों में से किसी एक में होगी।

जहाँ तक आचार्य प्रवर रामनाथ वेदालंकार की मन्त्रार्थदृष्टि का प्रश्न है, वह निस्सन्देह युक्तिसंगत, तर्क से पोषित, रस से परिपूर्ण, नवीनता से ओतप्रोत, देव दयानन्द के कार्य को आगे बढ़ाने वाली और उस पथ को और अधिक प्रशस्त करने वाली है। आचार्य प्रवर के मन्त्रार्थ का अध्ययन करते हुए यह देखा गया है कि आपने महीधर, सायण, आत्मानन्द और दयानन्द के साथ विदेशी भाष्यकार ग्रिफिथ आदि के वेद व्याख्यानों का गहन अध्ययन किया है और उसकी छाप मन्त्रार्थ पर देखने को मिलती है। यद्यपि दिशा देव दयानन्द की है, परन्तु उपेक्षा अन्य की भी नहीं। जहाँ से जो भी उपादेय मिला, उसको आप निस्संकोच ग्रहण करते चले गये। आचार्य प्रवर की शैली के विषय में यह उल्लेख करना उचित प्रतीत होता है कि आपने अन्वय की संगति बैठाने के लिये पंक्ति का अतिक्रमण नहीं किया है। अन्वय की संगति पंक्ति में स्थित पदों के आधार पर की गयी है, न कि दूसरी पंक्ति के पदों को जोड़कर। यदि यौगिक प्रक्रिया के साथ परम्परा का अनुमोदन भी किया गया होता तो यह एक अनुपम मन्त्रार्थदृष्टि हो सकती थी।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ034-48) ISSN 0974 – 8830

आचार्य रामनाथकृत 'वेदों की वर्णन-शैलियाँ' : एक समीक्षात्मक दृष्टि

प्रो. विजयपाल शास्त्री[1]

भारतीय प्राचीन मूल साहित्य को मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित किया जाता है-निगम, आगम तथा पुराण। ऋक्, यजुः, साम और अथर्व इन चारों संहिताओं का नाम निगम है। सिद्ध योगी कैलासवासी शिव तथा उनकी चिरसहचरी योगशक्ति पार्वती के परस्पर संवादात्मक तन्त्रग्रन्थों को आगम कहा जाता है तथा आद्य मुनियों की अन्तर्निलीन स्मृत्यात्मक मेधा से प्रसूत प्रतीकात्मक आख्यान-ग्रन्थों को पुराण नाम से व्यवहृत किया जाता है। उक्त तीनों ही साहित्यों की पृथक्-पृथक् भाषागत तथा विषयगत विभिन्न शैलियाँ हैं। भाषागत शैलियों में सूत्र, भाष्य, व्याख्यान, काव्य, टीका, वार्तिक आदि प्रमुख हैं। विषयगत शैलियों में प्रतीकशैली, संवाद, प्रश्नोत्तर, आशीर्वाद, स्तुति, प्रार्थना, अर्थवाद, कथा, गाथा आदि अनेक शैलियों का परिगणन किया जाता है। जब तक इन शैलियों का पृथक् पृथक् स्वरूप ज्ञात नहीं होता तब तक किसी भी साहित्य के मूल हृदय का रहस्य प्रकट नहीं हो सकता। वेदों का अर्थ समझने के लिये पृथक् शैली है। आगमशैली सर्वथा पृथक् है, जिसमें संवादशैली मुख्य उपादान है। पुराणों का रहस्य निगमशैली से ज्ञात नहीं हो सकता। उसके लिये प्रतीकशैली की आवश्यकता होगी।

सम्प्रति हमारा प्रयोजन उक्त सभी शैलियों पर विचार करना नहीं है। आचार्य रामनाथ वेदालंकार द्वारा लिखित ग्रन्थ वेदों की वर्णन शैलियाँ पर कुछ समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करना अभिप्रेत है। वेदों की मुख्य दो शैलियां हैं-भाषागत शैली तथा विषयगत शैली। भाषा की दृष्टि से वेदों का विस्तृत अध्ययन आज तक किसी विद्वान् ने नहीं किया, यह एक दुष्कर कार्य है। साधारण विद्वान् इस ओर प्रवृत्त होने का साहस नहीं कर सकते। जब तक पाणिनीय व्याकरण, काव्यप्रकाश, छन्द, अलंकार, रसशास्त्र तथा वैदिक व्याकरण का सूक्ष्म परिज्ञान नहीं होगा, तब तक वेद के वास्तविक अर्थ का उद्घाटन सम्भव नहीं है। पदवाक्यप्रमाणज्ञ महर्षि वेदव्यास, अत्रि, भवभूति, श्रीहर्ष, पण्डितराज जगन्नाथ तुल्य कतिपय पारदृश्वा मनीषी ही भाषा की दृष्टि से वेदों का अर्थ समझने के अधिकारी हैं। आचार्य रामनाथ जी ने स्वयं कहा है कि हमने वैदिक शैलियों के अध्ययन में भाषागत शैलियों को नहीं लिया है, इसलिये हमने अपने निबन्ध का क्षेत्र विषयप्रतिपादन शैलियों तक ही सीमित रखा है। भाषागत शैलियों का विवेचन एक स्वतन्त्र अनुसन्धान का विषय हो सकता है।

वास्तव में यह एक स्वतन्त्र शोध का क्षेत्र है। जब तक ईश और ईशा, वास्यम् और आवास्यम्, जगती और जगत् तथा कस्य और कस्यस्वित् का अन्तर ज्ञात नहीं होगा, तब तक **'ईशावास्यमिदं सर्वं....** इस यजुर्मन्त्र का अर्थ समझ में नहीं आ सकता। यह अर्थ भाषा की बारीकियों को समझे विना अज्ञेय है। अर्थ को समझे विना केवल कीरवत् मन्त्रपाठ करने वाला तो भारधारी स्थाणु सदृश व्यर्थ जीता

---

१. पूर्व प्रोफेसर-दर्शन विभाग, पूर्वसंकायाध्यक्ष, प्राच्यविद्यासंकाय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

हैं, यह बात निरुक्त कहता है-

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥[२]

आचार्य जी ने वेदों की वर्णन-शैलियों पर विचार करने से पहले वेद का अर्थ भी स्पष्ट कर दिया हैं कि वेदों से उनका अभिप्राय संहिता भाग से ही है, उसके अमूर्तरूप से नहीं। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि संहिता वेदों का वर्णनात्मक स्थूल रूप है, उसका ज्ञानात्मक अमूर्तरूप नहीं। वेद के दो रूप हैं-वर्णात्मक और ज्ञानात्मक। वर्णों और शब्दों के आनुपूर्व्य से युक्त जो **इषे त्वोर्जे त्वा०** आदि मन्त्र हैं, वे वर्णात्मक हैं क्योंकि ये वाणी के विषय हैं। शब्दों के उच्चारण से स्फुटित होने वाला तथा अन्तःकरण की गहराई से प्रादुर्भूत जो वर्णनिरपेक्ष अन्तरनुभूति है, वह ज्ञानात्मक है।

वेदों का अर्थ व्यापक परिप्रेक्ष्य में गृहीत किया जाना चाहिये। वेद ऋषियों के अन्तःकरण में प्रादुर्भूत ईश्वरप्रेरित नित्य ज्ञानराशि है जो शाश्वत, व्यापक, सीमित, अप्रतिम, अमूर्त और नितान्त गोपनीय होते हुए भी सृष्टि के कण-कण में निगूढ है। निगम शब्द में नि उपसर्ग निगूढ का ही द्योतक है। हाँ, यह नितान्त सत्य है कि ज्ञान के प्रकाशन का शक्तिशाली माध्यम शब्द ही है। जब भी ज्ञान का बाह्य प्रकाशन होगा, वह शब्द के द्वारा ही होगा। इसलिये शब्द और अर्थ को अभिन्न कहा गया है। भर्तृहरि ने कहा है-

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥[३]

इसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिये कि ज्ञान की उत्पत्ति शब्द से होती है। ज्ञान शब्द से उत्पन्न नहीं होता, अपितु प्रकट मात्र होता है। ज्ञान सर्वथा नित्य और स्वप्रकाश है, सत्य और अनन्त है। **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** इस वाक्य में ब्रह्म का अर्थ ज्ञान ही है। यूं तो उत्तरमीमांसक लोग शब्द को भी नित्य और अविनाशी मानते हैं, उसका आविर्भाव और तिरोभाव ही होता है। शब्द और ज्ञान को एक ही वस्तु नहीं कह सकते, ज्ञान अनेक नहीं है वह तो एक और अद्वितीय है तथा नित्य और स्वप्रकाश है तथा स्वानुभूतिमात्रगम्य है।

आचार्य रामनाथ जी ने विषय प्रतिपादन की दृष्टि से वेदों की जिन वर्णन-शैलियों पर विचार किया है, उस पर एक दृष्टिपात करना प्रासंगिक होगा। वेदों की वर्णन-शैलियाँ निम्नलिखित हैं-

१. प्रहेलिकात्मक शैली।
२. आत्मकथात्मक शैली
३. संवादात्मक सैली
४. प्रश्नोत्तरात्मक शैली
५. प्रेरणात्मक शैली
६. सान्त्वनात्मक शैली

---

२. निरुक्त १.१८
३. वाक्यपदीय १.१३१

७. आशीर्वादात्मक शैली

८. अभिशापात्मक शैली

९. भर्त्सनात्मक शैली

१०. स्तुत्यात्मक शैली

११. अर्थवादात्मक शैली

१२. प्रार्थनात्मक शैली और

१३. आशंसात्मक शैली।

उक्त वर्णनशैलियों में कतिपय शैलियों की ही समीक्षा करना सम्भव होगा। पहले शैली का सोदाहरण प्रस्तुतीकरण करेंगे और तदन्तर यह विचार करेंगे कि उस शैली के पीछे वेद का क्या प्रयोजन रहा होगा।

प्रहेलिकात्मक शैली

किसी तथ्य को गुप्त रखकर उसके बाह्य तथा आन्तरिक अर्थ के कथन करने को प्रहेलिका कहा जाता है। वेदों में इस शैली को विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया है। प्रहेलिका में प्रसिद्ध अर्थ अन्य होता है किन्तु वास्तविक अर्थ अन्य होता है। वह अन्य अर्थ रहस्यात्मक होता है। इस लौकिक दृष्टान्त से प्रहेलिका अर्थात् पहेली के स्वरूप को समझा जा सकता है-

अपदो दूरगामी च साक्षरो न च पण्डितः।
अमुखः स्फुटवक्ता च यो जानाति स पण्डितः॥

पैर नहीं हैं, फिर भी दूर तक जाने वाला है। साक्षर है किन्तु पण्डित नहीं है, मुख नहीं है फिर भी स्पष्ट बोलता है। बताओ वह क्या है? जो उसे जानता है वह पण्डित कहलाने का अधिकारी है। उसका उत्तर है-पत्र।

इसी प्रकार वेद में भी किसी तथ्य को गुप्त रखने की अभिलाषा से प्रहेलिकाशैली में कहा गया है। जैसे-चार सींग और तीन पैर वाला बैल-

च॒त्वारि॒ शृङ्गा॒ त्रयो॑ अस्य॒ पादा॒ द्वे शी॒र्षे स॒प्त हस्ता॑सो अस्य।
त्रिधा॑ ब॒द्धो वृ॑ष॒भो रो॑रवीति म॒हो दे॒वो मर्त्याँ॒ आ वि॑वेश॥[४]

एक बैल है जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं। तीन स्थानों से बंधा हुआ वह बहुत जोर से बोल रहा है। वह एक महान् देव है जो मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ है।

इस पहेली का समाधान विभिन्न मनीषियों ने अपने अपने ढंग से किया है। निरुक्तकार उस वृषभ को यज्ञ कहते हैं। जिसके चार वेद ही चार सींग हैं। प्रातःसवन, मध्याह्नसवन और सायंसवन ये तीन पैर हैं। प्रायणीय और उदयनीय दो सिर हैं। सात छन्द ही साथ हाथ हैं। वह यज्ञरूप बैल मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प इन तीन खूंटों से बंधा हुआ है। मन्त्रपाठ ही उसका बोलना है।

---

४ ऋग्०४.५८.३

वैयाकरण उस वृषभ को शब्द कहते हैं, जिसके नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात-ये चार सींग हैं। भूत, भविष्यत् और वर्तमान-ये तीनों काल तीन पैर हैं। सुप् और तिङ्-उसके दो सिर हैं। सात विभक्तियाँ ही सात हाथ हैं। हृदय, कण्ठ और सिर इन तीन स्थानों से बंधा हुआ है।

इसी प्रकार अन्य सायण, उव्वट, महीधर आदि विद्वानों ने इसकी अन्य-अन्य प्रकार से व्याख्याएं की हैं। इसी प्रकार एक देवपुरी अयोध्या है, जिसमें आठचक्र तथा नौ द्वार हैं। उसके अन्दर एक स्वर्णिम भवन है, जिसे स्वर्ग कहते हैं-

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः: कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥[5]

इसी प्रकार आकाश में उड़ने वाले एक बैल की पहेली है। जैसे-

उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुरा विवेश।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा वि चक्रमे रजसस्पात्यन्तौ॥[6]

एक बैल है जिसे समुद्र भी कहते हैं। उसका रंग लाल है, सुन्दर पंख हैं। पूर्व दिशा में स्थित पिता के घर में प्रविष्ट है। जब यह उड़ता हुआ आकाश के मध्य में चला जाता है तब चितकबरा हो जाता है। उसका नाम अश्मा भी। तेजी से कदम रखता हुआ, इस लोक के दोनों प्रान्तों का प्रहरी है।

यह बैल सूर्य है। इसे उक्षा इसलिये कहते हैं क्योंकि यह प्रभातकालीन प्राण से जड़ और चेतन सिक्त करता है। उक्ष सेचने धातु से उक्षा शब्द बना है। रश्मियों का सागर होने से इसे समुद्र कहा जाता है। सात रंगों वाला होने से यह चितकबरा है। सबको तेज से व्याप्त करने के कारण अश्मा (अशूङ् व्याप्तौ) कहलाता है।

सात दोग्धाओं से दुही जाने वाली गौ

गाय से सम्बद्ध एक पहेली ऋग्वेद में आयी है-

दुहन्ति सुप्तैकामुप द्वा पञ्च सृजतः। तीर्थे सिन्धोरधि स्वरे॥[7]

एक गाय हैं जिसका दोहन सात लोग करते हैं। उन दोहने वालों में ऐसे दो ऐसे हैं जो शेष पाँच को दुहने की प्रेरणा करते रहते हैं। यह दोहन क्रिया सिन्धु के तीर्थ में स्वर नामक स्थान में होता है।

इस पहेली का समाधान पक्ष बड़ा जटिल है। विद्वान् लोग समाधान करते हैं कि गाय यज्ञाग्नि है। अध्वर्यु-प्रतिप्रस्थाता-ब्रह्मा-होता-उद्गाता-आग्नीध्र-प्रस्तोता; ये सात दोग्धा हैं। अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता ये दो लोग शेष को प्रेरित करते रहते हैं। सिन्धु यज्ञ है, इसी के तीर्थ पर यह दोहन क्रिया होती है। यज्ञ जहाँ होता है, वह यज्ञगृह तीर्थ कहलाता है। उस तीर्थ में मन्त्रोच्चारण का स्वर होता है।

इस प्रकार आचार्य रामनाथ वेदालंकार ने चारों वेदों से चुन-चुन कर अनेक पहेलियों का संग्रह

---

५ अथर्व०१०.२.३१
६ ऋग्०५.४७.३
७ ऋग्०८.७२.७

किया है। कभी न मरने वाला ग्वाला, तीन केश वाला साधु, स्वर्ग पहुंचाने वाला रथ, वृक्ष-वृक्ष पर बैठी-बैठी गौ, चार चोटियों वाली युवती, सरस्वती में गिरने वाली पांच नदियां, शरीर में निवास करने वाले सात ऋषि, सुन्दर पंखों वाला घोड़ा आदि अनेक प्रहेलिकाएं वेदों में वर्णित हैं।

समीक्षा

वेदों में वर्णित उक्त प्रहेलिकाओं को देखकर मन में यह जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है कि वैदिक ऋषियों ने इस प्रहेलिका-शैली का अवलम्बन क्यों किया? निश्चित रूप से प्रहेलिकाएं अर्थ को जटिल करती हैं। वेदमन्त्रों का एक निश्चित अर्थ होता है, किन्तु प्रहेलिका उन्हें अनेकार्थक बना देती हैं। अर्थ की इसी जटिलता से परेशान होकर सम्भवत: कौत्स ने मन्त्रों को अनर्थक कहा होगा (अनर्थका: हि मन्त्रा:-निरुक्त)। तो क्या अर्थ को जटिल अथवा श्लिष्ट बनाने के उद्देश्य से वैदिक ऋषियों ने प्रहेलिका-शैली को स्वीकार किया है?

भारतीय संस्कृत महाकाव्यों के कवियों ने भी अपनी रचनाओं को जानबूझ कर जटिल बनाया था, ताकि पण्डितम्मन्य अहंकारी अध्येता इसके साथ खिलवाड़ न करने लगें। नैषध महाकाव्य के प्रणेता महाकवि श्रीहर्ष ने स्वयम् यह स्वीकार किया है कि मैंने अपने इस काव्य में यत्नपूर्वक कुछ ग्रन्थियाँ ग्रथित की हैं, जिससे खलजन इसके साथ न खेलें-

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती माऽस्मिन् खल: खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थि: समासादय-
त्वेत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखेष्वासञ्जनं सज्जन:॥

किन्तु जानबूझकर मन्त्रार्थ को जटिल बनाने की बात युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती। जो बात सीधी सरल भाषा में कही जा सकती है वेद उसे घुमा-फिराकर क्यों कहना चाहेगा?

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म्। होता॑रं रत्न॒धात॑मम्॥ [८]

ऋग्वेद का यह प्रथम मन्त्र कितना सरल है। कोई जटिलता नहीं है। फिर उसके आगे का मन्त्र देखिये-

स नः॑ पि॒तेव॑ सू॒नवेऽग्ने॑ सूपाय॒नो भ॑व। सच॑स्वा न स्व॒स्तये॑॥ [९]

कितना सरल दृष्टान्त चुना गया है-**पितेव सूनवे**। जैसे पिता पुत्र के लिये कल्याणकारी होता है, वैसे ही यह अग्नि हमारे लिये सूपायन (समृद्धिदाता) होवे।

किन्तु सरल अर्थ के प्रवाह से हटकर मन्त्रों में जब जटिलता दिखायी देती है तो प्रतीत होता है कि सम्भवत: इस जटिलता के पीछे वेद का कोई अघोषित प्रच्छन्न प्रयोजन रहा हो। जब हम उस प्रच्छन्न प्रयोजन का अनुसन्धान करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वेद परोक्षरूप से यह प्रयोजन रखता हो

---

८ ऋग्०१.१.१
९ ऋग्०१.१.९

कि वेदार्थ को जानने के लिये जिज्ञासु स्वयं तप करें। दूसरों के किये हुए अर्थ से सन्तुष्ट न होकर अपना मार्ग स्वयं चुनें। यह तो नितान्त सत्य है कि तप किये विना मन्त्र के हृदय को नहीं समझा जा सकता। कोई भी मन्त्र किसी भी शैली में निबद्ध हो सरल या जटिल, तप किये विना उसका अर्थ हृदयंगम नहीं किया जा सकता। किन्तु प्रहेलिका शैली अपेक्षाकृत अधिक तपःसाध्य होती है। प्रहेलिका का मर्म समझने के लिये देर तक चिन्तन करना पड़ता है। सुख से प्राप्त ज्ञान स्थायी नहीं होता, चिन्तन-मनन रूप तप से गृहीत अर्थ चिरस्थायी और चमत्कारपूर्ण होता है। उदाहरण के लिये वेद कहता है-**एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्**[१०] एक हंस है जो मानस के जल से उड़ते हुए एक पैर को नहीं उठाता अर्थात् एक ही पैर से उड़ता है। उक्त प्रहेलिका का समाधान मस्तिष्क पर जोर दिये विना नहीं होता। कौन सा हंस है वह, जो एक पैर से उड़ता है और एक पैर से स्थिर रहता है? माथापच्ची करने के पश्चात् हम समाधान निकालते हैं कि शरीर में रहनेवाला प्राण ही वह हंस है जिसका एक अंश देह में ही रहता है, दूसरा पैर शरीर से बाहर जाकर नई ऊर्जा प्राप्त करता है।

प्रहेलिकाशैली के पीछे एक कारण यह भी हो सकता है जिसका उल्लेख आचार्य जी ने आरम्भ में कर दिया है कि-

परोक्षप्रिया हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः।

अर्थात् देवता परोक्षप्रिय होते हैं, प्रत्यक्ष से उन्हें द्वेष है।

देवों और मनुष्यों में यह प्रधानभेद है कि मनुष्य प्रत्यक्षप्रिय होते हैं। परोक्ष से द्वेष करते हैं। देवों का प्रत्येक कार्य और आकार परोक्ष होता है। मन्त्रों में भी उन्होंने इसी परोक्षप्रियता को अंगीकृत किया है। प्रहेलिकाशैली उसी का निदर्शन है। वेदमन्त्रों में परोक्षकथन की यह प्रवृत्ति न हो तो लौकिक वचन और वेदवचन में क्या अन्तर रह जायेगा? परोक्षप्रिय होने पर भी देवों का वचन सर्वथा प्रामाणिक माना जाता है। इसीलिये वेदमन्त्रों को ही आप्तकोटि में रखा गया है। लौकिक वाक्य सर्वथा आप्त नहीं होते। अतः अर्थगोपन की यह प्रवृत्ति दूषण नहीं, अपितु वाग्भूषण ही मानी जानी चाहिये।

आत्मकथात्मक शैली

वेदों की दूसरी महत्त्वपूर्ण शैली है-आत्मकथात्मक शैली, जिसका विवेचन आचार्यजी ने बड़े विस्तार से किया है। इस शैली में कोई मनुष्य, ऋषि अथवा देव अपने विषय में स्वयं कथन करता है। आत्मप्रशंसा, अपना गौरवगान, अपने महत्त्वपूर्ण कार्यों का कथन, अपने गुणों का प्रख्यापन अथवा अपनी महत्त्वकांक्षा का उद्घाटन स्वयम् अपने मुख से करना ही आत्मकथात्मक शैली कहलाती है। इस शैली की समीचीनता पर भी विचार अपेक्षित है। क्या किसी देव के लिये अपने गुणों का स्वयं प्रख्यापन उसके महत्त्व को अल्प नहीं करता? कहते हैं-**इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः**-अर्थात् यदि इन्द्र भी अपने गुणों का स्वयं ख्यापन करता है तो वह भी महत्त्वहीन हो जाता है। किन्तु यदि वेद में यह आत्मकथा प्राप्त होती है तो अवश्य ही इसके पीछे कोई गम्भीर प्रयोजन होना चाहिये। वेदोक्त देवों से आत्मश्लाघा जैसी तुच्छ दृष्टि की अपेक्षा तो की नहीं जा सकती। अतः यह शैली भी समीक्षा की अपेक्षा

---

१० अथर्व०११.४.२१

करती है। सर्वप्रथम आत्मकथात्मक शैली के कुछ सन्दर्भों पर दृष्टिपात कर लेते हैं-

इन्द्र की आत्मस्तुति

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा।। [११]

इन्द्र स्वयं अपनी स्तुति कर रहा है कि मैं ही मनु हूँ, मैं ही सूर्य हूँ, मैं ही कक्षीवान् ऋषि तथा विप्र हूँ। मैं ही अर्जुनी के पुत्र कुत्स को अत्यन्त अलंकृत करता हूँ। मैं ही कवि तथा उशना हूँ। हे मनुष्यो! तुम मुझे देखो।

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम्।। [१२]

मैं ही धन का मुख्य अधिपति हूँ, मैं सर्वदा ही शत्रुओं के धनों को जीतता हूँ। मुझे ही सब प्राणी पिता के समान पुकारते हैं। मैं ही दानी के लिये धन बांटता हूँ।

वागाम्भृणी की आत्मस्तुति

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा।। [१३]

वागाम्भृणी देवी कहती है-मैं रुद्रों और वसुओं के साथ विचरण करती हूँ, मैं आदित्यों तथा विश्वदेवों के साथ घूमती हूँ। मैं ही मित्र और वरुण दोनों को धारण करती हूँ। मैं ही इन्द्र और अग्नि तथा दोनों अश्विकुमारों को आश्रय देती हूँ।

पुनः आगे कहती है-

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्।। [१४]

मैं राष्ट्र की सम्राज्ञी हूँ, मैं अपने भक्तों को धन प्राप्त कराने वाली हूँ। मैं सब कुछ जानने वाली हूँ, याज्ञिकों के लिये प्रथम पूजनीया हूँ। मैं भूरिस्थात्रा बहुत से स्थानों पर स्थित हूँ। सबको अपने-अपने स्थान पर नियुक्त करने वाली हूँ। मुझको देवजन अनेक रूपों में अपने हृदय में धारण करते हैं।

आत्मकथात्मक-शैली की उपयोगिता

यहाँ यह विचारणीय है कि वेद की दृष्टि में आत्मकथा का क्या उद्देश्य है? आत्मश्लाघा तो उद्देश्य हो नहीं सकता, क्योंकि वेद दैवी वाक् है। लोक-कल्याण के लिये प्रत्येक सर्गकाल के आदि में

---

११ ऋग्०४.२६.१
१२ ऋग्०१०.४८.१
१३ ऋग्०१०.१२५.१
१४ ऋग्०१०.१२५.३

स्वयं प्रादुर्भूत होती है। इसका प्रयोजन आत्मा के दुर्बोध्य स्वरूप को लोक के समक्ष प्रस्तुत करना ही हो सकता है। जिस तत्त्व का गुह्य स्वरूप साधारण पुरुषों के लिये दुर्ज्ञेय है, उनके लिये उसका ज्ञान कराना वेद का दायित्व है। इसके लिये वक्ता या वक्त्री स्वयं को अहम् शब्द से अभिहित कर सकता है। वेद में यह वक्ता जीवात्मा हो सकता है या परमात्मा। जीवात्मा भी कभी-कभी अपने गुणों का ख्यापन इसलिये करता है कि जिससे लोग स्वयं को हीन न समझें। प्रायः मनुष्य विषय परिस्थितियों में स्वयं को दीन-हीन और असमर्थ समझकर आत्मनिन्दा करने लगते हैं, किन्तु वेद की दृष्टि में मनुष्य दीन-हीन या दयनीय नहीं है। वह अमृतपुत्र है, ज्योतिपुञ्ज है। मनुष्य के मुख से वेद कह रहा है-

अ॒ग्निर॑स्मि॒ जन्म॑ना जा॒तवे॑दा घृ॒तं मे॒ चक्षु॑र॒मृतं॑ म आ॒सन्।
अ॒र्कस्त्रि॒धातू॒ रज॑सो वि॒मानोऽज॑स्रो घ॒र्मो ह॒विर॑स्मि॒ नाम॑॥ [१५]

मयि॒ त्यदि॑न्द्रि॒यं बृ॒हन्मयि॒ दक्षो॒ मयि॒ क्रतु॑ः।
घ॒र्मस्त्रि॒शुग्वि रा॑जति वि॒राजा॒ ज्योति॑षा स॒ह ब्रह्म॑णा॒ तेज॑सा स॒ह॥ [१६]

मैं साक्षात् अग्नि हूँ। मैं जन्म से जातवेदा हूँ। मेरे नेत्रों में तेज है, मेरे मुख में अमृत है। मैं शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक-तीनों प्रकार के तेज से युक्त सूर्य हूँ। मैं त्रैलोक्य को माप सकता हूँ। मैं अक्षय यज्ञकुण्ड और हवि हूँ। मेरे अन्दर इन्द्र का बृहत् बल है। मेरे अन्दर अत्यन्त दक्षता और क्रियाशक्ति है। तीनों प्रकार का तेज मुझमें निहित है। मैं विराट् ज्योति से विराजमान हूँ तथा ब्रह्मतेज से प्रकाशमान हूँ।

जो लोग आत्मा या परमात्मा के ऐश्वर्य को नहीं समझते उनके लिये कभी अहम् शब्द के द्वारा अपने स्वरूप का व्याख्यान स्वयं करना पड़ता है। इस आत्मकथात्मक शैली का उपयोग श्रीमद्भगवद्गीता में भी किया गया है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के समक्ष अपने विराट् स्वरूप का व्याख्यान आत्मकथात्मक शैली में ही किया है कि मैं कवियों में उशना हूँ, धनुर्धारियों में अर्जुन हूँ, तेजस्वियों में सूर्य हूँ और नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ। कहने का भाव यह है कि त्रैलोक्य में जो-जो अत्युग्र तेज है या श्रीयुक्त है वह सब मेरे ही तेज से उत्पन्न हुआ है-**यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं तेजोऽंशसम्भवम्॥** [१७]

यदि इस शैली का प्रयोग गीता में न किया जाता तो विषादग्रस्त अर्जुन के मोह को नष्ट नहीं किया जा सकता था और कर्मयोग के दुर्लभ अमृत से अर्जुन को वंचित ही रहना पड़ता। इतना ही नहीं अपितु इससे भी आगे बढ़कर योगिराज कृष्ण ने अपना साक्षात् विराट् रूप अर्जुन को दिखाया और उसे देखने के लिये उसे दिव्यदृष्टि भी प्रदान की। विचारपूर्वक देखें तो इसी आत्मकथात्मक शैली ने गीता को लोकोत्तर कालजयी ग्रन्थ बनाया। यदि वेद में भी जीव और ईश्वर के दुर्ज्ञेय रहस्य को हृदयंगम कराने के लिये इस शैली का उपयोग किया गया है तो यह इसका अनमोल अलंकरण ही कहा जायेगा।

---

१५ ऋग्० ३.२६.७
१६ यजु० ३८.२७
१७ गीता १०.४१

संवादात्मक शैली

आचार्य रामनाथ जी ने अपनी पुस्तक में वेदों की संवादात्मक शैली का भी वर्णन किया है। चारों वेदों में लगभग १६ संवाद सूक्त प्राप्त होते हैं, जिनमें प्रमुख हैं-इन्द्र-मरुत् संवाद, यम-यमी संवाद, पुरुरवा-उर्वशी संवाद, इन्द्र-इन्द्राणी संवाद तथा अगस्त्य-लोपामुद्रा संवाद। लोक में प्रायः कथानक में रोचकता उत्पन्न करने के लिये संवाद शैली की सहायता ली जाती है, किन्तु वेद में इस शैली को प्रयुक्त करने का क्या उद्देश्य है? यह बात समझ से परे है। ऐसा प्रतीत होता है कि विषय को सुगम्य बनाने के उद्देश्य से अमूर्त तत्त्वों को मूर्तरूप में परिकल्पित करके उन्हें पात्र रूप में प्रस्तुत करने की और उनमें परस्पर संवाद कराने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। जैसे कठोपनिषद् में प्राण तथा ज्ञानेन्द्रियों की महत्ता सिद्ध करने के लिये उनका परस्पर संवाद प्रस्तुत किया गया है। यह सर्वथा काल्पनिक है, किन्तु इससे ब्रह्म का स्वरूप सरलता से अध्येताओं के हृदय में अवतरित होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु यम-यमी और पुरुरवा-उर्वशी के मध्य तथा इन्द्र और मरुतों के संवाद में वैसी बात लक्षित नहीं होती, जो केनोपनिषद् में प्रस्तुत की गयी है। कुछ उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। जैसे अगस्त्य अपने यज्ञ में इन्द्र से पहले मरुतों को हवि देने का विचार करता है। मरुतों को हवि दिया जाना इन्द्र को सहन नहीं होता। वह कहता है-

न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभि संचरेण्यमुताधीतं वि नश्यति।। [१८]

आचार्य रामनाथ जी की व्याख्या के अनुसार इसका अर्थ है-'आज तो मुझे हवि मिल ही नहीं रही, सम्भव है कल भी न मिले, क्योंकि भविष्य को कौन जानता है। साधारण मनुष्य का चित्त परिवर्तनशील होता है, उसका निश्चय बदल भी जाता है।' [१९]

इन्द्र के उक्त कथन का उत्तर अगस्त्य देता है-

किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव।
तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः समरणे वधीः।। [२०]

'हे इन्द्र! क्यों तू हमें मारना चाहता है? मरुत् तो तेरे भाई ही हैं। इनके साथ साधु रीति से व्यवहार कर। संग्राम में हमारी तू हिंसा मत कर।' [२१]

इन्द्र और अगस्त्य के इस संवाद से इन्द्र के चित्त की साधारण मनुष्य-सुलभ दुर्बलता पायी जाती है। इससे इन्द्र का चरित्र महनीय सिद्ध नहीं होता, जिसकी अपेक्षा देवों के अधिपति से की जाती है। वेद के ऋषि का इस संवाद के वर्णन से क्या प्रयोजन रहा होगा? यह दुर्ज्ञेय है। यद्यपि आचार्य जी ने उक्त संवाद के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों अर्थ किये हैं। आध्यात्मिक अर्थ में इन्द्र

---

१८ ऋग्०१.१७०.१
१९ वेदों की वर्णनशैलियाँ, पृ०१५२
२० ऋग्०१०.१७२.२
२१ वेदों की वर्णनशैलियाँ, पृ०१५३

जीवात्मा है, मरुत् प्राण है, अगस्त्य मन है। अधिदैवत अर्थ में इन्द्र सूर्य है, मरुत् वायु है और अगस्त्य यज्ञकर्त्ता है। अधिभूत अर्थ में इन्द्र राजा है, मरुत् वीर सैनिक है और अगस्त्य प्रजा है। किन्तु यह बड़ी क्लिष्ट कल्पना है।

इसी प्रकार यम-यमी संवाद तथा पुरुरवा-उर्वशी संवाद की भी तार्किक परिणति को स्थापित कर पाना कठिन प्रतीत होता है।

प्रश्नोत्तर शैली

संवादशली से मिलती-जुलती प्रश्नोत्तरशैली है, जिसका वर्णन आचार्य जी ने किया है। प्रश्नोत्तरशैली का महत्त्व स्पष्ट रूप से हमारी समझ में आता है। दुरूह विषयों को सरल बनाने के उद्देश्य से इस शैली का प्रयोग बहुत प्राचीनकाल से होता रहा है। प्रश्नोत्तर शैली या वादशैली गुरु और शिष्य के मध्य की बातचीत है। तथ्य का अन्वेषण इसका लक्ष्य है, किन्तु जब इसका उपयोग गुरु अथवा प्रवाचक को पराजित करने या उसे अपमानित करने में किया जाता है तो इसका कुत्सित रूप हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। राग-द्वेष, ईर्ष्या अथवा पराजय साधारण लौकिक व्यक्तियों के धर्म हैं, देवों के नहीं। शतपथ, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य के साथ अन्य ब्रह्मवेत्ताओं के प्रश्नों से यही सिद्ध होता है कि प्रश्नकर्त्ताओं का लक्ष्य तथ्यान्वेषण कम और पराजित करने का भाव अधिक है। प्रश्नोत्तर-शैली के कुछ उद्धरण देख लेते हैं-

प्रश्नकर्त्ता पूछता है-

किम॑स्य॒ मदे॒ किम्व॑स्य पी॒ताविन्द्रः॒ किम॑स्य स॒ख्ये च॑कार।
रणा॑ वा॒ ये नि॒षदि॒ किं ते अ॑स्य पु॒रा वि॑विद्रे॒ किमु॒ नूत॑नासः॥ [२२]

'सोम के मद में इन्द्र ने क्या किया? सोम का पान कर क्या किया? सोम से सख्य कर क्या किया? इसकी संगति में जो पुराने स्तोता थे, उन्होंने प्राचीनकाल में क्या प्राप्त किया था? नूतन स्तोता क्या प्राप्त करते हैं?

उक्त प्रश्नों का उत्तर है-

सद॑स्य॒ मदे॒ सद्व॑स्य पी॒ताविन्द्रः॒ सद॑स्य स॒ख्ये च॑कार।
रणा॑ वा॒ ये नि॒षदि॒ सत्ते अ॑स्य पु॒रा वि॑विद्रे॒ सदु॒ नूत॑नासः॥ [२३]

'सोम के मद में इन्द्र ने सत् किया, सोम का पान कर सत् किया, सोम से सख्य स्थापित कर सत् किया। इसकी संगति में जो पुराने स्तोता थे, उन्होंने प्राचीनकाल में सत् प्राप्त किया था। नूतन स्तोता भी सत् प्राप्त करते हैं।

उक्त मन्त्र में सोमपान का महत्त्व बताया गया है। सोमपान से मनुष्य का जीवन सन्मय हो जाता है। सत् जीवन का आनन्दमय सार है।

---

२२ ऋग्०६.२७.१
२३ ऋग्०६.२७.२

कुछ प्रश्नों के उत्तर देखिये-

कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्यु स्विदापः।
नोपस्फिजं वः पितरो वदामि पृच्छामि वः कवयो विद्मने कम्॥ [२४]

'कितनी अग्नियाँ हैं? कितने सूर्य हैं? कितनी उषाएं हैं? कितनी नदियाँ हैं? हे पितृजनो! हे कवियो! मैं आपसे स्पर्धावश नहीं पूछ रहा हूँ, किन्तु ज्ञानवृद्धि के लिये पूछता हूँ।'[२५]

इन प्रश्नों का उत्तर है-

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्॥ [२६]

'एक ही अग्नि बहुत रूपों में प्रदीप्त है। एक ही सूर्य विश्व में अनुस्यूत है। एक ही उषा इस सबको भासित करती है। एक ही ब्रह्म इस सब जगत् में व्याप्त है।'[२७]

आचार्य जी की दृष्टि में प्रश्नोत्तर शैली का प्रयोजन मनुष्यों को शुभ के लिये प्रेरित करना है। यह प्रेरणा विघ्नों को पार करने के लिये, अग्नि, सूर्य और उषा के समान तेजस्वी बनने के लिये, शत्रु का संहार करके विजय प्राप्त करने के लिये, सदाचरण के लिये, इन्द्रादि देवों की पूजा के लिये तथा एक ब्रह्म में प्रतिष्ठित करने के लिये प्रश्नों तथा उत्तर के माध्यम से दी गयी है।

आशीर्वादात्मक शैली

वेदों में आशीर्वादात्मक शैली का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। इस शैली में किसी व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र के लिये शुभकामना दी जाती है तथा मंगलकामना के द्वारा जीवन को सुखमय बनाया जाता है। यूं तो समग्र वेद इस शैली का उदाहरण हो सकता है, किन्तु जहाँ सीधे-सीधे प्रत्यक्ष रूप में आशीर्वाद दिया जाता है, वे ही मन्त्र इस शैली के अन्तर्गत आते हैं। आशीर्वाद का फल होता है कि आशीर्वाद पाने वाला और आशीर्वाद देने वाला दोनों का ही मन निर्मल और सुविचारों से परिपूर्ण हो जाता है। इससे सन्मार्ग पर चलने की इच्छा दृढ़ होती है, संकटों पर विजय प्राप्त करने का उत्साह बढ़ता है। कभी-कभी तो कुमार्गगामी भी महनीय जनों का आशीर्वाद पाकर सन्मार्ग पर चलने लगता है। मन्त्र द्वारा दिया गया आशीर्वाद सद्यः पलदायी और चमत्कारपूर्ण परिणाम देने वाला होता है।

यह आशीर्वाद दानी के लिये, वर-वधू के प्रति, दिवंगत आत्मा के प्रति तथा जनसाधारण के प्रति भी हो सकता है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा-

गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनूबलम्।
तत्सर्वमनु मन्यन्तां देवा ऋषभदायिने॥ [२८]

---

२४ ऋग्०१०.८८.१८
२५ वेदों की वर्णनशैलियां, पृ०२५३
२६ ऋग्०८.५८.२
२७ वेदों की वर्णनशैलियां, पृ०२५३
२८ अथर्व०९.४.२०

उक्त मन्त्र में दान करने वाले के प्रति शुभकामनाएं दी गयी हैं कि हे दानी पुरुष! तुझे गौएं प्राप्त हों और शारीरिक बल प्राप्त हों। हे देवो! ऋषभ का दान करने वाले को यह समस्त ऐश्वर्य प्राप्त हो।

वर-वधू के लिये गुरुजन आशीर्वाद देते हैं-

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ॥[२९]

प्रभु-कृपा से आप दोनों पति-पत्नी साथ-साथ रहें, कभी वियुक्त न हों, पुत्र और नातियों के साथ खेलते हुए अपने घर में प्रमुदित रहें।

सर्वसाधारण के लिये वेद आशीर्वाद देता है-

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असन्तापे अभिश्रियौ।
शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे।
शिवा अभि क्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः॥[३०]

द्युलोक और पृथिवी लोक तेरे लिये कल्याणकारी हों, सन्तापरहित तथा श्रीयुक्त हों। सूर्य तेरे लिये सुखकारी होता हुआ तपे, वायु तेरे हृदय में सुख-शान्ति प्रदान करे। दूध के समान निर्मल वर्षा का जल तेरे लिये सुखकारी होकर प्रवाहमान हो।

आशीर्वादात्मक मन्त्रों से वेद यह सन्देश और आदेश देना चाहता है कि आश्वासन या आशीर्वाद सुखी तथा दुःखी दोनों प्रकार के व्यक्तियों के लिये दिया जाना चाहिये। किसी रोगी को यदि औषधि के साथ-साथ आशीर्वाद भी प्राप्त हो जाये तो वह शीघ्र ही स्वस्थ हो सकता है। यदि दानी को यह आशीर्वाद दिया जाता है तो वेद का यह आदेश है कि सबको दान करना चाहिये। यद्यपि मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार ही रोग, शोक और सन्ताप प्राप्त करता है, किन्तु बड़ों के आशीर्वाद से उसे यह आशा अवश्य रहती है कि सम्भवतः मेरा कोई पुण्य उदित हो जाये और आशीर्वाददाता की शुभकामना फलीभूत हो जाये। वेद की यह आशीर्वादशैली लोककल्याण के लिये ही प्रसृत हुई है।

अर्थवादात्मक शैली

चारों वेदों में अर्थवाद ही अधिक संख्या में उपलब्ध होता है। वेद के मन्त्रों को सार्थकता प्रदान करने में अर्थवाद प्रमुख साधन माना गया है। अर्थवाद के विना अधिकांश मन्त्र निरर्थक होने लगेंगे। जबकि वेद का एक भी मन्त्र निरर्थक नहीं है। पूर्वमीमांसा दर्शन के अनुसार वेद के पाँच भाग हैं-विधि, निषेध, मन्त्र, नामधेय और अर्थवाद। इन पाँचों में अर्थवाद की उपयोगिता मन्त्रों को सार्थकता प्रदान करना है।

अर्थवाद क्या है? सोद्देश्य अर्थ का कथन अर्थवाद कहलाता है। यह चार प्रकार का होता है-

२९ अथर्व०१४.१.२२
३० अथर्व०८.२.१४

निन्दा, स्तुति, परकृति और पुराकल्प।[३१] सत्कार्य में प्रवृत्त करने वाले अतिशयोक्तिपूर्ण मन्त्र स्तुतिपरक कहलाते हैं। निन्दित कर्मों से निवृत्त करने के उद्देश्य से अनिष्ट फल का कथन निन्दा है। किसी अन्य के द्वारा की गयी विरुद्ध विधि का कथन परकृति है तथा इतिहास को कहने वाला वचन पुराकल्प कहलाता है। आचार्य रामनाथ जी ने अपनी पुस्तक में स्तुति तथा अर्थवादात्मक शैली में स्तुति और निन्दापरक मन्त्रों को ही उद्धृत किया है। हम यहाँ विचार करेंगे कि वेद के ऋषि को अर्थवाद की आवश्यकता क्यों पड़ी?

अग्नि की स्तुति

स्तुति में अनन्यलभ्य गुणों का कथन बढ़ा-चढ़ा कर किया जाता है। उसमें वास्तविकता का अन्वेषण नहीं करना चाहिये। जैसे यदि श्रुति यह कहती है कि **पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति**[३२] तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं लेना चाहिये कि यज्ञ में पूर्णाहुति के पश्चात् ही समस्त कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं। इसका इतना ही अभिप्राय है कि यज्ञ प्रतिदिन करना चाहिये और पूर्णाहुति से समापन करना चाहिये। इससे मनुष्य के मनोरथ थोड़ी बहुत मात्रा में अवश्य ही पूर्ण हो जाते हैं। यही अर्थवाद का उद्देश्य है। यदि वचन की सत्यता की समग्रता पर विचार करेंगे तो अर्थवाद का प्रयोजन पूर्ण नहीं होगा।

इसी प्रकार अग्नि की स्तुति की गयी है-

अग्निस्तुविश्रवस्तमं तुविब्रह्माणमुत्तमम्।
अतूर्तं श्रावयत्पतिं पुत्रं ददाति दाशुषे॥[३३]
अग्निर्ददाति सत्पतिं सासाह यो युधा नृभिः।
अग्निरत्यं रघुष्यदं जेतारमपराजितम्॥[३४]

अर्थात् हविर्दाता यजमान को यह यज्ञाग्नि अत्यन्त यशस्वी, उत्कृष्ट ज्ञानवान्, शत्रुओं से अवध्य तथा माता-पिता के यश की वृद्धि करने वाला पुत्र प्रदान करता है। वह पुत्र श्रेष्ठ जनों का रक्षक और युद्ध में अपराजित होता है। वह अग्नि यजमान को त्वरित वेगवान् तथा विजेता अश्व प्रदान करता है।

अग्नि की उपर्युक्त स्तुति का इतना अर्थ है कि मनुष्य प्रतिदिन यज्ञ करे। ऐसा नहीं है कि यजमान को पुत्र और अश्व की प्राप्ति यज्ञ के तुरन्त पश्चात् ही हो जाती है। प्रतिदिन यज्ञ करने वाले भी सन्तानहीन और निर्धन देखे गये हैं।

निन्दात्मक अर्थवाद

अर्थवाद के निन्दापरक अर्थ पर विचार करते हैं। जब वेद यह चाहता है कि यह मनुष्य किसी निन्दित कर्मविशेष से निवृत्त हो जाये तो वह उस कार्य की अतिशयोक्ति पूर्ण निन्दा करता है। जैसे दान

---

३१ न्यायसूत्र २.१.६४ स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः
३२ तैत्ति०ब्राह्म०३.८.१०.५
३३ ऋग्०५.२५.५
३४ ऋग्०५.२५.६

न करने वाले की निन्दा वेद करता है-

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥ [३५]

अप्रचेता अर्थात् अज्ञानी पुरुष व्यर्थ अन्न को प्राप्त करता है। सच कहता हूँ वह अन्न अप्रचेता का वध ही है। जिस धन से न तो पूजनीयों को पुष्ट करता है और न अपने सखा को ही पुष्ट करता है अपितु स्वयं ही भोग करता है वह केवल स्वयं खाने वाला मनुष्य पाप का ही भागी होता है।

उक्त निन्दा का इतना ही भाव है कि मनुष्य को दान करना चाहिये। अन्न का संग्रह बुरा नहीं है किन्तु जो दान सहित उसका भोग करता है वह समाज में पूजनीय और यशस्वी होता है। ऐसा नहीं है कि दान न करने वाले कोई पाप करते हैं। दान न करने वाले की सद्गति नहीं होती, इतना ही अभिप्राय **'केवलाघो भवति केवलादी'** का है।

निन्दात्मक अर्थवाद में अभिशाप भी सम्मिलित है। वेद में अभिशाप को गर्हित नहीं माना गया। यह शाप कभी-कभी स्वयं को दिया जाता है और कभी-कभी दूसरे को भी दिया जाता है। यद्यपि शाप देना सत्पुरुषों के लिये शोभनीय नहीं है किन्तु अन्तर्मन की व्यथा कभी-कभी शाप रूप में फूट पड़ती है। जैसे यदि किसी सत्पुरुष को यातुधान या सन्ताप देने वाला कह दिया जाये तो उसका मन खेद से भर उठता है और वह स्वयं को ही अभिशाप देने के लिये उद्यत हो जाता है-

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पूरुषस्य। [३६]

यदि मैं यातुधान हूँ अथवा यदि मैंने किसी भी पुरुष की आयु को सन्तप्त किया है तो मैं आज ही मर जाऊं। इसके आगे वह यातुधान कहने वाले को अभिशाप देता है-

अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह॥ [३७]

अर्थात् जो मुझे व्यर्थ ही यातुधान कहता है वह दस पुत्रों से वियुक्त हो जाये।

इस प्रकार निन्दा और स्तुतिरूप अर्थवाद वेदों में प्रचुरता से पाया जाता है। इस अर्थवाद का कारण ईर्ष्या या पक्षपात नहीं है, अपितु किसी सत्कार्य में प्रवृत्त करना और गर्हित कार्य से मनुष्य को निवृत्त करना ही इसका प्रयोजन है।

शैलीभेद पर एक समीक्षात्मक दृष्टि

उपर्युक्त रीति से आचार्य रामनाथ जी ने वेदों की वर्णन शैलियों का विवेचन करके वेदों की विषयवस्तु को भी सविस्तार प्रस्तुत किया है। न्यायदर्शन के अनुसार वेद ईश्वरीय वाणी है, मीमांसकों के अनुसार वेद नित्य और अपौरुषेय हैं। मनु महाराज कहते हैं कि वेद सर्वज्ञानमय हैं,[३८] साथ ही यह भी

---

३५ ऋग्०१०.११७.६
३६ ऋग्०७.१०४.१५
३७ ऋग्०७.१०४.१५
३८ सर्वज्ञानमयो हि सः-मनु०२.७

सुनिश्चित है कि ईश्वर अथवा नित्य ज्ञान के स्वभाव में परिवर्तन नहीं हुआ करता। स्वभाव की एकरूपता और एकरसता की स्थिति में वर्णन की शैली एक ही होनी चाहिये। ज्ञान तो बहुविध हो सकता है किन्तु वर्णन का प्रकार और भाषा में तो एकरूपता होनी ही चाहिये। वेदों की सर्वज्ञानमयता में किसी की भी विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती।

अब थोड़ा भाषा पर भी विचार कर लें। वेदों की वर्णनभाषा में एकरूपता नहीं है, उसमें अनेक रूप प्राप्त होते हैं। कहीं भाषा इतनी क्लिष्ट है कि वैदिक वैयाकरणों को भी माथापच्ची करनी पड़ती है, कहीं इतनी सरल है कि लौकिक संस्कृत प्रतीत होती है। यजुर्वेद का प्रथम अध्याय जिस भाषाशैली में निबद्ध है, वह चालीसवें अध्याय तक आते-आते सर्वथा परिवर्तित हो जाती है। जहाँ तक वैदिक ज्ञान की नित्यता, उसकी सार्वभौम सत्यता और प्रासंगिकता की मान्यता है उसमें किसी को संशय नहीं होना चाहिये। ज्ञानात्मक वेद ही नित्य और अपौरुषेय है, ऐसा न्याय और पूर्वमीमांसा का अभिप्राय गृहीत किया जाना चाहिये।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ049-59) ISSN 0974 – 8830

वैदिक वाङ्मय में अर्थव्यवस्था

बाबूलाल मीना[१]

वेदों के अध्ययन से वैदिक संहिताओं में वर्णित अर्थव्यवस्था के समुन्नत होने की जानकारी प्राप्त होती है। संहिताओं में वर्णित कृषि, पशुपालन, विभिन्न उद्योग-धन्धे, व्यापार आदि के अर्थव्यवस्था के प्रमुख अंग होने का वर्णन मिलता है। वस्तुतः किसी भी देश की अर्थव्यवस्था के सम्यक् संचालन के लिए उस देश की कृषि का विशेष महत्त्व होता है और भारत प्राचीनकाल से ही कृषि प्रधान देश रहा है। यह स्पष्ट ही है कि कृषि के जीवनाधार रूप में भूमि और पर्जन्य (वर्षा) की प्रमुख रूप से आवश्यकता होती है अत एव अथर्ववेदीय पृथिवी सूक्त में कृषि प्रधान देश के कवि ने भूमि और पर्जन्य को नमस्कार किया है-

भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षभेदसे।[२]

तथा भूमि को माता और पर्जन्य को पिता कहा है। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में ऋषि के द्वारा जिस तरह से पृथिवी का गौरव प्रकट किया गया है, उससे वैदिक ऋषियों के आर्थिक दृष्टि से पृथिवी के प्रति पूर्ण सचेत होने का संकेत प्राप्त होता है। कृषि एवं उसकी उपकरण सामग्री आदि का वैदिक संहिताओं में विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। वेदों में कृषि कार्य को गौरव का कार्य कहा गया है। अत एव इन्द्र और पूषा देवों को भी कृषि कार्य में लगाया गया है।[३] ऋग्वेद में द्यूत आदि दुर्गुणों को त्यागकर सुख के लिए कृषि करने की प्रेरणा दी गई है-

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व।[४]

यजुर्वेद में राजा के चार प्रमुख कर्तव्य बताये गये हैं-१. कृषि की उन्नति, २. जन-कल्याण, ३. राष्ट्र की श्रीवृद्धि और, ४. राष्ट्र को पुष्ट बनाना-

कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।[५]

इनमें कृषि को सर्वाधिक प्रमुखता दी गई है। शतपथ ब्राह्मण में सम्पूर्ण कृषि कर्म को संक्षेप में चार शब्दों में कह दिया गया है-१. **कर्षण**- खेत की जुताई करना, २. **वपन**- बीज बोना, ३. **लवन**- पके खेत की कटाई करना, ४**मर्दन**- मडाई करके स्वच्छ अन्न प्राप्त करना- **कृषन्तः, वपन्तः लुनन्तः मृणन्तः।**[६] ऋग्वेद और अथर्ववेद में राजा वेन के पुत्र राजा पृथी (पृथु) को कृषि विद्या का आविष्कारक बताया गया

---

१. संस्कृत-विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, प्रतापगढ (राज.)
२. अथर्ववेद,१२.१.४२
३. वहीं,३.१७.४
४. ऋग्वेद,१०.३४.७
५. यजुर्वेद,९.२२
६. शतपथ ब्राह्मण, १.६.१.३

है और कहा गया है कि पृथी ने ही सर्वप्रथम मनुष्यों के लिए कृषिकर्म के द्वारा अनेक प्रकार के अन्न (फसल) उत्पन्न किये-

(अ) तां पृथी वैन्योऽधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक्। ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या उपजीवन्ति कृष्टराधिरूपजीवनीयो भवति य एवं वेद।[७] **(ब) पृथी यद् वां वैन्यः।**[८]

और मानव समुदाय के लिये कृषि की पद्धति प्रशस्त करने की बात कही गयी है। इस बात का समर्थन महाभारत के शान्तिपर्व[९] और भागवतपुराण[१०] में भी किया गया है। वैदिक संहिताओं में अनेक सूक्त मिलते हैं जिनमें कृषि सम्बन्धी कुछ मुख्य बातें बताई गई हैं-१. बीज बोने से पहले खेत को ढंग से स्वच्छ करें।२. कृषिकार्य हेतु बैल, हल आदि उत्तम हों।३. उत्तम कोटि के बीज बोयें जाएँ।४. अनुकूल ऋतु में बीज बोवें।५. यथा समय सिंचाई- निराई करें।६. खेती तैयार होने से पूर्व कटाई अर्थात् तैयार होने पर क़टाई-मड़ाई करें।[११] भूमि के कई भेदों का उल्लेख मिलता है[१२] जिनमें३मुख्य भेद है- उर्वरा (उपजाऊ), शष्य (चरागाह के

योग्य) इरिण (ऊषर)। मिट्टी के भी कतिपय भेदों का उल्लेख प्राप्त होता है जिनमें मुख्य हैं[१३] मृद, मृत्तिका (चिकनी मिट्टी), रजस् भूमि (सामान्य मिट्टी),अश्मा, अश्मन्वती (पत्थर वाली), किंशिल (छोटे कंकड़ वाली), इरिण्य (ऊषर, खेती के लिए अनुपयुक्त), उर्वरा, उर्वर्य (उपजाऊ, खेती के योग्य), सिकता, सिकत्य (बालू वाली मिट्टी)। कृषि के भी दो भेदों का उल्लेख है-**वर्ष्याय चावर्ष्याय च।**[१४]

ये हैं-१. वर्ष्य- वर्षा पर निर्भर रहने वाली कृषि।२. अवर्ष्य- वर्षा पर निर्भर न रहकर कूप, तालाब नहर आदि सिंचाई के अन्य साधनों पर निर्भर। कुछ अन्नों के जुते हुए खेत में कृषि द्वारा उत्पन्न होने तथा थे, कुछ विना जुती हुई भूमि में उत्पन्न होने के संकेत प्राप्त होते हैं, जैसे- जंगली धान, फलफूल इत्यादि-**कृष्टपच्याश्च मेऽकृष्टपच्याश्च मे।**[१५]

तै.सं. मैं दो बार फसलों के पकने का उल्लेख है- **द्विः संवत्सरस्य सस्यं पच्यते।**[१६] इन्हें शारदीय (खरीप) और बासन्ती (रबी) कहते हैं। वहीं पर कटने की ऋतु के आधार पर अन्य चार प्रकार की फसलों का भी उल्लेख मिलता है-

---

७. अथर्ववेद,८.१०(४).११
८. ऋग्वेद, ८.९.१०
९. महाभारत, शान्तिपर्व, ५९.११३.११५
१०. भागवतपुराण,स्कन्ध-४,१६ से २३
११. ऋग्वेद,१०.१०१.४, ५७, यजुर्वेद,१२.६७-७१, अथर्ववेद, ३.१७.१-९
१२. यजुर्वेद,१६,३३,४२,४३, तै.स.,४,५,६से ९
१३. यजुर्वेद,१८.१३,१६.४५,४३,३३
१४. वही, १६.३८
१५. वही, १८.१४
१६. तै.सं., ५.१.७.३

यवं ग्रीष्माय, व्रीहीन् शरदे...........।[१७]

वे ये हैं- १. ग्रीष्म, २. वर्षा, ३. शरद, ४. हेमन्त शिशिर में करने वाली फसलें।. इनके अन्न का भी क्रमशः निर्देश है- जौ, ओषधियाँ, चावल व्रीहि) तथा माष-तिल (उड़द और तिल)।

यजुर्वेद और तै.सं. में १२ अन्नों के नाम मिलते हैं[१८]। वे ये हैं- १. व्रीहि (धान), २. यव (जौ), ३. माष (उड़द) ४. तिल, ५. मुद्ग (मूँग), ६. खल्व (चना), ७. प्रियंग (कंगुनी) ८. अणु (पतला चावल), ९. श्यामाक (सावाँ), १०. नीवार (कोदों, तिन्नी धान), ११गोधूम (गेहूं), १२. मसूर।

सिंचाई के साधनों में वर्षा, कुल्या (नहर), नदियाँ, तालाबों और कुओं के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं, खाद या उर्वरक के लिये ऋग्वेद में क्षेत्रसाधसः[१९] अर्थात् खेत की शक्ति बढ़ाने वाला शब्द प्राप्त होता है। करीष, शकन्, शकृत (गोबर) शब्द भी वेद में खाद के लिये मिलते हैं- १. **करीषिणीः**[२०] **शकमयम्**[२१] **शकृत**[२२]**। यह खाद गाय**, बैल, भैंस आदि की होती थी। इससे स्पष्ट है कि वेदों में पशु-पुरीष जन्य खाद के महत्त्व की जानकारी मिलती है। ऋग्वेद में हल के लिये लाङ्गल तथा सीर हल चलाने वाले किसान (कृषक) के लिये कीनाश, हल के अगले नुकीले भाग के लिये सीता या पाल शब्द मिलते हैं। हल की नोक से बनी रेखा या लकीर को भी सीता कहा गया है। इसी तरह हल का डंडा शुनासीर, हल की लम्बी लकड़ी ईषा, बैल की कन्धे पर रखा जाने वाला जुआ युग, हल और जुए को बाँधने की रस्सी युग बैल के लिए वाह, हाँकने की चाबुक या छड़ी को अष्ट्रा कहा गया है।[२३]

संहिताओं में ६, ८, १२ जुओं वाले हलों का भी वर्णन मिलता है।[२४] एक जुए में २ बैल लगने का बात कही गयी है, और १२, १६, २४ बैलों वाले हल की भी कृषिकार्य हेतु चर्चा है। फसल की कटाई के उपकरण दात्र अथवा शृणी (हँसिया) का भी उल्लेख मिलता है।[२५]

कृषिनाशक तत्त्वों में चूहे के नाम का वर्णन है और उसे मारने का भी निर्देश मिलता है।[२६] तर्द, पतंग, जभ्य और उपस सभी कृषि को नष्ट करने वाले कीट पतंगों का भी उल्लेख मिलता है।[२७] छान्दोग्य- उपनिषद् में कृषि नाशकों में टिड्डी के लिये मटची शब्द आया है। एक बार सम्पूर्ण कुरु जनपद

---

१७. वही, ७.२.१०.२
१८. व्रीहयश्च मे यवाश्च मे, यजुर्वेद, ८.१२, तै.सं., ४.७.४.२
१९. ऋग्वेद, ३.८.७
२०. अथर्ववेद, ३.१४,३
२१. ऋग्वेद,१.१६४.४३
२२. वही,१.१६१.१०
२३. वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरूप, पाण्डेय, पृ .२९१ एवं वैदिक साहित्य एवं संस्कृति द्विवेदी,पृ.२७३
२४. अथर्ववेद, ६.९१.१,काठक संहिता १५.२
२५. वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरूप,पृ .२९१
२६. अथर्ववेद, ६.५०.(१)
२७. वही, ६.५०.२

की खेती को टिड्डियाँ द्वारा खाने का संकेत प्राप्त होता है-**मटचीहतेषु कुरुषु।**[२८]

वैदिक अर्थव्यवस्था में कृषि कार्य की भाँति पशुपालन का भी विशेष महत्त्व दृष्टिगोचर होता है। पशु सम्पदा के सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग होने की बात कही गयी है। कृषि कर्म, घी, दूध, दही, मक्खन, ऊनीवस्त्र, खाद, युद्ध, यातायात और भारवाहन आदि कार्यें के लिए बैल, गाय, अश्व, भैंस, भेड़, बकरी आदि पशुओं की नितान्त उपयोगिता है ही। अत एव वैदिक वाङ्मय में पशुपालन एवं पशुसंवर्धन से संबद्ध कई सूक्त प्राप्त होते हैं। पशु संपदा के संरक्षण के लिये मन्त्रों में गोष्ठ, गोशाल, व्रज आदि का उल्लेख मिलता है। व्रज घिरे हुआ बाड़ा होता था, जिसमें गाय, बैल, भैंस अश्व, भेड़, बकरी आदि सभी बाँधे जाने का उल्लेख मिलता है।

अथर्ववेद में पशुओं के संवर्धन के लिए कई बातें बताई गयी है-[२९] १.- पशुओं के लिए चारे की सुन्दर व्यवस्था हो, जिससे वे हृष्ट-पुष्ट रहें, वे घास खावें, शुद्ध जल पीयें, घूमने के लिये बाहर जावें। २. गायों के सुन्दर बछड़े हों, हौज में शुद्ध जल पीयें। उन्हें चोरों का भय नहीं हो। ३. पशुओं को शुद्ध वायु मिले। सूर्य का प्रकाश उन्हें शक्ति दे, ४. पशु इकट्ठे होकर चलें, घूमे और रहें। ५. पशुधन की निरन्तर वृद्धि हो, ६. जहाँ गाय आदि पशुओं का संरक्षण होता है, वहाँ धन-धान्य और श्री की वृद्धि होती है।

वेदों में पशुओं में गाय का सर्वाधिक महत्त्व बताया गया है। गाय को सभी देवों का अधिष्ठान बताया गया है-'**एतद् वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम्।**'[३०] गाय साक्षात् भाग्य की देवता ही है। इन्द्र (परमात्मा) की प्रतिनिधि है। गाय सोम की पहली घूँट है-'**गावो भगो गाव इन्द्रो ………………… गावो सोमस्य प्रथमस्य भक्षाः।**'[३१]

ऋग्वेद के षष्ठ मण्डल के २८वें सूक्त के उपर्युक्त मन्त्र सहित अन्य ७ मन्त्रों में गायों का महत्त्व वर्णन किया गया है। सूक्त का प्रथम मन्त्र कहता है-**आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे प्रजावतीः पुरूरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः।**[३२] अर्थात् ये गायें हमारे यहाँ आ गई हैं और हमारा कल्याण कर रही हैं। ये हमारे गोष्ठ में रहें और हमारे सान्निध्य से इन्हें आनन्दित होने दो। अनेकानेक उषःकालपर्यन्त इन्द्र के लिए दूध समर्पित करती हुई हमारे यहाँ ये अपनी सन्तान के साथ अनेकवर्ण धारण करती हुई रहें।

गायों की प्रशंसा के विषय में इसी सूक्त के अन्य मन्त्रों कहा गया है कि गायों का विनाश नहीं होता, डाकू उन्हें कष्ट नहीं दे सकते। युद्ध भूमि में धूलि धूसरित घोड़ा भी उनके पास नहीं पहुँच सकता। अथर्ववेद में भी गायों की प्रशंसा में कहा गया है कि वे कृशपुरुष को हृष्ट पुष्ट कर देती हैं। पीले पड़े हुए पुरुष (मनुष्य) का नेहरा लाल बना देती है अर्थात् निस्तेज को तेजस्वी बना देती है। रँभाने वाली गायों

---

२८. छान्दोग्योपनिषद्, १.१०.१ शांकरभाष्य- 'मटचीहतेषु मटच्योऽशनयस्ताभिर्हतेषु नाशितेषु कुरुषु कुरुसस्येष्वित्यर्थः।'

२९. अथर्ववेद, ७.७३.११, ७.७५.१-२, २.२६.१-४, ४.२१.१

३०. वहीं, ९.७.२५, १-२६

३१. ऋग्वेद, ६.२८.५

३२. वही, ६.२८.१

से सारा घर मंगलमय बन जाता है। अतः विद्वद्गण सभाओं में गायों का गुणगान करते हैं-

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिद् अश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो, बृहद् वो वय उच्यते सभासु॥[३३]

गाय में वर्चस् (कान्ति), तेज, भग (ऐश्वर्य), यश, पयस् (दूध) और सरसता आदि गुणों का समावेश भी अथर्ववेद में बताया गया है-

वर्चो............तेजो...........भगो..............यशो...............गोषु प्रविष्टम्।[३४]

अतः गाय को अघ्न्या (अवध्य) बताते हुए उसे सौभाग्य का चिह्न बताया गया है-

अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय।[३५]

गायों आदि पशुओं के कानों पर पहचान के लिए कुछ अंक आदि लिखे दिये जाने का उल्लेख मिलता है। इससे, ऐसा मानना हो सकता है कि गाय की प्रसव की योग्यता तथा उसके दुग्ध की वृद्धि होती है। अतः कहा गया कि दोनों कानों पर ताँबे की शलाका से मिथुन (२अंक या दो लकीर) बना दो-

(अ) सहस्रं मे ददतो अष्टकर्ण्यः।
(ब) लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि॥[३६]

ऋग्वेद में गोहत्या करने वाले का सामाजिक बहिष्कार करने का निर्देश दिया गया है-

आरे ते गोघ्नम्।[३७]

गायों के गोशाला में बांधे जाने की चर्चा है। यजुर्वेद में गोशाला के लिए गोष्ठान शब्द आया है-गोष्ठानम्।[३८] गायां के गोष्ठ में भी रखे जाने की चर्चा है।[३९] वस्तुतः व्रज गोशाला के रूप में ही है, अतः इन्हें गोष्ठ कहे जाने की बात कही गयी हे- **गोष्ठः।**[४०] व्रज के विषय में कहा गया है कि व्रजं कृणुध्वम्[४१] अर्थात् व्रज (वाड़ा) बनाओं क्योंकि यह नृपाणः (दुग्धादि का दाता) है। यह मनुष्यों की पेय और खाद्य वस्तुओं की आवश्यकता की पूर्ति करता है-**व्रजं कृणुध्वं सहि वो नृपाणः।**[४२]

अथर्ववेद में तो गोशाला के रख रखाव के विषय में कुछ मुख्य बातें कई मन्त्रों में कही गयी है[४३]- १. गायों आदि के बैठने के लिए पर्याप्त स्थान हो। अन्न जल की ठीक व्यवस्था हो, प्रकाश की

३३. अथर्ववेद,४.२१.६
३४. वही, १४.२.५३-५८
३५. अथर्ववेद, ७.७३.८
३६. ऋग्वेद,१०.६२.७
३७. अथर्ववेद, ६.१४१.२
३८. ऋग्वेद,१.११४.१०
३९. यजुर्वेद,१.२५
४०. ऋग्वेद,६.२८.१
४१. अथर्ववेद, ३.१४.५
४२. ऋग्वेद,१०.१०१.४
४३. अथर्ववेद, ३.१४.१-६

व्यवस्था हो। दिन की सुविधाएँ रात्रि में भी रहें। २. वे इकट्ठी घूम सकें। किसी प्रकार का कोई भय न हो। पषुओं को रोग मुक्त रखा जाये। ३. नयी गायें आदि भी आती रहें। सभी पशु हृष्ट-पुष्ट हों। वे बच्चों को जन्म दें। ४. गोषाला में पशुओं के पालन-पोषण की पूर्ण व्यवस्था हो, जिससे उनकी वृद्धि हो। ५. वे नीरोग और दीर्घायु हों।

वेदों में पशुओं को निर्भय रहने की बात कही गयी है-**अभयं नः पशुभ्यः।**[४४] और पशुओं की हत्या को दण्डनीय अपराध बताया गया है। अथर्ववेद में द्विपाद् (दो पैर वाले) और चतुष्पाद् (चार पैर वाले) जीवों की हत्या न करने की बात कही गयी है।[४५] यजुर्वेद में भी गाय, गवय, द्विपाद् पशु, एक शप वाले पशु, चतुष्पाद पशु, ऊँट और भेड आदि पशुओं का नामोल्लेख करते हुए इनके नहीं मारने की बात कही गयी है-**मा हिंसी द्विपादं पशुम्।**[४६]

यजुर्वेद में ही घोड़े की हत्या को दण्डनीय अपराध बताया गया है-

यो अर्वन्तं जिघांसति तमभ्यमीति वरुणः।[४७]

वस्तुतः कृषि कार्य के लिए पशुपालन में भी अत्यधिक रूचि आवश्यक है, अतः ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर पशुधन की वृद्धि के लिए देवताओं की आराधना की गई। वेदों में पशुपालन केवल व्यक्तिगत ही नहीं, अपितु व्यवसाय के लिये भी होने की चर्चा की गयी है, अतः यजुर्वेद में विभिन्न व्यवसायियों के मध्य गोपालों, अजपालों और अविपालों के उल्लेख मिलते हैं।[४८]

वैदिक संहिताओं में कृषि और पशुपालन की भाँति अर्थव्यवस्था के प्रमुख अंगों में विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धे एवं शिल्प के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वेदों में लगभग १४० वृत्तियों (पेशों) का समुल्लेख मिलता है।[४९] ऋग्वेद के एक मन्त्र से एक ही परिवार के कई व्यक्तियों के प्रेमपूर्वक विभिन्न उद्योगों के संचालन की चर्चा मिलती है। मन्त्र में कहा गया है कि मैं कारू (कवि, शिल्पी) हूँ, पिता भिषक् (वैद्य) हैं और माता चक्की पीसती है। घर की आय के लिये हम भिन्न-भिन्न काम करते हैं-

कारूरहं ततो भिषग् उपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिम॥[५०]

वैदिक संहिताओं में कारू लोगों (शिल्पियों, श्रमजीवियों) की आर्थिक स्थिति के उत्तम होने की चर्चा है, अतः उन्हें **पुरूदमासः**[५१] अर्थात् अनेक भवन या कोठियों वाला (अथर्ववेद में) कहा गया है। वस्त्र उद्योग के भी प्रतिष्ठित होने का उल्लेख है। सूती वस्त्रों को वासस्, ऊनी को ऊर्णायु और रेशमी को

---

४४. यजुर्वेद,३६.२२
४५. अथर्ववेद,११.२.१ एवं १०.१.२९
४६. यजुर्वेद,१३.४७-५०
४७. वही, २२.५
४८. यजुर्वेद
४९. अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन, द्विवेदी, पृ.१५८-१७८
५०. ऋग्वेद, ९.११२.३
५१. अथर्ववेद,७.७३.१

तार्प्य कहे जाने की बात कही गयी हे-

(अ) वासांसि[५२] **(ब) ऊर्णायुम्**[५३] **(स) तार्प्यम्**[५४]।

जुलाहा (बुनकर) के लिए वासोवाय:[५५] शब्द मिलता है। अथर्ववेद में सुन्दर बुनाई का वर्णन है-

तत्रमेके युवती................. वयत:।[५६]

वस्त्र बुनने का काम प्राय: स्त्रियाँ (युवतियाँ) करती हुई दिखाई गयी हैं। बुनने वाली स्त्री के वय्या या वयित्री कहे जाने की चर्चा है।[५७] पुरुषों के भी बुनने के काम का वर्णन प्राप्त होता है-

पुमान् एनद् वयन्ति।[५८]

इसी तरह रथकारा: (रथकार)[५९] तष्टा (तक्षा)[६०] तक्षा (तष्टा),[६१] त्वष्टा (त्वष्टा)[६२] इन चारों शब्दों का प्रयोग बढ़ई के लिए प्राप्त होता है। कर्मार (लौहकारश्लौहार) को मनीषिण: (कुशल कारीगर) कहा गया है-

कर्मारा ये मनीषिण:।[६३]

यजुर्वेद में **यन्तुर्यन्त्रेण** (यान्त्रिक) का उल्लेख है।[६४] यह कारीगर या मिस्त्री होता है। सुनार के लिए **हिरण्यकारम्**[६५] मणिक्कार के लिए **मणिकारम्**[६६] चर्मकार के लिये **चर्मम्ना:**[६७] सौचिक के लिए **सूच्या**[६८] वस्त्रों की रंगाई का काम करने वाली के लिये **रजयित्रीम्**[६९] चीनी उद्योग से सम्बन्धित सामग्री में गन्ने के

---

५२. वही, ९.५.२६
५३. यजुर्वेद, १३.५०
५४. अथर्ववेद, १८.४.३१
५५. ऋग्वेद, १०.२६.६
५६. अथर्ववेद, १०.७.४२
५७. ऋग्वेद, २.३.६
५८. अथर्ववेद, १०.७.४३
५९. वही, ३.५.६
६०. वही, २०.३५.४
६१. वही, १०.६.३
६२. वही, १२.३.३३
६३. वही, ३.५.६
६४. यजुर्वेद, १८.३७
६५. वही, ३०.१७
६६. वही, ३०.७
६७. ऋग्वेद, ८.५.३८
६८. अथर्ववेद, ७.४८.१
६९. यजुर्वेद, ३०.१२

लिये **इक्षुणा**[७०] **इक्षुकाण्डम्**[७१] सुराकार के लिए **सुराकारम्**[७२] नाई से सम्बन्धित कार्य के लिये **वप्ता वपसि केशश्मश्रु**[७३] धोबी के लिये मलग यथा मलगवस्त्रा[७४] वैद्य या चिकित्सक के लिये **भिषजम्**[७५] ज्योतिषी के लिये **प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शम्**[७६] आदि तत्कर्म से सम्बन्धित शब्द स्थान-स्थान पर संहिताओं में प्राप्त होते हैं। नृत्य से सम्बन्धित शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं-

(अ) नृत्ताय सूतम्[७७] **(ब) नृत्यन्ति, गायन्ति।**[७८]

वैदिक संहिताओं में द्यूत का भी आजीविका के साधनों के अन्तर्गत उल्लेख है, परन्तु इसके कुछ व्यक्तियों के द्वारा ही खेले जाने की चर्चा है। जुआरी को कितव की संज्ञा दी गई है।[७९] वेदों में इसे दुर्व्यसन मानकर छोड़ने का आदेश दिया गया है-**अक्षैर्मा दीव्यः।**[८०]

इस प्रकार वैदिक संहिताओं में शिल्प और उद्योग को आदर की दृष्टि से देखा गया है और इन्हें आजीविका के प्रमुख साधन कहा गया।

वैदिक संहिताओं में शिल्पियों और व्यवसायियों के द्वारा उपर्युक्त निर्मित वस्तुओं के वितरण के लिए व्यापार कार्य की भी समुन्नतः दशा की चर्चा है। व्यापार वस्तुतः अत्यन्त व्यापक उद्योग कहा गया। वेदों में व्यापारी के लिए वणिक् (वणिज्) और वाणिज् दो शब्द आये हैं-

(अ) वणिजम्,[८१] **(ब) तुलायै वाणिजम्।**[८२]

व्यापार को **धनदा अस्तु**[८३] कहकर श्रीवृद्धि का साधन बताया गया है। क्रय (खरीदना) के लिए पण और प्रपण शब्द और विक्रय (बेचने) के लिए विक्रय और प्रतिपण शब्द है। व्यापार लाभ के लिए किया जाता है, अतः कहा गया है कि क्रय-विक्रय लाभकारी हो-

प्रपणो विक्रयश्च, प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु।[८४]

---

७०. अथर्ववेद, १.३४.५
७१. मै .सं.३.७.९
७२. यजुर्वेद, ३०.११
७३. अथर्ववेद, ८.२.१७
७४. वही, १२.३.२१
७५. यजुर्वेद, ३०.१०
७६. वही, ३०.१०
७७. वही, ३०.६ एवं ३०.१९,२०
७८. अथर्ववेद, १२.१.४१
७९. यजुर्वेद,३०.८
८०. ऋग्वेद, १०.३४.१३
८१. अथर्ववेद.,३.१५.१
८२. यजुर्वेद,३०.१७
८३. अथर्ववेद, ३.५.१
८४. वही, ३.१५.४

मूल्य के लिए वस्नेन [८५] अर्थात् वस्न, शुल्कम्[८६] अर्थात् शुल्क, निहारं[८७] अर्थात् निहार शब्द संहिताओं में आये हैं। एक मन्त्र में इन्द्र को व्यापारी के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[८८] क्रय-विक्रय का आधार वस्तु विनिमय भी कहा गया है। कुछ ओषधियाँ सोम आदि, उपवस्त्र (चादर), दूर्श (दुशाला), अजिन (मृगचर्म), गाय आदि पशुओं से खरीदी जाने का उल्लेख है-

(अ) पवस्तैः[८९] **(ब) पशुना क्रीणामि**[९०]

ऋग्वेद के एक मन्त्र में इन्द्र प्रतिमा को १०गायों से खरीदने का उल्लेख है-

क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः।[९१]

यजुर्वेद में भी व्यापार का आधार आदान-प्रदान बताया गया था। मन्त्र में कहा गया है कि तुम मुझे दे दो, मैं तुम्हें देता हूँ। तुम मेरे लिए रखो, मैं तुम्हारे लिए रखता हूँ। तुम विक्रेय वस्तु मुझे दे दो, मैं तुम्हें मूल्य देता हूँ-

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे, निहारं निहराणि ते॥[९२]

विक्रय योग्य वस्तु के मूल्य में मोलभाव अर्थात् बेचते समय जो मूल्य तय हुआ उसी के मान्य होने का उल्लेख भी मिलता है-

भूयसा वस्नमचरत् कनीयः।[९३]

चरित्र और व्यवहार में शुद्धि, अध्यवसाय आदि व्यापार में सफलता के गुण भी बताये गये हैं-

शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च।[९४]

मिलावट करना दण्डनीय अपराध कहा गया है। एक व्यापारी ने अच्छे जौ में सड़े जौ (कुयव) मिलाकर बेचने पर राजा के उसे दण्ड देने का वर्णन प्राप्त होता है-

कुयवं नि अरन्धयः।[९५]

स्थल मार्ग, जलमार्ग और समुद्री मार्ग से व्यापार प्रचलन की चर्चा है। स्थल मार्ग से वस्तुओं को भेजने के लिए वृषभ (बैल), वध्रि (बधिया बैल), अश्व, रासभ (गर्दभ), अश्वतर-अश्वतरी (खच्चर),

---

८५. वही, १२.२.३६
८६. वही, ५.१९.३
८७. यजुर्वेद, ३.५०
८८. अथर्ववेद, ३.१५.१-८
८९. वही, ४.७.६
९०. तै.सं., १.२.७.१
९१. ऋग्वेद, ४.२४.१०
९२. यजुर्वेद, ३.५०
९३. ऋग्वेद, ४.२४.९
९४. अथर्ववेद, ३.१५.९
९५. ऋग्वेद, ७.१९.२ एवं अथर्ववेद, २०.३७.२

ऊष्ट्र (ऊँट), महिष (भैंसा), अज (बकरा), अवि (भेड़), श्वा (कुत्ता) आदि पशुओं का उपयोग होने का उल्लेख है।[९६] रथ और बैलगाड़ी भी इनमें मुख्य कही गयी है। जल मार्ग से व्यापार कार्य नौकाओं के माध्यम से होने का वर्णन है।[९७] समुद्रीव्यापार का उल्लेख ऋग्वेद और अथर्ववेद में मिलता है-

(अ) नावा[९८] (ब) नावम् आरुक्षः शतारित्राम्।[९९]

वैदिक संहिताओं में ऋषियों के आकाशीय मार्ग और यात्रा से पूर्ण परिचित होने की चर्चा है, परन्तु व्यापार के लिए इसके प्रयोग का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है।

व्यापार के लिए वेदों में सिक्कों के प्रचलन के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। शतपथ ब्राह्मण में निष्क सोने के सिक्के की बात कही है।[१००] जबकि ऋग्वेद में निष्क गले में पुरुषों के द्वारा धारण किया जाने वाला सुवर्णाभूषण बताया गया है- **निष्कग्रीवः।**[१०१] अथर्ववेद में भी इसे सोने का बताया गया है।[१०२] निष्क के साथ-साथ रूक्म (सोने को सिक्का), शतमान[१०३] (सोने-चाँदी की सिक्के), पण या कार्षापण[१०४] (चाँदी के सिक्के) आदि के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं।[१०५]

संहिताओं में व्यापार के सम्यक् संचालन के लिए ब्याज पर ऋण लेने देने की भी चर्चा है।[१०६] फिर भी अनृण रहने को सर्वोत्तम कहा गया है-

अनृणा अस्मिन् अनृणाः परस्मिन्।[१०७]

ऋग्वेद में धूर्त पणियों (व्यापारियों) को बेकनाट कहा है।[१०८] यास्क ने बेकनाट उन सूदखोरों को कहा है, जो अपना रुपया दुगुना बनाना चाहते हैं या बनाते हैं-

बेकनाटाः कुसीदिनो भवन्ति। द्विगुणकारिणो वा।[१०९]

और इसीलिए देवों से प्रार्थना की गई कि वे पणियों के हृदयों को खण्ड-खण्ड कर दें।[११०]

---

९६. ऋग्वेद, ८.४६.२८,८.४६.३०, अथर्ववेद,८.८.२२, २०.१२७.२, ५.३.८
९७. अथर्ववेद, ४.३३.८
९८. वही, ४.३३.८
९९. वही, १७.१.२६
१००. शतपथ ब्राह्मण,११.४.१.८
१०१. ऋग्वेद, ५.१९.३
१०२. अथर्ववेद, ५.१७.१४
१०३. अथर्ववेद, ६.२२.२
१०४. श.ब्रा.,१३.२.३.२
१०५. तै.ब्रा.,१.३.७
१०६. अथर्ववेद ६.११७-११९
१०७. वही, ६.११७.३
१०८. ऋग्वेद, ८.६६.१०
१०९. निरुक्त, ६.२६
११०. ऋग्वेद, ६.५३.५

उल्लेखनीय बात यह है कि वैदिक समाज में व्यापार मुख्यत: वैश्यों के अधिकार में होने की चर्चा है परन्तु छोटे-छोटे सभी कार्यों में शूद्रवर्ण के योगदान का भी स्पष्ट उल्लेख है।[१११]

वैदिक समाज में जहाँ क्षत्रिय वर्ण के अपने वैभव के प्रदर्शन हेतु आखेट करने का भी उल्लेख है, वहीं शूद्र वर्ण के लोगों के छोटे-छोटे शिकार करके अपनी जीविकायापन किया करने के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं,[११२] इस कथन से वैदिक संहिताओं में आखेट करके आय प्राप्त कर जीविकायापन करना भी अर्थव्यवस्था का अंग होने की बात कही गयी है।

अर्थव्यवस्था की दृष्टि से वैदिक समाज की उल्लेखनीय बात यह है कि वैदिक संहिताओं में उपर्युक्त किसी भी व्यवसाय को हीन नहीं माना गया है। किसी भी व्यवसाय को कोई भी व्यक्ति के नि:संकोच अपनाने की चर्चा है। आर्थिक आधार पर समाज में श्रेणियों का उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। धनोपार्जन की केवल शुद्ध, विधिसम्मत और समाज के द्वारा अनुमोदित प्रक्रिया प्रशंसनीय कही गयी है, अत एव वैदिक संहिताओं में वर्णित अर्थव्यवस्था सर्वथा, सर्वदा अनुकरणीय और सार्वकालिक ग्रहणीय है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वैदिक संहिताओं में अर्थव्यवस्था के अत्यन्त सम्पन्न, समृद्ध एवं समुत्कृष्ट होने के सूत्र-संकेत प्राप्त होते हैं।

१११. वही, ५.४.११
११२. वही, १०.२८.१०

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ060-68) ISSN 0974 – 8830

वैदिकवाङ्मय में मानवाधिकार

डॉ. पुष्पा यादव[1]

वैदिक ऋचाएं संसार की जीवन-पद्धति सम्बन्धी अनुभूतियों एवं नैतिक नियमों की आदि स्रोत हैं। वेद अपरिमित ज्ञान राशि के अमूल्य एवं अक्षय भण्डार हैं। वे आर्यों के उदात्त धर्म, दर्शन, संस्कृति एवं सभ्यता के मूल स्रोत हैं, विश्वभर में सबसे पहले और प्रमुख आधार हैं। इसी कारण **आर्क विशप बर्कले** का मत है कि वेद 'दर्शन की प्रथम चिंगारी है जो निश्चय ही स्वर्ग से प्राप्त की गई होगी।'

वेद अपौरुषेय है, वे मनुष्यकृत नहीं है। इस दृष्टि से वेद सामान्य पुरुषों द्वारा दिया गया ज्ञान न होकर ईश्वरीय प्रेरणात्मक ज्ञान होने के कारण अपौरुषेय है। वेद समस्त विद्याओं का मूल उत्स है। शिक्षा, काव्य, व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष, संगीत आदि समस्त विद्याओं का उद्गम वेद से ही माना जाता है।

मानव समाज के सरलतम जीवन यापन के लिये छोटे से छोटे तथ्य को वेदों में उजागर किया गया है, साथ ही मानव के अधिकार और कर्त्तव्यों का विशद वर्णन किया गया है, प्रायः सभी स्थानों पर अधिकार और कर्त्तव्यों का विवेचन एक साथ ही होता आया है, क्योंकि अधिकार और कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसीलिये वैदिक वाङ्मय में मानव अधिकारों का विशद वर्णन किया गया है, साथ ही कर्त्तव्यों का भी निर्देश है। ये धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक, नैतिक और चारित्रिक आदि प्रकार के है-

शैक्षिक अधिकार

वैदिक महर्षियों ने ही नहीं, अपितु वर्तमान शिक्षा शास्त्रियों ने इस विषय पर गहन चिन्तन-मनन किया है। उनके अनुसार शिक्षा ही जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है जो बाल्याकाल से लेकर वृद्धावस्थापर्यन्त मनुष्य को अनुशासित, संयत प्रगतिशील और विकासान्मुख बनाए रखता है। इसलिये शिक्षा मानव का प्रथम अधिकार है। शिक्षा मानव का सर्वाङ्गीण विकास करते हुए उसमें आध्यात्मिक, नैतिक, बौद्धिक, मानसिक एवं चारित्रिक गुणों का आधान करते हुये उसे उन्नत जीवनपथ की ओर अग्रसर करती है। अतः अथर्ववेद में शिक्षा का उद्देश्य इस प्रकार वर्णित है- व्यक्ति की बुद्धि को तीक्ष्ण करना और प्रबुद्ध करना, उसे प्रगति की ओर ले जाते हुये सभी प्रकार के सौभाग्य से युक्त करना आदि-

बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं ज्योतयैनं महते सौभगाय।
संशितं चित्संतरं सं शिशाधि विश्व एनमनु मदन्तु देवाः॥[2]

शिक्षा का उद्देश्य मानव जीवन को सुख और शान्ति से युक्त कर मधुर बनाना है। शिक्षा ही मानव को शान्ति प्रदान करने वाली, मन को पवित्र करने वाली, सदविचारों को पुष्ट करने वाली और

---

१. एसो. प्रो. एवम् अध्यक्षा संस्कृत विभाग, महिला महाविद्यालय, किदवई नगर, कानपुर
२. अथर्ववेद-७.१६.१

जीवन में शक्ति प्रदान करने वाली है-

यस्ते स्तनः शशयुर्यो मयोभूर्यो सुम्नयुः सूहवो यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धावतेऽकः॥[३]

संस्कृत के प्रसिद्ध श्लोक **विद्या ददाति विनयं** में विद्या से विनम्रता योग्यता, धन और सुख की प्राप्ति बताई गई है। इससे शिक्षित मानव में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक जागृत हो जाता है जिससे वह दुर्गुणों का परित्याग कर सदगुणों को अपनाता है।

वैदिक शिक्षाओ में आचार और संयम पर अधिक बल दिया गया है-

सरस्वत्या उरुव्यचे विधेय हविषा वयम्।[४]

शिक्षा मानव में तेजस्विता का आधान करती है:-

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।[५]

धार्मिक अधिकार

यजुर्वेद में कहा गया है कि वेद पढ़ने का अधिकार सब मनुष्यों को है। वेद की कल्याणकारी वाणी मानव मात्र के लिये ही दी गई है। चाहे वह ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र हो या अतिशूद्र कोई भी हो, वह पवित्र गंगाजल के तुल्य है। जो भी वेद का अध्ययन कर जहां भी रहेगा, वहां स्वयं शुद्धि रहेगी तथा दूसरों को पवित्रता प्राप्त होगी-

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च, स्वाय चारणाय च।[६]

वेदों में जहां तेजस्विता, अभ्युदय और श्री वृद्धि की कामना की गई है, वहां विना किसी भेद के चारों वर्णों का उल्लेख है-

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु, रुचं राजसु नमस्कृधि।
रुचं विश्येषु, शूद्रेषु, मयि धेहि रुचा रुचम्॥[७]

ऋग्वेद में वर्णन प्राप्त होता है कि उस समय स्त्रियों को यज्ञ करने का अधिकार प्रदान किया गया था, स्त्रियों को यज्ञोपवीत पहनना, वेदमन्त्रों का पाठ करना, वेदाध्ययन करना और प्रवचन का भी अधिकार था-

या दम्पती समनसा, सुनुत आ च धावतः।[८]

---

३. तदेव-७.१०.१
४. तदेव-६.४१.२
५. तदेव-११.५.१८
६. यजुर्वेद-२६.२
७. तदेव-१८.४८
८. ऋग्वेद-८.३१.५

पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जी-बन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा।।[९]

राष्ट्रीय अधिकार

वेदो में स्वाधीनता राष्टीय अधिकार बताया गया है। ऋग्वेद के (१/८०) सोलह मन्त्रों में स्वराज्य की स्तुति की गई है। यजुर्वेद में राष्ट्र को स्वतन्त्र रखने का अधिकार दिया गया है-

स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रम् अमुष्मै दत्त।[१०]

जहां मनुष्य को स्वतन्त्र स्वराज्य में रहने का अधिकार है तो उस स्वतन्त्रता को स्थिर रखना भी अति आवश्यक है। ऋग्वेद में कहा गया है कि आन्दोलन से ही स्वतन्त्र राज्य की प्राप्ति होती है तथा स्वतन्त्र राज्य में ही सब प्रकार की उन्नति और विकास होता है। पराधीन रहकर नहीं। इसलिये देश में जो अपराधी, पापी और भ्रष्टाचारी जन है, तुम उनको अधिकार पूर्वक, बलपूर्वक नष्ट करो, उनके लिये कटु और कठोर उपाय करना पडे तो उनको भी करो। किसी भी देवता या किसी भी महान शक्ति को हमारे राष्ट्र की स्वतन्त्रता को बाधित करने का अधिकार नहीं है-

(क) अर्चन् अनु स्वराज्यम्।[११]

(ख) अस्य हि स्वयशस्तंर, सवितुः कच्चन प्रियम्।
न मिनन्ति स्वराज्यम्।[१२]

अथर्ववेद के एक अन्य मन्त्र में स्वतन्त्रता की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा गया है कि स्वतन्त्र स्वराज्य से सुख-सम्पति मिलती है और विकास होता है इस विकास के लिये ही स्वराज्य की कामना की गई है-

वस्वीरनु स्वराज्यम्।[१३]

इसी मन्त्र के द्वारा सामवेद में राष्ट्र की समृद्धि की कामना की गई है-

वस्वीरनु स्वराज्यम।[१४]

ऋग्वेद की एक ऋचा में स्वराज्य की महत्ता का विशद वर्णन किया गया है। ऋग्वेद का कथन है कि सामूहिक प्रयत्न से ही स्वराज्य प्राप्त होता है। स्वराज्य का क्षेत्र व्यापक है, यह बहुतों के प्रयत्न से मिलता है। स्वराज्य को सम्भाल कर रखना एक व्यक्ति का नहीं, अपितु सबका कर्त्तव्य है। इसके लिये एक महत्त्वपूर्ण शब्द **बहुपाय्ये** दिया गया है। इसका अर्थ है कि इसकी सुरक्षा के लिये निःस्वार्थ बहुत

---

९. मनुस्मृति-३०.
१०. यजुर्वेद-१०.४
११. ऋग्वेद-१.८०.१
१२. तदेव-५.८२.२
१३. अथर्ववेद-२०.१०९.२
१४. सामवेद-१००६

लोगों का प्रयत्न वा छनीय है। **'व्यचिष्ठे'** शब्द भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसका अभिप्राय यह है कि स्वतन्त्रता का अभिप्राय बहुत व्यापक है, इसमें न केवल स्वतन्त्रता ही आती है अपितु आर्थिक विकास, सामाजिक उन्नति, वैयक्तिक उन्नति और सबको सुख-शान्तिमय जीवन बिताने का अवसर प्राप्त होता है-

व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये।[१५]

यजुर्वेद में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य पर प्रकाश डाला गया है कि राष्ट्र में एक महान जनतान्त्रिक राज्य की स्थापना की जानी चाहिये, जिससे जनता को अपना अधिकार प्राप्त हो सके-

महते क्षत्राय, महते जानराज्याय।[१६]

अथर्ववेद में प्रजा को अधिकार दिया गया है कि वह अपना राजा चुनें। जहां प्रजा को राजा चुनने का अधिकार दिया गया है वहीं प्रजा के कर्त्तव्यों के भी निर्देश है कि वह राष्ट्र को माता के तुल्य पूज्य समझें, सदा जागरुक रहें और देश रक्षार्थ बलिदान होने के लिये तत्पर रहें-

(क) त्वां विशो वृणतां राज्याय।[१७]

(ख) माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।[१८]

(ग) वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम।[१९]

(घ) वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः।[२०]

समानता का अधिकार

वैदिक वाङ्मय में मानव हित में समानता के अधिकार की विस्तृत विवेचना की गई है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति को सभी प्रकार की सुविधाएं प्राप्त हो, उसे समान अधिकार प्राप्त हो, उसे उन्नति की प्रेरणा मिले। वेदों में इस बात का स्पष्ट वर्णन है कि समाज के सभी व्यक्ति बराबर है किसी भी प्रकार की ऊँच-नीच का भेद-भाव न हो। क्योंकि किसी प्रकार का भेद-भाव सामाजिक उन्नति में बाधक हो सकता है। वैदिक दृष्टि सबको समान मानव मानती है, यही भावना सामाजिक समरसता की पोषक है-

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उब्दिदोऽमध्यमासो महसा विवावृधु।[२१]

वेद का उपदेश है कि दूसरो को अपने से अलग या विजातीय न समझे, तभी एकता, समता की भावना स्थापित हो सकती है, जो सब मानवों को समान दृष्टि से देखता है वही सच्चा मानव है। अतः जन्म के आधार पर जाति में ऊँच-नीच की व्यवस्था वेद सम्मत नहीं।

---

१५. ऋग्वेद-५.६६.६
१६. यजुर्वेद-९.४०
१७. अथर्ववेद-३.४.२
१८. तदेव-१२.१.१२
१९. तदेव-१२.१.६२
२०. यजुर्वेद-९.२३
२१. ऋग्वेद-५.५९.६

ऋग्वेद के दशम मण्डल में समता एवं सामञ्जस्य का उपदेश करने वाले समतापूर्ण दृष्टिकोण के प्रेरक मन्त्र प्राप्त होते है जिनके द्वारा मानव को परस्पर समता एवं सामञ्जस्यपूर्ण व्यवहार करते हुये समाज एवं राष्ट्र की उन्नति में सहायक होने का उपदेश किया गया है-

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।[२२]

हे मनुष्यो! तुम सबके विचार समान हो, तुम सबके ध्येय एक हो। उसमें परस्पर कोई विरोध न हो। तुम्हारी सभा, समिति और सम्पति समान हो, सबके साम्यभाव हो, अत एव तुम सबकी धारणा एक सी हो।

सब मनुष्यों की भावनायें, विचारधारायें एवं चेष्टाएं एक हो और सबके हृदय एक जैसे हो-

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।[२३]

ऋग्वेद के इन मन्त्रों में परस्पर समता एवं समष्टि की भावना सन्निविष्ट है तथा इसके लिये सक्रिय होने का आह्वान है। वैदिक वाङ्मय में अनेक सूक्त मनुष्यों को समतापूर्ण दृष्टिकोण अपनाने तथा आपस में आचार-विचारों में सम्पूर्ण सामञ्जस्य की भावना को स्थापित करने का उपदेश देते हैं-

सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।।[२४]

हे मनुष्यो! सहृदय बनो। तुम सबमें हृदय की समानता एवं मन की एकता हो अर्थात् अपने मनों में सामञ्जस्यता के भाव उत्पन्न करो और तुममें परस्पर राग-द्वेष का अभाव हो। प्रत्येक मनुष्य का जीवन ऐसा हो कि एक-दूसरे को स्वार्थ रहित होकर प्रेमपूर्वक इस प्रकार चाहे, जिस प्रकार अवध्य गाय अपने नवजात वत्स को निःस्वार्थ रूप से स्नेह करती है। वैसे ही एक दूसरे से प्रेमपूर्वक व्यवहार करो।

उपयुक्त मन्त्र में ध्यान देने योग्य तथ्य है कि मनुष्य का अपनी सन्तान पर स्वार्थ युक्त प्रेम होता है, मनुष्य अपनी सन्तान से कुछ न कुछ आशा-अभिलाषा अवश्य रखता है किन्तु गाय का अपने बछड़े के प्रति निःस्वार्थ प्रेम होता है। जब मनुष्य का परस्पर इस प्रकार का स्वार्थ शून्य प्रेम विराजेगा, तभी मानव आपसी द्वेष, वैर, वैमनस्यतापूर्ण व्यवहार भूल कर समानतापूर्ण व्यवहार करेगा।

अथर्ववेद में ही एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि हे समानता के इच्छुक मनुष्यो! तुम्हारे जल पीने का स्थान एक हों। तुम्हारा भोजन एक साथ एक समान हो। मैं तुम्हें एक ऐसे जुए में जोड़ता हूँ अर्थात् तुम्हें भातृभाव के प्रेम सूत्र में बांधता हूँ। सब आपस में नियमित रूप से मिले रहो जैसे रथ के पहिये में अरे चारों ओर से एक नाभिस्थल में जुड़े होकर घूमते है अर्थात् एक कार्य के साधक होते है वैसे

---

२२. तदेव-१०.१९१.३
२३. तदेव-१०.१९१.४
२४. अथर्ववेद-३.३०.१

ही तुम भी एक अग्नि के आश्रय रहते हुये मिलकर कार्य करो-

समानी प्रजा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिभिवाभितः॥[२५]

समाज में अस्पृश्यता अर्थात् छुआछूत के कारण खान-पान, आचार-व्यवहार में भेदभाव किया जाता है किन्तु वैदिक संस्कृति इसका निषेध कर मानव को समानता का अधिकार प्रदान करती है।

आर्थिक अधिकार

वेदों में प्रत्येक मनुष्य को आर्थिक अधिकार प्रदान किया गया है। अर्थ का शाब्दिक अर्थ धन है। जीवन को यथोचित रूप से चलाने के लिये तथा उसकी मालिक तथा प्राकृतिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये धन अनिवार्य है। कुटुम्ब का भरण-पोषण हो या भौतिक सुख अर्जित करने की लालसा, दोनों की स्थिति में धन आवश्यक है। यजुर्वेद में प्रत्येक व्यक्ति को धन अर्जित करने तथा संग्रह का अधिकार दिया गया है। धन संग्रह और धन की सुरक्षा के लिये योग शब्द आया है। यजुर्वेद में कहा गया है कि हम धन के स्वामी हो और हमें योगक्षेम प्राप्त हो-

(क) वयं स्याम पतयो रयीणाम्।[२६]
(ख) योगक्षेमो नः कल्पताम्।[२७]

धनोपार्जन के अधिकार के साथ अनुचित साधनों से कमाये गये धन को वैदिक ऋचाओं में उचित नहीं माना गया है। इस दृष्टि से कि कहीं हम धन प्राप्ति की लगन में कुमार्ग से धन कमाने में प्रवृत न हो जाए ऋग्वेद की एक ऋचा में वर्णन किया गया है-

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्, विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेणा, भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥[२८]

धर्मपूर्वक धन अर्जित करने के हेतु साधन की शुचिता पर उसके शुद्धीकरण पर विशेष बल दिया गया है। वर्तमान में धन कमाने के साधनों की पवित्रता का तो परित्याग ही कर दिया गया है। इस पर कोई भी ध्यान नहीं देता कि पवित्र साधन से उत्तम फल प्राप्त होता है। इसी कारण प्रस्तुत ऋचा में वेद ने उदबोधन किया है कि सतत सतर्क रहकर आत्म निरीक्षण करते रहना चाहिये जिससे पाप की लक्ष्मी पास न आ जाये-

एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव।
रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्॥[२९]

---

२५. तदेव-३.३०.६
२६. यजुर्वेद-१०.२०
२७. तदेव-२२.२२
२८. ऋग्वेद-१.१८९.१
२९. अथर्ववेद-७.११५.४

अर्थात् जैसे कोई अपनी गौशाला में आई हुई गौओं की जांच करता है कि यह मेरी है या नहीं, उसी प्रकार मैं अपने पास आई हुई लक्ष्मी का निरिक्षण करता हूँ जो पुण्य की लक्ष्मी है, उसे मैं पास रहने देता हूँ और जो पाप-युक्त लक्ष्मी है, उसे हटा देता हूँ।

अत एव इसमें साध्य और साधन की एकरुपता का निर्देश है तथा प्रार्थना की गई है कि हमें नैतिकता पर आधारित साधन द्वारा धन प्राप्ति करने के लिये प्रेरित कीजिये। वेद का भी उपदेश है:- **माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्।**[३०]

समुचित अर्थव्यवस्था के लिये एक महत्त्वपूर्ण मन्त्र दिया गया है कि हम समाज को दें और समाज से लें। लेन-देन से ही समाज चलता है। हम मूल्य से वस्तु लें और मुल्य से वस्तु दें-

(क) देही मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं नि हाराणि ते।।[३१]

(ख) वस्नेव विक्रीणावहै।[३२]

ऋग्वेद में केवल अपने देश में ही नहीं, अपितु समुद्र पार अन्य देशों से भी व्यापार से धन एकत्र करने का अधिकार मनुष्य को दिया गया है-

(क) समुद्रस्य चिद् धनयन्त पारे।[३३]

(ख) समुद्रे न श्रवस्यव:।[३४]

अथर्ववेद के एक मन्त्र से भ्रष्टाचार के विरुद्ध चेतावनी भी दी गई है कि अनुचित साधनों या भ्रष्टाचार से प्राप्त लक्ष्मी मनुष्य को इसी प्रकार नष्ट कर देती है जिस प्रकार आकाश बेल वृक्ष को। अत: उचित साधनों से प्राप्त शुभ लक्ष्मी को अपनावे और भ्रष्ट साधनों से प्राप्त अशुभ लक्ष्मी का त्याग कर दें।

(क) या मा लक्ष्मी:पतयालूरजुष्टाऽभीचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।
अन्यस्मात् सवितस्तामितो धा:।।[३५]

(ख) रमन्तां पुण्या लक्ष्मी:, या: पापीस्ता अनीनशम्।[३६]

शान्ति एवं सुरक्षा का अधिकार

वैदिक वाङ्मय में प्रत्येक व्यक्ति को शान्ति एवं सुरक्षा के साथ जीवन-यापन का अधिकार दिया गया है। तभी वेद समस्त प्राणियों के साथ साम्यभाव प्रेम एवं मित्रता का भाव रखने का उपदेश

---

३०. ऋग्वेद-२.२८.९
३१ यजुर्वेद-३.५०
३२. तदेव-३.४९
३३. ऋग्वेद-१.१६७.२
३४. तदेव-१.४८.३
३५. अथर्ववेद-७.११५.२
३६. तदेव-७.११५.५

देते हैं, जिससे आपसी सीमायें मनुष्यों में भेद न कर सकें।

यजुर्वेद का मत है कि सब मुझे मित्र की दृष्टि से देखें और मैं सबको मित्र की दृष्टि से देखूं, सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें-

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।।[३७]

परस्पर मधुरता का व्यवहार करें, मधुर वचन बोलें-

मधुमतीं वाचं वदेयम्।[३८]

हमें मित्रों और शत्रुओं से कोई भय न हो, सारी दिशाये हमारी मित्र हो। सब ओर से हमें अभय हो। हमारी प्रजा और पशुओं को अभय प्राप्त हो-

(क) अभयं मित्रादभयममित्राद् सर्वं आशा मम मित्रं भवन्तु।[३९]
(ख) यतो यत: समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शं न: कुरु प्रजाभ्यो, अभयं न: पशुभ्य:।।[४०]

यदि कोई शत्रु आप को कष्ट पहुँचाता है तो वेद का कथन है कि दुष्ट या शत्रु के साथ शठता का ही व्यवहार करें-

त्वं मायाभिरप मायिनोऽधम:।[४१]

नारी अधिकार

वेदों में नारी को जहाँ परिवार और वृद्धजनों की सेवा का कार्य दिया गया है, वहीं उसे सास-ससुर एवं परिवार के सभी सदस्यों की सम्राज्ञी होने का अधिकार दिया गया है-

सम्राज्ञी श्वशुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधिदेवृषु।।[४२]

अथर्ववेद में ही एक स्थल पर स्त्री को युद्ध में जाने का अधिकार दिया गया है। प्रस्तुत मन्त्र में युद्ध स्थल के लिये समन शब्द का प्रयोग है-

संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति।[४३]

ऋग्वेद की एक ऋचा में अविवाहिता स्त्री को पुत्र के बराबर दायभाग का अधिकारी बताया गया

---

३७. यजुर्वेद-३६.१८
३८. अथर्ववेद-१६.२.२
३९. तदेव-१९.१५.६
४०. यजुर्वेद-३६.२२
४१. ऋग्वेद-१.५१.५
४२. अथर्ववेद-१४.१.४४
४३. तदेव-२०.१२६.१०

है-

अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम्।
कृधि प्रकेतमुप मास्या भर दद्धि भागं तन्वो येन मामहः।।[४४]

ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा में वर्णन प्राप्त होता है कि माता-पिता के पुत्र न होने पर पुत्री ही सम्पूर्ण सम्पत्ति की अधिकारी होगी-

न जामये तान्वो रिक्थमारैक चकार गर्भं सनितुर्निधानम्।[४५]

इस प्रकार हमें वेदों में मानवाधिकार से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है, आज आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने अधिकारों के प्रति जितने सजग हैं, उतना ही कर्त्तव्य पालन के प्रति भी जागरुक रहें, क्योंकि हमारे द्वारा निभाई गई कर्त्तव्यनिष्ठा ही दूसरे का अधिकार है।

---

४४. ऋग्वेद-२.१७.७
४५. तदेव-३.३१.२

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ069-79) ISSN 0974 – 8830

वैदिक शिक्षा का औचित्य एवं स्वरूप

डॉ. सोहनपाल सिंह आर्य[१]

प्रस्तुत विषय पर विचार करते समय सर्वप्रथम एक उल्लेखनीय आपत्ति जो प्राय: वैदिक शिक्षा के विरुद्ध प्रस्तुत की जा सकती है, वह है-वैदिक शिक्षा मूलत: प्राचीनता पर आधारित है, इसलिये प्रगति विरोधी है। यह युगीन परिवर्तनों को अनदेखा करने के कारण संकुचित सोच की परिचायक भी है। इसके अलावा यह मूल रूप से वेदों पर आधारित है जो आर्यों की आदिम और अव्यस्थित सोच तथा असंस्कृत विचारों का संकलन मात्र है। अत: वेदों पर आधारित तथा उनसे प्रेरित वैदिक शिक्षा आधुनिक युग की दृष्टि में सर्वथा अनुपयुक्त हेय एवं त्याज्य है।[२]

उपर्युक्त आलोचनाओं पर बिन्दुवार विचार करने के क्रम में इस विरोधी दावे का तर्कत: परीक्षण आवश्यक है कि वैदिक शिक्षा के प्राचीनता वादी होने मात्र से उसे प्रगति विरोधी भी मान लेना। यदि इस तर्क को स्वीकार किया जाये तो इसका अर्थ होगा, हर प्राचीनतावादी विचार, व्यवस्था एवं उपलब्धि को प्रगति विरोधी घोषित करना। वस्तुत: इस तर्क का मूलाधार काल सम्बन्धी परिवर्तनों से है, जो इस मूल विश्वास की देन है कि उत्तरोत्तर होने वाले परिवर्तन अनिवार्यत: प्रगतिगामी भी होंगे।

परन्तु क्या वास्तव में यह निष्कर्ष अनिवार्यत: सत्य है? वस्तु स्थिति पर विचार करने से पता चलता है कि परिवर्तनों के अनेक कारण होते हैं। यथा-प्राकृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक आदि। प्राकृतिक परिवर्तन यथा-भूकम्प, बाढ़, अंतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी आदि अनेक कारण होते हैं[३] और ऐसे परिवर्तन प्रगति की अपेक्षा विनाश/पतन के संवाहक अधिक होते हैं।[४] इसके अलावा अन्य उपर्युक्त परिवर्तनों के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि उनमें प्रगति एवं पतन की

---

१. प्रोफेसर एवं अध्यक्ष दर्शनशास्त्र विभाग, गु.कां.वि.वि., हरिद्वार, मोबा. ०९८९७२७३६६३, ई-मेल sohanpalarya@yahoo.com

२. वेद सम्बन्धी आधुनिक सिद्धान्त इस धारणा से प्रारम्भ होता है कि वेद एक ऐसे आदिम, जंगली और अत्याधिक बर्बर समाज की सूक्ति-संहिता है,- जिसके नैतिक व धार्मिक विचार असंस्कृत थे जिसकी सामाजिक रचना असभ्य थी और अपने चारों ओर कि जगत् कि विषय में जिनका दृष्टिकोण बिल्कुल बच्चों का था। श्री अरविन्द: वेद रहस्य (हि. अनु.-अभय देव) १९४८ सं. पृ. ३१

३. क. एक सौ वर्ष, नगर, उपवन। एक सौ वर्ष, विजय-वन। यही तो है असार संसार। सृजन, सिंचन, संहार।। सुमित्रानन्दन पंत। ख. बहती थी रस की धार जहाँ, था सुषमा का संसार जहाँ। है आज वहाँ बस उजड़ वन, देखो यह जग का परिवर्तन।। गोपालशरण सिंह शर्मा हरिवंश राय: बृहत् सुभाषित कोश-छवाँ सं. २००४] राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली-११ एवं निम्न टिप्पणी संख्या ३ भी दृष्टव्य।

४. शर्मा दामोदर एवं हरिश्चद्र व्यास: आधुनिक जीवन और पर्यावरण-२००३ प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली-आरंभिका एवं पृ. ५३-५८] ६०-६८ आदि।

प्रक्रिया प्रायः विद्यमान रहती है।[५] अतः यह धारणा कि परिवर्तन सदैव प्रगति के सूचक हैं और वर्तमान सदैव अतीत से श्रेष्ठ एवं प्रगति का सूचक है नितान्त भामक व मिथ्या है, इसलिए वैदिक शिक्षा के मात्र प्राचीनतावादी होने के कारण प्रगति विरोधी नहीं घोषित किया जा सकता।

इसके अलावा वर्तमान प्रगति की दौड़ ने मानव जाति के सम्मुख अनेक सर्वनाशकारी चुनौतियां प्रस्तुत की हैं। यथा-पर्यावरण-प्रदूषण एवं असन्तुलन का विश्वव्यापी संकट, विश्वशान्ति के ऊपर एटमिक जनित संकट, रासायनिक एवं जैव युद्ध सम्बन्धी विश्वव्यापी खतरा और इसकी विश्वव्यापी चुनौती आदि। प्रस्तुत सन्दर्भ में यह भी सुविदित वास्तविकता है कि उपर्युक्त सभी चुनौतियां एवं संकट आधुनिक भोगवादी जीवनशैली और दृष्टि तथा पूंजीवादी व्यवस्था की देन हैं और इनके समाधान का मार्ग इस आधुनिक व्यवस्था, सोच और जीवन दर्शन के अन्तर्गत दृष्टिगोचर नहीं होता है।[६] अनेक आधुनिक विश्वप्रसिद्ध विचारक इन समस्याओं के समाधान हेतु प्राचीन धर्म ग्रन्थ, यथा-वेद, मनुस्मृति, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, अवेस्ता, बुद्धवाणी, जिनवाणी, बाईबिल और कुरान आदि में वर्णित मानवतावादी, शान्तिवादी शिक्षाओं की ओर आशा की दृष्टि से देख रहे हैं।[७] इसके अलावा आज मानव जाति आधुनिक सुविधा एवं भोगप्रधान जीवनशैली के कारण हृदय, श्वास, शुगर, मोटापा, मानसिक-तनाव एवं अनिद्रा सम्बन्धी अनेक जटिल समस्याओं से जूझ रही है। इस चुनौतीपूर्ण परिस्थिति में वेद, उपनिषद्, भगवद्गीता, पातंजल योग एवं हठयोग सम्बन्धी ग्रन्थों में वर्णित योगविद्या आज समूची मानव जाति के लिये वरदान स्वरूप सिद्ध हो रही है।[८]

इसी तरह आधुनिक चिकित्सा पद्धति के अत्यन्त मंहगे और दुष्प्रभावी पहलू से बचाव हेतु मानव जाति तेजी से आयुर्वेद, यूनानी, तिब्बतन आदि परम्परागत चिकित्सा पद्धतियों की ओर अग्रसर हो रही है।[९] आधुनिक फास्टफूड का स्थान साधारण परम्परागत भोजन लेता जा रहा है। सिंथेटिक वस्त्रों के दुष्प्रभाव से बचने के लिये सूती और रेशमी वस्त्रों की उपयोगिता फिर से जीवन्त हो उठी है। अमेरिका सहित यूरोप के चिन्तक मनीषी आधुनिक की अपेक्षा प्राचीन यूनानी दार्शनिकों-सुकरात, प्लेटो और अरस्तु के

---

५. उपर्युक्त, पृ. ८७-९०

६. आर्य, डॉ. सोहनपाल सिंहः योगविद्या के आलोक में विश्व शांति की समस्या, पृ. १५९-१६४ (गुरुकुल शोध-भारती अंक १५ द्वारा प्रकाशित, गु.का.वि.वि., हरिद्वार-सं. प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री)

७. क. शर्मा, दामोदर एवं हरिशचद्र व्यासः उपर्युक्त पृ. १९५] २६५ एवं अथर्व. का भूमि सूक्त। ख. आर्य, डॉ. सोहनपाल सिंह, उपर्युक्त, पृ. १६४ ग. डॉ. राधाकृष्णन, एस. द्वारा लिखित- घ-धर्म और समाज पूर्वी धर्म एवं पाश्चात्य विचार (हि. अनु.) आदि ग्रन्थ प्रस्तुत सन्दर्भ में द्रष्टव्य। घ.महात्मा गांधी के अमर विचार, १९८९ (सं. मुलकराज आनन्द, रा.शै.अ.प्र. पं., पृ. तथा डॉ. रामजी सिंह, गांधी दर्शन मीमांसा, १९७३ बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, विशेष रूप से द्रष्टव्य।

८. प्रस्तुत सन्दर्भ में श्री अरविन्द, विनोबा भावे, जयप्रकाश नारायण, चौ. चरण सिंह, स्वामी अग्निवेश, श्री रविशंकर, स्वामी रामदेव, सुन्दर लाल बहुगुणा, अन्ना हजारे आदि मनीषियों का उल्लेख किया जा सकता है।

९. परम्परागत दवाओं की लोकप्रियता यूरोप और अमेरिका में बढ़ रही है यूरोप में एक चौथाई से ज्यादा लोग परम्परागत दवायें इस्तेमाल करते हैं। सम्पादकीय आयुर्वेद पर पाबन्दी दैनिक हिन्दुस्तान (१६ संस्करण) ०५-०५-२०११

मार्गदर्शनकारी विचारों की उपयोगिता को पुनः देख/समझ रहे हैं।[१०]

अतः वैदिक शिक्षा को मात्र प्राचीन होने के कारण अप्रासंगिक और प्रगतिविरोधी नहीं माना जा सकता। विशेषकर-वैदिक शिक्षा सनातन महत्त्व के विचारों एवं जीवनमूल्यों पर आधारित होने के कारण अन्य युगों की भांति वर्तमान काल में भी प्रासंगिक एवं अनुकरणीय है।[११]

इसी सन्दर्भ में दूसरी उल्लेखनीय आपत्ति-कि वैदिक शिक्षा युगीन परिवर्तनों को अनदेखा करने के कारण संकुचित सोच की भी परिचायक है।च इस पर विचार करते समय प्रस्तुत तथ्य की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है कि मानव जाति के सम्मुख दो प्रकार का ज्ञान सदैव विद्यमान रहा है (१) सनातन बोध (२) युग बोध। युग बोध से युगीन समस्याओं एवं चुनौतियों का पता चलता है जबकि सनातन बोध के द्वारा उनका वास्तविक समाधान किया जाता है। अतः सनातन बोध की हर युग में नितान्त आवश्यकता होती है। इसलिये सदैव उसके संरक्षण हेतु प्रयास न केवल आवश्यक है, अपितु अनिवार्य भी है। उल्लेखनीय है कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में सार्वभौम एवं सार्वकालिक महत्त्व के विचार विद्यमान हैं।[१२] इस हेतु प्रत्येक देश, काल एवं परिस्थिति में उसका संरक्षण एवं प्रचार-प्रसार मानव जाति की प्रगति हेतु नितान्त आवश्यक भी हैं इस कारण वैदिक शिक्षा के प्रसंग में उपर्युक्त आपत्ति सर्वथा अर्थहीन है।

इसी विचारक्रम में तीसरी विचारणीय आपत्ति है-'वैदिक शिक्षा मूलतः वेदों पर आधारित है जो आर्यों की आदिम और अव्यवस्थित सोच तथा असंस्कृत विचारों का संकलन मात्र है,- इस कारण वेद और उन पर आधारित अन्य वैदिक ग्रन्थों की शिक्षा आधुनिक युग की दृष्टि से सर्वथा अनुपयुक्त, हेय एवं त्याज्य हैं।[१३] प्रस्तुत आपत्ति तुलनात्मक दृष्टि से अधिक गम्भीर है। अतः इसके ऊपर विचार करते समय इसके मूल आधार पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। तदनुसार-खोजने पर पता चलता है कि इस आपत्ति का मूलाधार उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मन विद्वान् मैक्समूलर द्वारा रचित वेदभाष्य एवं उनके द्वारा समय-समय पर प्रस्तुत किये गये वेद सम्बन्धी विचारों पर आधारित हैं।[१४] तत्पश्चात् अन्य यूरोपियन वैदिक

---

१०. "My only analogy is Socrates" Kierkegaard, Quoted is something, p-३७, द्वारा उद्धत डॉ. आर.एन. शर्मा समकालीन दर्शन (प्र.सं.) केदारनाथ रामनाथ, मेरठ, पृ. ३९९

११. बृहदारण्यको, १-३-२८] मनुस्मृति अ. २/५-वेदो खिलो धर्ममूलं एवं मनु. अ. २/९- वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः. ..।

१२. आर्य, डॉ. सोहनपाल सिंह: कार्लमार्क्स और ऋषि दयानन्द-समाज दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन-२००२-०३, अम्बिका पुस्तक सदन (प्रकाशन) हरिद्वार-पृ. ३१४

१३. उप. टिप्पणी सं. ८ तथा उप. टि. सं. ९ व उपयुक्त शोध ग्रन्थ के ३१९-३२३] टिप्पणी क्र. सं. १ द्रष्टव्य।

१४. उदाहरणतः आर्यों को विदेशी मूल का बताना, वेदों को असभ्य ऋषियों की रचना मानना संस्कृत को ग्रीक, लैटिन और एग्लो सैक्सन का मूल मानने से इन्कार करना। वैदिक धर्म को ईसाइयत, यहूदियत, इस्लाम और बौद्ध से निम्न श्रेणी का घोषित करना इत्यादि प्रवृत्तियों का प्रारम्भ मैक्समूलर से माना जा सकता है-लेखक

विद्वानों एवं उनसे प्रभावित भारतीय लेखकों/चिन्तकों का प्रस्तुत सन्दर्भ में उल्लेख किया जा सकता है।[१५] अत: प्रस्तुत सन्दर्भ में यह न्यायसंगत प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम मैक्समूलर के वेद सम्बन्धी उपर्युक्त निष्कर्ष की प्रेरक परिस्थिति पर सर्वप्रथम दृष्टिपात किया जाये। तदनुसार यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मैक्समूलर की मूलत: अभारतीय-यूरोपियन पृष्ठभूमि रही। दूसरे वैदिक परम्परा से उनका दूर-दूर तक भी कोई सम्बन्ध न था।[१६] तीसरे वेदों को समझने के ले उनके पास वैदिक दृष्टिकोण नहीं था, जिससे वेदों को केवल वैदिक दृष्टिकोण से देख व समझ सकें। उनके सम्मुख-सायण, महीधर आदि मध्ययुगीन वेद भाष्यकारों का साहित्य था, जिसके ऊपर मध्य युगीन मान्यताओं, रूढ़ियों का गहरा और व्यापक प्रभाव था। अत: वेद सम्बन्धी वास्तविक ज्ञान से वह कहीं अधिक दूर था। इसके अलावा विकासवाद का सिद्धान्त और ईसाईमत का प्रबल आग्रह मैक्समूलर का प्रमुख सम्बल तथा प्रेरक था।[१७] सर्वोपरि मैक्समूलर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी की जिस 'बोडन-पीठ' के प्रोफेसर अध्येता थे, उसके उद्देश्यों के अनुरूप वेदभाष्य करना उनकी सर्वोपरि प्राथमिकता थी। जिसके अनुसार अगस्त १८११ में उक्त पीठ की स्थापना का लक्ष्य निर्धारित करते हुए पीठ संस्थापक ने लिखा कि धर्मग्रन्थों (हिन्दू) का अंग्रेजी में अनुवाद किया जाये, जिससे उनके देशवासियों को भारतीयों को ईसाई बनाने के काम में आगे बढाने में सहायता मिले।[१८] इस पीठ के दूसरे उत्तराधिकारी मोनियर विलियम्स ने लिखा जिस दिन ब्राह्मण (वैदिक) धर्म के किले की दीवारें क्रॉस के सैनिकों (ईसाई पादरियों) द्वारा आक्रान्त होकर ध्वस्त हो जायेगी वह ईसाईयत की पूर्ण और अपूर्व विजय का दिन होगा।[१९]

वस्तुत: औपनिवेशक शासन और ईसाइत का चोली दामन का सा साथ रहा था। जैसा कि भारतीय स्वाधीनता के प्रथम संग्राम की समाप्ति के दो वर्ष बाद ब्रिटेन के तत्कालीन प्रधानमंत्री लार्ड पामस्टर्न ने घोषणा की कि हमारा कर्त्तव्य ही नहीं, अपितु हमारो अपना हित इसी में है कि भारत भर में ईसाइयत का प्रचार-प्रसार हो।[२०]

अत एव उपर्युक्त कारणवश भारत के धर्मान्तरण में वेदार्थ की निर्णायक भूमिका को अपनाते

---

१५. सरस्वती-स्वामी विद्यानन्द: आर्यों का आदि देश और उनकी सभ्यता, प्रथम सं. १९८९] इन्टरनेशनल आर्यन फाण्डेशन बम्बई, पृ. १९ पर फ्रैंक एन्थोनीने संसद में ४ सितम्बर १९७७ में मांग की कि संस्कृत को संविधान के आठवें परि. से निकाला जाये क्योंकि यह विदेशी आर्यों की भाषा है।

१६. उपर्युक्त ग्रन्थ के पृ. सं. १८ पर पाश्चात्य विद्वानों तथा उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों ने वेद उपनिषद आदि पर ऐसे मतों को आरोपित किया कि उनसे भारतीय नवयुवकों के दिमाग फिर गये। उनके मन में अपने साहित्य और संस्कृति के प्रति हीनता की भावना भर गयी। स्वामी विद्यानन्द सरस्वती द्वारा उद्धत श्री अरविन्द: वेद रहस्य-१ (हि.प्र. अभय देव) उप. पृ. ३०

१७. सरस्वती, स्वामी विद्यानन्द: उपर्युक्त पृ. २२ (प्रस्तावना)

१८. Williams, Monier: Sanskrit-English dictionary-१८९९, preface उपर्युक्त उद्धत द्वारा स्वामी विद्यानन्द सरस्वती (हिन्दी अनुवाद)

१९. Williams, Monier: Modren India and Indians Ed. ३, १८७९, p.२६१ उपर्युक्त द्वारा उद्धत स्वामी विद्यानन्द सरस्वती (हिन्दी अनुवाद)

२०. सरस्वती, स्वामी विद्यानन्द उप. प्रस्तावना, पृ. २७

हुए मैक्समूलर ने ऋग्वेद का अंग्रेजी में अनुवाद किया और अपने अनुवाद कार्य के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए सन् १८६६ में अपनी पत्नी को भेजे पत्र में यह लिखा कि मेरा यह संस्करण और वेद का अनुवाद कालान्तर में भारत के भाग्य को दूर तक प्रभावित करेगा। यह उनके धर्म का मूल है। मेरा यह निश्चित मत है कि उन्हें यह दिखाना कि यह मूल कैसा है, गत तीन हजार वर्षों में इससे उत्पन्न हेने वाली सब चीजों को जड़ समेत उखाड़ फेंकने का एकमात्र उपाय है।[२१]

उसके दो वर्ष पश्चात् १६ दिसम्बर १९६८ को भारत सचिव ड्यूक ऑफ आर्गाइल को लिखे पत्र में मैक्समूलर ने स्वीकार किया कि 'भारत का प्राचीन धर्म अब नष्ट प्राय: है। अब यदि ईसाइयत उसका स्थान नहीं लेती तो यह किसका दोष होगा।?[२२]

मैक्समूलर के वेद सम्बन्धी उपर्युक्त प्रयासों की सराहना करते हुए उनके घनिष्ठ मित्र ई.बी. पुसे ने उनको लिखा था कि 'भारत को ईसाई बनाने की दिशा में किया गया आपका प्रयास एक नये युग का सूत्रपात करने वाला होगा।'[२३]

अस्तु, उपर्युक्त आपत्ति के मूल में मैक्समूलर का वेद सम्बन्धी चिन्तन एवं कार्य निहित है और मैक्समूलर इस दिशा में प्रवृत्त होते समय दो पूर्वाग्रहों से ग्रसित था। (१) वैदिक परम्परा के प्रति हेय और तुच्छता का भाव (२) ईसाइयत के प्रति श्रेष्ठता एवं गौरव बोध का भाव। इसके साथ-साथ डार्विन का विकासवाद वैदिक अनुसंधान में उसका मार्गदर्शक था। सर्वोपरि तत्कालीन औपनिवेशक साम्राज्य का विशाल तन्त्र मैक्समूलर के वेद सम्बन्धी विचारों का प्रमुख संवाहक एवं प्रचारक था। इन सबका यह परिणाम सामने आया कि सभी तत्कालीन उच्च शिक्षण संस्थान जो अंग्रेजी साम्राज्य की छत्रछाया में संचालित हो रहे थे उन सबमें मैक्समूलर के उपर्युक्त वेद सम्बन्धी विचार अधिकृत रूप में स्थापित होते चले गये।

किन्तु स्वतन्त्र भारत में उच्च शिक्षा सम्बन्धी वही अंग्रेजी पैटर्न एवं नीति यथावत् लागू रही। जिसका चिन्ताजनक परिणाम यह सामने आया कि आधुनिक शिक्षा और संस्कारों में शिक्षित एवं दीक्षित भारतीय अपनी प्राचीन महान् वैदिक विरासत के प्रति हेय एवं तुच्छता के भावों से भरता चला गया।

इस प्रकार वैदिक शिक्षा सम्बन्धी यहां विचारणीय सभी आपत्तियों का मूल उपर्युक्त औपनिवेशिक मानसिकता की उपज है और विभिन्न तर्कों एवं प्रमाणों द्वारा परीक्षा करने पर वे नितान्त भ्रामक, पूर्वाग्रहयुक्त और औपनिवेशिक स्वार्थों की संवाहक सिद्ध होती है। अत: सत्य एवं न्याय की दृष्टि से सर्वथा अस्वीकार्य सिद्ध होती है। अत एव प्रस्तुत सन्दर्भ में वैदिक शिक्षा का औचित्य विवेक सम्मत एवं स्वीकार्य माना जा सकता है।

वैदिक शिक्षा का स्वरूप- इस विषय में समग्र दृष्टि से विचार करने के लिये यह आवश्यक है कि यहाँ सर्वप्रथम वैदिक और शिक्षा दोनों पदों पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार किया जाये। तभी वैदिक

२१ Maxmueller, Fredericks: Life and Letters Vol-१, Chap. XV P. ३४
२२. उपर्युक्त पृ. ३७८
२३. स्रास्वती स्वामी विद्यानन्द: उपर्युक्त पृ. २५

शिक्षा के यथार्थ स्वरूप का बोध हो सकता है। तदनुसार वैदिक शब्द वेदोक्त या वेद सम्बन्धी विचारों का द्योतक है।[२४] उल्लेखनीय है कि वेदों पर आधारित परम्परा अत्यन्त प्राचीन एवं समृद्ध रही है। इस परम्परा के अनुसार वेद सनातन, ईश्वरीय ज्ञान के अक्षय भण्डार है। उनमें ज्ञान-विज्ञान, कला-संस्कृति, राजनीति, अर्थव्यवस्था, चिकित्सा, गान-विद्या, खगोल, ज्योतिष, पर्यावरण, समाजदर्शन एवं शिक्षा से सम्बन्धित मौलिक विचार मन्त्र रूप में पाये जाते हैं।

इस धारणा की पुष्टि हेतु यहाँ सर्वप्रथम 'वेद' शब्द के व्युत्पत्ति मूलक अर्थ पर विचार करना आवश्यक है। 'वेद' शब्द 'विद्' धातु से करण और अधिकरण कारक में 'घत्र' प्रत्यय लगाने से सिद्ध होता है। 'विद्' धातु अनेक अर्थों की वाचक है। यथा (विद्) ज्ञाने, (विद्) सत्तायाम्, (विदृल) लाभे (विद्) विचारणे। महर्षि दयानन्द ने इनकी व्याख्या निम्न प्रकार से की हैग

१. विद-ज्ञान अर्थ में अर्थात् जिसको पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है जिसको पढ़के विद्वान् होते हैं।

२. विद-सत्तार्थ में अर्थात् ऋक्, यजु, साम और अथर्व-इन चारों संहितओं का नाम वेद है।

३. विदलृ-लाभ अर्थ में अर्थात् जिनसे सब सुखों का लाभ होता है।

४. विद-विचार अर्थ में अर्थात् जिसको पढ़ने से ठीक-ठीक सत्य-असत्य का विचार मनुष्य को होता है।[२५]

वेद का अन्य प्रचलित नाम 'श्रुति' भी है। 'श्रुति' शब्द 'श्रु' धातु जो कि श्रवण अर्थ में है। इसमें कारण कारक में क्तिन प्रत्यय लगाने से 'श्रुति' सिद्ध होता है। वेदों का श्रुति नामकरण इसलिये हुआ कि इनका ज्ञान पुरातन काल से श्रवण परम्परा से होता आ रहा है।[२६] क्योंकि वेदों का आदि उपदेशक परमगुरु परमेश्वर है।[२७] इसी सन्दर्भ में निम्न वेद मन्त्र भी यहाँ प्रमाण रूप में प्रस्तुत हैं।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽऋचः सामानि जज्ञिरे।[२८]
यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्।।[२९]

उपर्युक्त मन्त्रों का यह अभिप्राय है कि चारों वेद परब्रह्म परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं। इन वेदोक्त प्रमाणों के अलावा श्वेताश्वतरोपनिषद्, मनुस्मृति, सांख्यसूत्र, ब्रह्मसूत्र और वैशेषिक सूत्र आदि आर्ष ग्रन्थों

---

२४. आप्टे, वामन शिवराम: संस्कृत हिन्दी कोश पुर्नमुद्रण-२००१, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली पृ. ९७९
२५. सरस्वती, महर्षि दयानन्द: ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, २००८] सिद्ध योग पीठ ट्रस्ट कुरुक्षेत्र, पृ. ३४-३५
२६. सरस्वती, महर्षि दयानन्द, उपर्युक्त पृ. ३५
२७. आप्टे, वामन शिवराम, उपर्युक्त, पृ. ९७५
२८. सरस्वती, स्वामी दयानन्द: यजुर्वेदभाषा- भाष्य प्रथम सं. दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली अं. ३१-७
२९. त्रिवेदी, पं. क्षेमकरण दास. अथर्ववेदभाष्य-भाषा- प्र. सं. दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली २३-४-२०

में भी वेदों को सनातन, ईश्वरीय ज्ञान का ग्रन्थ स्वीकार किया गया है।[३०] इसी कारण योगसूत्रकार ने ईश्वर को गुरुओं के भी आदिगुरु के रूप में परिभाषित किया है।[३१]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वैदिक शिक्षा कोई सामान्य शिक्षा न होकर ईश्वरीय ज्ञान के आधारभूत ग्रन्थों पर आधारित हैं। इसलिये इस शिक्षा का स्वरूप विवेचन करते समय उपर्युक्त तथ्य को ध्यान में रखकर किया जाना उचित प्रतीत होता है।

वैदिक के अलावा प्रस्तुत सन्दर्भ में दूसरा विचारणीय पद है 'शिक्षा'। शिक्षा के ऊपर शोधपरक दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि वैदिक शिक्षा व्यवस्था के अन्तर्गत 'शिक्षा' शब्द का प्रयोग दो अलग-अलग अर्थों में होता है। सीमित अर्थ में 'शिक्षा' षड् वेदांगों में से एक वेदांग है, जिसका अर्थ उच्चारण विज्ञान है।[३२] शेष अन्य पांच वेदांग है-कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। किन्तु व्यापक अर्थ में शिक्षा शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण वैदिक पाठ्यक्रम एवं विधि के लिये होता है।[३३] जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित सनत्कुमार-नारद संवाद से विदित होता है। जिसके अनुसार नारद ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहासवेद, पुराणवेद, व्याकरण, पितृविद्या, राशिविद्या, दैवविद्या, विधिविद्या, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या और गन्धर्वविद्या में पारंगत थे, किन्तु अध्यात्मविद्या की दीक्षा हेतु गुरुचरणों में जिज्ञासु रूप में उपस्थित हुए।[३४]

इसके अतिरिक्त मुण्डकोपनिषद् में अंगिरस ऋषि 'शिक्षा' के अन्तर्गत दो प्रकार के पाठ्यक्रमों का निर्देश करते हैं। अपरा विद्या और पराविद्या। 'अपरा' विद्या के अन्तर्गत ऋक्, यजुः आदि चारों वेदों के साथ-साथ शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष आदि विविध ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थों का समावेश हुआ है तथा 'परा' विद्या के अन्तर्गत परब्रह्म परमेश्वर का साक्षात् अनुभव अर्थ स्वीकार किया जाता है।[३५]

इसी सन्दर्भ में ऋषि दयानन्द ने वैदिक शिक्षा सम्बन्धी अपनी एक सुव्यस्थित पाठ-विधि प्रस्तुत की है, जिसके अन्तर्गत निम्न ग्रन्थों को रखा गया है- अष्टध्यायी, महाभाष्य, निघण्टु, निरुक्त, पिंगलाचार्यकृत छन्दोग्रन्थ, मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण, महाभारत-उद्योगपर्वान्तर्गत विदुर नीति आदि। पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य, वेदान्त-ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक उपनिषद् सहित, ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ इन ब्राह्मणों के सहित चारों

---

३०. (क) श्वेता. उप. ६-१८ (ख) मनुस्मृति १/२३ (ग) सांख्य सूत्र ५/५१ (घ) ब्रह्मसूत्र १-१-३ (ड) वैशेषिक सूत्र १-१-३ (च) पूर्व मीमांसा अ-१, पद-१, सू. १८

३१. योगसूत्र १-२६

३२. शिक्षा शब्द, शिक्षा विद्योपादाने धातु से बनता है जिसका प्रयोग विद्या ग्रहण के लिये हुआ है। बन्धु.डॉ- मनुदेवः वैदिक शिक्षा दर्शन में उपनिषद् पृ. १०२

३३. आप्टे, वामन शिवराम, उप. पृ. ९७५।

३४. पोद्दार हनुमान प्रसाद आदि (सम्पा.) उपनिषद् अंक (कल्याण) वर्ष-२३, अंक-१, सं. २०५७ सं. गीताप्रेस गोरखपुर अन्तर्गत छान्दोग्य उप. ७/१

३५. उपर्युक्त मुण्डकोपनिषद् १/४/५

वेद-स्वर, शब्द, अर्थ, सम्बन्ध और क्रिया सहित पढ़ना। तदनन्तर आयुर्वेद-चरक, सुश्रुत सहित वैद्यक शास्त्र पढ़ना। तदनन्तर धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, नारदसंहिता, अथर्ववेद, ज्योतिषशास्त्र, सूर्य सिद्धान्त आदि। बीजगणित, अंकगणित, भूगोल, खगोल और भूगर्भविद्या सहित। तत्पश्चात् हस्तक्रिया, यन्त्रकला आदि पढ़ाना।[३६] संक्षेप में वेदानुकूल ऋषि मुनि प्रणीत ग्रन्थों को यथाक्रम अनुसार पढना-दयानन्द को अभीष्ट है।[३७] उनकी दृष्टि में शिक्षा से विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेद्रियतादि की वृद्धि होती है और अविद्या आदि दोष छूट जाते हैं।[३८]

प्रस्तुत सन्दर्भ में यजुर्वेद का स्पष्ट कहना है कि विद्या से मनुष्य को अमरता प्राप्त होती है।[३९] वस्तुत: **'सा विद्या विमुक्तये'** की उक्ति उपर्युक्त वैदिक शिक्षा पर सार्थक सिद्ध होती है, क्योंकि वह हर क्षेत्र में विद्या निपुण व्यक्ति को मुक्त एवं सक्षम होने का अहसास कराती है। अथर्ववेद के अनुसार जब ब्रह्मचारी शिक्षा पूर्ण कर गुरुकुल ये बाहर आता है तब जनता उससे कहती है कि तुम हमें प्राण, अपान, व्यान, वाक्, मन, हृदय, ब्रह्म, मेधा, चक्षुः, श्रोत्र, यश, अन्न, रेतस्, रुधिर और उदरशक्ति प्रदान करो, क्योंकि उसने ये शक्तियाँ ब्रह्मचर्याश्रम में तपस्या एवं साधनापूर्वक संचित की हुई है।[४०]

वस्तुतः व्यक्ति की औसत आयु का पहला चौथाई भाग वैदिक शिक्षा सम्बन्धी उपर्युक्त व्यापक पाठ्‌योजना की पूर्ति हेतु पूर्णतः समर्पित हो जाता है। आयु की इस प्रथम अवस्था को ब्रह्मचर्याश्रम के नाम से जाना जाता है, जो सामान्यतः २५ वर्ष की आयु पर्यन्त चलता है।[४१] यद्यपि इस आश्रम का अधिकांश समय गुरुकुल अध्ययन में पूर्ण होता है। गुरु/आचार्य जिसका मुख्य व्यवस्थापक एवं केन्द्र होता है। गुरुकुल जीवन की सम्पूर्ण गतिविधियां गुरु केन्द्रित होती है। वेद का कथन है कि **'शतधारमुत्समक्षीयमाणम्'** अर्थात् आचार्य ज्ञान की सौ धाराओं वाला अक्षय स्रोत होता है। इसलिये वैदिक शिक्षा व्यवस्था के अन्तर्गत गुरु शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करके तीन रत्रि पर्यन्त अपने गर्भ में धारण करता है फिर जब वह शिष्य के रूप में जन्म लेता है, तब देवजन उसके दर्शन के लिए एकत्रित होते हैं।[४२] प्रस्तुत आलंकारिक वर्णन के सम्बन्ध में डॉ. रामनाथ वेदालंकार का यह कहना है कि शिक्षक का शिष्य के प्रति माता का सा सम्बन्ध होता है तथा माता गर्भस्थ शिशु के लिये जो बलिदान करती है, शिक्षक भी शिष्य के लिये वह बलिदान करने के लिए उद्यत रहे।[४३] इसी तरह तीन रात्रि से डॉ. रामनाथ

---

३६. सरस्वती, महर्षि दयानन्दः सत्यार्थ प्रकाश-३९वां सं. १९९२] आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली पृ. ४४-४७
३७. उपर्युक्त पृ. ४७ एवं ४०५ पर स्वमन्तव्य० क्र. सं. २ दृष्टव्य।
३८. उप. पृ. सं. ४०६ पर स्वमन्तव्य, क्र. सं. २२
३९. सरस्वती, स्वामी दयानन्दः यजुर्वेद भाषा भाष्य, उप. अ. ४०/१४
४०. द्विवेदी, पं. क्षेमकरण दासः अथर्ववेद उप. का. ११] सूक्त ३] मन्त्र २४-२६
४१. सरस्वती-महर्षि दयानन्दः सत्यार्थ प्रकाश, उप. पृ. ३१ पर कनिष्ठ ब्रह्मचर्य की अवधि २४ वर्ष पर्यन्त एवं पृ. ३२ पर विवाह योग्य पुरुष की प्रारम्भिक आयु २५ वर्ष का महर्षि ने उल्लेख किया है।
४२. शास्त्री डॉ. ज्ञानप्रकाश (सम्पा.) गुरुकल शिक्षा दर्शन-में डॉ. रामनाथ वेदालंकार का लेख 'वेदों में शिक्षा शास्त्र के कतिपय सूत्र' पृ. ५ पर अथर्ववेद ११/५/३ का अर्थ।
४३. उपर्युक्त, पृ. ५०

वेदालंकार का अभिप्राय ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड विषयक अज्ञान से है, जिन्हें एक-एक रात्रि माना जाता है। त्रिविध अज्ञान की निवृत्ति से तात्पर्य दूसरी बार आचार्य के गर्भ से जन्म लेना है।[४४] ऋषि दयानन्द के मतानुसार गर्भ में रहकर माता-पिता के सम्बन्ध से जो जन्म होता है वह प्रथम जन्म कहलाता है और दूसरा जन्म यह है जिसमें आचार्य पिता और विद्या मातातुल्य होती है।[४५] इस दूसरे जन्म के बिना मनुष्य को सच्चे मनुष्यत्व अर्थात् द्विजत्व की प्राप्ति नहीं होती। तभी वह वास्तव में द्विज-ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य कहलाने का अधिकारी बनता है।[४६]

तथापि इसका यह अभिप्राय नहीं कि केवल आचार्य के ऊपर ही सम्पूर्ण शिक्षा का उत्तरदायित्व होता है। वास्तव में गुरुकुल में प्रवेश दिलाने से पहले माता-पिता की भूमिका भी शिक्षा प्रदान करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय हैं, क्योंकि शिक्षा का प्रारम्भ तो मनुष्य के जन्म से पूर्व गर्भाधान संस्कार से ही हो जाता है तथा जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, कर्णवेध और उपनयन आदि संस्कारों के माध्यम यह क्रम गुरुकुल में प्रवेश पर्यन्त चलता है। इस अवधि में माता और पिता की भूमिका अपनी सन्तान के प्रति गुरु तुल्य होती है, इसलिये शतपथ ब्राह्मणकार ने तीन शिक्षक प्रमुख माने हैं-**मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद** अर्थात् जो गर्भाधान से लेकर पूर्ण विद्या प्राप्ति पर्यन्त विद्या एवं सुशीलता का उपदेश करें, ऐसे माता-पिता एवं शिक्षक ये तीन गुरु मनुष्य के होते है।[४७] यहाँ भाष्यकार के अनुसार इन तीनों को अपनी सन्तानों और शिष्यों के दोषों के परिमार्जन हेतु ताड़न करना भी आवश्यक है। तैत्तिरीयोपनिषद् भी कहता है कि इन तीनों का यह कर्त्तव्य है कि सदैव सन्तानों एवं शिष्यों को सदाचरण का उपदेश करें।

किन्तु वैदिक शिक्षा व्यवस्था के अन्तर्गत गुरु की महत्ता इतनी अधिक होती है कि विद्या अर्जन के पश्चात् जब ब्रह्मचारी कर्म क्षेत्र में प्रवेश करता है तो अपने कुल, गोत्र आदि के साथ आचार्य का नाम भी अपनी विशिष्ट पहचान के रूप में प्रस्तुत करता है।[४८] इसका कारण यह प्रतीत होता है कि वैदिक शिक्षा व्यवस्था के अन्तर्गत शिक्षार्थी के सर्वांगीण विकास का मुख्य उत्तरदायित्व उसके शिक्षक/आचार्य का होता है, जो शिष्यों के प्रति सन्तानवत् स्नेह एवं व्यवहार करता है। इसीलिए वैदिक व्यवस्था के अन्तर्गत शिक्षण केन्द्र को गुरुकुल या आचार्य कुल के नाम से जाना जाता है। जहाँ केवल गुरु/आचार्य की सत्ता का प्राधान्य होता है।[४९]

परन्तु गुरुकुल कहाँ स्थित हो? और उसका अपने समाज और पर्यावरण से कैसा सम्बन्ध हो? इस विषय में यजुर्वेद का निम्न मन्त्र मार्गदर्शनकारी है।

---

४४. उपर्युक्त पृ. ६
४५. सरस्वती, महर्षि दयानन्दः ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, उप. पृ. २९६
४६. जन्मना जायते शूद्रा संस्काराद् द्विज उच्चयते।
४७. सरस्वती, महर्षि दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, उप. पृ. २०
४८. उप. गुरुकुल शिक्षा दर्शन में डॉ. सोहनपाल सिंह आर्य का लेख गुरुकुलीय शिक्षा का दार्शनिक आधार, पृ. १४५
४९. उपर्युक्त पृ. १४५

उपह्वरे गिरीणाँ संगमे च नदीनाम्।
धिया विप्रोऽजायत।।[५०]

अर्थात् मनुष्य पर्वतों की उपत्यकाओं और नदियों के संगम स्थल पर गुरुओं से बुद्धि/विद्या प्राप्त करके विद्वान् बनता है।

गुरुकुल का प्राकृतिक, सुरम्य, पर्यावरण युक्त होने के साथ-साथ सामाजिक जन कोलाहल एवं बाह्य हस्तक्षेप से सर्वथा दूर होना भी आवश्यक है। ताकि गुरु एवं शिष्य समग्र मनोयोग से विद्या अध्यापन-अध्ययन सम्बन्धी कार्य में संलग्न रह सकें। यह विशेष ध्यान भी वैदिक शिक्षा के प्रतिपादकों ने रखा है। प्रस्तुत सन्दर्भ में ऋषि दयानन्द का यह स्पष्ट कहना है कि लड़के और लड़कियों की पाठशाला दो कोस एक दूसरे से दूर होनी चाहिए, पाठशालाओं के चार कोस दूर ग्राम व नगर रहे..... स्त्रियों की पाठशाला में पांच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पांच वर्ष की लड़की भी न जानें पावें अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी रहें, तब तक स्त्री व पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्त सेवन, भाषण, विषय-कथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहे और अध्यापक लोग उनको इन बातों से बचायें। जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील-स्वभाव, शरीर और आत्मा के बलयुक्त होके आनन्द को नित्य बढ़ा सकें।[५१]

सामाजिक सम्पक के विषय में ऋषि दयानन्द का यह कहना है कि उनके माता-पिता अपने सन्तानों से वा सन्तान अपने माता-पिताओं से न मिल सके और न किसी प्रकार का पत्र व्यवहार एक-दूसरे से कर सकें, जिससे सांसारिक चिन्ताओं से रहित होकर केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता रखें। जब भ्रमण करने को जायें, तब उनके साथ अध्यापक रहें, जिससे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें और न आलस्य प्रमाद करें।[५२]

किन्तु वैदिक शिक्षा के प्रसंग में अधिकारी-अनधिकारी का प्रश्न भी विशेष रूप से विचारणीय है। उदाहरणतः वर्तमान युग में शिक्षा के बाजारीकरण का दौर प्रारम्भ हो चुका है। इस दौर में शिक्षा दिन-प्रतिदिन मंहगी होती जा रही है। इसलिये शिक्षा विशेषकर उच्च शिक्षा पाने का अवसर उन्हीं लोगों तक सीमित होता जा रहा है, जो मंहगी शिक्षा को खरीद सकने में समर्थ हों।[५३] परन्तु मध्ययुगीन भारत में शिक्षा का अधिकार इससे सर्वथा भिन्न रूप में दृष्टिगोचर होता है और इस भिन्नता का एकमात्र कारण था, जन्मगत आधार पर सामाजिक ऊँच-नीच के भेदभाव का पाया जाना। जो वैदिक वर्ण-व्यवस्था के विकृत हो जाने और जातिप्रथा के अस्तित्व में आ जाने के कारण सम्भव हुआ। उस दौर में शूद्र और स्त्री दोनों समुदायों को यह कहते हुए शिक्षा पाने के अधिकार से सर्वथा वंचित रखा गया कि 'स्त्रीशूद्रौ

---

५०. यजुर्वेद २६-१५
५१. सरस्वती महर्षि दयानन्दः सत्यार्थ प्रकाश उपर्युक्त पृ. २६
५२. उपर्युक्त पृ. २६
५३. प्रस्तुत संदर्भ में केंद्र सरकार द्वारा स्वीकृत Self finance based courses and institutions, NRI Quota and market based education etc. terms and policies उल्लेखनीय हैं।

नाधीयातामिति श्रुतिः' अर्थात् स्त्री और शूद्र न पढ़ें, यह श्रुति है।[५४]

किन्तु शिक्षा पाने के अधिकार के विषय में वैदिक दृष्टिकोण समानतावादी है। इसलिए मानव मात्र को बिना किसी आर्थिक या सामाजिक भेदभाव के शिक्षा पाने का अधिकार वेदों में दृष्टिगोचर होता है। जैसा कि यजुर्वेद के निम्न मन्त्र पर दृष्टिपात करने से पता चलता है-

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।।[५५]

अर्थात् मैं (ईश्वर) जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अपने स्त्री, सेवक आदि और उत्तम लक्षणयुक्त प्राप्त हुए अन्त्यज के लिये भी इन उक्त सब मनुष्यों के लिये इस संसार में इस प्रकट की हुई सुख देने वाली चारों वेदरूप वाणी का उपदेश करता हूँ, वैसे आप लोग भी अच्छे प्रकार उपदेश करें।[५६]

यही समानतावादी वैदिक दृष्टिकोण शिक्षा सम्बन्धी प्रासंगिक सुविधाओं के क्षेत्र में भी दृष्टिगोचर होता है। जैसा कि ऋषि दयानन्द के इस कथन से विदित होता है कि सबको तुल्य वस्त्र, खान-पान, आसन दिये जायें। चाहे वह राजकुमार हो, चाहे दरिद्र के सन्तान हो, सबको तपस्वी होना चाहिए।[५७]

उपर्युक्त उल्लेखनीय विशेषताओं के प्रसंग में महर्षि दयानन्द ने मनुस्मृतिकार के विचारों को उद्धृत करते हुए अनिवार्य शिक्षा का भी प्रावधान किया है। उनके शब्दों में इसमें राजनियम और जातिनियम (सामाजिक नियम) होना चाहिए कि पांचवे अथवा आठवें वर्ष से आगे अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सकें। पाठशाला में अवश्य भेज देवें। जो न भेजे वह दण्डनीय हो।[५८]

अस्तु-संक्षेप में वैदिक शिक्षा की प्रमुख विशेषताओं के अन्तर्गत सबको शिक्षा, अनिवार्य शिक्षा, समानतावादी आधार पर शिक्षा, भेदभावरहित शिक्षा, निःशुल्क शिक्षा, सर्वांगीण शिक्षा, सामाजिक एवं राजनैतिक हस्तक्षेप से रहित, गुरु केन्द्रित शिक्षा, प्राकृतिक पर्यावरण में शिक्षा, आध्यात्मिक शिक्षा, तप एवं ब्रह्मचर्य आधारित शिक्षा, एकल लिंगाताधारित शिक्षा अथवा सह शिक्षानिषेध एवं ईश्वरीय दिव्य ज्ञान पर आधारित शिक्षा इत्यादि का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। जिसकी वर्तमान युग में नितान्त आवश्यकता भी है।

---

५४. सरस्वती महर्षि दयानन्दः सत्यार्थ प्रकाश, उपर्युक्त ४९
५५. यजु०२६.२
५६. सरस्वती, स्वामी दयानन्दः यजुर्वेद भाषा भाष्य उपर्युक्त अ. २६-२ मन्त्र का अर्थ
५७. सरस्वती, महर्षि दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, पृ. २६
५८. सरस्वती, महर्षि दयानन्द, ने सत्यार्थ प्रकाश, पृ. २६ पर मनु. के इस कथन 'कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्' की व्याख्या करते हुए उपर्युक्त विचार व्यक्त किये।

गुरुकुल-शोध-भारती-सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ080-85) ISSN 0974 – 8830

वैदिक नैतिक मूल्य और उनका सामाजिक समुन्नति में योगदान

डॉ० अनीता जैन[1]

मूल धातु से यत् प्रत्यय करने पर निष्पन्न **मूल्य** शब्द से तात्पर्य उन तत्त्वों से है, जो जीवन को लाभान्वित करते हैं व उसे प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं। मूल्य शब्द का संबंध मूल पद से है जिसका अर्थ है - नींव, प्रकृति, स्वभाव, जड़ आदि। विना मूल्यों के हमारी संस्कृति जड़हीन वृक्ष के समान होती है। मानव मूल्यों से जीवन जीने की कला सीखता है। जीवन मूल्य और मानव जीवन का पारस्परिक सम्बन्ध शरीर एवं प्राण की तरह अविच्छिन्न स्वरूप वाला होता है।

बूड्स के अनुसार- मूल्य दैनिक जीवन में व्यवहार को नियन्त्रित करने के सामान्य सिद्धान्त हैं।[2] **अरस्तु** ने **मूल्य** को चरम मानव साध्य माना है। उनके अनुसार मूल्य समाज की वह आधारशिला है, जिस पर मानव सभ्यता एवं संस्कृति का भव्य प्रासाद खड़ा होता है।

वस्तुतः मूल्य वे मानदण्ड हैं जो सम्पूर्ण संस्कृति व समाज को अभिप्राय और सार्थकता प्रदान करते हैं अथवा जो जीवन को गति प्रदान करें, वही मूल्य हैं। परन्तु ये मूल्य हमारी उन्नति में तब ही सहायक होते हैं, जबकि वे हमारे आचरण का अंग बन जाते हैं। मूल्य सम्बन्धी चिन्तन हमें सर्वप्रथम वैदिक साहित्य में मिलता है। यद्यपि वहाँ शब्दशः मूल्य पद का उल्लेख तो नहीं मिलता, परन्तु मूल्य सम्बन्धी विविध धारणाएँ प्राप्त होती हैं। जीवन-मूल्य के पर्याय रूप में भारतीय चिन्तनधारा में पुरुषार्थ पद का प्रयोग हुआ है। धर्म पुरुषार्थ में सामाजिक व नैतिक मूल्य आते हैं।

णीञ् प्रापणे धातु से निष्पन्न **नीति** को अधिकृत करने वाले सिद्धान्त नैतिक मूल्य कहलाते हैं। मनुष्य को सन्मार्ग पर अग्रसर करते हुए **'रामादिवत् प्रवर्तितव्यम् न रावणादिवत्'** का संदेश देना ही नीति का प्रमुख लक्ष्य है। नैतिकता और सामाजिकता एक-दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति, परिवार, समाज से सम्बन्धित आचरण व व्यवहार, धैर्य, विनय, परोपकार, अतिथि-सत्कार, त्याग, दया आदि नैतिक मूल्य न केवल सद्-असद्, उचित-अनुचित को स्पष्ट करते हैं अपितु जीवन-दर्शन का निर्माण भी करते हैं।

भारतीय नैतिक विचारों और जीवन मूल्यों के मूल तथा चिरन्तन स्वरूप का दिग्दर्शन मूलतः वेद में प्राप्त होता है। वेद में कहा गया है - **'मनुर्भव'**[3] अर्थात् मनुष्य बनो। मनुष्य बनने हेतु अपेक्षित जिन नैतिक मान्यताओं और मूल्यों को आज भारतीय जनजीवन में महत्त्व दिया जाता है, वे वैदिक ऋषियों द्वारा स्थापित आदर्शों से कथमपि भिन्न नहीं है। वेद की ज्योति विश्व बन्धुत्व, विश्वकल्याण और विश्व-

---

१ एसोसियेट प्रोफेसर (संस्कृत), ६०२, रामानुजन, बनस्थली विद्यापीठ, बनस्थली-३०४०२२ जिलाटोंक - (राजस्थान)

२ बदलते मूल्य और आधुनिक हिन्दी नाटक डॉ० ओमप्रकाश सारस्वत पृ०६

३ ऋ०१०.५३.६

समृद्धि की प्रेरक है।

आचार, धर्म, नैतिकता और सद्व्यवहार -ये सांस्कृतिक जीवन के चार स्तम्भ माने जाते हैं। जिनमें समता, न्याय, श्रद्धा, प्रेम, सहानुभूति, आस्था जैसे चिरन्तन मूल्यों को अपने साथ लेकर चलने वाला धर्म सबसे बड़ा स्तम्भ पुरुषार्थ है, जिसके अभाव में आज हम अपने नैतिक मूल्य छोड़ते जा रहे हैं। आज समाज में व्याप्त अशान्ति, अराजकता, भ्रष्टाचार व साम्प्रदायिकता का एकमात्र कारण धर्म का ह्रास है।

भारतीय संस्कृति की मूल मान्यताएँ आज केवल सिद्धान्त मात्र बनकर रह गई हैं, जिसे कागजों पर अंकित कर हम इस भ्रम में बैठे हैं कि हम आदर्श भारतीय संस्कृति में जी रहे हैं। जहाँ हमारी पुरातन विचारधारा - **सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः** जैसी पवित्र भावना से ओतप्रोत थी, वहीं आज हमारी भावना दीन-दुःखी असहाय व शोषितों का और अधिक शोषण कर अपना स्वार्थ साधने वाली हो गई है। आज का मानव समाज व परिवार से कटता जा रहा है। हम इतने संवेदनशून्य हो गये हैं कि किसी को पीड़ित देखकर हममें दया, करुणादि भाव उत्पन्न हीं नहीं होते हैं। हम सभी जानते हैं कि जिस समाज में नैतिक मूल्यों में शिथिलता होती है या देखी जाती है, वहाँ हित की प्रतिकूलता अर्थात् कल्याण का अभाव होता है।

नैतिक मल्यों से रहित युवा अनियन्त्रित होकर उच्छृंखल होता जा रहा है। अब तो यह डर लगने लगा है कि कहीं हम पाश्चात्त्य संस्कृति के अंधानुकरण से अपनी मौलिक संस्कृति को भूलते तो नहीं जा रहे हैं। युवाओं में उच्छृंखलता, अनैतिकता, माता-पिता व गुरुजनों के प्रति अनादर का भाव, विध्वंसात्मक कार्यें में अपनी शिक्षा शक्ति का बढ़ता उपयोग हमारे मन में एक प्रश्न खड़ा करते हैं - क्यों न इन समस्याओं के निराकरणार्थ एवं विनष्ट होते हुए जीवन मूल्यों की पुनर्स्थापना के लिये हम हमारे वैदिक वाङ्मय का अवलोकन करें, जहाँ अतुलनीय ज्ञान-विज्ञान के साथ-साथ नैतिक आदर्शें के सम्मुन्नयन हेतु अनेक सन्दर्भ उपलब्ध हैं।

वेदों एवं उननिषदों में वर्णित ऋत, सत्य, श्रद्धा, अहिंसा, दया, दान, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौंच, मैत्री, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, समता, अतिथि-सत्कार एवं लोक-कल्याण भावना आदि नैतिक मूल्य मानव में नैतिक आदर्शें को समुन्नत करने में सहायक हैं। कतिपय नैतिक मूल्यों पर इस शोध पत्र के माध्यम से प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

सन्तोष व संयम

असन्तोष के कारण समाज में तेजी से बढ़ रहे दाम्पत्य जीवन में सम्बन्ध विच्छेद एवं अव्यवस्थाओं के निराकरण में सन्तोष व संयम महती भूमिका निभा सकते हैं। सामवेद में उल्लेख मिलता है - **आ ते वत्सो मनो यमत्,**[४] अर्थात् आपका मन शुद्ध व संयमित हो।

अपरिग्रह

विषय लोलुपता एवं सामाजिक स्तर बनाये रखने के लिये ऋण लेने की प्रवृत्ति को रोकने में

---

[४] सामवेद ८

अपरिग्रह सिद्धान्त की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। जिसके माध्यम से हम **जीओ और जीने दो** के नैतिक उद्घोष को और भी प्रभावशाली बना सकते हैं। संत कबीर पहले ही आवश्यकतानुसार सीमित परिग्रह की आकांक्षा रखते हुए कह चुके हैं -

साँई इतना दीजिये जामे कुटुम्ब समाय,
मैं भी भूखा ना रहू साधु ना भूखा जाये।[५]

ईशावास्योपनिषद् में भी कहा गया है कि हमें किसी के धन की आकांक्षा नहीं करनी चाहिये,[६] अपितु सीमित संसाधनों का अपनी आवश्यकता व क्षमतानुसार भोग करना चाहिये।

ऋत- ऋ धातु से क्त् प्रत्यय करने पर निष्पन्न **ऋत** एक ऐसी व्यवस्था है, जो प्राकृतिक नियमों के पारस्परिक अटल सम्बन्धों को संचालित करती है। सृष्टि की उत्पत्ति व प्रलय इसी के अधीन है। यह वह नैतिक मूल्य है जिसे धर्म संज्ञा से विभूषित किया जा सकता है। कहा भी है - **धर्मे हि सत्यम्,** सत्य ही धर्म।

बृहदारण्यकोपनिषद्[७] में भी सत्य को धर्म कहा है। **ऋत** वस्तुत: सत्य तक पहुँचने का मार्ग है। ऋग्वेद के अनुसार **ऋत** मानवीय जीवन का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जो हमें सिखाता है कि जीवन में उन्नति हेतु नैतिक नियमों और प्राकृतिक व्यवस्थाओं का अनुपालन नित्यप्रति किया जाना चाहिए। जीवन में नियमबद्धता होने पर ही मनुष्य समाज अनुशासित होगा परिणामस्वरूप सामाजिक अभिवृद्धि होगी।

सत्य :- ऋत के समान ही सत्य है। संसार को यदि **ऋत** चलाता है, तो मानव जीवन को सत्य। वैदिक जीवन सत्य का उपासक रहा है। सत्यान्वेषी आर्य उसे सृष्टि का आधार मानते हैं। यजुर्वेद में झूठ को त्यागकर सत्य को ग्रहण करने का उल्लेख मिलता है।[८] **सत्य** समाज के नैतिक कलेवर का आधार है। ऋग्वेद में मन की संकल्प शक्ति की सत्यता के लिये प्रार्थना की गई है - **आकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु।**[९] सत्य पर समस्त ब्रह्माण्ड को आश्रित माना है।[१०] अथर्ववेद[११] में सत्य को धर्म कहा है। उपनिषदों में प्राप्त **सत्यमेव जयते नानृतम्**[१२] एवं **असतो मा सद्गमय**[१३] कथन सत्यनिष्ठा पर विशेष बल देते हैं, क्योंकि इसी पर सर्वजन कल्याण की भावना निहित है।

आचरण-व्यवहार :- तैत्तिरीय उपनिषद् शिक्षावल्ली में प्रयुक्त **सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा**

---

५ कबीर वचनावली, पृ०.१६

६ तेन त्यक्तेन भुंजीथा: मा गृधः कस्यस्विद्धनम्। -- ईशा० -१

७ यो वै धर्म: सत्यं वै तत्। तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं --- भवति। --बृह० ३: १.४.१४

८ यजु० १.५ दयानन्दभाष्य

९ ऋ० १०.१२८.४

१० सामा सत्योक्त: परिपातो विश्वतो सूर्य:। ऋ० १०.३७.२

११ अथर्ववेद ५.१.२.

१२ मुण्ड०३.१.६

१३ बृहदा० १.३.२८

प्रमदः दीक्षान्त भाषण के अवसर पर शिक्षार्थियों को दिया जाने वाला जीवन का कल्याण करने वाला अति महत्त्वपूर्ण उपदेश है, जिनका यदि सभी शिक्षार्थियों द्वारा अनिवार्य रूप में पालन किया जाय तो निश्चित रूप से भौतिकता से पीड़ित मानवता का नैतिक कल्याण संभव हो सकता हैं। **मातृ देवो भव, पितृ देवो भव** इत्यादि वेद-वचनों के माध्यम से माता-पिता, आचार्य, अतिथि आदि में देवत्व की उच्च भावना प्रतिपादित करके वैदिक संस्कृति ने विश्व की संस्कृतियों में उच्चतम स्थान बना लिया है। अथर्ववेद में गृहस्थजीवन की सफलता हेतु पारस्परिक सौहार्द की कामना करते हुए कहा गया है कि -

अनुव्रतः पितुः पुत्रो माता भवतु संमनाः।
जायापत्ये मधुवतीं वाचं वदतु शान्ति वाम्॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारम् उत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥[१४]

यदि इन वैदिक उपदेशों को अपने आचारण का विषय बनाया जाय तो समाज एक आदर्श समाज बन सकेगा।

सहयोग व समता :- वैदिक मन्त्र मानव के सहयोग की भावना रखते हुए **वसुधैव कुटुम्बकम्** की भावना को सार्थकता प्रदान करते हैं। आज संसार की सबसे बड़ी समस्या यही है कि हमारा मन व दृष्टि इतनी संकुचित हो गई है कि हम अधिकाशं परिस्थितियों में अहंता व ममत्व के भाव से युक्त हो गये हैं। जबकि प्राचीन ऋषियों का मानना था -

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥[१५]

वैश्वीकरण के इस युग में भी हम एकदूसरे- के हृदयों को पारस्परिक सहयोग के अभाव में नहीं जोड़ सके, जबकि इस वैश्वीकरण की कामना अथर्ववैदिक ऋषियों ने- **वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्।**[१६] अर्थात् जहाँ विश्व एक घोसला बन जाए कहकर बहुत पहले ही कर दी थी। ऋग्वैदिक मन्त्र -

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं संजानाना उपासते॥[१७]

एवं

समानी व आकूतीः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥[१८]

---

१४ अथर्व०३.३०.२-३
१५ पञ्चतन्त्र ५.३७
१६. अथर्ववेद २.२.१
१७ ऋ०१०.१९१.२
१८ ऋ०१०.१९१.४

आदि मन्त्र सखा व समता भाव से परस्पर मिलकर कार्य करने की प्रेरणा देते हुए साम्प्रदायिक सद्भाव को बढ़ाते हैं।

श्रद्धा :- जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति के पथ पर अग्रसर होने अथवा प्रमुख लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु श्रद्धा का होना अपेक्षित है। गीता में भी कहा गया है- **श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।**[१९] वर्तमान विद्यालयों व महाविद्यालयों में शिक्षार्थियों के मध्य गुरूजनों के प्रति बढ़ती अनादर प्रवृत्ति के निवारणार्थ उक्त वैदिक मूल्य की बहुत आवश्यक्ता है। क्योंकि कहा जाता है कि अनादर भाव से युक्त शिष्य को दी हुयी विद्या दोष को ही उत्पन्न करने वाली होती है। ऋग्वेद में वर्णित **प्रियं श्रद्धे ददतः, श्रद्धया विन्दते वसु, श्रद्धे श्रद्धापयेह नः**[२०] एवं **श्रद्धा माता**[२१] आदि कथन श्रद्धा के महत्त्व को ही दर्शाते हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण में जीवनरूपी यज्ञ में श्रद्धा को पत्नी और सत्य को यजमान बताते हुए, इन दोनों के सहयोग से दिव्य लोकें की प्राप्ति का कथन हमारे जीवनमूल्यों को इंगित करता है, जिससे स्वस्थ एवं सुन्दर समाज की परिकल्पना साकार हो सकती है।[२२]

धी - धी अर्थात् विवेकबुद्धि सम्पत्ति के समान है। यही वस्तुतः समस्त मानवीय मूल्यों का आधार है। ऋग्वेद में कोई पुरुष सुमति हेतु विष्णु से प्रार्थना करते हुए कहता है -

महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे।[२३]
देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयताम्॥[२४]

ऋग्वेद में प्राप्त **धियो यो नः प्रचोदयात्**[२५] आदि सन्दर्भों में सद्बुद्धि हेतु प्रार्थना की गई है। रामचरितमानस में कहा है-**जहाँ सुमति तहं सम्पत्ति नाना, जहाँ कुमति वहाँ विमति निदाना।**

अहिंसा- मनसा, वाचा, कर्मणा, सभी प्राणियों के साथ द्रोह का अभाव ही अहिंसा है। वैदिक काल में आचार हेतु अंहिसा को प्रमुख तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। वहाँ **मा हिंसी** कहकर हिंसा का प्रतिरोध किया है। ऋग्वेद में हिंसा रहित धन[२६] व हिंसा रहित बुद्धि[२७] की याचना की गई है। वहाँ यज्ञ को भी **अध्वर** अर्थात् हिंसा रहित कहा गया है।[२८]

दया :- आज समाज में तेजी से पनप रहे ईर्ष्या, द्वेष व वैमनस्य का निराकरण तभी संभव है,

---

१९ गीता-४.३९
२० ऋ०१०.१५१.१-५
२१ सामवेद ९०
२२ श्रद्धा पत्नी सत्यं यजमानः। श्रद्धा सत्यं तदित्युत्तमं मिथुनम्। श्रद्धा सत्येन मिथुनेन स्वर्गाल्लोकान् जयतीति। ऐ०ब्रा०७.१०
२३ ऋ०१.१५६.३
२४ ऋ०१.८९.२
२५ ऋ०३.६२.१०
२६ ऋ०१.५५.३, ६.२२.१०
२७ वही ७.६७.५
२८ ध्वर इति हिंसायाम् तत्प्रतिषेधो अंध्वरयज्ञ इत्यर्थः। वही १.१.४ पर सातवलेकर भाष्य

जब हम प्राणीमात्र के प्रति दया व करुणा के भाव रखेगें। कहा भी है – दया धर्म का मूल है। उपनिषद्[२९] में प्रजापति ने **द** अक्षर द्वारा जो उपदेश दिया उसमें द्वितीय **द** का अर्थ है – **दयध्वं** अर्थात् दया करो। धर्मशास्त्र में **दया-धर्म** की श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए कहा गया है –

न दयासदृशो धर्मे न दयासदृशं तपः।
न दयासदृशं दानं न दयासदृशः सखा॥

मैत्री :- वेद में सब प्राणियों को मित्रवत् देखने की कामना की गई है। ऋग्वेद[३०] में कहा गया है कि जो मित्र की सहायता नहीं करता है, वह मित्र नहीं है। यजुर्वेद में कहा गया है – सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें और मैं सभी प्राणियों को मित्रवत् देखूं। हम सब प्राणी परस्पर एकदूसरे- को मित्र की दृष्टि से देखें।[३१] अथर्ववेद अचेतन में भी मैत्री भावना की कामना करते हुए कहा है- **सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु**।[३२] **असपन्नाः प्रदिशो मे भवन्तु**।[३३] इसी प्रकार सामवेद कथन - **सख्ये मा रिषाम**[३४] अर्थात् मित्रता में हम न्यून न हों, भी इसी मैत्री भाव की पुष्टि करता है।

दान :- दान नैतिकता से युक्त ऐसा जीवन मूल्य है जिसकी आवश्यकता हर युग में होती है। वस्तुओं के प्रति अहंता का भाव समाप्त कर देश, काल और परिस्थिति के अनुसार उसे विना प्रतिदान की आशा से सत्पात्र को देना दान है। ऋग्वेद का दक्षिणासूक्त दाता के प्रति प्रशंसात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहता है कि दाता सदैव अदाता से श्रेष्ठ हाता है।[३५]

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि समाज में शान्ति व प्रतिष्ठा हेतु शनैः-शनैः क्षीण होकर लुप्त होने वाले नैतिक मूल्यों की पुनः स्थापना, उनके अनुशीलन व अनुवर्तन की नितान्त आवश्यकता है, तभी समाज व राष्ट्र की सम्यग् समुन्नति होगी।

---

२९ बृहदा०५.२.१-३
३० न स सखा या न ददाति सख्ये। ------ ऋ०१०.११९.२
३१ मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षाषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। यजु० ३६.१८
३२ अथर्व०१९.१५.६
३३ अथर्व०१९.१४.१
३४ सामवेद ६६
३५ ऋ०१०.१०७.

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ०86-93) ISSN 0974 – 8830

वैदिक साहित्य में देश स्वातन्त्र्य का अधिकार

डॉ. योगेश शास्त्री[1]

वेद में देश स्वातन्त्र्य अर्थात् राष्ट्रीय भाव की कल्पना है। इसमें किसी भी प्रकार का कोई सन्देह नहीं है। वेदों में अनेकों स्थानों पर भूमि के लिए माता शब्द का प्रयोग किया गया है।

ऋग्वेद के पञ्चम मण्डल में मरुतों अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषों के विषय में बार-बार पृश्निमातरः विशेषण वर्णित किया गया है। वेद में राष्ट्रीय भाव की कल्पना है, तथा प्रत्येक मानव को राष्ट्रहित में कार्य करने की प्रेरणा प्रदान की गयी है।

स्वश्वाः स्थ सुरथाः पृश्निमातरः स्वायुधा मरुतो याथना शुभम्।।[2]

इसका अर्थ है कि मरुत् और उत्तम अश्वरथ शस्त्रादि से युक्त भूमि को अपनी माता मानने वाले मातृभक्त अर्थात् देशभक्त हैं। वे सदैव उत्तम कर्म एवं देश सेवा में संलग्न रहते हैं।

ऋग्वेद में एक स्थान पर वर्णन है कि मनुष्य समानता के सत्य सिद्धान्त को समझते हुए सदैव ऊपर उठते हुए अपने तेज से विशेष उन्नति करते हैं। वे पृथिवी, भूमि एवं देश को माता के समान मानकर प्रकाशमय परमेश्वर को अपना सच्चा पिता मानते हैं।[3]

ऋग्वेद के दशम मण्डल में देश स्वातन्त्र्यता की कल्पना को एक सच्चे मातृभक्त के रूप में वर्णित किया गया है। जैसे पुत्र अपनी माता की सेवा करता हैं- वैसे ही एक सच्चा मातृभूमिभक्त अपने देश की स्वतन्त्रता को सदैव अक्षुण्ण रखे।

उपसर्पमातरं भूमिमेताम्- अर्थात्- इस मातृभूमि की सेवा करो।[4]

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि।।[5]

अर्थात्- हे मातृभूमि- भक्त के लिए तू सुख प्राप्त कराने वाली है, जिस प्रकार माता पुत्र को प्रेम करती है, वैसे तू हमें प्रेम कर। हम सब और से सुरक्षित रहें। इस मन्त्र में मातृभूमि को लक्ष्य करके देश स्वातन्त्र्य की एक जीवित जागृत दैवी रूप में कल्पना की गयी है। हम जब तक भूमि आदि को मात्र अचेतन वस्तु समझते हैं, तब तक उसके साथ अपना आन्तरिक प्रेम अनुभूत नहीं कर सकते।

---

१. गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२. ऋग्वेद --५/७२/२,
३. ते अज्येष्ठासो अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो महसा विवावृधुः। सुजातासा जनुषा पृश्निमातरो दिदिवो मर्या आ नो अच्छा जिगातन।। ऋग्वेद-५/५९/६
४. ऋग्वेद-१०/८/१०
५. वही-१०/१८,११,

वेद में देश स्वातन्त्र्यता के अधिकार को काव्य दृष्टि से भी वर्णित किया गया है। ऋग्वेद में वर्णन है कि देव लोग अपने शुभ कर्मों से मातृभूमि के यश का विस्तार करते हैं।[६]

यजुर्वेद में **उपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयताम्** अर्थात्- मैंने पृथिवी अथवा देश को माता के रूप में अपने हृदय में स्वीकार किया है।[७] मातृभूमि भी मुझे अपने पुत्र के रूप में स्वीकार करे।[८] प्रत्येक पुरुष यदि अपने देश को माता के समान समझे, निःसन्देह मातृभूमि का हित होता है, और पुत्रों का कल्याण होता है।

यजुर्वेद के नवम अध्याय में वर्णन है कि **अस्मे वो अस्त्विन्द्रियमस्मे नृम्णमुत क्रतुरस्मे वर्चांसि सन्तु वः। नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्यै।।**[९] अर्थात्- हे देव अर्थात् ज्ञानी लोगो! हमारे अन्दर तुम्हारे जैसी बल युक्त इन्द्रियां हों, तुम्हारे जैसा धन हो, पुरुषार्थ करने का उत्साह हो, और आपके सदृश तेज हो। हम मातृभूमि को नमस्कार करते हैं तथा इन्द्रिय, धन, उत्साह, तेज आदि को धारण करते हुए सदैव मातृभूमि की सेवा में तत्पर रहकर उसकी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखेंगे।

यजुर्वेद के दशवें अध्याय में वर्णन है कि हम कभी मातृभूमि को कष्ट न दें अर्थात्- मैं कभी भी कोई ऐसा कार्य भूलकर भी न करूँ, जिससे मातृभूमि का अहित हो।

यजुर्वेद के ही सत्रहवें अध्याय में अपने देश के वीरों की कामना करते हुए मातृभूमि के प्रति अतीव प्रेम-भाव को वर्णित किया गया है।

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मां उ देवा अवता हवेषु।।[१०]

यजुर्वेद के बाइसवें अध्याय में राष्ट्रीय भावना को परिपुष्ट करते हुए वर्णन है कि- हमारे राष्ट्र में ब्राह्मण लोग सच्चे तेज का धारण करने वाले हों, क्षत्रिय शूरवीर बाण चलाने में निपुण महारथी हों, वैश्य उत्तम गौ, बैल आदि से युक्त हों, त्रियां भी उत्तम बुद्धि एवं श्रेष्ठ कर्मों से युक्त होंवे। वेद की यह राष्ट्रिय कल्पना मानव मात्र को देश के प्रति सजगता का उपदेश प्रदान करती है-

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्।।[११]

अथर्ववेद के तृतीय काण्ड में राष्ट्र को उन्नतिशील बनाने के लिए कहा गया है- मैं अपने राष्ट्र

६. अप्रथयन् पृथिवी मातरं वि- ऋग्वेद -१०/६२/३
७. यजुर्वेद-२/१०,
८. पृथिवी माता माम् उपह्वयताम्। यजुर्वेद-२/१०,
९. यजुर्वेद-९/२२
१०. पृथिवी मातर्मा मा हिंसीर्मे अहं त्वाम्। यजुर्वेद ९/२२
११. यजुर्वेद २२/२२,

के अन्दर अत्यन्त श्रेष्ठ बनूं।[१२] यहाँ वेदमन्त्र का आशय है कि प्रत्येक पुरुष को राष्ट्र की सर्वोन्नति के लिए इस प्रकार की प्रार्थना करनी चाहिये।

अथर्ववेद में वर्णन है कि-

अथास्मभ्यं वरुणोवायुरग्निर्बृहद् राष्ट्रं संवेश्य दधातु।

अर्थात्- हे वरुण! सर्वश्रेष्ठ परमात्मा, विद्वान्, वायु, बलवान् पुरुष अग्नि-ज्ञानी और नेता ये सब हमारे राष्ट्र को बड़ा और शक्ति युक्त बनावें।[१३] अथर्ववेद के तृतीय काण्ड में राष्ट्रोन्नति, शान्ति एवं स्वतन्त्रता की भावना को स्पष्टतः वर्णित किया गया है-

एषां अहं आयुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्णवेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः।।[१४]

अर्थात्- (**अहम्**) मैं (**एषाम्**) इन सबके (**आयुधा**) शस्त्रों को (**संस्यामि**) तेज करता हूँ। (**एषां राष्ट्रं**) इनके राष्ट्र को (**सुवीरं वर्धयामि**) अच्छे वीर पुरुषों से युक्त करके उन्नत करता हूँ। (**एषां क्षत्रम्**) इस देश के लोगों का क्षत्रिय समुदाय (**जिष्णु**) विजयशील और (**अजरम् अस्तु**) अविनाशी हों (**विश्वेदेवाः**) सब ज्ञानी ब्राह्मण (**एषाम्**) इन देशवासियों के (**चित्तम् अवन्तु**) ज्ञान की रक्षा करें। देशस्वातन्त्र्य और राष्ट्रिय भावना के निर्देशों से युक्त यह मन्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस मन्त्र में निम्नलिखित तत्त्व मुख्य हैं, जिनका वर्णन वैदिक कर्त्तव्य शास्त्र में वर्णित है-

शस्त्रास्त्रादि की ठीक व्यवस्था करना और राष्ट्र को वीर बनाकर उन्नत करना ब्राह्मणों का विशेषतः एवं प्रधानामात्य का भी धर्म है। क्षत्रियों की शक्ति को बढ़ाने की ओर प्रत्येक देशवासी का ध्यान होना चाहिये।

प्रजा को सुशिक्षित करने का काम ब्राह्मणों के हाथ में होना चाहिए।[१५] अथर्ववेद के षष्ठ काण्ड में ईश्वर से प्रार्थना है कि हे इद्र तू हमें यशस्वी बना, जिससे हम नम्रता को धारण करते हुए अपने राष्ट्र को धन-धान्य से सुसम्पन्न करें।[१६] इस मन्त्र में ऐश्वर्यशाली राष्ट्र की जो कल्पना है, वह वेद में अत्यन्त विशदता से वर्णित है।

अथर्ववेद के ही सप्तम काण्ड में मातृभूमि देश स्वातन्त्र्यता के अधिकार को मातृभूमि की यशोगाथा गाकर वर्णित किया गया है अर्थात् हम मातृभूमि को सदैव सुराज्य एवं स्वराज्य पूर्वक उन्नत करें।

१. **सुव्रतानाम् ऋतस्य पत्नीम्-** उत्तम व्रत धारण करने वालों के ज्ञान की रक्षा करने वाले।

---

१२. अहं राष्ट्रस्यामी वर्गे निजो भूयासमुत्तमः। अथर्ववेद-३/५/२,
१३. अथर्ववेद-३/८/१
१४. अथर्ववेद-३/१९/५
१५. वैदिक कर्त्तव्यशास्त्र (पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड) पृ. १५९-१६०
१६. अच्छा न इन्द्र यशसं यशोभिर्यशस्विनं नभसाना विधेम। स नो शस्व राष्ट्रमिन्द्रजूं तस्य ते रातौ यशसः स्याम। अथर्ववेद-६/३९/२,

२. **तुविक्षत्राम्**- बहुत छात्र-बल से युक्त।

३. **अजरन्तीम्**- जीर्णावस्था व अवनति को न प्राप्त होती हुई।

४. **उरूचीम्**- अत्यन्त विस्तृत।

५. **सुर्शमाणम्**- उत्तम सुख देने वाली।

६. **सुप्रणीतिम्**- उत्तम नीति से युक्त।[१७]

अथर्ववेद में वर्णित इन विशेषणों से ज्ञात होता है कि प्रत्येक मनुष्य का चाहे वह किसी भी वर्ग का हो, यह कर्त्तव्य है कि वह उपर्युक्त मन्त्र में वर्णित गुणों से अपनी मातृभूमि (देश) को सम्पन्न करने हेतु अपनी योग्यतानुसार प्रयत्न करें।

अथर्ववेद का बारहवां काण्ड राष्ट्रीय गीत है। इसमें मातृभूमि (स्वदेश) के प्रति जो प्रेम का भाव प्रकट किया गया है, वह सब दृष्टियों से अद्भुत है।

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।[१८]
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः।[१९]
तस्मै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः।[२०]

इन मन्त्रों में मातृभूमि के प्रति अत्यन्त शुद्ध भाव प्रकट किया गया है।

ये ग्रामा यदरण्यं या सभा अधि भूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते।।[२१]

इस मन्त्र में वर्णन है कि प्रत्येक मनुष्य को सदैव ग्राम, जंगल, सभा, समिति, रणस्थल आदि में मातृभूमि के हित का ही चिन्तन करना चाहिये। इस बात को स्पष्ट रूप से बताया गया है।

इसी सूक्त में कहा गया है कि हे मातृभूमि! हम तेरी सेवा में नीरोग होकर सदा उपस्थित रहें तथा तेरे से उत्पन्न पदार्थों का ही उपभोग करें।[२२]

इसी सूक्त में प्रार्थना अत्यन्त शुद्ध देशभक्ति पूर्ण हृदय का उद्गार है, जो मनुष्य को देश भक्ति की भावना से अभिभूत करती है।

दीर्घं न आयु प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम।

अर्थात्- हम सब ज्ञानी बनते हुए हे मातृभूमि! तेरे लिए आवश्यकता होने पर अपने प्राणों की

---

१७. अथर्ववेद ७/६/०२
१८. अथर्ववेद -१२/१/१२
१९. वही१२/१/१०
२०. वही१२/१/२६
२१. वही१२/१/५६
२२. उपस्थास्त अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवी प्रसूताः। अथर्ववेद -१२/१२

बलि या आहुति देने को सदैव उद्यत रहें और तेरी सेवा करने के लिए हमारी दीर्घ आयु हो।[२३]

पढ़ने-पढ़ाने वाले तेजस्वी विचारक व्यक्ति सुदृढ राष्ट्र का आधार हैं, क्षत्रियों को सदैव इनकी रक्षा करनी चाहिये। सैनिकों के उत्तम स्वास्थ्य के लिए कृषकों, वैश्यों आदि द्वारा पुष्टिकारक दूध, अनाज आदि का विपुल उत्पादन आवश्यक हैं। प्रकृति का सहयोग अर्थात् समय पर आवश्यक मात्रा में वृष्टि और प्रचुर मात्रा में धन राष्ट्र के लिए आवश्यक है।

यह संसार एक समर स्थली है। मनुष्य को बड़े-बड़े संघर्षों से गुजरना पडता है, चारों तरफ विघ्न, बाधायें और शत्रु मुँह बाये खड़े हैं, और छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेष से सब कुछ छीनने को तैयार है। भयंकर षड्यत्रों द्वारा सेना शरीर पर आक्रमण करने का उपक्रम कर रही है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि एवं भूकम्प आदि अनेक दैवीय विपत्तियां काल-कवलित करने को तैयार हैं। धूर्त, छली एवं वंचक लोग मनुष्य को अपने चंगुल में फंसाने को तैयार हैं, ऐसे में वेद की प्रेरणा है कि तू कभी भी आतातायी राक्षस के अत्याचार को सहन मत कर। हे वीर! राक्षस को जड़-समेत उखाड़ फेंक। वेद का यह कहने का अभिप्राय नहीं है कि हमें पैशाची हिंसा लूट-पाट और व्यर्थ उपद्रव मचाकर संसार में अशान्ति फैलाने की अनुमति न दें। वेद तो शान्ति के अग्रदूत हैं।[२४]

यदि कोई दानव हमारे सुन्दर साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर रहा है, तो हमें चुप नहीं रहना चाहिये। वेद में स्थान-स्थान पर दानवों के संहार का वर्णन हैं। वेद जहाँ बाह्य राक्षसों के विनाश की आज्ञा देता है, वहाँ हृदय में उत्पन्न होने वाले आन्तरिक राक्षसों के संहार की भावना को भी जागृत करता है। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि अपने तीव्र संकल्प बल से पाप, पापी, अन्याय, अत्याचार अविद्या किसी भी कोटि के राक्षस को नष्ट करके संसार में सुख -शान्ति के साम्राज्य की स्थापना करें। साथ ही वेद का यह सन्देश भी सदैव स्मरण रखना चाहिये कि अन्याय और अत्याचार को नष्ट करने के लिए यदि हिंसा भी करनी पड़े तो वह हिंसा नहीं अपितु वीरता है।

ऋग्वेद में वर्णन है कि वीरो! उठो, आगे बढ़ो, विजय प्राप्त करो। इद्र तुम्हें सुख दे, तुम्हारी भुजाओं में बल हो, जिसमें कि तुम कभी पराजित न हो सको।[२५]

हे वीर! आगे बढ़, शत्रु पर वार कर, उसे परास्त कर दे, तेरे शत्रु को कभी कोई नहीं रोक सकता। शत्रु को झुका देने वाला बल सदैव तुझमें विद्यमान है, आततायी को मार दे। तेरी निज प्रजाओं को शत्रुओं ने पकड़ लिया है। उन्हें जीत ले। स्वराज्य-आराधक बन।[२६]

ऋग्वेद में स्वराज्य के विषय में वर्णित है कि हे वीर! राक्षसों का संहार कर, हिसंकों को कुचल

---

२३. अथर्ववेद १२/१/६२

२४. उद्वृह रक्षः सहमूलामिन्द्रः। ऋ० ३/३०/१७

२५. प्रेता जयता नर इद्रो व शर्म यच्छतु। उग्राः वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ॥ ऋग्वेद-१०/३/१३

२६. प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते। इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्नु स्वराज्यम्॥ ऋग्वेद-१/८०/३,

डाल, दुष्ट शत्रु की दाड़े तोड़ दे तथा जो तुझे दास बनाना चाहे, बैरी को क्रोध को चूर कर दे।[२७] हे वीरो! सुदृढ़ हों, तुम्हार हथियार शत्रु को भगा देने के लिए हैं, शत्रु के वार को रोकने के लिए है। तुम्हारी सेना, तुम्हारा संगठन, प्रशंसा के योग्य है।[२८] हे वीरो उठो! कमर कसकर झंडे हाथों में पकड़ लो, जो भुजंग हैं, लम्पट हैं, पराये हैं, राक्षस हैं, बैरी हैं, उन पर धावा बोल दो।[२९]

अथर्ववेद के इन मन्त्रों में देश स्वातन्त्र्य, राष्ट्रिय भावना की अग्नि को प्रत्येक मनुष्य को अपने हृदय में धारण करने की आज्ञा दी गयी है।

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा।।[३०]

अर्थात्- हे आततायी तू मुझे निस्तेज, बुझा हुआ, मत समझना। मत समझना कि तू आकर मुझे सता लेगा और मैं चुपचाप सह लूँगा। देख यदि तू मेरी गाय को मारेगा, घोड़े को मारेगा, मेरे सम्बन्धी पुरुषों को मारेगा, तो याद रख, मैं तुझे शीशे की गोली से बेध दूंगा।

यो नो दिप्सददिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति।
वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तम्।।[३१]

अर्थात्- जो कोई व्यर्थ में किसी का वध न करने वाले, किन्तु दुष्टों को पकड-पकड़ कर वध करने वाले, हम लोगों को मारने का संकल्प करेगा, उसे मैं जलती हुई आग की लपटों में झोंक दूंगा।

जो कोई दुर्जनों को शाप देने वाले, भले आदमियों को शाप न देने वाले, हम लोगों को व्यर्थ में आकर कोसेगा, गाली-गलौच करेगा, उसे मौत के आगे फेंक दूंगा, जैसे कुत्ते के आगे सूखी रोटी के टुकड़े फेंके जाते हैं।[३२]

स्वतन्त्रता को खण्डित करने वाले को ललकारते हुए वेद कहता है- अरे तुमने क्या मुझको साधारण मनुष्य समझा है? मैं तो सूर्य हूँ। जैसे सूर्य उदित होकर सब नक्षत्रों के तेज को हर लेता है, वैसे मैं शत्रु स्त्री और पुरुषों के तेज को हर लेता हूँ।[३३] निश्चय ही हमारी विजय होगी, हमारा अभ्युदय होगा, शत्रु की सेना को हम परास्त कर देगें। मुझसे या मेरे देश से शत्रुता करने वालो का मैं वर्चस्, तेज, प्राण एवं आयु

---

२७. वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज। विमन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः। ऋग्वेद १०/१५२/३
२८. स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीडू उत प्रतिष्कभे। युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः।। ऋग्वेद१/३९/२
२९. उत्तिष्ठत संनह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह। सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत।। अथर्ववेद-११/१०/१
३०. अथर्ववेद-१/१६/४
३१. अथर्ववेद-४/३६/२
३२. यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात्। शुने पेष्ट्रमिवावक्षामं, तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे।। अथर्ववेद - ६/३७/३
३३. यथा सूर्यो नक्षत्राणा मुंस्तेजांस्याददे। एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे।। अथर्ववेद-७/१३/१

को हर लूंगा। उसे भूमि पर दे मारूँगा।[३४] मुझसे या मेरे देश से द्वेष करने वाले दुष्ट हृदयी द्वेषी शत्रु का मैं सिर काट डालूँगा।[३५]

वेद में केवल देश भक्ति की भावना का उपदेश मात्र पुरुषों के लिए ही नहीं अपितु वेद की नारियां भी अद्भुत वीर भावों से ओतप्रोत हैं।

ऋग्वेद में एक नारी कहती है कि अरे यह घातक मुझे अबला समझ बैठा है? मैं अबला नहीं वीरांगना हूँ। वीर की पत्नी हूँ। मृत्यु से भयभीत न होने वाले वीर मेरे सखा हैं। मेरा पति संसार में अपनी तुल्यता नहीं रखता है।[३६]

मेरे पुत्र शत्रु के छक्के छुडा देने वाले हैं, मेरी पुत्रियां अद्वितीय तेजस्विनी हैं। मेरे पति में उत्तम कीर्ति का निवास है, और मैं अपनी क्या बताऊँ? यदि कोई मेरी तरफ आँख उठाकर देखेगा तो, ऐसा परास्त होकर लौटेगा कि सदैव याद रखेगा।[३७]

ऋग्वेद में कहा गया है कि स्वराज्य जन्म सिद्ध अधिकार है।

यस्य ते नू, चिदादिशं, न मिनन्ति स्वराज्यम्।।
न देवो नाध्रिगुर्जनः।।[३८]

अर्थात्- स्वराज्य प्रत्येक मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है। परमात्मा का आदेश है कि मनुष्य स्वतन्त्र है, संसार की कोई भी वस्तु उसे परतन्त्र नहीं कर सकती है।

वेद मन्त्र का आशय है कि चाहे कोई देवता हो या बलवान् हो, वह स्वराज्य की भावना को दबा नहीं सकता है। क्योंकि स्वाधीनता की भावना आन्तरिक प्रेरणा है। मनुष्य चाहे किसी भी देश या राष्ट्र का हो उसे स्वतन्त्र रहने का पूर्ण अधिकार है।

यजुर्वेद में देश स्वातन्त्र्य हेतु प्रार्थना की गयी है-

वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽगे, सोमं राजानमोषधीषु धीष्वप्सु।
ता अस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा।[३९]

अर्थात्- शक्ति के आदि स्रोत परमात्मा ने सर्वप्रथम वनस्पतियों और जल में सोम राजा को उत्पन्न किया। वे वनस्पतियाँ और जल हमारे लिए मधुर हों तथा हम राष्ट्र रक्षा हेतु सदैव जागृत रहें। क्योंकि वेद कहता है कि माता की सुरक्षा करना प्रत्येक पुत्र का अधिकार है।

---

३४. जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठां विश्वाः पृतना अराती। इदमहमामुष्यायणस्यामुष्यां पुत्रस्य वर्चस्तेजः प्राणमायुर्निवेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि। अथर्व०१०/५६/३६

३५. अरास्तीयोभंर्तृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः। अपि वृश्चाम्योजसा।। अथर्ववेद-१०/६/१,

३६. अवीरामिव मामयं शरारूरभि मन्यते। उतांहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्त्सखाविश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।। ऋग्वेद१०/८६/९

३७. मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्। उताहमस्मि सञ्जया, पत्यौ मे श्लोक उत्तमः।। ऋग्वेद-१०/१५९/३

३८. ऋ०८.९३.११

३९. यजुर्वेद९/२३

ऋग्वेद का स्वराज्य सूक्त भी देशभक्ति के भावों को स्वराज्य की बार-बार अर्चना के रूप में प्रेरणा देता है, इस सूक्त के कुछ मन्त्र द्रष्टव्य हैं-

इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम्।
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निः शशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम्।।
प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नि यंसते।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्।।
निरिन्द्र भूम्या अधि वृत्रं जघन्थ निर्दिवः।
सृजा मरुत्वतीरव जीवधन्या इमा अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्।।[४०]

ऋग्वेद के इस स्वराज्य सूक्त के षोडश मन्त्रों में **अर्चन्ननु स्वराज्यम्** के रूप में देश स्वातन्त्र्य की कामना की गयी है।

उपसंहार

इस प्रकार वेद में देश स्वातन्त्र्य के भावों की प्रचुर मात्रा में यशोगाथा गायी गयी हैं। वेद प्रत्येक मनुष्य को मन-वचन कर्म से कर्त्तव्य पालना के साथ सभी को देश स्वातन्त्र्य के अधिकार के अन्तर्गत राष्ट्रिय भावनाओं से सदैव ओत-प्रोत रहना चाहिए। वेद प्रत्येक मानव को जननी जन्मभूमि के संरक्षण और संवर्द्धन का समान अधिकार प्रदान कर देश-हित, राष्ट्रिय-भावना की अभिव्यक्ति से अभिलषित करता है।

---

४०. ऋग्वेद - १/८०/१, ३-४

गुरुकुल-शोध-भारती मिनम्बर 2013 अंक 20 (पृ094-97) ISSN 0974 – 8830

सामाजिक न्याय की प्राच्य अवधारणा और स्वामी दयानन्द

डॉ० सदानन्द झा[1]

न्याय प्राचीन काल से आधुनिक कालपर्यन्त एक उच्चप्रतिष्ठित आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित है, यद्यपि इसके आयाम, स्वरूप, सन्दर्भ एवं संदर्श परिवर्तनशील रहे हैं। न्याय सामञ्जस्य पर बल देता है। न्याय का अर्थ है- व्यक्तियों के परस्पर हितों, समूहों के परस्पर हितों के बीच और एक ओर व्यक्तियों तथा समूहों के हितों तथा दूसरी ओर समुदाय के हितों के बीच सामञ्जस्य स्थापित हो।[2] वस्तुतः न्याय एक सिद्धान्त है जो अधिकारों के साधारण वितरण को नियन्त्रित करता है। यह मानव सम्बन्धों की धर्मसम्मत व्यवस्था है।[3] भारत सहित विश्व के अधिकांश संविधान न्याय आधारित व्यवस्था प्राप्ति हेतु प्रयासरत है। न्याय एक बहुव्यापी एवं बहुआयामी संकल्पना है, जिसमें आयाम सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक[4] आदि अनेक कलेवरों में व्याप्त है।

वर्तमान युग में युगधर्म का स्वरूप ग्रहण कर चुकी न्याय की अवधारणा में सामाजिक न्याय एक अनन्यतम आदर्श है। वस्तुतः सामाजिक न्याय किसी भी प्रकार के सामाजिक विभेद का प्रतिषेध है। इसका मन्तव्य है कि समस्त नागरिकों को समान समझा जाय एवं जन्म, मूलवंश, जाति, धर्म, लिंग उपाधि के कारण न्याय के मामलों में किसी प्रकार का लिहाज नहीं किया जाये।[5]

आज एक उच्च आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित सामाजिक न्याय की अवधारणा प्राचीन काल के वैदिक आदर्श से अनुसमर्थित रही है सभ्यता विकास के काल-चक्र में अनेकों मनीषियों में इस अवधारणा का प्रबल समर्थन किया १९वीं सदी के उत्तरार्ध में स्वामी दयानन्द सरस्वती के रूप में आलोच्य विचार को प्रबल आधार प्राप्त हुआ जिसने सामाजिक अन्याय का लंबा इतिहास रखने वाले भारतवर्ष के भावी युग की दशा-दिशा को निर्धारित किया।

'सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः'[6]

इसके माध्यम से 'सत्य' का जयघोष करने वाली वैदिक संस्कृति का सामाजिक अन्याय की व्यवस्था श्रेणीबद्ध होना ऐतिहासिक दुर्भाग्यों की लंबी कथा है। जिन क्षेपकों, विचारों के माध्यम से सामाजिक अन्याय का पक्ष-पोषण किया जाता है, उसके अनन्त गुना की संख्या में सामाजिक न्याय का

---

१ अध्यक्ष व्याकरण विभाग, जे०एन०बी० आदर्श संस्कृत महाविद्यालय, लगमा, दरभंगा, बिहार-८४७४०७.

२ हमारा संविधान: सुभाष काश्यप, नेशनल बुक ट्रस्ट पृष्ठ संख्या-५८.

३ भारत का संविधान: ब्रज किशोर शर्मा पृष्ठ संख्या-५४.

४ भारतीय संविधान: प्रस्तावना

५ भारतीय संविधान: अनुच्छेद-१४, १५, १६.

६ मुण्डकोपनिषद, ३.१.६.

समर्थन करने वाले वैदिक एवं प्राच्य साहित्य के प्रमाण उपलब्ध हैं। स्वामी दयानन्द के रूप में इतिहास ने इन प्रमाणों को युग के समक्ष रखने का प्रयास किया।

वैदिक समाज का स्वरूप आदिम साम्यवाद[७] के बराबर था राज्य सामाजिक अन्याय से इतर कल्याणकारी स्वरूप का था।

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः संदासि।[८]

इस विचार का पक्षपोषण करता है कि राज्य का स्वरूप सर्वसमावेशी होगा। लोकतन्त्रात्मक प्रतिनिध्यात्मक स्वरूप सामाजिक न्याय का अनिवार्य अंग है। सभा समिति के माध्यम से सामाजिक न्याय समर्थक गणतन्त्रात्मक व्यवस्था की झलक इस प्रकार मिलती है

तं सभा च समितिश्च सेना च॥ १॥[९]
सभ्यः सभां में पाहि ये च सभ्याः सभासदः॥ २॥[१०]

प्राच्य विमर्श में धर्म न्याय का पर्याय था। धर्म से च्युति ने ही सामाजिक अन्याय की ऐतिहासिक पटकथा लिखी। **धर्मो धारयते प्रजा**[११] का शासन में स्वांगीकरण करने की प्रतिबद्ध आकांक्षा दृष्टिगोचर होती है।

त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत्।२।[१२]

सामाजिक अन्याय की व्यवस्था मूलतः लिंग, जातिवर्ग आधारित विभेद को न्यायोचित ठहराती है। स्वामी दयानन्द ने अन्याय के समस्त प्रारूपों को तर्क, श्रुति, स्मृति समस्त प्रमाणों से निर्मूल असत्य सिद्ध किया। शिक्षा को सर्वजन का अधिकार बताते हुए स्त्रियों, शूद्रों पर किसी प्रकार की निर्योग्यता लादने का स्वामी दयानन्द ने विरोध किया।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥[१३]

उपर्युक्त प्रमाण से स्वामी जी ने विद्या-ज्ञान-वेद को समस्त वर्गो, जातियों का धरोहर सिद्ध किया। दमित, वंचित एवं अभावग्रस्त वर्ग के प्रति संवेदना सामाजिक न्याय का प्राणतत्त्व है। उसके प्रति शोषण का विरोध, शिक्षा का समर्थन एवं अस्पृश्य व्यवहार का प्रतिषेध स्वामी दयानन्द के क्रान्तिकारी विचारों का द्योतक है। वेद को सम्पूर्ण ज्ञानविज्ञान का भण्डार मानते हुए स्वामी जी स्त्री, पुरुष, द्विज,

---

७ राम विलास शर्मा- ऋग्वैदिक समाज (निबन्ध)
८ ऋग्वेद -३.३८.६.
९ अथर्ववेद -१५.२.९.२.
१० अथर्ववेद -१९.७.५५.६.
११ भगवद्गीता।
१२ मनुस्मृति।
१३ यजुर्वेद-२६.२.

शूद्रादि को वेदाध्ययन का अधिकारी माना।[१४] शूद्रों को वेदाध्ययन,[१५] यज्ञोपवीत, यज्ञ का अधिकार देकर स्वामी दयानन्द ने सहस्र वर्षों की अन्याय धारा पर अतुलनीय प्रहार किया। स्वामी जी ने मनुस्मृति के इस उद्धरण द्वारा आलोच्य विमर्श को सिद्ध किया।

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च।।[१६]

सामाजिक अन्याय की धारा सदैव जन्म के आधार पर विभेद का समर्थन करती है। न्याय के पक्षधर महर्षि दयानन्द ने सूत्र, श्रुति, स्मृति के प्रबल प्रमाणों के आधार पर उपर्युक्त मत का खण्डन किया[१७]

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्ण मापद्यते जाति परिवृत्तौ।[१८]

स्वामीदयानन्द १९वीं सदी के सामाजिक-धार्मिक सुधार आन्दोलन के अग्रणी ध्वज वाहक थे। उनके समकालीन मनीषियो ने भी सामाजिक न्याय सन्दर्भित उनके विचारों का समर्थन किया। उनसे पूर्व ही राजाराममोहन राय एवं ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने स्त्री-दलित विमर्श पर अन्याय, विभेद, शोषण का विरोध कर तार्किक मानवतावाद के आधार पर उद्धार का प्रयास किया।[१९] स्वामी विवकानन्द एवं केशवचन्द सेन ने उन्हीं क्रान्तिकारी स्वर में सामाजिक न्याय की हुंकार भरी जो स्वामी दयानन्द एवं आर्य समाज आन्दोलन के मूलस्वर में थे।

स्त्रीवर्ग के प्रति किये गये ऐतिहासिक अन्याय सामाजिक न्याय के पक्षधरों के सामने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न थे। बालविवाह, बालिका शिक्षा का विरोध जैसे दुष्प्रवृत्तियों पर महर्षि दयानन्द ने वेदोक्त प्रमाणों के आधार पर प्रबल विरोध किया।

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते् पतिम्।[२०]

मनुस्मृति ने भी ब्रह्मचर्य एवं शिक्षा प्रदान कर कन्या एवं कुमारों के प्रति राजा का कर्त्तव्य बताया।

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्।[२१]

इस प्रकार स्पष्ट है कि वेद बालविवाह के विरोधी एवं बालिका शिक्षा का समर्थक है।

स्वामी दयानन्द द्वारा व्याख्यायित सामाजिक न्याय का आदर्श अनंनतर भारतीय स्वातन्त्र्य समर

---

१४ सत्यार्थ प्रकाशपृष्ठ सं०-४९ (आर्यसाहित्य प्रचार ट्रस्ट)
१५ सत्यार्थ प्रकाशपृष्ठ सं०-५० (आर्यसाहित्य प्रचार ट्रस्ट)
१६ मनुस्मृति।
१७ सत्यार्थ प्रकाशपृष्ठ सं०-५९ (आर्यसाहित्य प्रचार ट्रस्ट)
१८ आपस्तंब सूत्र
१९ भारत का स्वाधीनता संघर्ष- विपिन चन्द्र
२० अथर्ववेद -३.२४.११.१८.
२१ मनुस्मृति।

व स्वतन्त्र भारत में महत्त्वपूर्ण उद्देश्य बना। महात्मा गांधी, भीमराव अम्बेडकर, जवाहरलाल नेहरू आदि युगनायकों ने अपने विचारों का आत्मतत्त्व महर्षि के क्रान्तिबोध से ही ग्रहण किया।

भारतीय संविधान के अनु० १४] १५] १६] १७ के रूप में सामाजिक न्याय के पक्षधर उपबन्ध स्वामी जी के विचारों का युगीन हस्ताक्षर है। हालिया लागू सार्वभौम शिक्षा का अधिकार कानून स्वामी दयानन्द के शिक्षा संबोधित विचारों के दूरदर्शिता सिद्ध करते हैं।

वस्तुत: सामाजिक न्याय के जिस धारा को प्राच्य विमर्श ने महत्त्व दिया स्वामी दयानन्द ने प्रबल समर्थन दिया एवं भारतीय संविधान ने लागू किया। वह वास्तविक अर्थों में समतामूलक समाज के निर्माण की नींव थी। अस्तु इस प्रासाद के वास्तुकार महर्षि दयानन्द इतिहास सिद्ध एक प्रेरणास्रोत बने रहेंगे।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ098-105) ISSN 0974 – 8830

धार्मिक सम्प्रदायों के परिप्रेक्ष्य में अधर्माचरणनिषेध का विधान

डॉ. अमित कुमार चौहान[१]

जीव कर्म करने में स्वतन्त्र और उनका फल भोगने में परतन्त्र होता है। कर्म करने की अपनी इस स्वतन्त्रता के कारण वह अच्छे बुरे सभी प्रकार के कर्म करता है।[२] इन अच्छे धर्मयुक्त कर्म को धर्म अथवा पुण्य कहा जाता है। जबकि बुरे कर्म पाप कहलाते हैं जो कि अधर्म कोटि में रखे जाते हैं।[३] ये बुरे कर्म ईश्वर की कर्मफल व्यवस्था में क्षमा नहीं किए जाते।[४] इन पाप रूपी कर्मों अर्थात् अधर्म को छोड़ और शुद्ध कर्म रूपी धर्म का आचरण किए बिना मृत्यु रूपी महान् दुःख जो बार-बार सहना पड़ता है। उससे पार कोई नहीं होता।[५] भौतिक संसार के व्यवहार में भी ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि जो दुष्टाचारी, अजितेन्द्रिय पुरुष है उसके वेद (ज्ञान), त्याग, यज्ञ, नियम और तप तथा अन्य अच्छे काम कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते[६] और न ही वह इस संसार में सुखी रह पाता है। इसका कारण धर्म सुख देने वाला और अधर्म दुःख देने वाला होता है।[७] हालांकि अधर्म करने वाला मनुष्य प्रथम तो बढ़ता जाता है, परन्तु किया अधर्म तुरन्त फलदायी नहीं होने के कारण, अधर्मी उससे नहीं डरता। लेकिन वह धीरे-धीरे उसके सुखों को छीनता जाता है। जैसे जड़ कटा हुआ वृक्ष किसी भी दिन अचानक नष्ट हो जाता है।[८]

अधर्म मनुष्य की इतनी महान् हानि करता है। इसी को दृष्टिगत रखते हुए धर्म के आचरण की प्रेरणा करने के साथ-साथ अधर्म को छोड़ने का उपदेश किया जाता है। जिससे अधर्म का ठीक-ठीक ज्ञान करके उसे छोड़ना दुष्कर न हो। अतः धर्म के समान अधर्म के भी लक्षण होने चाहिए।

सामान्य रूप से धर्म के लक्षणों के विलोम लक्षणों को अधर्म कहा जा सकता है।[९] उपदेश मञ्जरी के तीसरे प्रवचन में महर्षि दयानन्द ने धर्म-अधर्म के लक्षणों को पृथक् करते हुए कहा है कि **परमेश्वर की आज्ञा यह धर्म, अवज्ञा यह अधर्म, विधि यह धर्म, निषेध यह अधर्म, न्याय यह धर्म, अन्याय यह अधर्म,**

---

१. प्रवक्ता - संस्कृत विभाग, गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)
२ सत्यार्थ प्रकाश- सप्तम समुल्लास- स्वामी दयाननद, पृष्ठ १७२
३ तुलनात्मक धर्मदर्शन- याकूब मसीह, पृष्ठ २२५ व धर्मदर्शन की रूपरेखा- डॉ० हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, भाग-२, पृष्ठ ३५, आर्योद्देश्यरत्नमाला-पाप की परिभाषा, स्वामी दयानन्द
४ सत्यार्थ प्रकाश- सप्तम समुल्लास, स्वामी दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ १७१
५ तदेव, नवम समुल्लास, पृष्ठ २११ व २१५ का भाव
६ सत्यार्थ प्रकाश- तृतीय समुल्लास- स्वामी दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ ४७, मनु-२/९७ की व्याख्या
७ धर्ममीमांसा- वनेश्वर पाठक, पृष्ठ ४७
८ मनुस्मृति- ४/१७४ व ४/१७२ का भाव
९ स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः स्वामी दयानन्द -सत्यार्थ प्रकाश -, पृष्ठ ५४४ एवं गृहाश्रमविधि -संस्कारविधि- स्वामी दयानन्द सरस्वती, पृष्ठ २९२

सत्य यह धर्म, असत्य यह अधर्म, निष्पक्षपात यह धर्म, पक्षपात यह अधर्म अर्थात् पक्षपात सहित, ईश्वराज्ञा भंग, अन्यायाचरण, सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहण रूप कर्म है, उसी को अधर्म कहते हैं।[१०] अधर्म के ये लक्षण ऋषि-महर्षियों ने धर्म के समान ही वेद को आधार बनाकर किए हैं। अन्य मत मतान्तर भी अधर्म की पहचान के लिए इन वेद प्रतिपादित वक्तव्यों पर आश्रित हैं।[११]

मनुष्य सन्मार्ग से भटककर पाप की ओर क्यों प्रवृत्त हो जाता है? उन अधर्म रूपी कारणों को बताते हुए वेद में कहा गया है कि-

न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः।
अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता ।। ऋग्वेद ७/८६/६

अर्थात् बुरे कामों में स्थिर रखने वाले कुसंस्कार, शराब, क्रोध, जुआ (कम श्रम से अधिक प्राप्ति की इच्छा), अज्ञान, असत्य व्यवहार कराने वाली प्रमाद रूप निद्रा=आलस्य (बिना कर्म किए महत्वाकांक्षा रूपी स्वप्न देखना) और पद- धन+आयु आदि में मुझमें तो अपना बल है नहीं कि मैं इनको दूर कर सकूं आप ही मेरी सहायता कीजिए।[१२] एक अन्य मन्त्र में कहा गया है-

न्यक्रतून्ग्रथिनो मृध्रवाचः पणींरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्।
प्रप्र तान्दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून्।। ऋ०७.६.३[१३]

अर्थात् **अपरान्-पराविद्या** से विमुख, **अश्रद्धान्-** असत्य पर आश्रित, **ग्रथिनः-** अज्ञानी व हठी, **मृध्रवाचः-** प्रतिज्ञा के विरुद्ध कार्य करने वाले, **अक्रतून्-** शुभकार्य न करने वाले, **अयज्ञान्-**परोपकार से दूर, **पणीन्-** लालची व दूसरे का धन हड़पने वाले, **दस्यून्-** अविद्या की ओर जाने वाले, **अवृधान्-** दूसरों की उन्नति में बाधा डालने वाले, **अयज्यून्-** सदैव स्वार्थवश ही कार्य करने वाले अधर्मी मनुष्यों को राजा कोई अधिकार न दें।[१४] महर्षि मनु ने अधर्म के लक्षणों को वेद के आधार पर प्रकट करते हुए लिखा है कि-

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम्।[१५]

मन, वचन और शरीर से किए जाने वाले कर्म शुभ-अशुभ फल को देने वाले होते हैं।[१६] जो इस प्रकार हैं-

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्।।[१७]

---

१० सत्यार्थ प्रकाश- तृतीय समुल्लास व आर्योद्देश्य रत्नमाला- स्वामी दयानन्द, पृष्ठ ५१
११ धर्ममीमांसा- वनेश्वर पाठक, पृष्ठ ५०
१२ वरुण की नौका- आचार्य प्रियव्रत, पृष्ठ १७३
१३ वरुण की नौका- आचार्य प्रियव्रत, पृष्ठ १७३
१४ प्रकाशकीय- आर्य समाज क्या हैं- देवराज आर्य, पृष्ठ २
१५ मनुस्मृति -१२/३
१६ मनुस्मृति- डॉ० सुरेन्द्र कुमार, पृष्ठ ९५३
१७ मनुस्मृति १२/५

मानसिक कर्मों में तीन मुख्य अधर्म हैं-परद्रव्यहरण (चोरी=स्तेय), लोगों को बुरा चिन्तन करना, द्वेष, ईर्ष्या और वितथाभिनिवेश (मिथ्या निश्चय) करना।

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मय स्याच्चतुर्विधम्।।[१८]

वाचिक अधर्म चार हैं पारुष्य (कठोर भाषण)। सब समय सब ठौर मृदुभाषण करना, यह मनुष्यों को उचित है। किसी अन्धे मनुष्य को 'ओ अन्धे' ऐसा कहकर पुकारना निःसन्देह सत्य है, परन्तु कठोर भाषण होने के कारण अधर्म है। अनृतभाषण अर्थात् झूठ बोलना, पैशुन्य अर्थात् चुगली करना, असम्बद्ध प्रलाप अर्थात् जानबूझकर लांछन लगाना।

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्।।[१९]

शारीरिक अधर्म तीन हैं-चोरी, हिंसा अर्थात् सब प्रकार के क्रूर कर्म, व्यभिचार, शास्त्रविरुद्ध रूप में करना।[२०]

बौद्धमत में वैदिक मतानुसार ही मन, वचन और कर्म के आधार पर मानसिक, वाणी और शारीरिक को तीन प्रकार के अधर्माचरण कहे गए हैं, वे वेद और मनुस्मृति का अनुवाद प्रतीत होते हैं। मज्झिम निकाय में कहा गया है कि मानसिक अधर्म में **अभिध्या** (पराई सम्पत्ति का लोभ), **व्यापन्न चित्त** (प्राणियों का बुरा सोचना उनसे बैर रखना= हिंसा), **मिथ्यादृष्टि** (दान, यज्ञ, पुण्य, लोक-परलोक में अविश्वास) है। वाणी द्वारा अधर्म में **मिथ्याभाषण**; असत्य) मुख्य है। इसके अन्य भेदों में **पिशुनता** (चुगली), **कटुभाषण** (तीव्र, कठोर, कड़वी, पीड़क, क्रोधयुक्त भाषा का प्रयोग) और **प्रलाप** (असमय अयथार्थ, निरुद्देश्य, निरर्थक तथा अनीतियुक्त भाषा का प्रयोग) **असत्य** के भिन्न रूप मात्र हैं। शारीरिक चेष्टा के अधर्म में **प्राणातिपात** (प्राणहरण, निर्दयता) **अदिन्नदान** (दूसरे का धन हड़पना=स्तेय) काम मे मिथ्याचार (व्यभिचार) की गणना की गई है।[२१] दीर्घ निकाय में बुद्ध ने स्पष्ट रूप से दस दुष्कर्म- हिंसा, चोरी, व्यभिचार, झूठ, चुगली, कठोर वाणी, बकवास, लोभ, द्रोह, विपरीत बुद्धि गिनाए हैं।[२२] इसी प्रकार **ईसाई मत** में सात अमर अच्छाइयां या पुण्य मिलाए गए हैं- श्रद्धा, आशा, दया, न्याय, बुद्धि (समझदारी), दम, धैर्य। इसी प्रकार घातक पाप भी गिनाए गए हैं, जैसे-अहंकार, लालच, काम, क्रोध, ईर्ष्या, परिग्रह और भय।[२३] बाइबिल में लिखा है कि सब प्रकार की कड़वाहट और प्रकोप और क्रोध, कलह और निन्दा, सब

---

१८ मनुस्मृति १२/६
१९ मनुस्मृति १२/७
२० उपदेश मंजरी- तीसरा प्रवचन, स्वामी दयानन्द, पृष्ठ २०-२१
२१ मज्झिम निकाय, सालेय सुतन्त -१/५/१
२२ दीर्घनिकाय -३/१०
२३ सब धर्मों की बुनियादी एकता- डॉ० भगवानदास, पृष्ठ २००

बैर भाव समेत तुझसे दूर किए जाए और एक दूसरे पर कृपालु व करुणामय हो[२४] जरथुस्त्र ने कहा है कि किसी से बदला लेने की इच्छा न रखो तथा न कोई ऐसा कार्य करो जिससे किसी की हानि हो।[२५] भगवान् की इच्छा है- पवित्रता का विधान। जो इस संसार में भगवान् के निमित्त कार्य करता है तथा प्रभुप्रदत्त सामर्थ्य का, प्रभु की इच्छा के अनुसार, दरिद्रों को सुखी बनाने के लिए उपयोगी करता है, उसे सद्विचार रूपी लक्ष्मी प्रदान की जाएगी।[२६] जो लोग हुमत (सुमत =सुविचार), हूख्त (सूक्त=सुवचन) तथा हुवर्श्त (सत्कर्म) से स्वर्ग प्राप्ति और अपेक्षा से नरक की प्राप्ति होती है।[२७]

जैन मतानुसार अहिंसा परम धर्म है। इसलिए इस मत में कहा गया है कि जिनके हृदय दयाहीन हैं, उनमें धर्म का नाम ही नहीं है।[२८] परन्तु फिर भी क्रोध, अभिमान, माया और लोभ, पाप बढ़ाने वाले हैं।[२९] क्रोध प्रेम को नष्ट करता है, अभिमान विनय का नाशक है, माया; कपट) मित्रों को नष्ट कर देती है, लोभ सर्वस्व का नाशक है।[३०] **गुरुग्रन्थसाहिब** में भी इन्हीं शब्दों में लिखा है कि काम, क्रोध, लोभ, झूठ तथा निन्दा से हमें छुड़ाइए।[३१] जिसने क्षमा धारण कर ली तथा शील व सन्तोष को अपना लिया उसे न रोग सताता है, न यमराज डराता है।[३२] धर्म दया का पुत्र है, जिसने सन्तोष से समस्त संसार को नियमित कर रखा है।[३३] **कुरान** में लिखा है कि आओ मैं तुम्हें बताऊँ कि अल्लाह ने तुम्हें किन-किन चीजों से मना किया है, जिना या व्यभिचार के पास मत जाओ चाहे स्पष्ट रूप से व्यक्त हो या मानसिक हो और न्याय की आवश्यकता के बिना किसी की जान मत लो, यह सब अल्लाह की आज्ञा है, जिन्हें तुम समझो। और किसी अनाथ यतीम के धन को हाथ मत लगाओ......जो चीज नापो और तोलो ठीक तोलो। ईश्वर ने किसी को कोई ऐसा कार्य नहीं सौंपा, जिसे वह पूरा न कर सके और जब बोलो सच बोलो, चाहे वह बात तुम्हारे किसी रिश्तेदार ही के विरुद्ध क्यों न हो और अल्लाह की आज्ञा मानो यही उसकी आज्ञा है, इसका ध्यान रखो।[३४] बुराई का बदला जैसी बुराई है। फिर जो क्षमा कर दे और सुधार करे तो उसका बदला अल्लाह के जिम्मे है। नि:सन्देह वह अत्याचारियों को पसन्द नहीं करता और सब्र (धैर्य) करे और क्षमा कर दे तो निश्चय ही यह बड़े साहस का काम है।[३५] यही ईश्वर का बताया हुआ रास्ता है, यही सिराते मुस्तकीम अर्थात् सीधा मार्ग है, इसी पर चलो, यही ईश्वर की आज्ञा है, जिससे तुम अधर्म से बच

---

२४ नया नियम, इफिसियो- ४/३१-३२
२५ पहलवी टैक्टस- सर्वधर्मकोश- डॉ. रामसरूप रसिकेश, पृष्ठ १७३
२६ यशत- १, भूमिका
२७ सर्वधर्मकोश- डॉ. रामसरूप रसिकेश, पृष्ठ २२
२८ रावेषेण पदम फराण -१४/१८७
२९ दशवैकालिक- अ.- ८, गा- ३७
३० उत्तराध्ययन सूत्र -८/३८
३१ गुरुग्रन्थ साहिब, ६१७
३२ गुरुग्रन्थसाहिब -गउड़ी महला -१
३३ गुरुमतचरण, पृष्ठ ६७
३४ कुरान-६/१५२, १५३
३५ कुरान -४२/४०, ४३

सको।[३६]

अधर्म का नकारात्मक प्रभाव

चूँकि अधर्म मानव का स्वभाव ही नहीं है। यह उसका विजातीय गुण है। धर्म-अधर्म का उचित बोध इनके आचरण और अनाचरण का ज्ञान कराता है। इनकी लाभ और हानि, गुण और दोष का सम्यक् बोध इनके धारण और अधारण के लिए प्रेरणा, श्रद्धा व विश्वास उत्पन्न करते हैं। वैदिक ही साथ अन्य सभी मतों द्वारा मात्र अधर्म का ज्ञान कराकर ही सन्तोष नहीं किया है। अधर्म के समूल नाश के लिए उन्होंने इसके दुष्परिणाम और नकारात्मक प्रभावों का भी वर्णन किया है। ये कुप्रभाव धर्म के सुप्रभावों के विलोम हैं। यथा- धर्म मनुष्य को यह बोध कराता है कि वह सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। अधर्म इस ज्ञान प्राप्ति में बाधा उत्पन्न करता है। धर्म मनुष्य का भौतिक अभ्युदय कराने वाला है, अधर्म अवनति। धर्म मोक्ष प्राप्ति का साधन है, अधर्म परमानन्द से जन्म-जन्मान्तर के लिए दूर ले जाता है अर्थात् अधर्माचरण से मनुष्य को न तो सांसारिक अभ्युदय प्राप्त हो पाता है और न ही निःश्रेयस्।

वेद में उपदेश है-

इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः।।[३७]

ये जो लोक में सत्पुरुषों के साथ नहीं रहते और न लौकिक शुभ कर्म करते हैं और न अन्य विद्वानों के साथ रहते और न अन्य पारलौकिक कर्म करते, जो स्वयं भी विद्वान् नहीं और न शुभ कर्म कराने के ही योग्य हैं, वे अज्ञानी मनुष्य वाणी की शिक्षा पाकर भी असत्यादि युक्त वाणी से अधर्म करके दुःखी जीवन व्यतीत करते हैं।[३८]

पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्।।[३९]

अधर्मी होकर मानसिक, वाचिक सत्य से रहित इस गम्भीर नरक स्थान (दुःखी जीवन) को उत्पन्न करते हैं।[४०]

उलूकयातुं शुशुलूकायातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ।।[४१]

गरुड़ के समान अहंकार, गिद्ध के समान लोभ अर्थात् दूसरे की वस्तु पर पुष्टि की इच्छा, पक्षी के समान काम विचार, कुत्ते के समान आपस में लड़ना और दूसरों के सामने दुम हिलाना, उल्लू के समान

३६ कुरान -६/१५९
३७ ऋग्वेद १०/७१/९
३८ वेदामृत- श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, पृष्ठ १३७
३९ ऋग्वेद ४/५/५
४० वेदामृतम् सुखी परिवार- डॉ. कपिल देव द्विवेदी, पृ. १६९
४१ अथर्ववेद -८/४/२२

प्रकाश (ज्ञान) से दूर भागना, भेड़ियों के समान क्रूरता इन छः गर्व, लोभ, काम, मत्सर मोह और क्रोध राक्षसों को दृढ़तापूर्वक दूर करके पुरुषार्थी पुरुष अपने आप और सबको बचाओ।[४२]

अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम।।[४३]

हम पाप (अधर्म) को हटाते हुए पूर्ण वीर बनकर सौ वर्षों तक सुख भोगें[४४] अर्थात् अधर्म के रहते हुए हम सुख नहीं प्राप्त कर सकते, जिसे अपना जीवन दुःखमय बनाना हो, वह पाप की ओर झुके, जिसे जीवन में सुख शान्ति चाहिए, वह सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त हो।[४५]

न तं विदाथ यऽइमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृपऽउक्थशासश्चरन्ति।।[४६]

जो पुरुष ब्रह्मचर्य आदि व्रत, आचार, विद्या, योगाभ्यास, धर्म के अनुष्ठान, सत्संग और पुरुषार्थ से रहित हैं। वे अज्ञानरूप अन्धकार में दबे हुए हैं, वे ब्रह्म को नहीं जान सकते, जो ब्रह्म जीवों से पृथक् अन्तर्यामी सबका नियन्ता और सर्वत्र व्याप्त है, उसके जानने को जिसका आत्मा पवित्र है वे ही योग्य होते हैं।[४७]

वेद की ऐसी असंख्य साक्षियों को दृष्टिगत रखते हुए महर्षि मनु ने लिखा है कि-

एक प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्।।[४८]

अर्थात् अकेले ही जीव जन्म पाता, मरण को प्राप्त हो एक ही धर्म के सुख का भोग करता है और एक ही अधर्म के दुःख रूप फल को भोगता है। ऐसा ही महर्षि व्यास ने कहा है कि-

एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते।।[४९]

कुटुम्ब में एक पुरुष पाप करके पदार्थ लाता है और महाजन अर्थात् कटुम्ब उसको भोगता है, भोगने वाले दोष भागी नहीं होते, किन्तु अधर्म का कर्ता ही दुःख का भागी होता है। इस प्रकार दुष्टाचारी (अधर्मी) पुरुष संसार में सज्जनों के मध्य में निन्दा को प्राप्त निरन्तर दुःख भोगनेहारा और अनेक प्रकार के रोगों से अल्पायु होकर शीघ्र नष्ट हो जाता है।[५०]

---

[४२] वेदामृत- श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, पृ. ३९५
[४३] अथर्ववेद १२/२/२८
[४४] वेदामृत- श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, पृष्ठ ४०४
[४५] वेदामृतम् सुखी परिवार- डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, पृ. १७०
[४६] यजुर्वेद -१७/३१
[४७] यजुर्वेद भाष्य- महर्षि दयानन्द सरस्वती (१७/३१ का भावार्थ)
[४८] मनुस्मृति -४/२४०
[४९] महाभारत -उद्योगपर्व -३३/४१
[५०] मनुस्मृति -४/१५७

अधर्माचरण की ऐसी ही हानियों और दुष्परिणामों के प्रति सावधान करते हुए **पारसी मत** में कहा गया है कि दुष्टों को भारी कष्ट तथा श्रेष्ठों को वरदान प्राप्त होंगे।[५१] धर्मात्माओं की आत्माएं अमरता में आनन्द पाएंगी। झूठों को अत्यन्त कष्ट सहने पड़ेंगे। अहुरमज्द अपने प्रभुत्व से ऐसी ही व्यवस्था करता है।[५२] **इस्लाम और ईसाई मत** में उक्त सूक्तियों का जैसे अनुवाद ही कर दिया गया है। वहां लिखा है- अधर्मी का घर नष्ट हो जाता है, परन्तु सीधे लोगों के तम्बू में आबादी होती है।[५३] जो कोई अल्लाह और उसके रसूल की आज्ञा न मानेगा, उसके लिए जहन्नुम की आग है, जिसमें लोग अनन्त काल तक पड़े रहेंगे।[५४] जबकि बहिश्त में धार्मिक जन मृत्यु का मजा कभी न चखेंगे, बस पहली मृत्यु जो आ चुकी आ चुकी।[५५] **धम्मपद** में लिखा है कि जो मनुष्य अपने दु:शील (अधर्म) से इस प्रकार घिरा है जिस प्रकार साल-वृक्ष मालुआ बेल से, वह अपने को ऐसा निर्बल बना लेता है जैसा उसे उसके शत्रु चाहते हैं।[५६] अत: ऐसे काम, क्रोध वाले हृदय में ब्रह्म का निवास कहाँ हो सकता है? ब्रह्म तो केवल उसी हृदय में रहता है जो इससे दूर है।[५७] क्रोध, लोभ, माया और अभिमान को उन लोगों को त्याग देना चाहिए, जो अपना भला चाहते हों।[५८]

विभिन्न मत-मतान्तरों में अधर्म के लक्षणों और उसके दुष्परिणामों को अनुसूचित करके देखा जाए तो ये मनुष्य के आध्यात्मिक व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारकों के रूप में चक्षुगोचर होते हैं। हिंसा, असत्य, अन्याय, द्वेष, क्रोध, असंयम, स्तेय, व्यभिचार, परिग्रह, अविद्या, अज्ञान इत्यादि का सूक्ष्माचरण भी मनुष्य में अज्ञान, स्वार्थ, विक्रोश, आलस्य व अभाव के रूप में प्रकट होता है, इनकी वृद्धि समाज में अत्यधिक स्थूल रूप में व्यापक होकर नास्तिकता, भौतिकता, वर्ग-जाति, पक्षपात, साम्राज्यवाद, सम्प्रदायवाद और अर्थलोलुपता के रूप में सामने आती है। यही वे अवगुण हैं, जो पृथ्वी पर समस्त जड़-चेतन के लिए घातक हैं। महर्षि व्यास ने गीता में कहा है **'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'**[५९] अर्थात् ज्ञान के सदृश पवित्र वस्तु संसार में दूसरी नहीं है। इससे स्पष्ट है कि अज्ञान के समान अपवित्र वस्तु भी दूसरी नहीं है। अज्ञान ही संसार का सबसे बड़ा शत्रु इसलिए है कि यह संसार के हितैषियों के हाथ से भी संसार का अहित करवा डालता है। जो लोग स्वभाव से दुष्ट हैं, जिन्हें परपीड़ा में आनन्द आता है, अथवा जो स्वार्थवश दूसरों के हित का नाश करते हैं, उनके हाथों संसार का अनिष्ट होना तो स्वाभाविक ही

---

५१ यस्न -३०/११
५२ यस्न -४५/७
५३ फरानानियम -नीतिवचन -१४/११
५४ कुरान -७२/२३
५५ कुरान -४४/५६
५६ धम्मपद -१६२
५७ गुरुग्रन्थ साहिब, पृष्ठ ६३३,
५८ दशवैकालिक सूत्र अध्याय -८, गाथा -३७
५९ गीता-४.३८

है।[६०] किन्तु अज्ञान से अधर्म को धर्म समझ उसके अनुरूप कार्य करते हैं। कुछ लोग धर्म को अधर्म समझ कर उसका आचरण नहीं करते। अत: हित चाहने वाले भी अपनी समझ में हित करते हैं, ऐसा समझते हुए भी अहित कर बैठते हैं अथवा समस्या उपस्थित होने पर किंकर्तव्यविमूढ़ होकर विवश हो बैठे रहते हैं। जिन मनुष्यों ने सत्य का प्रकाश करने वाले विज्ञानवेत्ताओं को धमकाया, सताया और जीते जी जला तक दिया, वे अपनी समझ में संसार का और स्वयं विज्ञानवेत्ताओं का दोनों का हित समझ रहे थे।[६१] अज्ञान के प्रभाव में असत्य, हिंसा, अधैर्य, असंयम, स्तेय जैसे अधर्म, अनायास ही मनुष्य व्यवहार में आ जाते हैं। ऐसे में विद्या-बुद्धि का प्रयोग तो दिवास्वप्न ही है। फिर ब्रह्माण्ड की भलाई में अपनी भलाई का उसे पता लगाना सर्वथा असम्भव ही है। इस प्रकार अधर्म संसार में अशांति व अराजकता फैलाता है। इससे नि:श्रेयस की कल्पना तो दूर साधारण सी भौतिक उन्नति भी सम्भव नहीं है।

---

६० कायाकल्प- बुद्धदेव विद्यालंकार, पृष्ठ ६
६१ कायाकल्प- बुद्धदेव विद्यालंकार, पृष्ठ ६

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ0106-109) ISSN 0974 – 8830

काव्यशास्त्रीय रसतत्त्व की आधुनिक उपादेयता

डॉ०वन्दना शुक्ला[१]

भारतीय काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त सबसे प्राचीन और सबसे प्रधान काव्य-सिद्धान्त है। यह सर्वविदित है कि पदार्थों के सारतत्त्व के रूप में प्राचीन काल से ही रस का प्रयोग होता रहा है। चाहे वह वेद व उपनिषद् ही क्यों न हों। वेदों में इसका प्रयोग मधु, दुग्ध, सोम, जल इत्यादि के रूप में हुआ है। ऋग्वेद में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं, जिसमें रस शब्द का प्रयोग भौतिक रस के अतिरिक्त वाग्रस अथवा काव्यरस के अर्थ में भी किया गया है। यही स्थिति यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद में भी प्राप्त होती है।

वैदिक साहित्य के सन्दर्भ में देखा जाये तो स्पष्ट है कि शृङ्गार, हास्य, करुण, वीर, भय, अद्भुत आदि शब्दों के अर्थों से मिलते हुए काव्यशास्त्रीय शृङ्गार, हास्य आदि शब्दों के अर्थ सन्निहित हैं। ऐसी स्थिति में यह कथन असत्य नहीं हैं कि वेदों से रस का स्रोत निकला और वहीं से रस विशेष की धारा प्रवाहित हुई, जो वर्तमान में सतत रूप से प्रवाहमान है।[२] स्वयं भरतमुनि ने नाट्यवेद के उद्भव के सम्बन्ध में लिखा है कि ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय व अथर्ववेद से रस लेकर प्रजापति ने पञ्चम वेद के रूप में नाट्यवेद का निर्माण किया इसी कारण से आचार्य भरत ने नाट्य रस का आधार वेदों को माना है–

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।। [३]

इसी प्रकार उपनिषदों में भी वेदों की अनेक भौतिक संकल्पनाओं को सूक्ष्म आध्यात्मिक रूप प्रदान किया गया है। उसी प्रकार रस का भी आध्यात्मिक रूपान्तर किया गया है। उपनिषदों में आनन्द का विशद वर्णन हुआ है। जो कि अनुभूतिपरक तत्त्व के रूप में है और इसी अनुभूतिपरक तत्त्व को उपनिषदों में ब्रह्मरस या सच्चिदानन्द कहा गया है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में रस को सारभूततत्त्व **प्राणो व अंगानां रसः**[४] कहा गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् में **रसो वै सः**[५] में आनन्द को ही ब्रह्म कहा गया है, और स्वयं ब्रह्म को रस रूप कहा गया है–**आनन्दो ब्रह्मेति विजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि**

---

१. 6 एप बैंक रोड टीचर्स कालोनी, इलाहाबाद 211002, फोन नं0 9335157268, 7376383984
२ ऋग्वेद, ८.२.२३
३ नाट्यशास्त्र, १.१७
४ बृहदारण्यकोपनिषद्, ४.३.२५
५ तैत्तिरीयोपनिषद्, २.७

जीवन्ति। **आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।**[६]

यही वेदोक्त एवं उपनिषदीय आनन्दरूपीय अनुभूतिपरक रस अर्वाचीन जगत् में काव्यशास्त्रीय दृष्टि से विस्तृत रूप में अनेक आचार्यों द्वारा विवेचित हुआ।

रस को काव्य की आत्मा के रूप में आचार्य विश्वनाथ ने प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया है- **वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।**[७] इसमें प्रयुक्त **रसात्मकम्** पद का अभिप्राय है- रस ही आत्मा है जिसकी अर्थात् **रस एवात्मा साररूपतया जीवनधायको यस्य** इस सूत्र का तात्पर्य है, ऐसा वाक्य जिसमें रस ही प्राणभूत (आत्मा) है। तथा इन्होंने रस को अलौकिक रूप में माना है, जो इस प्रकार है-

सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥[८]

राजशेखर के अनुसार नन्दिकेश्वर ही रस के प्रथम आचार्य थे, उन्होंने अपनी ग्रन्थ काव्यमीमांसा में रसाधिकारिक नन्दिकेश्वर ऐसा उल्लेख किया है, जो इस बात का प्रमाण है।[९] इसके साथ यह भी वर्णन मिलता है कि ब्रह्म ने अठारह मानस जात शिष्यों में नन्दिकेश्वर को रस विषयक उपदेश प्रदान किया था। किन्तु परिनिष्ठित रूप में रस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्यों में भरतमुनि का ही नाम सर्वोपरि है, और इन्हीं को रस सम्प्रदाय का प्रतिष्ठापक माना जाता है। आचार्य भरत ने रस की प्रधानता को मानते हुए यह स्वीकार किया है कि रस के आभाव में नाट्य या काव्य का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है क्योंकि चित्त की कुछ ऐसी वृत्तियां है जो स्थायी होती हैं, परन्तु वे चित्त में विलीन रहती हैं, वही उद्बोधकों की उपस्थिति में उद्बुद्ध होकर चर्वणा का विषय बन जाती हैं। ये वृत्तियाँ जब अभिनय के द्वारा हमारी अनुभूति के विषय होने लगते हैं, तो नाट्य रस कहे जाते हैं-

भावाभिनयसम्बद्धान् स्थायिभावाँस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः॥[१०]

इसी को और स्पष्ट करते हुए भरतमुनि ने रस को नाट्य का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व माना है- **न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।**[११] रस को सर्वोत्कृष्ट तत्त्व मानते हुए आचार्य भरतमुनि ने इसके स्वरूप को वर्णित करते हुए स्वीकार किया है कि जिस प्रकार से अनेक खाद्यपदार्थों को पुरुष ग्रहण करते हुए रस का आस्वादन कर आनन्द को प्राप्त करता है। ठीक उसी प्रकार से विभावों से व्यञ्जित तथा अनेक भावाभिनयों से जुड़े स्थायी का सहृदय प्रेक्षक आस्वादन कर आनन्द को प्राप्त करता है। जैसेः-

---

६ तैत्तिरीयोपनिषद्, ३.६.१
७ साहित्यदर्पण, परिच्छेद-३, पृष्ठ-२४
८ साहित्यदर्पण, ३.२-३
९ काव्यमीमांसा, पृष्ठ-४
१० नाट्यशास्त्र, ६.३३
११ नाट्यशास्त्र, अध्याय-६, पृष्ठ-२२८

रस इति कः पदार्थः? उच्यते-आस्वाद्यमानत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः? यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधि गच्छन्ति, तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जतान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति। सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तस्मान्नाट्यरसा इति व्याख्याताः॥[१२]

इनके द्वारा प्रयुक्त रससूत्र **विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः** की अनेक परवर्ती आचार्यों के द्वारा भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की गयीं, जिनमें से भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त प्रमुख हैं। इनमें से अभिनवगुप्त भरतमुनि के रससूत्र के चतुर्थ एवं सर्वश्रेष्ठ व्याख्याकार हैं तथा नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती नामक अपनी टीका में नाट्य-रस सम्बन्धी विस्तृत विवेचना कर इन्होंने भरतमुनि के आस्वाद्य पद को आस्वाद रूप में प्रतिष्ठित किया है। इन्होंने रस सूत्र में संयोग पद का अर्थ व्यङ्ग्यभाव सम्बन्ध और निष्पत्ति पद का अर्थ अभिव्यक्ति किया है-

स्थायिनां विभावादिभिः व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावरूपात् सम्बन्धात् (संयोगात्) रसस्य अभिव्यक्तिः (निष्पत्तिः)।[१३]

अभिनवगुप्त शैवाद्वैत के आनन्दवाद के अनुयायी थे। इनके रस विषयक मत का सारांश यह है कि जब सहृदय जन लोक में स्थित ललना आदि कारणों से रति आदि का अनुमान करने में क्षम होते हैं। लेकिन वही काव्यनाट्य में कारण आदि का परित्याग कर ललना आदि अलौकिक विभाव आदि का स्वरूप धारण कर काव्य शक्ति के द्वारा सामान्य विभाव आदि के रूप में प्रतीत होता है। सहृदयों में स्थित रति आदि भाव इन्हीं के द्वारा व्यञ्जना से अभिव्यक्त हुआ अस्वादित होता है। तथा इसी से विलक्षण आस्वाद ही रस होता है अर्थात् ब्रह्मानुभव के आनन्द का सा अनुभव कराता हुआ अलौकिक चमत्कार करने वाला शृङ्गारादि रस कहा जाता है-

ब्रह्मास्वादभिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।[१४]

अर्थात् इन्होंने रस तत्त्व को एक अलौकिक वस्तु माना है जो कि स्थायी भाव से विलक्षण है- **स्थायिविलक्षण एव रसः** तथा **चर्व्यमाणतैकसारः।**[१५] अर्थात् इनका विलक्षणता से युक्त अलौकिक रस तत्त्व है।

तेन विभावादिसंयोगाद् रसना यतो निष्पद्यतेऽतस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य।[१६]

अतः रस की अनुभूति लोकोत्तरज्ञान आदि से परे या विलक्षण अलौकिक अनुभूति है।[१७]

---

१२ नाट्यशास्त्र, ६.३२-३३ की वृत्ति, पृष्ठ-२८४ पर उद्धृत।

१३ काव्यप्रकाश, उल्लास-४, पृष्ठ-१३३

१४ काव्यप्रकाश, उल्लास-४ पृष्ठ-१३०

१५ काव्यप्रकाश, उल्लास-४, पृष्ठ-१३३

१६ अभिनवभारती, पृष्ठ-२८६

१७ लोके प्रयदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपारववतां काव्ये नाट्येब्रह्मास्वादभिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः। काव्यप्रकाश, उल्लास-४, पृष्ठ-१२९-१३०

इस प्रकार यह रस केवल प्राचीन युग की चर्चा का विषय ही न होकर आधुनिक युग के प्रसिद्ध विद्वानों के द्वारा भी यह विस्तृत रूप से विवेचित किया गया है। आधुनिक युग के विद्वानों में सर्वप्रथम आचार्य गोविन्द चन्द्र पाण्डेय का नाम सामने आता है। उन्होंने अपने ग्रन्थ सौन्दर्यदर्शनविमर्शः में यह प्रतिपादित किया है कि रस, नाट्य का समग्र प्रभाव से अनन्य है। प्रो०पाण्डेय जी के अनुसार भरत ने नानाव्यञ्जनों के मिश्रण से रस की उत्पत्ति का दृष्टान्त उपस्थित किया है। और यह भी दृष्टान्त नाट्य व्यापी आस्वाद को ही रस रूप निरूपित करता है। सभी संगत नाट्यांग रस निष्पत्ति के लिए ही प्रयुक्त होते हैं।[१८] प्रो०गोविन्द चन्द्र पाण्डेय जी ने अपने सौन्दर्यदर्शनविमर्शः ग्रन्थ में इन्हीं पक्षों की व्याख्या करते हुए रस के साथ सौन्दर्यानुभूति को जोड़कर आचार्य अभिनवगुप्त के पक्ष का समर्थन किया है-

शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः।
वेदेष्वपि स नानार्थो देवोपासनसम्मतः॥[१९]
रसयुक्तिः समाख्याता सोमसामविधानयोः।
दिव्या प्रीतिः स आनन्दो भाव्यो व्यङ्ग्यश्च संविदः॥[२०]
ध्वनिवादं समालम्ब्य गुप्तपादैः प्रकाशितम्।
रसस्य परमं तत्त्वं संविद्विश्रान्तिलक्षणम्।[२१]
प्रतिबिम्बसमो लोको भावोल्लेखितया स्फुरेत्।
भवश्च विषयः साक्षाद् अनावरणसंविदः॥[२२]
एक एव रसो नानाभावोपाधिविभेदितः।
आत्मप्रतीतिसंलग्ना भावाः संस्कारभेदिताः॥[२३]

इस प्रकार इन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा में रससिद्धान्त के विभिन्न पक्षों को आधुनिकता से जोड़कर उसकी वर्तमानयुगानुसारी विश्लेषण प्रस्तुत करने का सराहनीय कार्य किया है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि इन्होंने अभिनवगुप्त के पक्ष को ही दृढ़ किया है। इनके अतिरिक्त अन्य विद्वान् भी हैं जिन्होंने रस की आधुनिक धारणा के पलक पर विस्तृत विवेचना की है जिनमें ब्रह्मानन्द शर्मा अभिनवरसमीमांसा, रामावतार मिश्र- रसचन्द्रिका एवं रसालोचनम्, हरिश्चन्द्र दीक्षित- रसविमर्श, लेखनाथ झा- रसचन्द्रिका व चन्द्रमौलि द्विवेदी- रसवसुमूर्ति आदि प्रमुख हैं।

इस प्रकार रससिद्धान्त प्राचीन काल में ही चर्चा का विषय न होकर आधुनिक युग में भी विद्वानों के द्वारा पल्लिवित एवं पुष्पित हो रहा है।

---

१८ सौन्दर्यदर्शनविमर्शः, पृष्ठ-९९
१९ सौन्दर्यदर्शनविर्मर्शः, रसतत्त्वविमर्शः, १
२० सौन्दर्यदर्शनविर्मर्शः, रसतत्त्वविमर्शः, २
२१ सौन्दर्यदर्शनविर्मर्शः, रसतत्त्वविमर्शः, १३
२२ सौन्दर्यदर्शनविर्मर्शः, रसतत्त्वविमर्शः, १४
२३ सौन्दर्यदर्शनविर्मर्शः, रसतत्त्वविमर्शः, १५

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ0110-114) ISSN 0974 – 8830

भारतीय नाट्य के आधारभूत तत्त्व

डॉ. हरिराम मिश्र[1]

डॉ. दिव्या मिश्रा[2]

नाट्य ज्ञात मानवीय इतिहास में मनोरञ्जन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रिय साधन रहा है और आज भी है। प्रारम्भिक नाट्य में दर्शकों की रुचि के अनुकूल जिस विषयवस्तु का चयन किया गया उसमें धार्मिकता का प्राधान्य था। तत्कालीन नाट्य के लिए धर्म ने न केवल प्रेरक की भूमिका निभाई अपितु धर्म एवं मनोरञ्जन ही नाट्य के प्रधान उद्देश्य भी माने गये। यह तथ्य भारत, ग्रीस आदि उन सभी देशों के सन्दर्भ में सत्य है, जहाँ नाट्य का लम्बा इतिहास प्राप्त होता है। अन्य कलाओं की अपेक्षा नाट्यकला की प्राचीनता और लोकप्रियता के पर्याप्त प्रमाण प्रकाश में आ चुके हैं। भारत में नाट्यकला के लक्षण प्रागैतिहासिक युग में ही प्रकट हो चुके थे। वेदों के युग में तो इस कला का व्यापक प्रयोग दृष्टिगत होता है। नाट्यशास्त्र के रचयिता भरतमुनि ने स्वतः नाट्य की उत्पत्ति वेदों से स्वीकार की है तथा नाट्यवेद को पञ्चमवेद की संज्ञा दी है। संभवतः नाट्यवेद का वेदत्व यही है कि यह विद्या भी अनादि एवं अनन्त है क्योंकि यह विद्या जीवन से जुड़ी हुयी है। जहाँ जीवन है वहीं नाट्य है कोई पहचाने या नहीं। नाट्यवेद के निर्माण के लिए पाठ्य अर्थात् संवाद ऋग्वेद से, गीत या संगीत सामवेद से, अभिनय यजुर्वेद से तथा रस अथर्ववेद से सङ्कलित किये गये हैं-

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतिमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।। [3]

ऋग्वेदादि में जहाँ पर नर्तकी का उल्लेख किया गया है वहाँ पर यह प्रतिपादित किया गया है कि उषा जगत् में व्याप्त अंधकार को भगाने का कार्य करते समय उसी प्रकार सभी के लिए दर्शनीय रूप धारण किये हुए हैं जैसे कोई नर्तकी नृत्य करते समय सुन्दर रूप धारण करती है-

अधिपेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम्।
ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्युषा आवर्तमः।। [4]

इस मन्त्र में नर्तकी से की गई उषा की उपमा से तत्कालीन समाज में नर्तकी के प्रति सम्मान का भाव ध्वनित होता है। ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में भी नृत्य क्रिया का उल्लेख प्राप्त होता है जहाँ नृत्य करते हुए अमरणधर्मा इन्द्र से श्वेतवर्ण के धन को देने की प्रार्थना की गयी है-

---

१. सहायक आचार्य, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय नई दिल्ली-११००६७
२. पोस्ट डॉक्टोरल पैलो (यूजीसी), विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-११००६७

३ नाट्यशास्त्र, १.१७
४ ऋग्वेद, १.९२.४

पपृच्छेण्यमिन्द्र त्वे ह्योजो नृम्णानि च नृतमाना आमर्त:।
स न एनीं वासवानो रयिं दा: प्रार्थ: स्तुषे तुविमघस्य दानम्।।[५]

यजुर्वेद में तो स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है कि शैलूष जाति के लोग व्यावसायिक दृष्टि से नाटकों का आयोजन करते थे। यजुर्वेद[६] में यज्ञ के अवसरों पर नृत्त अर्थात् ताल एवं लयबद्ध अभिनय के लिए सूत को, गीत के लिए शैलूष अर्थात् नट को, विनोद के लिए मसखरों को, शृङ्गाररचना के लिए कलाकारों को तथा धैर्ययुक्त कार्यों के लिए बढ़ई को नियुक्त करने का स्पष्ट विधान करता है।

अथर्ववेद[७] में राष्ट्रप्रेम की उत्कट भावना से ओतप्रोत पृथ्वीसूक्त की एक ऋचा में गायन एवं नृत्य का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार काठकसंहिता[८] में भी हमें नृत्य एवं संगीत के उद्धरण प्राप्त होते हैं। इस रूप में वैदिक समाज में नाट्यशाला का व्यापक प्रचार प्रसार विद्यमान था। ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं सूत्रग्रन्थों में यद्यपि यह कला विभिन्न संदर्भों के साथ विद्यमान दिखती है फिर भी इनमें कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जो इन कलाओं के प्रति प्रतिबन्धात्मक रवैया अपनाने की पुष्टि करते हैं। गोपथ ब्राह्मण[९] का **देवा ब्रह्माणमुपधावन् स नैवागायन्नानृत्यत सैषा ग्लैषा कारुविदा नाम तं वा एतम् आग्लाहतं सन्तं आग्लागृध:... य एष ब्राह्मणो गायनो वा नर्तनो वा भवति तम् आग्लागृध इत्याचक्षते। तस्माद ब्राह्मणो न गायेन्नानृत्येन्नाग्लागृध: स्यात्** यह वाक्य तथा पारस्करगृह्यसूत्र[१०] का **नृत्यगीतवादित्राणि न कुर्यान्न च गच्छेत्** वाक्य ब्राह्मणों के नृत्य गीतादि समारोहों में सम्मिलित होने पर प्रतिबन्ध लगाते हैं। इसी क्रम में आगे चलकर स्मृतिकार नटों एवं नर्तकों को निम्न श्रेणी का मान बैठते हैं। बौद्ध भिक्षुओं को भी अनिवार्यत: इन नृत्य, गीत, वादित्र एवं दृश्यदर्शन से विरत रहने की प्रतिज्ञा लेनी पड़ती थी- **नच्चगीतवादितविसूकदस्सना वेरमणीसिक्खापदं समादियामि,**[११] बौद्धभिक्षुओं के साथ इस तरह के समारोहों में सम्मिलित होने पर दण्डात्मक कार्यवाही झेलनी पड़ती थी। वाल्मीकि रामायण में जब सीता राम के लिए कहती हैं कि शैलूष लोगों की तरह श्रीराम मुझे दूसरों को सौंप देना चाहते हैं- **शैलूष इव मां राम: परेभ्यो दातुमिच्छति**[१२] वहाँ पर भी नट-नर्तकों के प्रति समाज में अनादर का भाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। फिर भी भारतीय समाज में ये कलाएँ निरन्तर पलती-पूलती रहीं तथा क्रमश: समृद्ध से समृद्धतर होती गयीं।

भारतीय नाट्य का आधार **सत्यं शिवं सुन्दरम्** का उद्घोष है। विश्व के नाट्य इतिहास के समान ही भारतभूमि पर भी नाट्यावतरण को वेदों से जोड़कर देखना उसकी आध्यात्मिकता को उजागर करता

---

५ ऋग्वेद,५.३३.६
६ यजुर्वेद, ३०.६
७ अथर्ववेद, १२.१.४१
८ काठक संहिता, १७.१३
९ गोपथ ब्राह्मण, १.२.२१
१० पारस्कर गृह्यसूत्र, २.७.३
११ दससिक्खापदं, खुद्दकनिकाय
१२ वाल्मीकि रामायण, २.३०.८

है। वेदों में नाटकीय तत्त्वों के ग्रहण तथा उसके कलात्मक संश्लेष का तात्पर्य ही यह है कि जो पवित्रता माङ्गलिकता एवं प्रतिष्ठा वैदिक ज्ञान की है वही पवित्रता, धार्मिकता, माङ्गलिकता एवं प्रतिष्ठा नाट्यवेद की भी है। वेदों की माङ्गलिकता के साथ-साथ इसमें सबको शामिल करने का भी संकल्प लिया गया है-

तस्मात् सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्।[१३]

यह नाट्यधर्म में प्रवृत्त मनुष्यों के लिए धर्म का, काम में संलग्न लोगों के लिए काम का सम्पादक है तथा जो दुर्विनीत हैं उनको वश में करने का तथा विनीत लोगों के लिए इन्द्रिजय का उत्तम साधन है। इस नाट्य के आभास से अज्ञानियों में ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तथा विद्वानों में और वैदुष्य आ जाता है। वस्तुतः विद्वानों की भी इसमें परीक्षा हो जाती है। यह नाट्य हितोपदेशजनन एवं विनोदजनन तो है ही यह दुःख, श्रम एवं शोक से आविष्ट मनुष्य मात्र को विश्रान्ति देने वाला है। यह नाट्य धर्म तथा यश का सम्पादक होने के कारण हितकर होने के साथ-साथ बुद्धि को बढ़ाने वाला है तथा लोक को सदुपदेश देने वाला है।[१४] इस नाट्यवेद को सार्ववर्णिकं कहकर भरत ने यह प्रतिपादित किया है कि यही एकमात्र ऐसी कला है जिसमें समाज के किसी भी उच्च या निम्न वर्ग का व्यक्ति तादात्म्य भाव से अपने आपको जोड़ लेता है। भारतीय नाट्य परम्परा की एक खास विशेषता रही है कि उसमें यथार्थ की प्रस्तुति की उसी सीमा तक छूट है जहाँ तक वह सत्य होकर भी असुन्दर, अशुभ एवं कुत्सित न हों। यही उसकी मांगलिकता की रक्षा करता है। भारतीय नाटकों में संघर्षों, द्वन्द्वों एवं उलझनें को विषयवस्तु तो बनाया गया है क्योंकि जब असुन्दर को संघर्षों के बाद सुन्दर की प्राप्ति होती है तो वह और भी सुन्दर बन पड़ती है किन्तु इन संघर्षों को हावी नहीं होने दिया गया। इनके छटने पर जो पुरुषार्थपरक स्वर उभर कर सामने उपस्थित होता है वह आम दर्शकों को भी सत्कर्म की प्रेरणा दे जाता है। इसीलिए भारतीय नाट्य साहित्य में सुखान्त रूपकों की ही प्रचुरता दिखायी पड़ती है, एकाध उरुभङ्गम् आदि अपवादों को छोड़कर। संस्कृत नाटकों की विषयवस्तु, चाहे वह प्रथम नाटक में देवासुर-संग्राम की प्रस्तुति हो या भास कालिदास आदि के नाटकों की, विषयवस्तु का चयन इसी दृष्टि से किया गया है कि उनके माध्यम से समाज के जड़ीभूत अङ्गों में भी प्राण पूँका जा सके तथा उन्हें सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त किया जा सके। नाटक ही वह सबसे प्रबल माध्यम है जो कवि के कथ्य को अत्यधिक सहजता से आम आदमी में सञ्चारित कर देता है। रामायण एवं महाभारत की कथाएँ आख्यान परम्परा से भारतीय जनमानस में तो पैली ही किन्तु संस्कृत नाटकों तथा उनके देशी रूपान्तरणों का इस प्रक्रिया में सर्वाधिक योगदान रहा। नाट्यनिर्माण है भी कठिन। आख्यान को नाटकीयता के साथ सफलतापूर्वक प्रस्तुत करना किसी प्रतिभाशाली कवि की ही सामर्थ्य की बात है। इस प्रक्रिया में दर्शन, वास्तु शिल्प या अन्य सभी विद्याएँ एवं कलाएँ नाट्य के अन्तर्गत शामिल हो जाती हैं। भरत ने स्वतः स्वीकार किया है कि ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला या कार्यकलाप नहीं है जो नाट्य का अङ्ग न बन जाता हो-

---

१३ नाट्यशास्त्र, १.१२

१४ नाट्यशास्त्र, १.१०९-११५

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।।[१५]

नाट्य इन सबका समाहार है। वस्तु, नेता और रस की अन्विति का व्यापार अत्यन्त कठिन कार्य है विशाखदत्त ने इस बात को स्वीकार भी किया है।[१६] लोक में सुख एवं दुःख दोनों की सत्ता है। सुख एवं दुःख में समन्वित यह जो लोक का स्वभाव है जब वह आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक एवं आहार्य अभिनयों से युक्त होकर सम्मुख आता है तो उसे नाट्य कहा जाता है।[१७] नाट्य लोकवृत्त का अनुकरण है जैसा कि भरत एवं दशरूपककार धनञ्जय स्वीकार करते हैं-

लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्।[१८]
अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्।[१९]

अभिनय तो अनुकरण पर आश्रित होता है, पर जहाँ रचना शामिल हो जाती है वहाँ मात्र लोकवृत्त का अनुकरण नहीं रह जाता, वहाँ अभिनवगुप्त अनुकीर्तन की व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं-

तदिदमनुकीर्तनमनुव्यवसायविशेषो नाट्यापरपर्यायः नानुकार इति भ्रमितव्यम्।[२०] इनके अनुसार नाट्य जो अनुव्यवसाय विशेष रूप अनकीर्तन व्यापार है को अनुकरण समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। क्योंकि अनुकरण नकल का ही पर्याय है। नकल अभिनय का प्रकार भले ही है किन्तु है वह तुच्छ। किसी का स्वांग बनाकर उससे उपहास के माध्यम से दर्शकों में हास्य की कुछ सृष्टि भले हो जाय किन्तु उससे लक्षित व्यक्ति के मन में द्वेषादि उत्पन्न हो जाते हैं जो नाट्य का उद्देश्य कथमपि नहीं हो सकता। नाट्य तो सर्जन प्रक्रिया है, जो अनुकरण निरपेक्ष होती है जबकि अनुकरण तो सृष्टि पर ही आश्रित होता है। यदि सृष्टि न हो तो अनुकरण चल ही नहीं सकता।

आचार्यों द्वारा नाट्य को अनुकरण कहने की संगति यह है कि जो चतुर्विध अभिनय है वह लोकवृत्त का अनुकरण है। अभिनय के माध्यम से लोकवृत्त की अनुकृति प्रस्तुत की जाती है। नाटक जिस लोकस्वभाव का अनुकरण करता है वह तो कवि निबद्ध ही होता है। कवि वास्तविक लोक के प्रत्यक्ष से अपने लोक नाट्यलोक की रचना करता है, अनुकरण नहीं। इस प्रकार कवि में कर्तृत्व है अनुकर्तृत्व नहीं। कवि स्वतन्त्र रहता है विश्वरूपों में परिवर्तन कर नाट्यसृष्टि के लिए। यही उसकी रचनाधर्मिता है। वह लोक के कथ्य लेकर लोकोत्तर की सृष्टि करता है और पाषाणतुल्य भी इस जगत् को रसाप्यायित कर देता है।

अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलाम्।

---

१५ नाट्यशास्त्र, १.११६
१६ मुद्राराक्षस, ४.३
१७ नाट्यशास्त्र, १.११९
१८ वही, १.११०
१९ दशरूपक, १.७
२० अभिनवभारती, पृ.२६

जगद् ग्रावप्रख्यं निजरसभरात् सारयति च॥[२१]

इस सृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि नाटक के माध्यम से कवि दर्शकों में रस निष्पत्ति कराने का संकल्प लेकर प्रवृत्त होता है। मूल में लोकमङ्गल की भावना को साथ में लिए हुए इस प्रक्रिया में भारतीय नाट्य, जैसे उत्तररामचरित आदि भले ही नाटक कम काव्य अधिक प्रतीत होते हों किन्तु इन नाटकों में घटनाओं के अप्राधान्य का आरोप स्वतः निरस्त हो जाता है जब उनकी रसनिष्पत्ति प्रयोजनीयता को सामने रखकर उनकी समीक्षा की जाती है। यदि इन नाटकों की समीक्षा पाश्चात्य मानकों के आधार पर की जायगी तो इसके साथ अन्याय होगा क्योंकि ये नाटक सम्पूर्ण भारतीय परम्परा की अविच्छिन्नता, माङ्गलिकता, रसनिष्पत्ति, पुरुषार्थ आदि समस्त विशेषताओं को अपने में संजोए हुए है।

भारतीय नाटकों में लोक को उच्चादर्शों के आचरण की ओर प्रवृत्त करने का अपूर्व सामर्थ्य है। भारतीय अन्य ज्ञानपरम्पराओं के समान नाट्य अवस्थान में भी नायकों के कर्त्तव्यों में धर्म, अध्यात्म, नैतिकता तथा तज्जन्य आशावादिता, विजयभाव, हर्षोल्लास एवं पराशान्ति के जीवन्त स्वर सुनाई देते हैं जिन्हें अपनाकर मानवमात्र अपने जीवन को समुन्नत बना सकता है।

---

२१ ध्वन्यालोकलोचन

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ0115-121) ISSN 0974 – 8830

विष्णुपुराण में अष्टांगयोग का स्वरूप

प्रो. ईश्वर भारद्वाज[१]

एवं

श्री ऊधम सिंह[२]

विष्णुपुराण अष्टादश महापुराणों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस पुराण में सृष्टि उत्पत्ति, विष्णु के विभिन्न अवतार, भारतवर्ष का इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, कर्मकाण्ड आदि के साथ योग की विभिन्न विधाओं का भी वर्णन उपलब्ध होता है। योग के प्रमुख भेदों भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग और अष्टांगयोग का अनेक स्थलों पर वर्णन प्राप्त होता है। संक्षेप में यहाँ विष्णुपुराण के अन्तर्गत अष्टांगयोग के विभिन्न आयामों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है।

योग की परिभाषा

महर्षि पतञ्जलि योग की परिभाषा देते हुए कहते हैं- **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।**[३] **तदा दृष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**[४] अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। वृत्ति निरुद्ध हो जाने पर दृष्टा की अपने स्वरूप में अवस्थिति हो जाती है। आत्मा निज स्वरूप को जान लेता है। जिससे मोक्ष की स्थिति प्राप्त हो जाती है। विष्णु पुराणकार कहते हैं कि आत्मज्ञान के लिए प्रयत्नशील मन की विशिष्ट गति का ब्रह्म के साथ संयोग होना ही योग कहलाता है-

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते[५]**॥**

अर्थात् जब मन इन्द्रियों सहित अन्तर्मुखी हो जाता है तो केवल ध्येय (ब्रह्म) के साथ तदाकारता की स्थिति बन जाती है, इसी को परमगति कहा है-

यदा पंचावतिष्ठनते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्[६]**॥**

विष्णुपुराणकार ने भी चित्तवृत्तिनिरुद्ध अवस्था वाले मन की बात की है जो ब्रह्म में ही संयुक्त होंने का प्रयास कर रहा है। अतः कहा जा सकता है कि विष्णुपुराणकार योगसूत्रकार महर्षि पतञ्जलि के

---

१. प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, मानवचेतना एवं योगविज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२. असिस्टेंट प्रोफेसर, मानवचेतना एवं योगविज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
३ योगसूत्र १/२
४ योगसूत्र १/३
५ विष्णुपुराण ६/७/३१
६ कठोपनिषद २/३/१०

मत को ही प्रतिष्ठित करता है।

योगी के प्रकार

महर्षि पतञ्जलि ने साधना के आयाम को लेकर योगी के तीन प्रकार बताए हैं- उत्तम कोटि, मध्यम कोटि तथा प्रारंभिक कोटि के योगी। जिनका पूर्व जन्म से ही योगाभ्यास का क्रम चल रहा था, लेकिन मुक्ति तक नहीं पहुंच पाए और शरीरपात् हो गया, वे योगी आगामी जन्म में उसी साधना के क्रम से अभ्यास वैराग्यादि[७] उपायों का आश्रय लेकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। वे उत्तम कोटि के योगी कहलाते हैं। जिसका साधनाक्रम तीव्र संवेग की स्थिति में नहीं पहुंचा, वे साधक क्रियायोग[८] का आश्रय लेकर क्लेशों[९] को तनु[१०] करते हुए साधना करते हैं, वे मध्यम कोटि के योगी कहलाते हैं। जो किसी प्रेरणा से अथवा पूर्वकृत कर्मों के फल से योग साधना में रुचि लेकर योगाभ्यास प्रारम्भ करते हैं, वे नवसिखिये योगी प्रारंभिक योगी कहलाते हैं।

विष्णुपुराण में योगियों के तीन प्रकार बताए गए हैं- मुमुक्षु, योगयुक्त तथा विनिष्पन्न समाधि योगी। यम-नियम से मन की विशिष्ट गति वाला मुमुक्षुयोगी कहलाता है[११]। मुमुक्षु द्वारा योगाभ्यास प्रारम्भ करने पर उसे योगयुक्त योगी कहते हैं तथा परब्रह्म की प्राप्ति होने पर योगी को विनिष्पन्न समाधि योगी कहा गया है[१२]। यदि योग युक्त योगी का चित्त दूषित हो जाता है तो आगामी जन्म में उसी अभ्यास को करके वह मुक्त हो सकता है[१३]। विनिष्पन्न समाधि योगी योगाग्नि से पूर्व जन्म के कर्मों को भस्म करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है[१४]।

अष्टांगयोग

महर्षि पतञ्जलि की भांति विष्णुपुराणकार भी अष्टांगयोग का प्रतिपादन करते हैं। योगसूत्रकार की भांति उन्होंने यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि का वर्णन किया है। ध्यान तथा समाधि के लिए पूर्वोक्त छह अंगों के अनुष्ठान पर बल देते हुए इनकी उपयोगिता को सिद्ध किया है। ध्यान और समाधि को समझाते हुए कहा गया है कि ध्यान अपने से पहले छह अंगो (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार तथा धारणा) द्वारा निष्पन्न होता है[१५] तथा ध्यान ही दृढ़ होकर समाधि

---

७ योगसूत्र १/१२
८ योगसूत्र २/१
९ योगसूत्र २/३
१० योगसूत्र २/२
११ एवमत्यन्तवैशिष्ट्ययुक्तधर्मोपलक्षणः। यस्य योगस्स वै योगी मुमुक्षुरभिधीयते।। विष्णुपुराण ६/७/३२
१२ योगयुक् प्रथमं योगी युञ्जानो ह्यभिधीयते। विनिष्पन्नसमाधिस्तु परं ब्रह्मोपलब्धिमान्।। विष्णुपुराण ६/७/३३
१३ यद्यन्तरायदोषेण दूष्यते चास्य मानसम्। जन्मान्तरैरभ्यसतो मुक्तिः पूर्वस्य जायते।। विष्णुपुराण ६/७/३४
१४ विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि। प्राप्नोति योगी योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात्।। विष्णुपुराण ६/७/३५
१५ तद्ध्यानं प्रथमै रंगैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप।। विष्णुपुराण ६/७/९१

बन जाता है[१६]।

यम-नियम

महर्षि पतञ्जलि द्वारा कहे गए अंहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह[१७] रूप यमों तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान[१८] रूप नियमों की भांति विष्णुपुराण में भी इसी रूप में इनका वर्णन प्राप्त होता है। यमों का वर्णन करते हुए थोड़ा क्रम भंग अवश्य हुआ है किन्तु महर्षि पतञ्जलि के अनुरूप पांचों यमों को स्वीकार किया गया है। ब्रह्मचर्य, अंहिसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह को यमों के रूप में माना गया है[१९]। नियमों की संख्या भी पांच ही मानी गयी है। इसमें भी क्रम भंग है स्वाध्याय, शौच, संतोष, तप तथा मन को परब्रह्म में लगाना जिसे ईश्वर प्रणिधान कहा जा सकता है[२०]।

इसके अतिरिक्त विभिन्न स्थानों पर यम-नियमों का संकेत भी दृष्टव्य है। यथा यम अपने अनुचर को कहते हैं कि जो पुरुष एकान्त में पड़े हुए स्वर्ण को देखकर भी तृण समझता है, तथा निरन्तर भगवान् का अनन्यभाव से चिन्तन करता है, उसे विष्णुभक्त समझो[२१]। यम-नियम के द्वारा जिनकी पाप राशि दूर हो गई है, जिनका हृदय निरन्तर भगवान् में अनुरक्त है, जिनमें गर्व, अभिमान और मात्सर्य का लेशमात्र भी नहीं है, उनसे तुम सदा दूर रहना[२२]। जो पुरुष दूसरों का धन हरण करता है, जीव हिंसा करता है तथा मिथ्या व कटु भाषण करता है, उस अशुभ कर्मोन्मत्त दुष्टबुद्धि के हृदय में भगवान् नहीं टिकते[२३]। शुभ कर्मों का धारण तथा अशुभ कर्मों का त्याग जीवन को श्रेष्ठ बनाने वाला है। अतः अस्तेय, ईश्वर प्रणिधान, अंहिसा, अपरिग्रह, सत्य आदि का पालन करने के लिए निर्देश किया गया है। इसी प्रकार शुचिता, संतुष्टि, तप, स्वाध्याय का भी अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है।

यहाँ विष्णुपुराणकार का स्पष्ट मत है कि पांच यमों तथा पांच नियमों के निरन्तर सकाम आचरण से विभिन्न फलों की प्राप्ति होती है तथा निष्काम भाव से इनका पालन करने से मोक्ष प्राप्त होता है[२४]। इस प्रकार यम-नियमों को योग साधना का मुख्य तत्त्व मानकर पालन करने का आदेश दिया है।

---

१६ मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते।। विष्णुपुराण ६/७/९२
१७ योगसूत्र २/३०
१८ योगसूत्र २/३२
१९ ब्रह्मचर्यमहिंसां च सत्यास्तेयापरिग्रहान्। सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां स्वमनो नयन्।। विष्णुपुराण ६/७/३६
२० स्वाध्यायशौचसन्तोषतपांसि नियतात्मवान्। कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन्प्रवणं मनः।। विष्णुपुराण ६/७/३७
२१ कनकमपि रहस्यवेक्ष्य बुद्धया तृणमिव यस्समवैति वै परस्वम्। भवति च भगवत्यनन्यचेताः पुरुषवरं तमवेहि विष्णुभक्तम्।। विष्णुपुराण ३/७/२२
२२ यमनियमविधूतकल्मषाणामनुदिनमच्युतसक्तमानसानाम्। अपगतमदमानमत्सराणां त्यज भट दूरतरेण मानवानाम्।। विष्णुपुराण ३/७/२६
२३ हरति परधनं निहन्ति जन्तून् वदति तथाऽनृतनिष्ठुराणि यश्च। अशुभजनितदुर्मदस्य पुंसः कलुषमतेर्हृदि तस्य नास्त्यनन्तः।। विष्णुपुराण ३/७/२८
२४ एते यमास्सनियमाः पञ्च पञ्च च कीर्तिताः। विशिष्टफलदाः काम्या निष्कामाणां विमुक्तिदाः।। विष्णुपुराण ६/७/३८

आसन

महर्षि पतञ्जलि ने **'स्थिरसुखमासनम्'**[२५] कहकर सुखपूर्वक बैठने की स्थिति, जो ध्यान के लिए उपयुक्त हो, उसे आसन की संज्ञा दी है। आसनों के प्रकारों का उल्लेख नहीं है। व्यास भाष्य में अवश्य ही नौ आसनों का उल्लेख किया गया है। आसनों के प्रकारों का वर्णन हठयोग के आचार्यों द्वारा किया गया है, जो परवर्ती हैं।

विष्णुपुराणकार ने भद्रासनादि[२६] कहकर संकेतमात्र से आसन जैसे विशिष्ट अंग को उल्लिखित किया है। आसनों के विभिन्न प्रकारों की चर्चा नहीं की। संभवत: भद्रासन ध्यानोपयोगी आसन है, अत: ध्यान की स्थिति को देखते हुए भद्रासन की विशेषता को प्रकट किया है।

प्राणायाम

महर्षि पतञ्जलि प्राणायाम के विषय में कहते हैं- **'तस्मिन्सतिश्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद: प्राणायाम:'**[२७] अर्थात् श्वास-प्रश्वास की गति को आयाम देना प्राणायाम है। स्वचलित श्वास तथा प्रश्वास को अपने नियन्त्रण में करके अंदर या बाहर रोकना प्राण को नियन्त्रित कर देता है जिससे चित्त में स्थिरता आती है, क्योंकि **'चलेवाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्'**[२८] ऐसा निश्चल चित्त साधना के उपयुक्त हो जाता है तथा शीघ्र ही समाहित अवस्था को प्राप्त कर लेता है। अत: प्राणायाम की उपयोगिता सिद्ध होती है।

विष्णुपुराण में प्राणायाम का वर्णन किया गया है उनकी मान्यता है कि अभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे प्राण को वश में करना प्राणायाम कहलाता है। यह सबीज और निर्बीज दो प्रकार का कहा गया है[२९]। इसको भी रेचक, पूरक और कुम्भक भेद से तीन प्रकार का कहा गया है[३०]।

प्रत्याहार

महर्षि पतञ्जलि इन्द्रियों को वश में करने के लिए प्रत्याहार का वर्णन करते हैं- **स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्यस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार:**[३१]। विष्णुपुराणकार कहते हैं कि शब्दादि विषयों में अनुरक्त इन्द्रियों को रोककर चित्त की अनुगामिनी बनाना प्रत्याहार है[३२]। इससे चंचल इन्द्रियां वश में हो जाती हैं और योगी साधना में अग्रसर हो जाता है। विना इन्द्रियों को वश में किये साधना सफल

---

२५ योगसूत्र २/४६

२६ एकं भद्रासनादीनां समास्थाय गुणैर्युत:। यमाख्यैर्नियमाख्यैश्च युञ्जीत नियतो यति:।। विष्णुपुराण ६/७/३९

२७ योगसूत्र २/४९

२८ हठ प्रदीपिका २/२

२९ प्राणाख्यमनिलं वश्यमभ्यासात्कुरुते तु यत्। प्राणायामस्स विज्ञेयस्सबीजोऽबीज एव च।। विष्णुपुराण ६/७/४०

३० परस्परेणाभिभवं प्राणापानौ यथानिलौ। कुरुतस्सद्विधानेन तृतीयस्संयमात्तयो:।। विष्णुपुराण ६/७/४१

३१ योगसूत्र २/५४

३२ शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित्। कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारपरायण:।। विष्णुपुराण ६/७/४३

नहीं होती[३३]। महर्षि पतञ्जलि ने भी प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों की परमवश्यता को स्वीकार किया है तथा आगामी साधना हेतु आवश्यकता बताई है।[३४]

६. धारणा

महर्षि पतञ्जलि स्थान विशेष में चित्त के ठहराने के प्रयास को धारणा कहते हैं- **देशबन्धश्चित्तस्य धारणा**[३५]। महर्षि धारणा के आश्रय का उल्लेख नहीं करते, किन्तु विष्णुपुराणकार धारणा के आश्रय के रूप में ब्रह्म को मानते हैं तथा चित्त को उसमें स्थिर करने को ही धारणा कहते हैं[३६]। पुराणकार के अनुसार योगाभ्यासी को आत्मशुद्धि के लिए भगवान् के सर्वपापनाशक विश्वरूप का चिन्तन करना चाहिए[३७]। जिस प्रकार वायुरहित अग्नि ऊंची ज्वालाओं से युक्त होकर शुष्क तृणसमूह को जला डालता है, उसी प्रकार चित्त में स्थित भगवान् विष्णु योगियों के समस्त पाप नष्ट कर देते हैं[३८]। इसलिए संपूर्ण शक्तियों के आधार भगवान् विष्णु में चित्त को स्थिर करना ही शुद्ध धारणा है[३९]। क्योंकि अन्य देवता आदि कर्म योनियां हैं वे सब अशुद्ध हैं[४०]। अतः विष्णु के शुद्ध रूप की धारणा योगी के लिए लक्ष्य प्राप्ति का साधन है।

७. ध्यान

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार ध्येय विषय का निरन्तर आबाध गति से ध्याता के साथ सम्बन्ध बने रहना ध्यान है-**तत्रप्रत्ययैकतानता ध्यानम्**[४१]। विष्णुपुराणकार का स्पष्ट मत है कि जिसमें परमेश्वर के रूप की प्रतीति होती है ऐसी जो विषयान्तर की स्पृहा से रहित एक अनवरत धारा है, उसे ही ध्यान कहते हैं। जो यम-नियमादि पूर्व के छह अंगों के अनुष्ठान से सिद्ध होता है[४२]।

ध्यान की विधि

विष्णुपुराणकार भगवान् के मूर्त रूप का ध्यान करने की विधि का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो प्रसन्नवदन और कमलदल के समान सुन्दर नेत्रों वाले हैं, सुन्दर कपोल और विशाल भाल से सुशोभित हैं, सुन्दर कानों में मनोहर कुण्डल पहने हैं, जिनकी ग्रीवा शंख के समान तथा वक्ष स्थल श्रीवत्स चिह्न से सुशोभित है, जो तरंगाकार त्रिवली तथा नीचे नाभि वाले उदर से सुशोभित हैं, अष्टभुज या चतुर्भुज रूप

---

३३ वश्यता परमा तेन जायतेऽतिचलात्मनाम्। इन्द्रियाणामवश्यैस्तैर्न योगी योगसाधकः।। विष्णुपुराण ६/७/४४
३४ योगसूत्र २/५५
३५ योगसूत्र ३/१
३६ मूर्त्तं भगवतो रूपं सर्वापाश्रयनिःस्पृहम्। एषा वै धारणा प्रोक्ता यच्चित्तं तत्र धार्यते।। विष्णुपुराण ६/७/७८
३७ तद्रूपं विश्वरूपस्य तस्य योगयुजा नृप। चिन्त्यमात्मविशुद्ध्यर्थं सर्वकिल्बिषनाशनम्।। विष्णुपुराण ६/७/७३
३८ यथाग्निरुद्धतशिखः कक्षं दहति सानिलः। तथा चित्तस्थितो विष्णुर्योगिनां सर्वकिल्बिषम्।। विष्णुपुराण ६/७/७४
३९ तस्मात्समस्तशक्तीनामाधारे तत्र चेतसः। कुर्वीत संस्थितिं सा तु विज्ञेया शुद्धधारणा।। विष्णुपुराण ६/७/७५
४० अन्ये तु पुरुषव्याघ्र चेतसो ये व्यपाश्रयाः। अशुद्धास्ते समस्तास्तु देवाद्याः कर्मयोनयः।। विष्णुपुराण ६/७/७७
४१ योगसूत्र ३/२
४२ तद्रूपप्रत्यया चैका सन्ततिश्चान्यनिःस्पृहा। तद्ध्यानं प्रथमैरंगैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप।। विष्णुपुराण ६/७/९१

वाले जिनके जंघा उरू समान भाव से स्थित है और मनोहर चरणारविन्द हैं, उन निर्मल पीताम्बरधारी ब्रह्मस्वरूप भगवान् विष्णु का चिन्तन करना चाहिए[४३]। किरीट, हार, केयूर और कटक आदि आभूषणों से विभूषित शाङ्‌र्ग धनुष, शंख, गदा, खड्ग, चक्र, तथा अक्षमाला से युक्त वरद और अभययुक्त हाथों वाले तथा अंगुलियों में धारण की हुई रत्नमयी मुद्रिका से शोभित भगवान् के दिव्य रूप का एकाग्र चित्त करके तन्मय भाव से तब तक चिन्तन करना चाहिए, जब तक धारणा दृढ़ न हो जाए[४४]। चलते-फिरते, उठते-बैठते अथवा अन्य कर्म करते हुए भी अपने चित्त से ध्येयमूर्ति को दूर न होने दें[४५]। इसके बाद शंख, चक्र, गदा और शाङ्‌र्ग आदि से रहित भगवान् के स्फटिकाक्ष माला और यज्ञोपवीत धारी स्वरूप का चिंतन करना चाहिए[४६]। इसके बाद किरीट, केयूर आदि आभूषणों से रहित रूप का स्मरण करें[४७]। इसके पश्चात् ध्याता अपने चित्त में एक अवयव विशिष्ट भगवान् का हृदय से चिन्तन करे और सम्पूर्ण अवयवों को छोड़कर केवल अवयवी का ही ध्यान करे[४८]। इस प्रकार ध्यान करता हुआ साधक समाधि की स्थिति में प्रवेश पा लेता है।

८. समाधि

महर्षि पतञ्जलि समाधि की परिभाषा देते हुए कहते हैं-**तदेव अर्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः**[४९] अर्थात् साधक को ध्येय विषय की ही प्रतीति होती रहे तथा अपने स्वरूप का भान न रहे, वह अवस्था समाधि कहलाती है। इसमें ध्याता, ध्येय और ध्यान की त्रिपुटी समाप्त हो जाती है तथा साधक केवल ध्येय विषय का ही साक्षात्कार करता है।

विष्णुपुराणकार का मत है कि उस ध्येय पदार्थ का ही जो मन के द्वारा ध्यान से सिद्ध होने योग्य कल्पनाहीन स्वरूप ग्रहण किया जाता है, उसी को समाधि कहते हैं[५०]। समाधि द्वारा प्राप्त ज्ञान परब्रह्म

---

४३ प्रसन्नवदनं चारुपद्मपत्रोपमेक्षणम्। सुकपोलं सुविस्तीर्णललाटफलकोज्ज्वलम्।। विष्णुपुराण ६/७/८० समकर्णान्तविन्यस्तचारुकुण्डलभूषणम्। कम्बुग्रीवं सुविस्तीर्णश्रीवत्साङ्कितवक्षसम्।। विष्णुपुराण ६/७/८१ वलित्रिभङ्गिना मग्ननाभिना ह्युदरेण च। प्रलम्बाष्टभुजं विष्णुमथवापि चतुर्भुजम्।। विष्णुपुराण ६/७/८२ समस्थितोरूजंघं च सुस्थिताङ्घ्रिवराम्बुजम्। चिन्तयेद् ब्रह्मभूतं तं पीतनिर्मलवाससम्।। विष्णुपुराण ६/७/८३

४४ किरीटहारकेयूरकटकादिविभूषितम्।। विष्णुपुराण ६/७/८४ शाङ्‌र्गशंखगदाखड्गचक्राक्षवलयान्वितम्। वरदाभयहस्तं च मुद्रिकारत्नभूषितम्।। विष्णुपुराण ६/७/८५ चिन्तयेत्तन्मयो योगी समाधायात्ममानसम्। तावद्यावद् दृढीभूता तत्रैव नृप धारणा।। विष्णुपुराण ६/७/८६

४५ व्रजतस्तिष्ठतोऽन्यद्वा स्वेच्छया कर्म कुर्वतः। नापयाति यदा चित्तात्सिद्धां मन्येत तां तदा।। विष्णुपुराण ६/७/८७

४६ ततः शंखगदाचक्रशाङ्‌र्गादिरहितं बुधः। चिन्तयेद्भगवद्रूपं प्रशान्तं साक्षसूत्रकम्।। विष्णुपुराण ६/७/८८

४७ सा यदा धारणा तद्वदवस्थानवती ततः। किरीटकेयूरमुखैर्भूषणै रहितं स्मरेत्।। विष्णुपुराण ६/७/८९

४८ तदेकावयवं देवं चेतसा हि पुनर्बुधः। कुर्यात्ततोऽवयविनि प्रणिधानपरो भवेत्।। विष्णुपुराण ६/७/९०

४९ योगसूत्र ३/३

५०. तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्। मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते।। विष्णुपुराण ६/७/९२

तक पहुंचाने वाला होता है[५१]। अत: साधक को प्रयासपूर्वक समाधि लाभ करके मुक्तिरूपी कार्य को सिद्ध करके निवृत्त हो जाना चाहिए[५२]।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि विष्णुपुराण में महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्र का स्पष्ट प्रभाव देखने को मिलता है। अत: विष्णुपुराण को योग के ग्रन्थ के रूप में माना जा सकता है।

---

५१. विज्ञानं प्रापकं प्राप्ये परे ब्रह्मणि पार्थिव। प्रापणीयस्तथैवात्मा प्रक्षीणाशेषभावन:॥ विष्णुपुराण ६/७/९३
५२. क्षेत्रज्ञ: करणी ज्ञानं करणं तस्य तेन तत्। निष्पाद्य मुक्तिकार्यं वै कृतकृत्यो निवर्तते॥ विष्णुपुराण ६/७/९४

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ0122-125) ISSN 0974 – 8830

शास्त्रोक्त हठधर्म (योग के परिप्रेक्ष्य में)

डॉ. विजय कुमार त्यागी[1]

हठ शब्द की व्युत्पत्ति 'हठ्' धातु में 'अच्' प्रत्यय के योग से होती है, जिसका प्रयोग सामान्यरूप से 'बलपूर्वक, प्रचण्डतापूर्वक, अचानक, दुराग्रहपूर्वक' आदि अर्थों में किया जाता है।[2] हठ को योग का एक विशेष प्रकार भी माना जाता है। अन्य सभी योगपद्धतियों से हठयोगपद्धति कुछ कठिन प्रतीत होती है। इस हठ को विद्या स्वीकार करते हुए शिवराम आप्टे ने कहा है कि 'हठविद्या बलपूर्वक मनन करने का विज्ञान है।'[3]

उद्दिष्ट बिन्दु में हठ को धर्म कहने का प्रयास किया गया है। अतः स्पष्ट करना अनिवार्य है कि धर्म क्या है? महर्षि कणाद ने स्पष्ट किया है कि जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि होती है वह धर्म है।[4] स्वामी तुलसीराम ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'वेदोक्त शुभकर्मानुष्ठान और तत्त्वज्ञानोपदेशक वेदादि शास्त्राभ्यास का नाम धर्म है, जिनसे सांसारिक (ऐहिक) आमुष्मिक सब प्रकार के सुख भोग और अन्त में धर्मानुष्ठान से अन्तःकरण शुद्ध होने पर उपजे ब्रह्मज्ञान से निःश्रेयस् अर्थात् मुक्ति भी सिद्ध हो सके।'[5] कहने का तात्पर्य है कि जिससे इस जन्म और इस जन्म से मुक्ति की सिद्धि होती है वह धर्म है।

हठधर्म का उल्लेख योगशास्त्रों में अनेक स्थानों पर किया गया है। हठयोग के आदि आचार्य कौन थे? इस विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु सभी विद्याओं का आदिस्रोत ईश्वर को ही मानना उचित है, क्योंकि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने निश्चित किया है कि **'सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।'**[6] यही श्रद्धा और विश्वास की भावना हमारे विद्वत् समाज में रही है; उसके अनुसार हठयोग भी ईश्वरोक्त (हिरण्यगर्भोक्त) कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक मान्यता के अनुसार आदिनाथ श्री शिवजी हठयोग के प्रवर्तक माने गए हैं।[7] इस परम्परा में

---

१. असि.प्रोफेसर (अतिथि) धर्म, दर्शन एवं संस्कृति, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२ वामन, शिवराम आप्टे कृत 'संस्कृत हिन्दी शब्दकोश' पृष्ठ सं.११६३, प्रकाशक- मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी

३ वही

४ वैशेषिक दर्शन १.२, यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस्सिद्धिः स धर्मः।।

५ वैशेषिक दर्शन १.२, स्वामी तुलसीराम कृत भाषानुवाद।

६ महर्षि दयानन्द, आर्य समाज का पहला नियम।

७ हठयोगप्रदीपिका १.१, श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या। विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव।।

श्री मत्स्येन्द्रनाथ, गुरु गोरखनाथ, चर्पटि, जलन्धर, कनेडि, चतुरंगी, घेरण्ड और विचारनाथ आदि सप्रदाय के आचार्यों ने संसार में हठयोग का प्रचार किया। इस विषय में हठयोग के अनेक साम्प्रदायिक ग्रन्थ यथा गोरक्षशतक, गोरक्ष संहिता, सिद्धसिद्धान्त पद्धति, गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह, अमनस्क योग, योगबीज, हठयोग प्रदीपिका, हठतन्त्र कौमुदी, घेरण्ड संहिता, निरञ्जन पुराण आदि आज भी प्राप्त हैं। इस हठधर्म से सम्बन्धित अनेक उपनिषद् ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं। गुरु गोरखनाथ के हठयोग में छः अङ्ग मान्य हैं, जबकि मार्कण्डेय अष्टाङ्ग हठयोग के पक्षपाती थे। इनका वर्णन श्रीमद्भागवत पुराण में आता है। इनका मन सहित अपनी इन्द्रियों पर इतना वशीकरण था कि इन्द्र आदि के अनेक प्रयत्न करने पर भी वे अपने योग से नहीं डिगे। शिव जी ने प्रसन्न होकर इन्हें महायोगी की उपाधि दी। वस्तुतः हठयोग में योगियों का आधार हठ ही है।[८] हठधर्म को विद्या कहते हुए स्पष्ट कहा गया है कि यह सर्वसामान्य विद्या नहीं है, अतः इसके पर गोपनीय मानना चाहिए।[९]

ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षि पतञ्जलि के अष्टाङ्ग योग में जो तप नामक एक अङ्ग है, वह हठधर्म से ही साम्यता रखता है। हठ के विषय में सर्वसाधारण की यही धारणा रही है कि जिसमें शारीरिक क्रियाओं के द्वारा हठपूर्वक साधना की जाती है, वह हठयोग है। हठयोग के विषय में भी अनेक ग्रन्थों में ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं कि अमुक ऋषि ने ऐसा घोर तप किया कि उसके ऊपर दीमकों ने बाम्बी बना ली या कोई-कोई तपस्वी एक हाथ ऊपर करके वर्षों तक समाधि में खड़ा रहा। भागवत में अत्रि ऋषि के वर्णन में यद्यपि अति का प्रयोग है, किन्तु वहाँ स्पष्ट ध्वनि निकल रही है कि वे हठपूर्वक एक पैर से निराहार रहकर खड़े रहे। यथा- उस वन में वे मुनि श्रेष्ठ प्राणायाम के द्वारा चित्त को वश में करके सौ वर्ष तक केवल वायु पीकर सरदी-गरमी आदि द्वन्द्वों की कुछ परवाह न कर एक ही पैर से खड़े रहे।[१०] ऐसे ही हिरण्यकशिपु के विषय में आता है कि ब्रह्मा जी को प्रसन्न करने के लिए वह मन्दराचल की एक घाटी में जाकर अत्यन्त दारुण तपस्या करने लगा। वहाँ हाथ ऊपर उठाकर आकाश की ओर देखता हुआ वह पैर के अङ्गूठे के बल पृथ्वी पर खड़ा हो गया।[११] देवता भी ब्रह्मा जी से बोले कि हमने सुना है कि वह हठ करके ही वह घोर तपस्या में जुटा हुआ है। आप तीनों लोकों के स्वामी हैं। अब आप जो उचित समझें वही करें।[१२] इस प्रकार अनेक प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि हठ एक धर्म ही है जिससे अनेक अप्राप्तों की प्राप्ति की जा सकती है अर्थात् अभ्युदय और मोक्ष की सिद्धि की जा सकती है।

---

८ हठप्रदीपिका १.१०, अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः। अशेषयोगयुक्तानामाधार कर्मणे हठः।।

९ हठप्रदीपिका १.११।। हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता। भवेद्वीर्यवतीगुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता।।

१० श्रीमद्भागवतमहापुराण ४.१.१९, प्राणायामेन संयम्य मनो वर्षशतं मुनिः। अतिष्ठदेकपादेन निर्द्वन्द्वोऽनिल-भोजनः।।

११ श्रीमद्भागवत महापुराण ७.३.२, स तेपे मन्दरद्रोण्यां तपः परमदारुणम्। ऊर्ध्वबाहुर्नभोदृष्टिः पादाङ्गुष्ठाश्रितावनिः।।

१२ श्रीमद्भागवत महापुराण ७.३.१२।। इति शुश्रुम निर्बन्धं तपः परमास्थितः। विधत्स्वानन्तरं युक्तं स्वयं त्रिभुवनेश्वरः।।

प्राणों को हठपूर्वक अन्दर रोकना व बाहर रोकना यह भी हठयोग की ही एक क्रिया मानी जाती है, क्योंकि साधारण रूप में प्राणायाम करने पर श्वास-प्रश्वास गति में विच्छेद भर होता है, किन्तु जब इसी गति को साधक लम्बे समय तक हठपूर्वक करे तो यह क्रिया हठयोग के अन्तर्गत आ जाती है। वैसे हठयोग सम्बन्धी जितनी क्रियाएँ हैं, वे दृढ़तापूर्वक की जाती हैं। 'हठ' का अर्थ अन्य शब्दकोश में- 'जिद, दुराग्रह, दृढ़ प्रतिज्ञा, अटल संकल्प आदि किया गया है। वही 'हठ' को या हठयोग को योग का एक प्रकार बताया गया है, जिसमें कठिन आसनों और मुद्राओं की साधना होती है।[१३] योगशिखोपनिषद् एवं सिद्धसिद्धान्त पद्धति में 'ह'कार का अर्थ सूर्य व 'ठ'कार का अर्थ चन्द्र कहा है। सूर्य व चन्द्र का योग हठयोग कहलाता है।[१४] श्री पीताम्बरपीठ संस्कृत परिषद्, दतिया से प्रकाशित 'घेरण्ड संहिता' की भूमिका में श्री राष्ट्रगुरु स्वामी जी महाराज लिखते हैं कि "हठयोग में 'ह' एव 'ठ' के योग को हठयोग बताया गया है। इड़ा-पिङ्गला नाड़ियों में प्रवाहित 'ह' एव 'ठ' को चन्द्र एवं सूर्य के नाम से कहा जाता है, इनका ऐक्य ही हठयोग कहा जाता है। इड़ा-पिङ्गला के प्रवाह में मन बहिर्गति वाला रहता है। हठाभ्यास के द्वारा दोनों का ऐक्य सम्पादन करना इस योग का लक्ष्य है।

दोनों 'ह' एव 'ठ' के ऐक्य होने पर आधार-चक्र में स्थित कुण्डलिनीशक्ति का उद्बोध होकर प्राणापान की एकता द्वारा नादबिन्दु-कला तक षडाधार चक्रों का भेदन करके योगी परमतत्त्व का साक्षात्कार करता है। शरीर, मन, इन्द्रियादि में अनेक प्रकार की मलिनता, अनेक जन्म के कर्म जन्य संस्कारों से रहती है। बिना उसके शोधन के योग सम्भव नहीं।[१५] इस पद्धति में स्थूल शरीर के अधिक अवलम्बन से चित्तवृत्ति निरोध करके योगसाधन की प्रणाली हठयोग चलाई गई है। तात्पर्य यह है कि हठयोग में शारीरिक क्रियाओं का अधिक अवलम्बन किया जाता है। इसमें आसन, बन्ध, मुद्रा और प्राणायाम पर अधिक बल दिया जाता है अर्थात् हठयोग का सम्बन्ध स्थूल शरीर और प्राणवायु के निग्रह से है। इस प्रकार शरीर, मन व प्राण को वश में करना हठयोग का लक्ष्य है।

महर्षि घेरण्ड ने कहा है कि "माया के बराबर कोई पाप नहीं है, ज्ञान के समान कोई बन्धु नहीं है। अहङ्कार के तुल्य कोई बैरी नहीं है और योग के समान कोई अन्य बल नहीं है।"[१६] अतः जैसे ककार आदि का अभ्यास करने से समस्त शास्त्र अधीत हो जाते हैं, ऐसे ही सतत योगाभ्यास करने से तत्त्वज्ञान हो जाता है।[१७] यही योग का फल है और इस योग के फल के माध्यम अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि हो सकती है। अतः सुकृत व दुष्कृत कर्मों के फलरूप जो यह शरीर प्राप्त होता है। अतः इस योग का

---

१३ संक्षिप्त हिन्दी शब्दकोश- पृ० ४७०, डॉ. हरदेव बाहरी- राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली।

१४ (क) योगशिखोपनिषद् १३३, हकारेण तु सूर्यं स्यात् ठकारेणेन्दुरुच्यते। (ख) सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति, हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते। सूर्याचन्द्रसोर्योगाद् हठयोगो निगद्यते।। ।।

१५ घेरण्डसंहिता की भूमिका से- श्री पीताम्बरपीठ संस्कृत परिषद्, दत्तिया।

१६ घेरण्डसंहिता १.४, नास्ति माया समं पापं नास्ति योगात्परं बलम्। नास्ति ज्ञानात्परो बन्धुर्नाहङ्कारात्परो रिपुः।।

१७ घेरण्डसंहिता १.५, अभ्यासात् कादिवर्णानि यथा शास्त्राणि बोधयेत्। तथा योगं समासाद्य तत्त्वज्ञानं च लभ्यते।।

प्रथम उद्देश्य शरीर को दृढ़ बनाना है। कच्चे घड़े को पक्का बनाना है। नहीं तो यह शरीर हठयोग की साधना को सहन नहीं कर सकेगा। इसीलिए हठयोग में दृढ़भाव को ऊपर रखा गया है। तप करना कोई साधारण कार्य नहीं है। सर्दी, गर्मी, वर्षा सबको सहन करना कोई साधारण कार्य नहीं है। इसलिए हठयोग की क्रिया दृढ़ाभ्यास वाली है। ऐसा हम समझ सकते हैं। घेरण्ड ऋषि कहते हैं- "जैसे मिट्टी के कच्चे घड़े में जल भरने से घड़ा गल कर नष्ट हो जाता है, उसी को पका कर जल भरने से नहीं गलता तथा जल भी नहीं निकलता, इसी तरह जीव का शरीर प्रतिदिन क्षीण हो रहा है। कच्चे घड़े की तथा शरीर की समानता है। शरीर का पक्कापन योगाग्नि द्वारा ही होता है। इसलिए शरीर को दृढ़ एवं मलों से रहित करने के लिए योगाभ्यास करना चाहिए।[१८] हठयोग में जिन अङ्गों का साधन होता है, उनमें षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि मुख्य हैं और इन अङ्गों का साधन करने से साधक को जो प्राप्ति होती है वह इस प्रकार है- 'हठयोग के षट्कर्मों (घे०सं० १.१२-६०तक) से शरीर के मल निकल जाते हैं और शरीर शुद्ध या साफ हो जाता है। आसनों (घे०सं० २.३-४४) का अभ्यास करने से शरीर (दृढ़) मजबूत हो जाता है। मुद्राओं (घे०सं० ३.१-९५तक) से शरीर में स्थिरता आती है, हिलना-डुलना रुक जाता है। प्रत्याहार (घे०सं० ४.१-५तक) का अभ्यास करने से मन में धैर्य उत्पन्न होता है और प्राणायाम (घे०सं० ५.१-९६तक) का अभ्यास करने से शरीर में हल्कापन (लाघवता) आती है। ध्यान (घे०सं० ६.१-२२) लगाने से परमात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है तथा समाधि (घे०सं० ७.१-२३तक) से वैराग्य की भावना बढ़ती है और निस्सन्देह मोक्ष की सिद्धि होती है।[१९] वर्तमान समय में हठयोग में बताये गए आसन, प्राणायाम व षट्कर्म आदि के अभ्यास द्वारा अनेक साधक जन-जन को शारीरिक स्वास्थ्य लाभ के साथ मानसिक स्वास्थ्य लाभ कराकर आध्यात्मिक मार्ग की ओर उन्मुख कर रहे हैं। इसको अभ्युदय की सिद्धि मानना उचित होगा।

हठयोगी स्वात्माराम मुनि हठयोग प्रदीपिका में राजयोग के लिए हठयोग को मानते हैं।[२०] हठधर्म को सफलता पूर्वक धारण करने पर योगी का शरीर कृश किन्तु मुखण्डल आभासित हो उठता है।[२१] इस योग का लक्ष्य भी मोक्ष या कैवल्य की प्राप्ति ही है।[२२] हठयोग में वायुनिरोध करके समाधिलाभ करने की विधि है। हठयोग समाधि को महाबोध समाधि कहा जाता है। अतः उक्त तथ्यों के आधार पर हठ को धर्म कहना उचित होगा।

---

१८ घेरण्डसंहिता १.८, आमं कुम्भमिवाम्भस्थो जीर्यमाणः सदा घटः। योगवलेन संदह्य घटशुद्धिं समाचरेत्।।

१९. (क) घेरण्ड संहिता १.१०-११, षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद् दृढम्। मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता।। प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि। समाधिना निर्लिप्तं च मुक्तिरेव न संशयः।।

२०. हठप्रदीपिका १.२, केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते।।

२१. हठप्रदीपिका २.७८, वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता।।

२२. (क) घेरण्डसंहिता १.१७, समाधिमुक्तिलक्षणम्।। (ख) घेरण्डसंहिता ७.३, समाधिं तद् विजानीयात् मुक्तसंज्ञो दशादिभिः।।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ0126-134) ISSN 0974 – 8830

बौद्ध धर्म के विकास में संस्कृत का योगदान

विद्यासागर नेगी[1]

बौद्ध धर्म के विकास में वैसे तो कई भाषाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है किन्तु संस्कृत भाषा का जो योगदान रहा है, वह किसी से छिपा नहीं है। बोधगया में बोधिवृक्ष के नीचे सिद्धार्थ ने बुद्धत्व की प्राप्ति की थी। बुद्ध बनने के बाद पहले उन्होंने यह सोचा कि जो ज्ञान उन्होंने कठोर तपस्या के बाद प्राप्त किया, वह दुरूहता के कारण जन-सामान्य की समझ में आने वाला नहीं है, अतः इसका प्रकाशन जन-सामान्य के लिए न करके अपने तक ही सीमित रखना चाहिए, किन्तु सहापति ब्रह्मा के निवेदन पर उन्हें अपने ज्ञान का प्रकाशन जन-सामान्य के लिए करना पड़ा। इस क्रम में भगवान् बुद्ध अपने ज्ञान को सबसे पहले आलार-कालाम तथा उद्दक रामपुत्र जिनके आश्रमों में महा अभिनिक्रमण के बाद दुःख के कारणों की खोज में गये थे और उनसे सन्तोषजनक उतर न पाने पर वहाँ से वे खाली हाथ लौटे थे, को देना चाहते थे, किन्तु वे दोनों तब तक स्वर्ग सिधार चुके थे। अतः उन्होंने अपने ज्ञान को पहले उन पञ्चभद्रवर्गीय भिक्षुओं जिन्होंने उनका साथ उनकी तपस्या काल में छोड़ा था, को देने का निश्चय किया। वे लोग इस समय वाराणसी के ऋषिपतन मृगदाव में वास कर रहे थे। भगवान् बुद्ध बोधगया से वाराणसी के ऋषिपतन मृगदाव में पधारे और उन्होंने अपने निश्चय के अनुसार उन पञ्चभद्रवर्गीय भिक्षुओं को अपना पहला धर्मोपदेश दिया। उनका यह प्रथम धर्मोपदेश बौद्ध जगत् में भगवान् बुद्ध का प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन के रूप में ख्यात हुआ। ये पञ्चभद्रवर्गीय भिक्षु भगवान् बुद्ध के प्रथम धर्मोपदेश के न केवल श्रोता बने, बल्कि उन के भिक्षुसंघ के पहले-पहल सदस्य भी बने थे। इसके बाद तो भिक्षुसंघ का आकार निरन्तर बढ़ता गया।

भगवान् बुद्ध जगह-जगह चारिका करते हुए राग-द्वेष, मोह जनित दुःख संतप्त प्राणियों को दुःख से छुटकारा पाने का रहा बताते और अपने शिष्यों को भी बहुजन के हित के लिए बहुजन के सुख के लिए जगह-जगह जाकर उनके द्वारा बताये गये धर्मोपदेश का प्रचार करने के लिए निम्न आदेश देते थे :

चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय,
लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय, देवमनुस्सानं।
मा एकेन द्वे अगमित्थ। देसेथ भिक्खवे धम्मं आदि
कल्याणं मज्झे कल्याणं परियोसान कल्याणं, सात्थं
सव्य०जनं केवल परिपुणं ब्रह्मचरियं पकासेथ।[2]

भगवान् बुद्ध ने अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक किसी भाषा विशेष की परिधि में बंध कर

---

१. बौद्ध विद्या केन्द्र, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, समरहिल, शिमला -१७१००५
२ महावग्ग

जन-सामान्य को न तो स्वयं ने उपदेश दिया और न ही अपने शिष्यों को ऐसा करने के लिए ही कहा। ऐसा उन्होंने इसलिए किया ताकि जन-सामान्य भाषायी जटिलताओं में न फंसकर अपनी भाषा में उनके उपदेशों को सुगमता से ग्रहण कर उनके अनुसार वे अपने जीवन को ढाल सकें। भगवान् बुद्ध का मुख्य ध्येय लोगों को शब्द का परिचय नहीं प्रत्युत शब्द के अर्थ का बोध कराना था। यही कारण है कि भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश तत्कालीन जन-सामान्य की भाषा मागही या मागधी जो बाद में पालि के नाम से ख्यात हुई, में दिया। और उनके शिष्य भी अपने शास्ता के उपदेश को इसी भाषा में ही जन-सामान्य को बताते थे। भगवान् बुद्ध के बुद्धत्व प्राप्ति के बाद अपने जीवन के आखरी वेला तक प्राणिमात्र के हित में जो भी उपदेश दिया, उनका विषयानुसार संग्रहरूप त्रिपिटक कहलाता है। यह नाम भगवान् बुद्ध द्वारा रखा नाम नहीं हैं बल्कि यह उन के परिनिर्वाण के बाद राजगृह के सप्तपर्णी गुंफा में राजा अजातशत्रु के संरक्षकत्व में तथा महाकाश्यप की अध्यक्षता में पाँच सौ अर्हतों की प्रथम संगीति में विद्वानों द्वारा रखा गया नाम है। त्रिपिटक का अर्थ है, तीन पिटारी या तीन मञ्जूषा। त्रिपिटक के अन्तर्गत सूत्रपिटक, विनयपिटक तथा अभिधर्मपिटक आते हैं। त्रिपिटक नाम से भले ही ये तीन ग्रन्थ प्रतीत होते हों, किन्तु इन पिटकों के अन्तर्गत अपने-अपने विषयों से सम्बन्ध अनेक ग्रन्थ आते हैं, यहाँ पर जानकारी के लिए इन ग्रन्थों की सूची दे रहे हैं-

विनयपिटक

पाराजिक, पाचित्तिय, चुल्लवग्ग, महावग्ग, परिवार।

सूत्रपिटक

दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अङ्गुत्तरनिकाय, खुद्दकनिकाय, खुद्दकपाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस, पटिसम्भिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंस, चरियापिटक।

अभिधर्मपिटक

धम्मसंगणि, विभङ्ग, धातुकथा, पुग्गलपंञति, कथावत्थु, यमक, पट्ठान।

त्रिपिटक पर अट्ठकथाऐं भी लिखी गई हैं। इनके अलावा भी कई ग्रन्थ त्रिपिटक से सम्बद्ध हैं। इन सबकी भाषा पालि है। परम्परा के अनुसार कहा गया है कि भगवान् बुद्ध ने विनेयजनों के अध्याशय के अनुसार तीन बार धर्मचक्र प्रवर्तन किया था। उन का प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन जिसका प्रसँगवश ऊपर जिक्र हो चुका है, श्रावकयान जिसे प्रत्येक बुद्धयान भी कहा जाता है, से सम्बद्ध था। उनका द्वितीय धर्मचक्र प्रवर्तन राजगृह के गृध्रकूट-पर्वत पर हुआ। यह धर्म चक्र प्रवर्तन उन्होंने बोधिसत्त्वों की विपुल और विलक्षण सभा में किया था। उनका तीसरा धर्म चक्र प्रवर्तन वैशाली में हुआ। यह धर्मचक्र प्रवर्तन उनका वज्रयान से सम्बद्ध था। भगवान् बुद्ध के इन तीन बार के धर्मचक्र प्रवर्तनों को यानों के हिसाब से समझा जाय तो उनके प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन को श्रावकयान/प्रत्येक बुद्धयान जिसे हीनयान भी कहा जाता है, के अन्तर्गत रखा जाता है और अन्य दो धर्मचक्र प्रवर्तनों को महायान के अन्तर्गत रखा जाता है। समय के साथ भगवान् बुद्ध के वचनों को पालि की जगह पालि-प्राकृत छायापन्न संस्कृत जिसे विद्वान् लोग गाथिक

संस्कृत भी कहते हैं, में तथा परिष्कृत संस्कृत में भी लिखा जाने लगा। यह जरूर है कि जितने महायानी जिसमें वज्रयानी भी सम्मिलित हैं, ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये हैं, उतने शायद हीनयानी ग्रन्थ संस्कृत में नहीं लिखे गये। मगर इसका मायना यह कदापि नहीं है कि हीनयानी ग्रन्थ संस्कृत में नगन्य हैं। हीनयानी सम्प्रदाय के भी बहुत सारे ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये हैं। लोकोत्तरवादी हीनयानी सम्प्रदाय का महावस्तु नामक विशाल गद्यग्रन्थ तथा बौद्ध सूत्रग्रन्थों की भाषा गाथिक संस्कृत है। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्धों ने प्रारम्भ में अपने ग्रन्थों को जब संस्कृत में लिखना शुरू किया तो वह संस्कृत परिष्कृत नहीं प्रत्युत गाथिक संस्कृत थी। इसके बाद उन्होंने गाथिक संस्कृत की जगह पर अपने ग्रन्थों को लिखने के लिए जब परिष्कृत संस्कृत को अपनाया तो उन्होंने उस पर अपनी मुद्रा लगा दी। उन्होंने अमरकोश तथा व्याकरण की रचना की। काशिका तथा भाषावृत्ति का निर्माण कर बौद्धों ने पाणिनी सम्प्रदाय को पुष्ट किया। रूपावतार की रचनाकर प्रक्रियात्मक शब्द शासन की बुनियाद डाली। ये संस्कृत प्रवर्तक बौद्ध पण्डित अमरसिंह, वामन, जयादित्य, पुरुषोत्तम तथा धर्मकीर्ति थे। इनकी कृतियों का न केवल बौद्ध परम्परा में मान है प्रत्युत ब्राह्मण परम्परा में भी इनका बड़ा मान है। यहाँ पर कुछ बौद्ध संस्कृत ग्रन्थकारों के नाम उल्लेखनीय है। जिनकी सशक्त लेखनी ने बौद्ध संस्कृत वाङ्मय को आशातीत समृद्ध किया। प्रथम, अश्वघोष जो एक महान बौद्ध कवि और दार्शनिक थे, राजा कनिष्क के समकालिक थे। महाकवि अश्वघोष का न केवल बौद्ध दर्शन के इतिहास में बल्कि संस्कृत काव्य की सम्पूर्ण परम्परा में अपना एक विशिष्ट स्थान है। महाकवि अश्वघोष वाल्मीकि के, जिन्हें उन्होंने आदि कवि और धीमान कहकर सम्बोधित किया है, एक महत्त्वपूर्ण उत्तराधिकारी थे और स्वयं कालिदास और भास के पूर्णगामी थे। बौद्ध विचार के इतिहास में अश्वघोष ने जो सबसे महान् कार्य किया, वह है बुद्ध भक्ति पर उनके द्वारा बल देना। अश्वघोष के सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी उपलब्ध होती है। थोड़ी बहुत उनकी काव्य-कृतियों से जो जानकारी उपलब्ध होती है, उसके अनुसार वे साकेत (अयोध्या) के निवासी थे और उनकी माता का नमा सुवर्णाक्षी था। बुद्ध चरित, सौंदरनन्द और सारिपुत्र प्रकरण इनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त अश्वघोष ने एक गीतिकाव्य भी लिखा, जिसका नाम गंडीस्तोत्र गाथा है।

नागार्जुन, जो सातवाहन राजा यज्ञश्री गौतमीपुत्र (१६६-१९६ई.) के समकालिक और मित्र थे। बौद्ध दर्शन के इतिहास में उन्होंने एक युग का निर्माण किया और उसे एक नया मोड़ दिया। बौद्ध दर्शन में उन्होंने माध्यमिक सम्प्रदाय जो शून्यवाद के नाम से भी जाना जाता है, का प्रवर्तन किया। नागार्जुन के समान तार्किक विश्व इतिहास में दूसरा कोई नहीं हुआ है। उनका महान दार्शनिक ग्रन्थ माध्यमिक-कारिका या माध्यमिक शास्त्र है, यह उनके माध्यमिक दर्शन का आधार ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ पर स्वयं ग्रन्थकार ने अकुतोभया नामक व्याख्या ग्रन्थ की रचना की है। नागार्जुन ने एक नैतिक महत्त्व वाली सुहृल्लेख नामक ग्रन्थ की भी रचना की है। इस ग्रन्थ का संस्कृत मूल प्राप्त नहीं होता है किन्तु दूसरी भाषा में अनुवाद रूप आज भी उपलब्ध है। नागार्जुन ने उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त भी अनेक संस्कृत ग्रन्थों की रचना की थी। नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन के संस्कृत व्याख्याकारों में स्थविर बुद्धपालित और भावविवेक का नाम बहुत प्रसिद्ध है। यह दोनों विचारक पाँचवीं शताब्दी ईसवी में हुए हैं। इन दोनों ने क्रमशः शून्यवाद के प्रासँगिक एवं स्वातात्रिक प्रस्थानों की स्थापना की है। आर्यदेव, शान्तिदेव, शान्तरक्षित और कमलशील माध्यमिक सम्प्रदाय के अन्य प्रसिद्ध विचारक हैं।

असंग और वसुबन्धु- इनका समय ईसा की चौथी शताब्दी है। असंग वसुबन्धु के बड़े भाई थे। असंग और वसुबन्धु का जन्म गंधार देश के पुरुषपुर (पेशावर) नगर में हुआ था। प्रारम्भ में असंग और वसुबन्धु सर्वास्तिवाद के अनुयायी थे। असंग महायान बौद्ध धर्म के विज्ञानवाद मत के सबसे अधिक प्रभावशाली आचार्य माने जाते हैं। इनकी प्रेरणा से ही इनका अनुज वसुबन्धु ने सर्वास्तिवाद को छोड़कर विज्ञानवाद ग्रहण किया था। असंग मैत्रेयनाथ के शिष्य माने जाते हैं, जिन्होंने विज्ञानवाद का प्रवर्तन किया था। असंग के मुख्य ग्रन्थ महायान संपरिग्रह, प्रकरण- आर्यवाचा, योगाचार-भूमि-शास्त्र और महायान सूत्रालंकार हैं। महायान सूत्रालंकार असंग और उनके गुरु मैत्रेयनाथ की संयुक्त रचना है। इसकी कारिकाएँ मैत्रेयनाथ के द्वारा लिखी गई थीं और उनकी व्याख्या असंग द्वारा लिखी गई थी। वसुबन्धु अपने अग्रज असंग की प्रेरणा से विज्ञानवाद को स्वीकार करने से पहले सर्वास्तिवादी बौद्ध धर्म के वैभाषिक शाखा के एक प्रसिद्ध आचार्य थे। इनकी महानकृति है, अभिधर्म कोश नामक ग्रन्थ। यह वैभाषिक सम्प्रदाय का ग्रन्थ है। बसुबन्धु ने अपने इस ग्रन्थ पर स्वयं ने भाष्य लिखा है। इस अभिधर्म कोश भाष्य पर आचार्य यशोमित्र ने स्फुटार्थ नामक व्याख्या लिखी है। अभिधर्मकोश के अतिरिक्त बसुबन्धु के एक अन्य कृति परमार्थ सप्तति है, जो उन्होंने अपने समकालीन प्रसिद्ध सांख्याचार्य विंध्यवासी की रचना सांख्य-सप्तति के खण्डन के रूप में लिखी थी। वसुबन्धु के न्याय पर तर्कशास्त्र और वाद-विधि नामक दो ग्रन्थों की रचना की है। महायानी, आचार्य बनने के बाद उन्होंने सद्धर्म- पुण्डरीक-सूत्र, महापरिनिर्वाण सूत्र और वज्रच्छेदिका-प्रज्ञापारमिता पर व्याख्याएँ लिखीं। आचार्य वसुबन्धु ने विंशिका और त्रिंशिका नाम के दो भागों वाला एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः की भी रचना की है।

दिङ्नाग- बौद्ध न्याय के संस्थापक दिङ्नाग का स्थान न्याय के इतिहास में सबसे ऊपर है। उन्हें मध्ययुगीन न्याय के पिता कहा जाय तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। उनका जीवनकाल पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध भाग रहा है। भोटी स्रोतों के अनुसार उनका जन्म का०ची के समीप सिंहवक्त्र नामक स्थान में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। पहले वे हीनयानी बौद्ध धर्म के वात्सीपुत्रीय सम्प्रदाय के अनुयायी थे, परन्तु बाद में वे महायानी बने। भोटी परम्परा के अनुसार वे वसुबन्धु के शिष्य थे। दिङ्नाग ने न्याय सम्बन्धी करीब एक सौ संस्कृत में पुस्तकें लिखीं। इनमें से अनेक भोटी और चीनी अनुवादों में सुरक्षित हैं। दिङ्नाग का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रमाण समुच्चय है। इसके अलावा न्याय प्रवेश, हेतुचक्र, प्रमाण-शास्त्र और आलम्बन परीक्षा भी उन्हीं के ग्रन्थ हैं।

आचार्य धर्मकीर्ति- अद्वितीय प्रतिभा सम्पन्न आचार्य धर्मकीर्ति दिङ्नाग के उत्तराधिकारी हैं। उनका जन्म चोल देश के तिरुमलई नामक ग्राम में हुआ था। धर्मकीर्ति का समय सातवीं शताब्दी ईसवी है। दिङ्नाग के शिष्य ईश्वर सैन से उन्होंने न्याय पढ़ा। बाद में वे नालन्दा महाविहार में जाकर तत्कालीन संघ-स्थविर और उस समय के प्रसिद्ध विज्ञानवादी आचार्य धर्मपाल के शिष्य बने। धर्मकीर्ति के न्याय से सम्बद्ध संस्कृत ग्रन्थों में प्रमाण-वार्तिक, प्रमाण विनिश्चय, न्यायबिन्दु, सम्बन्ध-परीक्षा, हेतु- बिन्दु, वाद-न्याय और सन्तानांतर सिद्धि हैं। यहाँ पर संस्कृत बौद्ध शास्त्रकारों में से कुछ के ही नाम तथा उनके कुछ- एक ग्रन्थों का जिक्र किया है। इसका मायना यह नहीं है कि संस्कृत बौद्ध ग्रन्थकार बहुत ही कम हैं। अनेक विद्वानों ने संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों की रचना की है। संस्कृत भाषा में बौद्ध धर्म-दर्शन, तन्त्र, न्याय, ज्योतिष शिल्प, चिकित्सा आदि विषयों से सम्बद्ध हजारों ग्रन्थों की रचना की थी।

विश्व के पहले-पहल विश्वविद्यालयों के रूप में ख्यात नालन्दा, ओदन्तपुरी, विक्रमशिला आदि महाविहारों में इन संस्कृत बौद्ध/ वाङ्मय का साँगोपांग अध्ययन- अध्यापन होता था। सांस्कृतिक अवसाद के कारण न तो उपर्युक्त महाविहार आज हमारे सामने मूलरूप में विद्यमान हैं और न ही इन महाविहारों में अध्ययन- अध्यापन किये जाने वाले सम्पूर्ण संस्कृत बौद्ध वाङ्मय ही आज मूल संस्कृत रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। नालन्दा, ओदन्तपुरी, विक्रमशिला आदि महाविहार आज भले ही खण्डहर होकर अपने गौरवशाली अतीत को स्मरण कर करके आँसू बहा रहे हों, किन्तु ऐसा नहीं है कि इनके गौरवपूर्ण अतीत को बताने वाला कोई सूत्र ही हमारे पास शेष बचा नहीं है। उन महाविहारों में अध्ययन-अध्यापन किये जाने वाले मूल संस्कृत वाङ्मय को दूसरी भाषा में रूपान्तरित कर बड़े जतन से संजो कर रखने का जो काम भोट तथा चीन के विद्वानों ने किया है, वह अत्यन्त ही प्रशंसनीय है।७वीं सदी में भोट देश के३३वाँ नरेश स्रोङचन गम्पो ने बौद्ध धर्म को अपने देश में आमन्त्रित किया था। कहा जाता है कि उनसे पाँच पीढ़ी पहले राजा ला-थोथोरी ञन-चन के समय में आर्यावलोकितेश्वर से सम्बद्ध कुछ ग्रन्थ भोट देश पहुँच गये थे, किन्तु भाषायी अज्ञानता के कारण वे स्रोङचन-गम्पो के काल तक अपठित पड़े रहे। बोनधर्म के विद्वानों की दावों को नजर अन्दाज करें तो कहा जाता है कि स्रोङचन गम्पो से पहले भोट देश विना लिपि का ही रहा और भोट देश का शासन कथा-कहानियों, परम्पराओं, मान्यताओं के आधार पर संचालित होता था। पहली बार स्रोङचन गम्पो जिसने सम्पूर्ण भोट देश को न केवल एक सूत्र में बाँधा प्रत्युत भोट देश की सीमाओं का विस्तार भी किया था, ने अपने शासन के संचालन में लिपि की आवश्यकता को महसूस किया। इस अवश्यकता की पूर्ति के लिए सम्राट स्रोङचन गम्पो ने अपने देश के विभिन्न क्षेत्रों से २१ (इक्कीस) प्रतिभावान विद्यार्थियों को चुना और लिपि तथा अन्यज्ञान हासिल करने के लिए आर्यदेश भारत भेजा। उन दिनों मार्ग आज की तरह सुगम नहीं था। कई नदी नालों, ऊँचे-ऊँचे पर्वत-शिखरों, घने जंगलों को पार करके जाना पड़ता था। राह चलते कितने ही लोग हिंसक जंगली जानवरों के शिकार हो जाते थे, कितने ही लोग ऊँचे-ऊँचे पर्वत शिखरों को लाँघते हुए बर्फानी तूफानों में फंसकर दम तोड़ देते थे, कितने ही लोग नदी-नालों को पार करते उन में बह जाते थे। कहते हैं, सम्राट स्रोङचन गम्पो के द्वारा लिपि तथा अन्य ज्ञान सीखने के लिए आर्यदेश भारत भेजे इक्कीस विद्यार्थियों में से बीस विद्यार्थी भारत की गर्मी के शिकार हो गये थे। उनमें एक ही विद्यार्थी सौभाग्यशाली रहा जो सभी प्रकार के भयावह संकटों को झेलता हुआ जीवित बच पाया। यह सौभाग्यशाली विद्यार्थी दूसरा कोई नहीं सम्राट स्रोङचन गम्पो का आमात्य थोन-मी-संभोट था। थोन-मी-संभोट ने भारत में तत्कालीन प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र नालन्दा महाविहार में अपना अध्ययन प्रारम्भ किया। वहाँ उन्होंने पण्डित देवविद्या सिंह तथा लिपिकार ब्राह्मण से तत्कालीन लिपि का अध्ययन किया। साथ ही, उनसे तथा अन्य विद्वानों से संस्कृत वाङ्मय, बौद्ध दर्शन एवं साहित्य का अध्ययन किया। अध्ययन समाप्त करके वह अपने भोटदेश पहुँचा। वहाँ पहुँचकर उन्होंने सम्राट स्रोङचन गम्पो की आज्ञा से भोट भाषा की सर्वप्रथम लिपि बनायी। इसके बाद पाणिनि के संस्कृत व्याकरण अष्टाध्यायी की भाँति संस्कृत व्याकरण पर आधारित आठ अध्यायों वाला भोट व्याकरण की रचना की। पहले सम्राट स्रोङचन गम्पो ने भोटलिपि तथा व्याकरण का अध्ययन किया। इसके बाद अपनी प्रजा को भी लिपि तथा व्याकरण के अध्ययन के लिए प्रेरित किया। बस! यहीं से शुरू होता है, भारत के नालन्दा, ओदन्तपुरी, विक्रमशिला महाविहारों में अध्ययन- अध्यापन किये जाने वाले

संस्कृत बौद्ध वाङ्मय का भोटभाषा में अनुवाद का शुभकार्य। थोन-मी-संभोट भोटदेश का पहला लोचावा बने। लोचावा यानि लोकचक्षुः। यह भोटदेश वासियों ने संस्कृत एवं भोट-भाषा के ज्ञाता दुभाषियों के लिए दिया गया सम्मानबोधक सम्बोधन शब्द है। संस्कृत बौद्ध शास्त्रों के अनुवाद का कार्य उत्तरोतर बढ़ता गया। स्रोङचन-गम्पो (६१७-६८८ई.) से लेकर भोट देश के राजा ठि-रल-पा-चन (८७७-९०१ई.) तक भोट देश में संस्कृत बौद्ध वाङ्मय का भोट भाषा में रूपान्तरण का कार्य विना किसी व्यवधान का निर्बाध गति से चलता रहा। ठी-रल-पा-चन के बड़े भाई लङ-दर-मा जिसे ज्येष्ठ होने पर भी राजगद्दी से वंचित रखा गया था, ने अपने कृपा पात्रों के द्वारा ठी-रल-पा-चन को धोखे से मरवा डाला और स्वयं राजगद्दी पर आसीन हो गया। वह बौद्ध धर्म विरोधी था और बोन धर्म जो भोट देश का आदिम धर्म था, का समर्थक था। राजगद्दी पर बैठते ही उसने सबसे पहले भोट देश से बौद्ध धर्म को सदा- सदा के लिए मिटा डालने की ठानी। उन्होंने विहार और पुस्तकालयों में आग लगा दी। धार्मिक स्थानों को कसाई खाना में परिवर्तित कर दिया। भिक्षुओं को गृहस्थ बनने के लिए विवश किया। जो भिक्षु गृहस्थ नहीं बने उन्हें तीर- कमान लेकर शिकार करने के लिए विवश किया, संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद केन्द्र को बन्द कर दिया। यद्यपि लङ्दर-मा को तीन वर्ष से अधिक राजगद्दी पर बैठने नहीं दिया गया, उसे बौद्ध धर्म विरोधी कृत्यों में संलिप्त होने के कारण लालुङ् पल-गि-दोर्जे नामक एक भिक्षु ने धोखे से तीर मार कर मौत के घाट उतार दिया था। लङ्दर-मा के बाद उसकी छोटी रानी का बेटा ओद-स्रुङ राजगद्दी पर बैठा। ओद-सुङ और इसके पुत्र पल-खोर-चन ने लङदरमा की गलतियों की यद्यपि पुनरावृत्ति नहीं की, किन्तु उनकी राजशक्ति इतनी क्षीण हो चुकी थी कि भोट देश का विशाल साम्राज्य जिसकी स्थापना स्रोङचन गम्पो ने की थी, धीरे-धीरे खण्डित होने लगा। पलखोरचन (९६५-८२ई.) तक भोटदेश कई टुकड़ों में बँट गया था। पलखोरचन की मृत्यु (९८२ई.) के बाद तो विशाल भोट साम्राज्य बिल्कुल छिन्न-भिन्न हो गया। लङ्दर-मा से लेकर पलखोरचन तक भोट देश में संस्कृत बौद्ध शास्त्रों का भोट भाषा में रूपान्तरण का कार्य बाधित रहा। पलखोरचन का दूसरा पुत्र ठि-किद-दे-ञिमा-गोन क्रान्ति के कारण ल्हासा छोड़कर अपने विश्वास पात्र एक सौ घुड़सवारों के साथ ङरी (पश्चिमी भोट-देश) पहुँचा। उसने ङरी कोर-सुम यानि लद्दाख, गुगे और पुरङ को अपने अधिकार में लेकर एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। ञिमा-गोन ने ङरी-कोर-सुम को पुनः तीन भागों में बाँटकर अपने तीनों पुत्रों में बाँट दिया। इस बँटवारे में पल-गि-गोन को लद्दाख, टशि-दे-गोन को पुरङ और दे-चुग-गोन को गुगे का भाग मिला। टशि-दे-गोन का ज्येष्ठ पुत्र खोर-रे अपने राज्य को अपने छोटे भाई स्रोङ-ङे के हाथ सौंपकर स्वयं अपने दोनों पुत्रों नागराज और देवराज के साथ भिक्षु हो गया। खोर- रे जिसका भिक्षु नाम येशेस-ओद (ज्ञानप्रम) था, ने अपने पूर्वजों द्वारा सद्धर्म के प्रति की गई सेवाओं के महत्त्व को समझा। अतः इसने भी अपने पूर्वजों की तरह ही सद्धर्म की सेवा करने की ठानी। अपने गुगे राज्य की राजधानी थोलिङ् को बौद्ध धर्म-दर्शन के प्रचार-प्रसार तथा संस्कृत बौद्ध शास्त्रों का भोटी भाषा में अनुवाद के केन्द्र के रूप में स्थापित किया। भिक्षु ज्ञानप्रभ तथा उनके बाद के गुगे के धर्मराजों ने सद्धर्म के प्रचार-प्रसार में बहुत बड़ी भूमिका निभायी है। ज्ञानप्रभ ने भी अपने क्षेत्र के विद्यार्थियों को संस्कृत भाषा तथा संस्कृत बौद्ध शास्त्रों के अध्ययन के लिए तत्कालीन बौद्ध धर्म- दर्शन तथा तन्त्र के गढ़ के रूप में ख्यात कश्मीर में भेजा। कहा जाता है कि ज्ञानप्रभ ने इस कार्य के लिए अपने क्षेत्र से इक्कीस विद्यार्थी भेजे थे। इन इक्कीस

विद्यार्थियों में से केवल दो ही विद्यार्थी सौभाग्यशाली थे जो भारत में जीवित बच पाये। अन्य उन्नीस विद्यार्थी भारत में ही काल-कवलित हो गये। रभद्र जो बाद में महानुवादक रभद्र के नाम से ख्यात हुए ने कुल तेरह वर्षों तक कश्मीर आदि भारतीय क्षेत्रों में रहकर जहाँ संस्कृत भाषा, व्याकरण तथा संस्कृत बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन किया वहीं उन्होंने अनेक संस्कृत बौद्ध शास्त्रों का विभिन्न भारतीय आचार्यों की सहायता से भोट भाषा में रूपान्तरण भी किया। महानुवादक रभद्र ने अपने जीवन काल में शताधिक संस्कृत बौद्ध शास्त्रों का विभिन्न भारतीय आचार्यों की सहायता से भोट भाषा में रूपान्तरित किया। महानुवादक रभद्र कश्मीर से अपने देश गुगे लौटने पर उन्हें गुगे के धर्मराज ने अपना वज्राचार्य नियुक्त किया। साथ ही, उन्हें लद्दाख, पुरङ, गुगे आदि क्षेत्रों में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार का कार्य सौंपा। उन्होंने इन हिमालयीय क्षेत्रों में असंख्य स्तूपों के साथ-साथ एक-सौ आठ बौद्ध विहारों की भी स्थापना की थी। आज भी उक्त क्षेत्रों में महानुवादक रभद्र के जो बौद्ध विहार काल के थपेड़ों को सहते हुए बचे हैं, वे तत्कालीन बौद्ध मूर्तिकला, भित्तिचित्रकला तथा स्थापत्यकला के गौरवपूर्ण इतिहास को समझने के लिए अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण हैं। जैसे कि ऊपर कहा जा चुका है कि गुगे के धर्मराज ज्ञानप्रभ ने गुगे की राजधानी थोलिङ को संस्कृत बौद्ध शास्त्रों के अनुवाद के एक केन्द्र के रूप में विकसित किया। उनके आगे के उतराधिकारियों ने भी उनके कार्यों को निर्बाध गति से चलने दिया। गुगे के इन्हीं धर्मराजों ने विक्रमशिला महाविहार के महास्थविर दीपंकर श्रीज्ञान को अपने थोलिङ आमत्रित किया। और उनके द्वारा विनय सम्बन्धी भ्रान्तियों का निराकरण कराया। विनय सम्बन्धी भ्रान्तियों को दूर करते हुए दीपंकर श्रीज्ञान ने बोधिपथप्रदीप नामक ग्रन्थ की रचना की। तीन वर्षों तक गुगे में संस्कृत बौद्ध शास्त्रों का भोटी अनुवाद आदि कार्य में सहायता प्रदान करने के बाद वे मध्य तिब्बत गये और कुछ वर्ष रहने के बाद वहीं उनकी मृत्यु हो गई।

जैसे कि ऊपर कहा जा चुका है कि बौद्ध विद्वानों ने संस्कृत में हजारों ग्रन्थों की रचना की, जो सांस्कृतिक अवसाद के कारण अब बहुत कम ग्रन्थ मूल संस्कृत में उपलब्ध होते हैं, किन्तु भोट विद्वानों के अथक प्रयास के कारण उन ग्रन्थों का भोटी रूप कनग्युर तथा तनग्युर आज हमारे सामने उपलब्ध है। कनग्युर यानि बुद्ध वचनों का संग्रह रूप है और उन बुद्धवचनों का व्याख्यारूप तनग्युर है। कनग्युर और तनग्युर में ग्रन्थों का शीर्षकानुसार वर्गीकरण इस प्रकार है-

कनग्युर यानि बुद्धवचनों का संग्रह

क्र.संख्या	शीर्षक	ग्रन्थों की संख्या
१.	विनय	७
२.	प्रज्ञापारमिता	३६
३.	अवतंसक	१
४.	रकूट	४९
५.	सूत्रान्त	२०६
६.	तन्त्र	४६८

७.	प्राचीन तन्त्र	१७
८.	कालचक्र तन्त्र	१
९.	मन्त्र संग्रह	२६६

तनग्युर यानि बुद्धवचनों का व्याख्यासंग्रह

क्र.संख्या	शीर्षक	ग्रन्थों की संख्या
१.	स्तोत्र	७१
२.	तन्त्र	२६०६
३.	प्रज्ञापारमिता	३८
४.	माध्यमिक	१५७
५.	सूत्र टीका	३९
६.	योगाचार	६६
७.	अभिधर्म	१८
८.	विनय	४६
९.	जातक	८
१०.	लेख (पत्र)	४५
११.	प्रमाण शास्त्र	६६
१२.	शब्द सूत्र (व्याकरण)	३७
१३.	चिकित्सा शास्त्र	७
१४.	शिल्पविद्या	१५
१५.	सामान्य शास्त्र	१८
१६.	विश्व शास्त्र	११९
१७.	अतिशकृत ग्रन्थ	१०३

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म के विकास में अन्य भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत का बहुत योगदान रहा है। आज बौद्ध विहारों में हजारों की संख्या में जो पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं, वे सारी मूलरूप में संस्कृत में ही रहीं है। जहाँ तक संस्कृत में मन्त्र हैं, उनका तो भोटी में रूपान्तरण भी नहीं हुआ है, वे सारे मूल संस्कृत में ही हैं, केवल उनकी लिपि ही भोटी है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. सांस्कृत्यायन, राहुल, बुद्ध चर्य्या, महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, १९९२।

२. उपाध्याय, बलदेव, बौद्ध दर्शन मीमाँसा, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी (उ.प्र.)- १९८९।

३. पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, हिन्दी-समिति, सूचना विभाग (उ.प्र.)- १९७६।

४. वापट, पी. वी., बौद्ध धर्म के२५००वर्ष, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मत्रालय, भारत सरकार- १९९७।

५. सांकृत्यायन राहुल, तिब्बत में बौद्ध धर्म, किताब महल, इलाहाबाद, उतर प्रदेश।

६. नेगी, विद्यासागर, महानुवादक रभद्र (पुस्तक), हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी, शिमला, १९९६।

७. टुचि. त्पद बीमद ठँद. च्व्ए प्दकव. ज्पइमजपबंए प्प्।कपजपलं च्तींदए छमू क्मसीप. १९८०ण्

८. त्रिपाठी, रामशंकर एवं धम्मा, भदन्त रेवत, अभिधम्ममत्थसंगहो- की भूमिका, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, (उ.प्र.)- १९६७।

९. थोन्डुप टुल्कु- तिब्बती पाठमाला, केन्द्रीय तिब्बती, उच्च शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी (उ.प्र.)।

१०. दोर्जे सेम्पा- नागार्जुनकृत शून्यतासप्तति की भूमिका, केन्द्रीय तिब्बती, उच्चशिक्षा संस्थान सारनाथ वाराणसी, (उतर प्रदेश)।

११. लाहुली, के. अंगरूप, (अनुवादक), बोधिपथप्रदीप (तिब्बती मूल एवं हिन्दी अनुवाद), केन्द्रीय बौद्ध विद्या संस्थान, चोगलमसर, लेह लद्वाख, १९९०।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ0135-139) ISSN 0974 – 8830

प्रत्यभिज्ञा के आलोक में सहृदय

डॉ. योगेश शर्मा[१]

भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में काव्य के अधिकारी की अवधारणा परिवर्तनशील रही है। इस परम्परा में काव्य के अधिकारी को वात्स्यायन ने नागरक और सामाजिक, भरतमुनि ने सुमनस प्रेक्षक, दण्डी ने विदग्ध लोल्लटशंकुक- ने प्रमाता, भट्टनायक ने सामाजिक और सिद्धिमात्रर, आनन्दवर्द्धन ने सहृदय, अभिनवगुप्त ने अधिकारी, राजशेखर ने भावक, मम्मट ने प्रतिभाजुष आदि भिन्नभिन्न- अभिधानों से सम्बोधित किया। इन सभी में आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रयुक्त सहृदय[२] शब्द सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके प्रयोग से काव्यशास्त्र में काव्य के अधिकारी की एक निश्चित अवधारणा विकसित हुयी। सहृदय शब्द का प्रयोग यद्यपि आनन्दवर्द्धन ने किया, किन्तु अभिनवगुप्त ने इसकी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या करके इसको इतना व्यापक एवं बहुआयामी तात्त्विक विस्तार दिया कि सहृदय शब्द संस्कृत काव्यशास्त्रीय चिंतन की परम्परा में एक पूरी अवधारणा के रूप में प्रतिष्ठित हो गया।

अभिनवगुप्तपादाचार्य (१०वीं शताब्दी) काश्मीर शैवदर्शन की अद्वयवादी परम्परा के प्रतिष्ठित आचार्य हैं। अभिनवगुप्त ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका रचयिता उत्पलदेव के प्रशिष्य व लक्ष्मणगुप्त के शिष्य थे। इन्होंने ईश्वरप्रत्याभिज्ञाकारिका पर विमर्शिनी व विवृतिविमर्शिनी टीकाएँ लिखीं। इनके अतिरिक्त ध्वन्यालोक पर लोचन व नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती टीका, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, परात्रिंशिका, परमार्थसार, भैरवस्तोत्र आदि लगभग ४२ ग्रन्थों का प्रणयन किया। अभिनवगुप्त मूलतः शैव दर्शनिक हैं, इसलिये अभिनवभारती व लोचन जैसे साहित्यिक ग्रन्थों पर भी उनकी शैवी दृष्टि का प्रभाव परिलक्षित होता है। अभिनव ने इसी शैवी दृष्टि से प्रत्यभिज्ञा की पृष्ठभूमि में सहृदय की एक परिपक्व अवधारणा रखी। सहृदय ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण काव्य चिन्तन को दर्शन के समकक्ष रखने वाले अभिनवगुप्त ने साहित्य के विभिन्न विवेच्य पक्षों और उस सन्दर्भ में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों को अपने तन्त्रवादी दर्शन के आलोक में अर्थच्छाया प्रदान की।

काव्य चिन्तन के सन्दर्भ में सर्जक को सहृदय कहा ही गया है। यहाँ विशेषतः बल ग्राहक पक्षीय सहृदय शब्द ही विवेच्य है। इस शब्द का प्रयोग अथर्ववेद में सर्वप्रथम मिलता है। वहाँ **सहृदयं सामनस्यमद्विषं कृणोमि वः**[३] पंक्ति प्रयुक्त मिलती है। इस पंक्ति में सहृदय का अर्थ समान हृदय है,

---

१. (सहायक आचार्य), संस्कृत, दर्शन एवं वैदिक अध्ययन विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, वनस्थली, निवाई, टोंक (राजस्थान)

२. तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ध्वन्यालोक, प्रथम कारिका वैसे सहृदय शब्द का प्रयोग अथर्ववेद में भी मिलता है, परन्तु काव्यशास्त्रीय चिन्तन के क्षेत्र में. सहृदय शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग वामन की रचना काव्यालंकारसूत्र १-२-२१ सहृदयहृदयानां रंजकः कोऽपि पाकः में मिलता है।

३. अथर्ववेद ३.३.१

काव्यास्वाद के सन्दर्भ में नायक, कवि तथा श्रोता अनुभव साम्य की दृष्टि से समान हृदय वाले या सहृदय कहे जाते हैं। नाट्यशास्त्र में सहृदय के लिए सुमनसप्रेक्षक का प्रयोग है। भरत, भामह, दण्डी, वामन तथा उद्भट आदि ने सहृदय शब्द के समानार्थक अन्य शब्दों का प्रयोग किया है किन्तु सहृदय का प्रचुर मात्रा[४] में प्रयोग आनन्दवर्द्धन ने ध्वन्यालोक में किया है जिसकी विस्तृत व्याख्या अभिनवगुप्तपादाचार्य ने लोचन में की। इसके अतिरिक्त सहृदय एवं हृदय तत्त्व की व्याख्या तन्त्रालोक, परात्रिंशिका तथा ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी व विवृत्तिविमर्शिनी आदि ग्रन्थों में मिलती है। सहृदय शब्द का साक्षात् सम्बन्ध हृदय तत्त्व से है। हृदय तत्त्व शैव दर्शन का विषय है, जो चिति शक्ति, विमर्श, प्रतिभा, शिवा, परा, स्वातन्त्र्य शक्ति आदि का प्रतिपादक है। इसमें आनन्द का प्राधान्य है। यह उपचारतः परमशिव का हृदय है। इसी हृदय तत्त्व के सन्निधान में इस सहृदय की अवधारणा का विकास हुआ।

शैव दर्शन में सृष्टि की प्रक्रिया दो स्तरों पर होती है।

१. जीवात्मा के स्तर पर २. विश्वात्मा के स्तर पर।

काव्यशास्त्र की प्रक्रिया भी इसके समानान्तर है।

१. कवि के स्तर पर (सूक्ष्म से स्थूल) २. सहृदय के स्तर पर (स्थूल से सूक्ष्म)

जिस प्रकार आत्मचैतन्य में विश्रान्त शिवा के उन्मीलित होते ही सारा विश्व आन्यनिरपेक्षता के कारण क्षण भर में समुन्मीलित हो जाता है[५] वैसी रचयिता कवि की आत्मा में सतत उदित प्रतिभा नामक परा वाग्देवता के अनुग्रह से इच्छानुसार काव्योचित विचित्र एवं अपूर्व अर्थ की स्फुरणा होने लगती है। काव्यजगत् क्षणभर में निर्मित हो जाता है[६]। अर्थात् जो कार्य शिव की शिवा (शक्ति) करती है वही कार्य कवि की प्रतिभा करती है। दूसरी तरफ सहृदय जीवात्मापुरुष की तरह स्वप्न कल्पनादि के समान अपनी प्रतिभान शक्ति से कवि सृष्टि से आभासित अनुभवगम्य सृष्टि करता है।

शैव दर्शन में अन्तःस्थित का बहिःप्रकाश है जैसे बीज में वृक्ष रहता है वैसे ही शक्ति में शिव समाया है। सर्जन की दृष्टि से स्वातन्त्र्यवाद है और विश्व की दृष्टि से आभासवाद। इस दर्शन में चरम सत्ता को परमशिव कहते हैं जिसकी पाँच शक्तियाँ मुख्य है[७]- चित् (आत्मप्रकाश), आनन्द, (स्वातन्त्र्य शक्ति) इच्छा, (सर्जन शक्ति) ज्ञान तथा क्रिया (कोई भी आकार ग्रहण करने की शक्ति) चित् और आनन्द का तो सामरस्य है। ये महेश्वर के स्वरूप हैं। इच्छा सदाशिव की, ज्ञान ईश्वर का और क्रिया यह शुद्ध विद्या का प्ररूप हैं शैव दर्शन में चरम सत्ता के दो पक्ष हैं। १. विश्वोत्तीर्ण २. विश्वमय। विश्वोत्तीर्ण

---

४. ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत, १,२,४ की वृत्ति

५. यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्। स्वात्मायतनविश्रान्तां वन्दे तां प्रतिभां शिवाम्॥ ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १७२

६. कवेरपि स्वहृदयायतनसततोदित प्रतिभाभिधान परवाग्देवतानुग्रहोत्थित विचित्रापूर्वार्थनिर्माणशक्तिशालिनः प्रजापतेरिव कामजनित जगतः। अभिनव भारती, प्रथम अध्याय पृ. २९

७. चिदानन्देषणा ज्ञानक्रियापञ्चमहातनुः। विवर्तते महेशानस्तत्तद्वर्गेषु पञ्चधा॥ तन्त्रालोक (विवेक टीका (६-४९)

रूप में परमशिव हैं, विश्वमय स्वरूप प्रकाशविमर्शमय है जो सर्जनात्मक रूप में शिव तत्त्व है। यह परमशिव का स्पन्द है। शिव की शक्ति निषेध व्यापार रूपा है जो इदम् अभिन्न हैं। सदाशिव में अहम् स्फुट और इदम् ध्यामल रहता है। ईश्वर में इदम् किंचित् स्फुट होता है। शुद्ध विद्या में दोनों समकक्ष स्फुट रहते हैं। यहाँ तक शुद्धाध्वा अभिव्यक्ति है। यह भेदाभेद भूमि हैं, इसके बाद भेद भूमि है। इसमें स्वेच्छा से शिव आणवमल से स्वरूप गोपन कर जीव भाव प्राप्त करता है। तदनन्तर माया[८] शक्ति से भेद भूमि पर अनेक हो जाता है। कला, काल, विद्या राग और नियति जैसे पञ्चकंचुकों के कारण उसकी शक्तियाँ सीमित हो जाती हैं। वह परिसीमित हो जाता है। शुद्धाध्वा का अहम् ही अशुद्धाध्वा में पुरुष तथा इदम् प्रकृति बन जाता है। शैव दर्शन में प्रत्येक जीव में प्रकृति भिन्नत्व को स्वीकार किया है इच्छा, ज्ञान, क्रिया ही इस अध्वा में सत्व, रज तथा तम बन जाते हैं। इस प्रकार प्रकृति से सांख्य दर्शन के २३ और तत्त्व क्रमशः आभासित होते हैं- महत्, अहंकार, एकादश इन्द्रियाँ, पञ्च तन्मात्र और पञ्च महाभूत इस प्रकार ३६ तत्त्व होते हैं।

इस दर्शन में अज्ञान ही बंध है और मोक्ष का अर्थ है स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा या पहचान अर्थात् आत्म परामर्श जो काव्यशास्त्रीय दृष्टि में सहृदय का भी अन्तिम लक्ष्य है। आचार्य अभिनवगुप्त ने काव्य प्रयोजन में मुख्यतः प्रीति या परनिर्वृत्ति की बात कही, जो तत्त्वतः संविद् विश्रान्ति या पूर्णता परामर्श है। साधारणीकृत भाव की भूमि पर संवित् की विश्रान्ति है। इस अवस्था तक पहुँचने के लिये जहाँ शैव दर्शन में चार उपाय बताये गये हैं वहीं काव्यशास्त्र में विभावादि की अवधारणा में है।[९] सहृदय की अवधारणा इसी शैव दर्शन की आधारभूमि में प्रस्फुटित हुयी। अभिनवगुप्त ने जो सहृदय शब्द की व्याख्या अभिनवभारती व ध्वन्यालोकलोचन में की है। वह प्रत्याभिज्ञा के प्रभाव के कारण ही संभव हुआ इसमें त्रिक की दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग मिलता है। सहृदय के स्वरूप का सम्यक् उद्घाटन प्रत्यभिज्ञा की पृष्ठभूमि में ही संभव है। सहृदय के स्वरूप पर दृष्टि डालते हुये अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती व लोचन में उसका लक्षण दिया है।

१.सहृदय वह होता है जो कल्पना शक्ति से सम्पन्न होने के कारण शुद्ध रसानुभव का आनन्द लेने का अधिकारी है।[१०]

२. सहृदय वे हैं जो काव्य एवं शास्त्र के अध्ययन द्वारा अपने सहृदय के साथ संवाद की शुद्ध सामर्थ्य प्राप्त कर चुके हैं और इस प्रकार जिनमें प्रस्तुत के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने का गुण हो।[११]

इन परिभाषाओं में प्रमुखतः इन गुणों का उल्लेख है-

---

८. माया च नाम देवस्य शक्ति व्यतिरेकिणी। भेदावभासस्वातन्त्र्यं तथा हि स तया कृतः॥ तन्त्रालोक-६-११६

९. जिस प्रकार आणवादि उपायों से जीवात्मा पुरुष परमशिवत्व को प्राप्त करता है उसी प्रकार विभावादि के द्वारा सहृदय रसानन्द या चमत्कार को प्राप्त करता है।

१०. अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशीलहृदयः। हिन्दी अभिनव भारती, पृ.४७०

११. काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयी भवन योग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः। ध्वन्यालोकलोचन, पृ.४०

१. सहृदय का हृदय ऐसा निर्मल होना चाहिये कि जो मंच पर प्रदर्शित नाट्य को दर्पण जैसी निर्मलता से प्रतिबिम्बित कर सके।

२.नाट्यवस्तु के साथ एकाकार की क्षमता हो।

३.उसे कवि के मन से उस भाव का अनुभव करना चाहिये जो नाटक अथवा काव्य के माध्यम से सम्प्रेषित किया जा रहा है। इस सभी गुणों को तन्त्रालोक में स्पष्ट किया गया है। निर्मलत्व के लिये वे कहते हैं।

नैर्मल्यं चाति निबिडसजातीयैकसंगतिः स्वस्मिन्न भेदाद् भिन्नस्य दर्शनक्षमतैव या अत्यक्तस्वप्रकाशस्य नैर्मल्यं तद् गुरूदितान्।[१२]

अर्थात् निर्मलता किसी पदार्थ के सजातीय तत्त्वों में घनिष्ठ सामीप्य है। जैसे दर्पण रूप-परिमाणुओं से मिलकर बना है। ये परमाणु एक दूसरे के अत्यन्त सामीप्य में हैं, किन्तु जब दर्पणतल धूलिकणों से ढक जाता है तो यह चेहरे को स्पष्टतया प्रतिबिम्बित नहीं कर पाता, क्योंकि रूप परमाणुओं का घनिष्ठ सामीप्य उनके बीच आने वाले धूलिकणों द्वारा बाधित होता है। अतः दर्पण निर्मल नहीं है। जब हम धूलि को हटा देते हैं तो रूप परमाणुओं का घनिष्ठ.सामीप्य फिर से लौट आता है और हम कह सकते हैं दर्पण निर्मल है हमारे हृदय के विषय में भी यही स्थिति है जब हम अभिनीत नाटक को देखते हैं अथवा काव्य को पढते हैं तो हमारा मन उसमें प्रस्तुत भाव से परिपूर्ण होना चाहिये। प्रस्तुतविषय-वस्तु से असम्बद्ध किसी अन्य भाव अथवा भावों के उदय से हमारा मन व्याकुल नहीं होना चाहिये।

दूसरा गुण तन्मय हो जाने की सामर्थ्य है, यह तभी संभव है जब सहृदय की आवश्यक निर्मलता हममें हो, इसलिये दर्शक के हृदय की शुद्धता के अनुसार ही प्रदर्शित स्थिति उसके सहृदय में प्रतिबिम्बित होती है। (आस्ते हृदयनैर्मल्यातिशये तारतम्यतः) प्रदर्शित वस्तु के दो अंश होते हैं चेतन और अचेतन। अचेतन अंश को दर्शक उसी प्रकार ग्रहण करता है जैसे अनेक सूक्ष्मताओं वाले किसी चित्र के एकत्व को ग्रहण किया जाता है किन्तु चेतन अंश का ग्रहण दर्शक द्वारा अभिनीत भाव से तादात्म्य किये विना नहीं होता है[१३]। हम एक घट का प्रत्यक्ष करते हैं। घट हमारी चक्षुरिन्द्रिय पर प्रतिफलित होकर हमारे मानस पटल पर उपस्थित होता है। मनःपटल व्यष्टि चेतना का ही एक प्रसृत रूप है, विमर्श का ही एक स्फुरित या स्पन्दित स्वरूप है। इस प्रकार बाह्य घट हमारी प्रकाश विमर्शमयी सत्ता का ही एक अंग बन जाता है। विषय की यह आत्मकाश परिणति ही तन्मयीभवन है। **'तथा च घटो मम स्फुरीति कोऽर्थः? मदीयं स्फुरणं स्पन्दमाविष्टः मद्रूपतामापन्न एव, चिन्मयत्वात्।'**[१४] भास्कर कण्ठ अभिनवगुप्त के उक्त मत को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं--

बाह्य पदार्थों का जो स्वरूप प्रमाता की चेतना के समक्ष आता है वह मूलतः शुद्ध प्रकाश से भिन्न नहीं, तथापि माया द्वारा पृथक् रूप से भासित होता हुआ संकुचित चेतना के सामने आता है। प्रमाता

---

१२. तंत्रालोक (विवेक टीका)१-७, ८

१३. जडेन यः समावेशः स प्रतिच्छन्दकाकृतिः। चैतन्येन समावेशस्तादात्म्यं नापरं किल॥

१४. प्रेमस्वरूप गुप्त, रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ .२०१-२०२

की चेतना उस वस्तु के साक्षात्कार के समय फैल जाती है और फैलकर उस वस्तु को अपना अंग बना लेती है। पदार्थों की यह आत्मरूपता की प्राप्ति ही तन्मयीभाव है।[१५] इस प्रकार अभिनवगुप्त के तन्मयी भाव का अर्थ है- प्रमेय की आत्मकारा परिणति।

भाव के साथ इस तादात्म्य के परिणामस्वरूप हृदय संवाद होता है। संवाद का अर्थ दो सदृश वस्तुओं में सामञ्जस्य। काव्य में इस स्थिति के माध्यम से कवि के भाव और पाठक या दर्शक के बीच की स्थिति से सामरस्य की स्थिति उत्पन्न होती है जिसमें चमत्कार या आनन्द मिलता है, इसे आत्मपरामर्श या पूर्णता परामर्श भी कहते हैं।

इस प्रकार हृदय तत्त्व एवं सहृदय की अवधारणा को विना शैव दार्शनिक पृष्ठभूमि के समझना कठिन है। आचार्य अभिनवगुप्तपादाचार्य ही इस अवधारणा को सपष्ट व विकसित कर पाये क्योंकि उनके पास तन्त्र व आगम का एक ठोस दार्शनिक आधार था।

१५. ग्रहण समये भावस्थ मायया भावत्वेन भासितं निज सहज शुद्ध प्रकाशाख्यं स्वरूपमेव प्रमातारं प्रति स्फुटी भवति यतः, तदा प्रमाता, तद्वस्तु प्रति दिदृक्षा समये व्यापकी भवति व्यापकीभवंश्चतद्वस्तु स्वात्मसात्करोति तन्मयीभावासादनं च वस्तुनः शुद्धप्रकाशस्वरूप त्वासादानेयम् प्रमातुः शुद्ध प्रकाशमात्र रूपत्वात्। रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन , पृ .२३०

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ0140-149) ISSN 0974 – 8830

प्राणिविज्ञान विशेषज्ञ कालिदास

डॉ. राकेश शास्त्री[1]

विद्वत्मान्यता है कि **जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि,** इसी उक्ति को चरितार्थ करते दिखायी देते हैं, संस्कृत वाङ्मय के सिरमौर हमारे विवेच्य 'महाकवि कालिदास'। वस्तुस्थिति तो यह है कि हमारी मान्यता के अनुसार कालिदास-त्रय ही विज्ञान के महत्त्वपूर्ण एवं सर्व सम्मत अंग प्राणि-विज्ञान के उत्कृष्ट विशेषज्ञ रहे हैं, क्योंकि उन्होंने अपनी-अपनी कृतियों में पशु, पक्षी एवं जल में विचरण करने वाले प्राणी तथा भ्रमर, जुगनू आदि जीवों की चेष्टाओं, स्वभाव आदि के सम्बन्ध में उल्लेख करके अपने प्राणि-विज्ञान विषयक वैदुष्य को प्रभावी अभिव्यक्ति प्रदान की है। इसकी चर्चा हम प्रस्तुत आलेख में करेंगे।

सर्व प्रथम ई.पूर्व प्रथम शती में स्थित नाटककार की ही बात लेते हैं, उन्होंने अपनी तीनों ही कृतियों में विभिन्न प्रकार के जीव-जन्तुओं का न केवल उल्लेख किया है, अपितु सूक्ष्म कार्य व्यापार एवं शारीरिक संरचना का भी कथन करके अपने प्राणि-विज्ञान को प्रदर्शित किया है। उनके द्वारा वर्णित पशुओं में पृथ्वी पर विचरण करने वाले प्राणियों में मृग,[२] हाथी,[३] भैंसे, सूअर,[४] सिंह,[५] अश्व,[६] बिल्ली,[७] जल में रहने वाले सर्प,[८] मछली,[९] मेंढक,[१०] आकाश में उड़ने वाले पक्षी गिद्ध,[११] कोयल,[१२] मयूर,[१३] हंस,[१४] मयूर,[१५] एवं कीट पतंगों में भ्रमर,[१६] मक्खी,[१७] चीटी[१८] आदि के स्वभाव एवं क्रिया कलापों का उल्लेख

---

१. १-जे-३८, हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, बांसवाडा (राज.), दूरभाष: ९४६०३०८६२३,
२. शाकुन्तलम्- १/७, २/६
३. शाकुन्तलम्- १/८, विक्रमो.-४/१९
४. शाकुन्तलम्- २/६
५. शाकुन्तलम्- ७/२७ विक्रमो.-४/४३
६. शाकुन्तलम्- १/८।
७. माल.-४/पृ.-१३३
८. माल.-४/पृ.-१४१
९. विक्रमो.-३/१८ से पूर्व शाकुन्तलम्- ६/१३
१०. माल.- ४/१६
११. माल.- २/१४ से पूर्व। विक्रमो.-५/१, २ से पूर्व, २
१२. विक्रमो.-४/२४।
१३. विक्रमो.-४/१८
१४. विक्रमो.-४/३०, ३२, ३३ शाकुन्तलम्- ६/२८
१५. विक्रमो.-५/१३
१६. विक्रमो.-१/३ शाकुन्तलम्- १/२०।
१७. माल.- २/२
१८. माल.- ३/३

किया है।

डॉ. प्रभुदयालु अग्निहोत्री के शब्दों में- 'संसार में ऐसा अन्य कोई कवि आज तक नहीं जन्मा जो मृग-मृगियों के शील स्वभाव और व्यापार चेष्टाओं से इस सीमा तक परिचित रहा हो। मृग वस्तुत: कालिदासीय अन्तर्मधुरिमा और कोमलता को समझने के श्रेष्ठतम साधन हैं।'[१९] डॉ. अग्निहोत्री का यह कथन वस्तुत: काव्यकार पर अधिक अंशों में घटित होता है।

अब हम सर्व प्रथम मृग के सम्बन्ध में नाटककार के प्राणि-विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान का विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं। नाटककार इस तथ्य से सुपरिचित रहे हैं कि मृगों का स्वभाव झुण्ड में विचरण करना है। दिन भर घास चरने के बाद वे किसी पेड़ की शीतल छाया में बैठ कर जुगाली करते हैं, जिसे उन्होंने अपने शाकुन्तलम् में इस प्रकार अभिव्यक्ति प्रदान की है।[२०]

उल्लेखनीय है कि नाटककार एवं काव्यकार दोनों ही महाकवियों का मृग के साथ अत्यधिक लगाव रहा है। यही कारण है कि उन्हेंने अपने-अपने काव्यों में मृग के सम्बन्ध में ऐसे प्राणि-विज्ञान से जुड़े हुए सूक्ष्म एवं तल स्पर्शी अनेक तथ्यों का उल्लेख किया है, जो किसी प्राणी वैज्ञानिक के लिए ही सम्भव है। नाटककार कालिदास ने अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति शाकुन्तलम् के प्रारम्भ में ही आखेटक दुष्यन्त द्वारा पीछा किए जाते हुए भयभीत कृष्ण सार मृग का जिस सूक्ष्मता के साथ स्वाभाविक चित्रण किया है, वह उनके मृग विषयक सूक्ष्म मनोविज्ञान का परिचायक कहा जा सकता है।[२१]

यहाँ मृत्यु के भय से अपने प्राणों को बचाने के प्रयास में कृष्णमृग द्वारा राजा के रथ के आगे-आगे बेतहाशा दौड़ते हुए बार-बार पीछे की ओर देखते हुए शत्रु से दूरी का आकलन करते हुए, अपनी गर्दन को मोड़ कर रथ पर दृष्टिपात करते हुए बाण लगने के डर से अपने पीछे के हिस्से को अगले हिस्से में घुसाते हुए संकुचित करते हुए घास चरते हुए अकस्मात् दौड़ने के कारण मुख में घास के तिनके एवं दौड़ने से हुई थकान के कारण मुँह के खुलने से मार्ग में उनका गिरते जाना और अपनी शक्ति के अनुसार तेज दौड़ने का पूरा प्रयास करते हुए आकाश में अधिक पृथ्वी पर कम जाने का चित्रण एवं इस सम्पूर्ण चित्रण में मृग के भय शंका और आवेग आदि भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति नाटककार को मृग विषयक मनोविज्ञान से पूर्णतया परिचित सिद्ध करती है।

उल्लेखनीय है कि नाटककार ने मृग के नेत्रों की सुन्दरता का भी सूक्ष्मता पूर्वक निरीक्षण किया है। तभी तो उन्होंने अपनी तीनों ही नायिकाओं की आँखों की उपमा के लिए मृग के नेत्रों का उपमान रूप में प्रयोग किया है।[२२] नाटककार द्वारा मृग विषयक वर्णनों के सूक्ष्म अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि उनका मृग के साथ अत्यन्त निकट का सम्बन्ध रहा है।

महर्षि कण्व के आश्रम में जहाँ उपवन से कुशा को उखाड़ लिया गया है, वहाँ मृग शावक निडर

---

१९. महाकवि कालिदास, डॉ. प्रभु दयालु अग्नि होत्री, भाग-३, पृ.- ३०१
२०. छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थं विहस्यते। शाकुन्तलम्- २/६
२१. ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टि:। शाकुन्तलम्- १/७
२२. तया सारंगाक्ष्या, माल.- ३/१ मृगलोचना, विक्रमो.-४/८, ५९ सारंगाक्ष्या, शाकुन्तलम्- ६/७

होकर धीरे-धीरे घास चर रहे हैं।[२३] यहाँ मृग शावकों के कोमल पैरों में कुशाओं के चुभने की शंका को दूर करके उनके निडरता पूर्वक विचरण करने का उल्लेख करके नाटककार ने अपनी मृग विषयक सूक्ष्म दृष्टि को अभिव्यक्ति प्रदान की है। इसी प्रकार मृग शावक का इधर उधर देखते हुए अपनी माँ को ढूँढने के लिए व्याकुल होना भी उनके मृग विषयक ज्ञान को ही अभि- व्यंजित करता है-

अनुसूये ! यथैष इतो दत्तदृष्टिरुत्सुको ......।[२४]

बालकपन में अपनी अकुशलता के कारण घास खाते समय कुश सूची से मुख में घाव करा लेना, माता समान शकुन्तला द्वारा अपने मुख में इंगुदी का तेल लगवाना तथा उसके हाथों से ही श्यामक की मुष्टि का चर्वण आदि चित्रण और इसी मृग शावक का शकुन्तला की विदाई के समय उसके वस्त्र को पकड़कर रोकना आदि मृग शावक के सूक्ष्म मनोविज्ञान के उदाहरण कहे जा सकते हैं, जो नाटककार को प्राणि-विज्ञान का कुशल विशेषज्ञ सिद्ध करते हैं।[२५]

सम्पूर्ण मृग परिवार के सुखी दाम्पत्य का सूक्ष्म मनोविज्ञान हमें नाटककार की द्वितीय नाट्यकृति में देखने को मिलता है, जहाँ पुरुरवा अपनी प्रियतमा के विषय में पूछता है, यहाँ हरिण के साथ उसकी हरिणी और बच्चा भी विद्यमान है, तभी तो वह पुरुरवा की बात पर ध्यान न देकर अपनी हरिणी की ओर मुख करके बैठ जाता है[२६] तथा इसके पास चली आ रही हरिणी को अपनी माता का दूध पीने के लिए मृग छोने ने बीच में ही रोक लिया है। प्राणि-मनोविज्ञान पर आधारित ऐसा स्वाभाविक एवं मार्मिक चित्रण कोई सूक्ष्म प्राणि-विज्ञानी ही करने में सक्षम है-

अस्यान्तिकमायान्ती शिशुना स्तनपायिना मृगीरुद्धा।
तामयमनन्यदृष्टिर्भुग्नग्रीवो विलोकयति।।[२७]

इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटककार का मृग के विषय में सूक्ष्म और गहन ज्ञान रहा है, जो उन्हें प्राणि-विज्ञान विशेषज्ञ सिद्ध करता है। इसी प्रकार उनका हस्तिविषयक ज्ञान भी अवलोकनीय है, क्योंकि अपनी तीनों ही नाट्यकृतियों में उन्होंने अनेक स्थलों पर इसका वर्णन किया है।[२८] जिनमें यूथ से अलग होकर भयभीत हुए हाथी का व्यवहार,[२९] यूथ का संचालन करने के बाद विश्राम कर रहे हाथी का वर्णन,[३०] जंगल में विचरण करते हुए सुदृढ़ हुए शरीर वाले हाथी का चित्रण,[३१] नगर में सम्मान के लिए

---

२३. शाकुन्तलम्- १/१५
२४. शाकुन्तलम्- ३/१८ के बाद
२५. शाकुन्तलम्- ४/१४
२६. विक्रमो.-४/६० के बाद।
२७. विक्रमो.-४/५८
२८. माल.- १/१७ से पूर्व ३/६ से पूर्व, ५/१, ५/१६ के बाद। विक्रमो.-४/५, १९, २३, ४४, ४५, ४७। शाकुन्तलम्- १/३१, २/४, ५/५, ६/१ के बाद, ७/३१
२९. शाकुन्तलम्- २/४
३०. शाकुन्तलम्-५/५
३१. शाकुन्तलम्-२/४

पालतू हाथी की सवारी,[३२] हाथी के पैरों की छाप से उसे पहचानना[३३] आदि शाकुन्तलम् में प्रयुक्त अनेक वर्णन उन्हें हस्ति विज्ञान विशेषज्ञ की श्रेणी में ला खड़ा करते हैं।

इन दोनों महाकवियों के काव्यों का अवलोकन करने पर हम देखते हैं कि नाटककार की अपेक्षा काव्यकार कालिदास का प्राणि-विज्ञान विषयक ज्ञान अत्यन्त समृद्ध था, क्योंकि उन्हें संसार के छोटे से छोटे जीव की भी सूक्ष्म क्रियाओं का गहन अध्ययन किया था। इन जीवों में हमें जंगली एवं पालतू पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि सभी का वर्णन उपलब्ध होता है।

गुप्तकाल में स्थित काव्यकार कालिदास ने अपने काव्यों में सिंह,[३४] हाथी,[३५] अश्व,[३६] सूअर,[३७] भैंसें,[३८] हिरण,[३९] शरभ,[४०] सियारिन,[४१] चमरी गाय,[४२] वानर,[४३] भालू,[४४] लोमड़ी,[४५] कुत्ते,[४६] गधे,[४७] हाथी के बच्चे[४८] आदि जंगली पशुओं गाय,[४९] बैल[५०] आदि पालतू पशुओं तथा मोर,[५१] कोयल,[५२] मैना,[५३]चकवा-

---

३२. शाकुन्तलम्- ६/१ के बाद।
३३. शाकुन्तलम्-७/३१
३४. रघुवंश- २/८, १४, २७, २९, ९/६३, १६/१६, ७८, कुमारसम्भव- १/६, ५६, ६/३९, १४/२७।
३५ -रघुवंश .१/७१, २/३७, ४/३३, ३८, ३९, ४७, ५२, ८३, ५/४३, ४५, ४६, ४९, ६/७, ७/४०, १६/१६, ६८, ७८, १८/५, कुमारसम्भव-१/६, ९, ३६, ३/३७, ६/३९, ८/३३, ६४, ९/४२, ३/२२, ३८, १४/२३, मेघदूत-१/१४
३६. रघुवंश -१/४२, ३/३९, ४/४७, ७०, १६/३०, कुमारसम्भव-६/३९, ८/४०, मेघदूत-२/२३
३७. रघुवंश -९/५९, कुमारसम्भव -८/३५।
३८. रघुवंश -५/९, ९/६१
३९. रघुवंश-१/४०, ५०, ५२, ५/८,९/५३, ५६, ५७, १६/११, कुमारसम्भव-१/१३, ३/३१,१४/२९, मेघदूत -१/२१।
४०. मेघदूत -१/५७
४१. रघुवंश -११/६१,१२/३९, १६/१२ कुमारसम्भव -१२/५२, १५/१८, , ४१, १७/८, ९,
४२. रघुवंश -९/६६
४३. रघुवंश -१२/७०
४४. रघुवंश -१३/७४
४५. कुमारसम्भव -१५/४१
४६. कुमारसम्भव -१५/२४
४७. कुमारसम्भव -१५/२१
४८. कुमारसम्भव -१३/२२
४९. रघुवंश -१/८२, १७/१९, कुमारसम्भव-८/३८
५०. रघुवंश -४/५२, १७/१९, कुमारसम्भव-१/५६-५८
५१. रघुवंश -१/३९, ६/९, ५१, ७/६९, मेघदूत-१/१५
५२. रघुवंश -८/५८, ९/२६, १२/३९, कुमारसम्भव -३/३२, ४/१४, १६,
५३. मेघदूत -२/२५।

चकवी,[५४] चातक,[५५] हंस,[५६] पपीहा,[५७] कौआ,[५८] बगुला,[५९] सुग्गा,[६०] सारस,[६१] कुररी,[६२] बाज,[६३] गरुड़[६४] एवं गिद्ध[६५] आदि आकाश में उड़ने वाले पक्षियों का एवं जल में विचरण करने वाले मगर मच्छ[६६], साँप,[६७] मछली,[६८] आदि का भ्रमर,[६९] मच्छर,[७०] मधुमक्खी,[७१] मकड़ी,[७२] जुगनू,[७३] आदि कीट पतंगों की प्रकृति, आकृति, शारीरिक संरचना, स्वाभाविक चेष्टाओं, क्रीड़ा कौतुकादि का अत्यन्त सूक्ष्मता एवं गम्भीरता से विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।

इन सभी वर्णनों को देखकर हमें गुप्तकाल में स्थित काव्यकार कालिदास की जीव-विज्ञान विषयक अद्भुत प्रतिभा का सहज की अनुमान हो जाता है तथा एक बारगी तो हमें वे व्यंजनावादी महाकवि होने के साथ-साथ महान् जीव-वैज्ञानिक भी प्रतीत होने लगते हैं। जिनका हम बानगी के रूप में यहाँ अत्यन्त संक्षेप में विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं।

काव्यकार कालिदास ने अपने काव्यों में अनेक पशुओं की सामान्य एवं विशेष चेष्टाओं का उल्लेख किया है। जैसे- हाथी एवं मृग इन्हें भी नाटककार के समान ही अत्यधिक प्रिय रहे हैं। एक राजा दूसरे राजा से मिलने के लिए उसके स्वागत हेतु हाथी पर चढ़कर ही जाता था[७४] तथा अपने राज्य में भ्रमण भी वह हाथी पर चढ़कर करता था।[७५] युद्धों में भी इसकी अत्यधिक महत्ता थी। सम्भवतः इस दृष्टि

---

५४. रघुवंश -८/५६, १३/३१, १५/३०, कुमारसम्भव-३/३७, ५/२६, ८/३२, ५१, मेघदूत -२/२३
५५. कुमारसम्भव -६/२७, मेघदूत-१/२२
५६. रघुवंश -१/४१, ५/७५, ९/२७, कुमारसम्भव -१०/३३, १३/२७, १४/३५, मेघदूत-१/१०, ६०
५७. कुमारसम्भव -१२/१, मेघदूत-१/१०
५८. रघुवंश -१२/२२, १५/२५, कुमारसम्भव-१५/१४, मेघदूत-१/२३
५९. रघुवंश -११/१५, कुमारसम्भव-७/३९, मेघदूत-१/१०, २२
६०. रघुवंश -४/४६, ५/७४, १७/२०
६१. रघुवंश -११/१५, १३/३३, मेघदूत-१/३२
६२. रघुवंश -१४/६८
६३. रघुवंश -७/४६, ११/६०, कुमारसम्भव -१६/१२
६४. कुमारसम्भव -१७/३
६५. रघुवंश -११/२६, १२/५०, १५/२५, कुमारसम्भव-१५/१४, २९
६६. रघुवंश -१६/५५
६७. रघुवंश -१/२८, ४/४८, ११/६८, १६/१७, ७६, कुमारसम्भव-५/४३, १२/९, १३/३८
६८. रघुवंश -१/७३, ७/४०, कुमारसम्भव-४/३९, मेघदूत-१/४३
६९. रघुवंश-३/८, ४/५०,५/४३, ६८, ६/७,८/५५,१६/६३, कुमारसम्भव-३/३६, ४/१५, ५/४, मेघदूत-१/५०।
७०. रघुवंश -२/५
७१. रघुवंश -४/६३
७२. रघुवंश -१६/२०
७३. कुमारसम्भव -२/२१
७४. कुमारसम्भव -७/५२
७५. कुमारसम्भव -१७/३२

से समाज में हाथी को अत्यधिक आदर की दृष्टि से देखा जाता था। इतना ही नहीं, हस्तिविद्या पर अनेक ग्रन्थों का भी प्रणयन किया गया था, जो अब लुप्तप्रायः हो गये हैं।

यही कारण है कि काव्यकार को जंगली होते हुए भी यह पशु अत्यधिक प्रिय रहा है और उन्होंने इसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रियाओं का उल्लेख किया है, जिनमें हाथियों के गण्डस्थलों से झरने के समान मद प्रस्रवण होना[७६], उन पर भ्रमरों का गूँजना[७७] आदि का अत्यधिक वर्णन हुआ है। रघुवंश महाकाव्य में महाकवि ने हाथियों के मद से मार्ग में कीचड़ होने[७८] एवं नदियों में जल-प्लावन की स्थिति का कथन किया है।[७९] यद्यपि कुछ स्थलों पर यह अतिशयोक्ति पूर्ण भी रहा है, मेघदूत एवं रघुवंश में ऐसे स्थलों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है।[८०]

किन्तु फिर भी यह तो सुनिश्चित ही है कि काव्यकार का हाथी विषयक विज्ञान अत्यन्त समृद्ध था, जो उनके अनेकानेक उल्लेखों से परिपुष्ट भी होता है। जैसे- हाथी की विशेषता है कि वह अपने शावक को झुण्ड में संरक्षण देते हुए ही आगे बढ़ता है। इसके अतिरिक्त वह मदमस्त होकर पर्वत अथवा वृक्षादि के ऊपर प्रहार करता है,[८१] जिससे काव्यकार भलीभाँति परिचित रहे हैं।[८२] मेघदूत एवं रघुवंश में महाकवि ने इसे 'वप्रक्रीड़ा' की संज्ञा प्रदान की है।[८३] हाथी को पानी अत्यधिक प्रिय होता है, नदी, तालाब अथवा सरोवरों में प्रवेश करने पर वह लहरों को चीरता हुआ, अपनी सूँड को फैलाता और सिकोड़ता हुआ, चिंघाड़ता हुआ आगे बढ़ता है, जिसका अत्यन्त सुन्दर चित्रण काव्यकार कालिदास अपने सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य रघुवंश में करते हैं, जो हाथी के स्वभाव के सम्बन्ध में उनके सूक्ष्म ज्ञान का परिचायक कहा जा सकता है, ऐसा कोई वर्णन शेष दोनों कालिदासों में से किसी ने भी नहीं किया है-

संहारविक्षेपलघुक्रियेण हस्तेन तीराभिमुखः सशब्दम्।
बभौ स भिन्दन्बृहतस्तरंगान् वार्यर्गलाभंग इव प्रवृत्तः।[८४]

हस्तिमनोविज्ञान के अनुसार जल में अवगाहन के अनन्तर मद धुलने पर उसे असीम शान्ति की अनुभूति होती है, किन्तु दूसरे हाथी को देखकर क्रोधित होने के कारण यह मद पुनः बहने लगता है।[८५] काव्यकार इस तथ्य से भी सुपरिचित हैं कि हाथी के मद की गन्ध सप्तच्छद पर्ण नामक वृक्ष के दूध के

७६. रघुवंश -१३/७४
७७. रघुवंश -५/४३
७८. रघुवंश -१६/३०
७९. रघुवंश -१४/४३
८०. मेघदूत -१/२, १४, २०, २१, २२, ३५, ४६, २/१३, १५, २१
८१. कुमारसम्भव -४/३१
८२. कुमारसम्भव -१३/२२
८३. वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श। मेघदूत -१/२ वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु रघुवंश -५/४४
८४. रघुवंश -५/४५
८५. रघुवंश -५/४७

समान तीखी होती है।[८६]

अपनी प्रिया से वियुक्त होकर तो हाथी मानो पागल हो जाता है।[८७] अपनी सूँड़ से प्रियतमा के मुख में पानी डालना हाथी को अत्यधिक प्रिय है, जिसे वह अत्यन्त प्रेमपूर्वक सम्पादित करता है।[८८] कमल के सरोवर में घुसकर हाथी जल को अपनी सूँड में भरकर अपने ऊपर ऊँड़ेलता है तो उसे असीम आनन्द एवं शान्ति की प्राप्ति होती है, क्योंकि ऐसा करने पर उसे गर्मी से राहत मिलती है।[८९] इसके अतिरिक्त काव्यकार इस तथ्य से भी भली भाँति परिचित प्रतीत होते हैं कि हाथी कमल सरोवरों में क्रीड़ा करने में अत्यन्त सुख का अनुभव करता है। यही कारण है कि उन्होंने इस विषय में अनेक बार उल्लेख भी किया है।[९०] इस दृष्टि से कुमार सम्भव महाकाव्य विशेष रूप से अवलोकनीय है।[९१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्तकाल में स्थित काव्यकार कालिदास का हाथी विषयक ज्ञान अत्यन्त बढ़ा हुआ है। इसके अतिरिक्त उनके समृद्ध प्राणि-विज्ञान की पुष्टि रघुवंश के प्रथम[९२] एवं नवम सर्ग[९३] से भी होती है, जहाँ उन्होंने विविध प्रकार के पशु-पक्षियों की चेष्टाओं का मनोविज्ञान पर आधारित सूक्ष्म एवं विशद मनभावन अंकन किया है। रघुवंश प्रथम सर्ग में महर्षि वसिष्ठ के आश्रम में थलचर प्राणी मृगों का अत्यन्त स्वाभाविक व्यवहार काव्यकार की प्राणि-विज्ञान विषयक सूक्ष्मेक्षिका को प्रदर्शित करता है, जहाँ मृग ऋषियों के पुत्रों के समान निवास करते हैं। बहुत से मृग यहाँ पर्ण कुटियों के द्वार को रोक कर खड़े हुए हैं, क्योंकि उन्हें ऋषि-पत्नियों से बच्चों के समान तिन्नी के दाने खाने का अभ्यास जो पड़ गया है -

आकीर्णमृषिपत्नीनामृटजद्वाररोधिभिः।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः।।[९४]

धूप में सुखाने के लिए आश्रम परिसर में तिन्नी का अन्न फैलाया हुआ था, जिसे दिन के अस्त होने पर कुटिया के आंगन में ही सिमेटकर रख ढ़ेर बनाकर रख दिया गया है किन्तु आश्रम के मृग इतने समझदार हैं कि वे इनके पास बैठकर ही जुगाली तो कर रहे हैं, किन्तु उस अन्न को खाने का विचार तक नहीं करते हैं। कालिदास के सूक्ष्म एवं उत्कृष्ट प्राणि- विज्ञान विषयक ज्ञान का परिचायक कहा जा

---

८६. रघुवंश -५/४८
८७. मेघदूत -१/३५
८८. कुमारसम्भव-३/३७
८९. कुमारसम्भव -८/६४
९०. रघुवंश-१६/६८, कुमारसम्भव-८/३३
९१. कुमारसम्भव-१/९, २/५०, ५/६७, ७८, ८०, ६/२७, ९, १३/२५, ३७, ४१, १४/१४, २३, २४, ३९, ४३, ४० १५/१०, १६/२, २२, २३, २४, २९, ३२, ३४, ३५, ३८-४०
९२. रघुवंश-१/५०-५२
९३. रघुवंश-९/५६-५८
९४. रघुवंश -१/५०

सकता है।[९५] रघुवंश के नवम सर्ग के अन्तर्गत आखेट वर्णन प्रसंग में काव्यकार ने अपनी उत्कृष्टतम प्राणि-वैज्ञानिक प्रतिभा का परिचय दिया है, क्योंकि यहाँ उन्हेंने भ्रमर, कोयल, हंस, अश्व, हरिण, शिकारी कुत्ते, वनैली गाय, सिंह, बनैले सुअर, जँगली भैंसे, बारह सिंगे, हाथी, चामर मृग, मोर, रुरु मृग आदि की चेष्टाओं को वर्णित किया है।[९६]

इसी प्रकार रघुवंश चौदहवें सर्ग में कुररी के समान रुदन करती सीता को देखकर स्त्री स्वभाव के कारण अत्यन्त मृदुल भावों वाली मृगियों ने उसके दुःख में दुःखी होकर मुँह में भरी हुई घास का कौर ही गिरा दिया है।[९७] प्रस्तुत वर्णन वस्तुतः काव्यकार के सूक्ष्मतम प्राणि-विज्ञान के साथ-साथ स्त्री-मनोविज्ञान का भी पोषक कहा जा सकता है। लगभग ऐसा ही एक मर्मस्पर्शी स्थल नवम सर्ग में भी द्रष्टव्य है, जहाँ अपने प्रियतम हरिण के प्राणों को बचाने के लिए हरिणी महाराजा दशरथ के बीच में आकर खड़ी हो जाती है -

लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम्।
आकर्णकृष्टं अपि कामितया स धन्वी बाणं कृपामृधुमनाः प्रतिसंजहार॥[९८]

इसी प्रकार काव्यकार अश्व-विज्ञान से भी भलीभाँति परिचित प्रतीत होते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि लम्बी यात्रा के बाद घोड़े थक जाते हैं तो उन्हें जल से नहलाकर ठंडा किया जाता है, तभी वे स्वयं में तरोताजगी अनुभव करते हैं। यही कारण है कि वे वसिष्ठ ऋषि के आश्रम में पहुँचने पर सारथि को रथ के घोड़ों को ठंडा करने का स्पष्ट रूप से निर्देश देते हैं -

अथ यन्तारमादिश्य धुर्यान्विश्रामयेति सः। [९९]

कुछ ऐसा ही वर्णन नाटककार ने भी अपनी सर्व श्रेष्ठ कृति शाकुन्तलम् में दुष्यन्त द्वारा सारथि को निर्देश देने के प्रसंग में किया है।[१००] काव्यकार की कृतियों में ऐसे अनेक प्राणियों के वर्णन भी उपलब्ध होता है, जिनकी प्रजातियाँ वर्तमान समय में लुप्त हो गयी हैं। गर्मी से घबराकर सर्पिणी किस प्रकार शीतलता की प्राप्ति के लिए चन्दन के वृक्ष से लिपट जाती है, प्रस्तुत सुन्दर चित्रण काव्यकार के सर्पों की सूक्ष्म वृत्तियों की जानकारी को अभिव्यंजित करता है-

'अभिपेदे निदाघार्ता व्यालीव मलयद्रुमम्' [१०१]

उल्लेखनीय यह भी है कि उक्त दोनों कालिदासों के अतिरिक्त ४७० ई. में स्थित ऋतुसंहारीय कालिदास ने भी अपने काव्य में प्राणि-विज्ञान को अभिव्यक्ति प्रदान की है। यहाँ उन्होंने ग्रीष्म ऋतु में

---

९५. रघुवंश-१/५२
९६. रघुवंश-९/२६-७३
९७. नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्यः॥ रघुवंश-१४/६९
९८. रघुवंश-९/५७
९९. रघुवंश-१/५४
१००. सूत! यावदाश्रमवासिनः प्रत्यवेक्ष्याहमुपावर्ते तावदार्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः। कुमारसम्भव-१/१५ के बाद।
१०१. रघुवंश-१२/३२

ताप के बढ़ने पर जीवों के ऊपर पड़ने वाले प्रभाव को अभिव्यक्ति प्रदान करने हुए अपने प्राणि-विज्ञान को प्रदर्शित किया है। जिनमें प्यास से व्याकुल सिंह का तेज श्वाँस लेना, उसकी जीभ द्वारा कम्पन किया जाना, उसके बालों में होने वाले कम्पन आदि प्रमुख हैं। इसी प्रसंग में उल्लेख्य यह भी है कि गर्मी से संतप्त वह यहाँ पास खड़े हाथी के ऊपर भी प्रहार नहीं कर रहा है।[१०२]

इसके अतिरिक्त ग्रीष्म ऋतु में भैंसे जल की खोज में भटक रहे हैं, उनकी जीभ लटकी हुई है, मुँह से लार गिर रही है और वह बार-बार अपने मुँह को ऊपर उठाकर अपनी व्याकुलता का प्रदर्शन कर रहे हैं,[१०३] जबकि सर्प अपने फन को फैला कर खड़ा हो गया है, अपनी जिह्वा से वह बार-बार वायु का पान करने का प्रयास कर रहा है किन्तु शुष्क एवं संतप्त वायु से उसे राहत नहीं मिल पा रही है।[१०४]

ग्रीष्म ऋतु में प्राणियों पर पड़ने वाले प्रभाव को प्रदर्शित करते हुए ऋतुसंहारीय कालिदास अपनी अद्भुत मेधा का अद्भुत प्रदर्शन किया है, जिसमें मेंढक द्वारा सर्प के फण के नीचे स्थित छाया में बैठने का वर्णन, जो आपत्ति काल में जीवों की अन्य जीव से भय मुक्ति विषयक विज्ञान को प्रदर्शित करता हुआ कवि के अद्भुत एवं उत्कृष्ट प्राणि-विज्ञान को अभिव्यंजित करता है।[१०५]

इसी प्रकार यहाँ मयूर और सर्प को भी चित्रित किया है, क्योंकि सर्प को गर्मी से बचने का जब कहीं भी स्थान नहीं मिल पाता है, तो वह अपने शत्रु मयूर के नीचे ही आश्रय ग्रहण कर लेता है। ग्रीष्म ऋतु के भयंकर संताप के कारण उसे अपने प्राणों के भय की भी चिन्ता नहीं है।[१०६] जहाँ पशुओं के झुण्ड जल की खोज में लगे हुए हैं, वहीं आठ पैरों वाला शरभ तो अपनी लम्बी गर्दन कुएँ में डाल कर आसानी से अपनी प्यास बुझा रहा है।[१०७]

इसके अतिरिक्त सरोवरों में जल कम होने के पश्चात् उसमें हाथियों द्वारा जल क्रीड़ा करने से मछलियों के विनाश का भी उल्लेख करके ऋतुसंहारीय कालिदास ने अपने प्राणि-विज्ञान विषयक ज्ञान को सुन्दर अभिव्यक्ति प्रदान की है।[१०८] यहाँ हम देखते हैं कि वे छोटे-छोटे प्राणियों के मनोविज्ञान से भी पूर्णतया परिचित रहे हैं।

इसी प्रकार काव्यकार भी पक्षियों के मनोविज्ञान से भली भाँति परिचित हैं कि मनुष्य की उपस्थिति में वे प्यासे होते हुए भी वे निर्भय रूप से पास आकर पानी भी नहीं पीते हैं, तभी तो उन्होंने वसिष्ठ ऋषि के आश्रम में ऋषि कन्याओं को वृक्षों के थाँवलों में पानी देने के बाद वहाँ से हटा दिया है। जिससे आश्रम के पक्षी निडर होकर पानी पीकर अपनी प्यास को शान्त कर सकें-

---

१०२. ऋतु.-१/१४, १९
१०३. ऋतु.-१/१५
१०४. ऋतु.-१/१३, २१
१०५. ऋतु.-१/२०
१०६. ऋत.-१/१३, २/६
१०७. ऋतु.-१/२३ ॥
१०८. ऋतु.-३/३

सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम्।
विष्वासाय विहंगानामालवालाम्बुपायिनाम्।।[१०९]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाटककार, काव्यकार एवं ऋतु संहारीय तीनों ही रूपों में ही महाकवि कालिदास ने प्राणि-विज्ञान विषयक वैदुष्य को प्रदर्शित किया हैं। पुनरपि हम यह भी देखते हैं कि ऋतुसंहारीय एवं नाटककार कालिदास दोनों की अपेक्षा काव्यकार का प्राणि-विज्ञान विषयक ज्ञान अत्यधिक बढ़ चढ़ कर रहा है, प्रत्येक प्राणी की सूक्ष्म गतिविधियों का ज्ञान उन्हें अद्भुत प्राणि-विज्ञानी की श्रेणी में ला खड़ा करता है। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत विषय इतना अधिक विस्तृत है कि प्रत्येक प्राणी का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत आलेख के संक्षिप्त कलेवर में सम्भव नहीं है। वस्तुतः इसके लिए स्वतन्त्र ग्रन्थ लेखन की महती आवश्यकता है, यही कारण है कि हमने यहाँ केवल कुछ ही प्राणियों के विषय में विस्तार से चर्चा की है।

१०९. रघुवंश-१/५१

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ0150-154) ISSN 0974 – 8830

मेघदूत में रस-योजना

डॉ० उमा जैन[1]

काव्य विशारदों ने रस को काव्य की आत्मा माना है। जिस प्रकार आत्मा विहीन शरीर निर्जीव होता है उसी प्रकार रसहीन काव्य भी निष्प्राण ही है। भारतीय साहित्य शास्त्र में रस को परब्रह्म के समान प्रतिपादित किया गया है। जिस प्रकार से परब्रह्म विभिन्न रूपों में प्रकट होकर भक्तों, ज्ञानियों एवं मुमुक्षुओं को आश्चर्य चकित कर देता है, उसी प्रकार रस भी काव्य या नाटक में आविर्भूत होकर सहृदयों के आनन्द का विषय बनता है। साहित्य के सभी अंग-वेद, वेदांग, ब्राह्मण, उपनिषद्, आयुर्वेदशास्त्र, रामायण और महाभारत आदि में रस विभिन्न रूपों में वर्णित किया गया है।

हेमकोष के अनुसार-**रसः स्वादे, जले, वीर्ये, शृंगारादौ, विषे, द्रवे। रागे, गृहे तथा धातौ तिक्तादौ पारदेऽपि च॥**

अर्थात् स्वाद, जल, वीर्य, शृंगारादि रस, विष, द्रव, पारद, राग, गृह धातु तिक्त ये सभी रस नाम से जाने जाते है। आयुर्वेदशास्त्र में भी ये सभी रस नाम से जाने जाते है। उपनिषदों में तो परब्रह्म को साक्षात् रस रूप ही बताया गया है-

रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।[2]

उपनिषद् की यह उक्ति काव्य में भी पूर्णतया चरितार्थ होती है। आद्य शंकराचार्य की मान्यता है कि जिस प्रकार इस भौतिक जगत् में मानव मधु या अन्य स्वादिष्ट पदार्थों का सेवन कर प्रफुल्लित होते है, उसी प्रकार परमात्मारूप रस को पाकर योगीजन आनन्दातिरेक से झूम उठते है।[3]

शब्द-प्रधान व्याकरण शास्त्र में रस की व्याख्या विभिन्न रूपों में की गयी है-**'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः।'** अर्थात् जो पदार्थ आस्वाद के विषय बनते है, उन्हें रस नाम से अभिहित किया जाता है। जैसे- परमात्मा रूप रस (साधना का रस), मधुर, अम्ल, कटु कषाय, तिक्त आदि भोज्य पदार्थों एवं सोम, गन्ध, मधु आदि वस्तुओं को भी रस नाम से जाना जाता है।

'रस्यते अनेन इति रसः।' अर्थात् आस्वाद कराने वाले पदार्थ रस है। यथा- शब्द, संगीत, वाद्य, शरीर आदि रस पद-बोध्य है।

'रसति रसयति वा रसः।' अर्थात् जो व्याप्त हो जाता है। या स्वयं सभी को व्याप्त कर लेता है, वह भी रस होता है।

'रसनं रसः आस्वादः।' जो आस्वाद स्वरूप है, उसे रस कहते हैं। शृंगार, हास्य, करुणादि सभी

---

१ रीडर संस्कृत विभाग, मु०ला० एण्ड जय ना० खे० गर्ल्स कॉलिज (पी०जी०) सहारनपुर।
२. तैत्तिरीयोपनिषद् २.५
३. काव्यप्रकाश- डॉ० महेश चन्द्र शर्मा पृ० १०८

रस हैं, क्योंकि सहृदयों द्वारा इनका आस्वाद किया जाता है। अग्निपुराणकार ने तो रस को काव्य का प्राण कहा है- **'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।'**[४]

आचार्य भरत मुनि के अनुसार- **'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'** अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के मिलन से रस की निष्पत्ति होती है अथवा नाना भावों के उपगम से रस की निष्पत्ति होती है-**'नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावाः रसत्वमाप्नुवन्ति।**

महामुनि भरत की उपर्युक्त इस रस-विषयक मान्यता को ही आचार्य मम्मट ने निम्न रूप में अभिव्यक्त किया है-

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः॥[५]

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार भी विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों द्वारा अभिव्यक्त रति आदि स्थायी भावों को रस नाम दिया जाता है।[६] विभाव-लोक में रति आदि को उद्बोधित करने वाले कारणों को भी काव्य या नाटक में विभाव कहा जाता है। जो आलम्बन और उद्दीपन नाम से दो प्रकार के होते है।[७] अनुभाव-**अनु पाश्चात् भावयति इति अनुभावः।**[८] रसों में विविध प्रकार से संचरित होने वाले विकारों को व्यभिचार भाव कहते हैं।[९]

जगन्नाथ के अनुसार अलौकिक विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव से व्यवहृत आलम्बन, उद्दीपन कारणों, कार्यों एवं सहकारी कारणों से सम्मिलित रूप से उत्पन्न हुए अलौकिक व्यापार के द्वारा प्रत्यक्ष किये जाते हुए, पहले से वासना रूप में समुपस्थित इत्यादि स्थायी भावों को ही रस नाम से अभिहित किया जाता है।[१०] साहित्य-मनीषियों ने रस का अभिप्राय काव्यानन्द माना है। सुकविता का आस्वाद मानव का सबसे बड़ा सौभाग्य है। आचार्य भरत ने इसी वास्तविकता को विशदता प्रदान की है। इस का आस्वादन कोई सहृदय सामाजिक ही कर सकता है।

काव्य जीवन की विविध अवस्थाओं का प्रस्तोता होता है। अतः इसमें रसों का वैविध्य होना परमावश्यक है। सामान्यतः काव्य में प्रायः एक रस को अंगीरूप में ग्रहण कर अन्य रसों की अंगभूत रूप में योजना की जाती है। किन्तु रीति काव्य (सन्देश काव्य) की प्रकृति के अनुरूप मेघदूत काव्य में श्रृंगार

---

४ अग्निपुराण १.२९
५ काव्यप्रकाश ४.२७
६. साहित्यदर्पण ३.१
७. वही ३.२९
८. वही ३.३२
९. साहित्य० का सप्तमोऽध्याय
१०. रसगंगाधर, पृ० २५

रस का मनोहर परिपाक हुआ है। शृंगार रस रसराज कहा जाता है। यह समस्त रसों में अत्यन्त कमनीय और कोमल है। जगत् के सभी प्राणियों में रति भाव का प्राबल्य होता है। यह रति भाव ही शृंगार रस का स्थायी भाव है। परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका इसके आलम्बन, काव्य, गीत, नृत्य, वसन्त आदि उद्दीपन विभात्र है। नायक-नायिका के सम्बन्ध के आधार पर इस रस के मुख्यत: दो भेद है- १. संभोग, २. विप्रलम्भ।

सम्भोग या संयोग शृंगार

मेघदूत में महाकवि कालिदास ने संयोग शृंगार की एक ऐसी धारा प्रवाहित की है, जो कलकल नाद करती हुई रसिकों को अपने में डुबकी लगाने के लिए आमन्त्रित करती है। स्त्रियों के द्वारा शुरू-शुरू में अपना प्रेम स्वयं कहकर प्रकट नहीं किया जाता, बल्कि वे अपने हाव-भावों से ही अपने प्रेम को प्रिय के प्रति व्यक्त कर देती है।[११] मेघदूत में यक्ष का प्रेम एक आदर्श प्रस्तुत करता है जो कि प्रियतमा के पास सन्देश अपने स्वार्थ हेतु नहीं भेज रहा है, अपितु इसलिए भेज रहा है कि उससे प्रियतमा का जीवन बना रहेगा।[१२]

मेघदूत के अन्तर्गत प्रारम्भ में कर्त्तव्य च्युत यक्ष में काम भाव का उद्रेक दिखाया गया है। कालान्तर में विरहाग्नि में दग्ध होकर उस काम का मालिन्य क्षार हो जाता है। अन्तत: वह भास्कर दीप्ति से युक्त होकर उदात्त प्रेम के रूप में परिणत हो जाता है। प्राय: कामाविष्ट व्यक्ति प्रकृति में भी अपने मनोभावों का प्रतिरूप देखा करता है। कामी यक्ष भी पर्वत, पृथ्वी, मेघ, सरिता आदि प्राकृतिक उपादानों में शृंगार भावना के दर्शन करता है। उसे मध्य भाग में स्थित मेघ से युक्त आम्रकूट पर्वत पृथ्वी के स्तन के समान प्रतीत होता है। जो कि बीच में श्याम और अवशिष्ट भाग में चारों ओर से पीला है।[१३]

चंचल लहरों वाली वेत्रवती का जल भ्रूभंग युक्त सुन्दर मुख के समान दिखाई देता है, जिसका पान मेघ कर रहा है।[१४] शिप्रा नदी का पवन रति-याचना हेतु चाटुकारिता करने वाले प्रियतम के समान स्त्रियों की संभोग-जन्य थकावट को दूर करता है।[१५] गम्भीरा नदी तो विवृतजघना ही है जिसको कि आस्वादन किये जाने पर मेघ रूपी नायक के द्वारा छोड़कर जाना सम्भव सा प्रतीत नहीं होता है।[१६] इस प्रकार कामार्त यक्ष अपने मन की उद्दाम वासना को प्रकृति के विविध रूपों में प्रतिफलित होते हुए देखता है।

विप्रलम्भ शृंगार रस

जहाँ पर एक दूसरे के प्रति अनुरक्त होते हुए भी लोक-लज्जा, परतन्त्रता आदि के कारण

---

११. 'स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु। मेघदूतम् १.२९
१२. मेघदूतम् १.४
१३. वही १.५
१४. वही १.२५
१५. वही १.३२
१६. वही १.४४

नायक-नायिका का परस्पर संयोग नहीं हो पाता। पार्थक्य की उस स्थिति को काव्य में विप्रलम्भ श्रृंगार के द्वारा अंकित किया जाता है। वियोग में प्रेम का स्वरूप और भी अधिक निखर कर तीव्र और साथ ही घनीभूत हो जाता है। इसलिए काव्यों में संयोग की अपेक्षा वियोग का प्रायः अधिक वर्णन मिलता है। वास्तव में संयोग में तो प्रेम के भौतिक रूप का ही प्रायः दर्शन होता है। किन्तु प्रेम की वह उदात्त अवस्था जो वासना की कल्मपता से रहित है और जो कंचन के समान उज्ज्वल एवं निर्मल होती है, वह वियोग में ही प्रकट होती हैं और इसके बाद जो मिलन होता है उसका स्वरूप अनिर्वचनीय ही है। कुछ स्थलों को छोड़कर मेघदूत काव्य पूर्ण रूपेण विप्रलम्भ श्रृंगार के कोमल चित्रों से आपूरित है और विरह के अश्रुओं से सिञ्चित है।

पति वियोग में नितान्त रोते रहना, उष्ण निवास से अधरोष्ठ का फीका पड़ना, केश-संस्कार न करना तथा हथेली पर मुख को रखकर चिन्तनरत रहना आदि विभिन्न अवस्थाएँ पति प्राणा यक्ष-पत्नी के विषाद, शोक और चिन्ता की पराकाष्ठता को व्यक्त करती हैं।[१७] वियोग में देवताओं की पूजा में लगे रहना, वियोग में क्षीण हुई प्रिय की आकृति को बनाना, पिंजड़े में बैठी हुई मैना से स्वामी के विषय में पूछना- हे सारिके। क्या तुझे भी स्वामी की याद आती है क्योंकि तू भी तो उनको बहुत प्रिय थी आदि क्रियाएँ उसकी तीव्रतम विरहावस्था को सूचित करती है।[१८] पति-विरह में यक्षिणी वीणा को बजाते समय अश्रुपूरित नेत्रों से गाने की इच्छा से प्रवृत्त हुई, स्वरचित स्वरविधि को भूलती हुई-सी दिखाई पड़ती है।[१९]

विरह में कृशकाय हुई यक्षिणी विरह शय्या पर एक करवट पड़ी हुई, रोते हुए ही सारी रात व्यतीत कर देती है।[२०] यक्ष के द्वारा प्रेयसी का चित्र बनाये जाने पर उसके विरह-भाव का भी चरमोत्कर्ष आँखों में आँसू आ जाने के कारण चित्र दर्शन रूप मिलन के अभाव में देखने को मिलता है।[२१] विरह दशा में संयोग श्रृंगार की उद्दीपन सामग्री ही विरही को घुला-घुलाकर बेसुध बना दिया करती है। जैसे- प्रिय-संयोग में चन्द्रमा की जो किरणें अमृत के समान शीतल लगती थी, वहीं वियोग में विरह-वेदना को और अधिक उद्दीप्त करती है। इसलिए तो चन्द्रमा को देखकर भी विरहिणी यक्ष-पत्नी के नेत्रों से आँसू बहने लगते है और वह अपने नेत्रों को बन्द कर लेती है।[२२] प्रिय-मिलन में जडवत् बनी हुई, लम्बी रात्रि विरह-काल में बहुत लम्बी अर्थात् खत्म न होने वाली हो जाती है।[२३] विरह में यक्षिणी सूर्यास्त के समय मलिन कमलिनी के समान क्षीण शोभा वाली प्रतीत होती है।[२४] जो न तो पूर्णरूपेण विकसित होती है और न ही

---

१७. वहीर.२४
१८. वहीर.२५
१९. वहीर.२६
२०. वहीर.२८
२१. वहीर.४५
२२. वहीर.२६
२३. वहीर.२९
२४. वहीर.२१

मुकुलित होती है।[२५] वह तो शापावधि के अवशिष्ट महीनों को घर की दहलीज पर गिनकर रक्खे हुए पुष्पों के माध्यम से व्यतीत करती हुई[२६] प्रिय की स्मृति को हृदय में संजोय रहती है। एक चोटी बाँधे हुए[२७] आभूषणों का त्याग किये हुए[२८] विरहिणी स्त्रियों को पति के मित्र द्वारा लाया गया सन्देश भी मिलन तुल्य आनन्ददायक हो जाता है।[२९] कोमल लताओं में प्रिया की अंग यष्टि, भयभीत हिरणी के दृष्टिक्षेप में चंचल चितवन, चन्द्रमा में मुख- आभा, मयूरों के पंख-समूह में दीर्घ केशों एवं मन्द-मन्द जल-तरंगों में भ्रू-भंगिमा के दर्शन कर सौन्दर्य पान किया जाता है।[३०] विरही-यक्ष प्रियतमा-यक्षिणी के निवास-स्थल से चलकर आती हुई हवाओं का स्पर्श प्रिया के शरीर का स्पर्श करके आया है यह मानकर करता हुआ हर्षातिरेक का अनुभव करता है।[३१] पूर्व मिलन के सुखों की स्मृति[३२] और आगामी मिलन के सुखों की आशा[३३] ही विरहावस्था में प्राण धारण कराती है। यह सोचकर कि चक्रनेमिवत् सदा सुख या दुःख किसे मिला है।[३४] अत्यधिक विरह-वेदना का अनुभव करने वाला प्रेमी अपनी मनोव्यथा के समान दूसरों की पीड़ा को समझता हुआ मेघ और विद्युत रूप प्रेमी और प्रेमिका से कभी वियुक्त न होने की भी अभिलाषा रखता है।[३५]

कवि ने श्रृंगार रस को रस राजस्व प्रदान करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। कैलास के अङ्ग में स्थित अलकापुरी को नायक की गोद में स्थित सजी हुई नायिका के समान कहा है।[३६] पूर्वमेघ में अनेकों स्थल पर सिद्धाङ्गनाओं, पौराङ्गनाओं अथवा युवतियों की विलासमयी चेष्टाओं का उल्लेख किया गया है। उत्तरमेघ में यक्षेश्वर की नगरी अलका के वर्णन में भी श्रृंगार रस के उपादानों का अवलम्बन किया गया है और यक्ष की आत्मदशा निवेदन में तथा यक्ष-पत्नी की विरहावस्था में सम्भावित दशा के चित्रण में विप्रलम्भ श्रृंगार की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। यक्ष की प्रिया को दिये गये सन्देश में तथा यक्ष पत्नी की विरह-दशा वर्णन में विप्रलम्भ, करुण की भाव-भूमि में पहुँच गया है।

---

२५. मेघदूतम २.३०
२६. वही २.२७
२७. वही २.३२
२८. वही २.३३
२९. वही २.४०
३०. वही २.४४
३१. वही २.४६
३२. वही २.५१
३३. वही २.५०
३४. वही २.४९
३५. वही २.५५
३६. वही २.६६

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ0155-159) ISSN 0974 – 8830

महाकवि कालिदास के रघुवंशमहाकाव्य में सांस्कृतिक चेतना

डॉ०नरेन्द्र कुमार वेदालंकार[१]

महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्य के महाकाव्य रचनाकारों में प्रथम श्रेणी के कवियों में से एक हैं। कालिदास की उज्ज्वल काव्यकीर्ति के आधार स्तम्भ के रूप में उनकी तीन महाकाव्यों में से रघुवंशमहाकाव्य एक है। कालिदास ने अपनी काव्यानुभूति की सारी गहराई, अपनी कारयित्री प्रतिभा की समग्र ऊर्जस्विता अपने महाकाव्यों व नाटकों तथा खण्डकाव्यों में ही परिमित आकार में ही व्यक्त की और उन्हें संस्कृत वाङ्मय में अमूल्य निधि का रूप दे दिया।

कालिदास के रघुवंशमहाकाव्य में भारतीय सांस्कृतिक चेतना का उदात्त रूप दृष्टिगोचर होता है। भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताएं- यज्ञप्राधान्य, धर्मप्राधान्य, संस्कारमूलकता, वर्णव्यवस्था, आश्रमव्यवस्था, पुरुषार्थचतुष्टय, पञ्चमहायज्ञ, विश्वबन्धुत्व आदि हैं। महाकवि कालिदास ने अपनी कृतियों में भारतीय संस्कृति को प्रतिबिम्बित किया हैं। इनके महाकाव्यों में भारतीय संस्कृति की विविध विशेषताएं निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर देखी जा सकती हैं-

(१) यज्ञप्राधान्य

उस समय का आर्यावर्तीय भारतीय समाज में यज्ञों का अत्यधिक महत्त्व था। महाकवि कालिदास जी के विविध ग्रन्थों के अध्ययन से विविध यज्ञों व उनके विधिविधान के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। इनमें अश्वमेधयज्ञ, और अग्निहोत्र तथा महर्षि वशिष्ठ जी के निरन्तर व निर्विघ्न रूप से होने वाले दैनिक यज्ञों एवं पञ्चमहायज्ञों आदि का भी उल्लेख किया गया है।

रघुवंश महाकाव्य के प्रथम सर्ग में महाराज दिलीप व रानी सुदक्षिणा अपने मनोरथ के पूर्ति हेतु महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में पहुँचते हैं, यथा.................**पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः**[२]। महर्षि वशिष्ठ मुनि व अरुन्धती द्वारा किये गये दैनिक यज्ञों से वायु में पैले हुए आहुति के पवित्र सुगन्धों ने, आश्रम आने वाले आगन्तुक अतिथियों का स्वागत कर रहा है।[३] इससे राजा दिलीप के राज्य में अग्निहोत्री होने का संकेत मिलता है। यहाँ पर कहा गया है कि अग्निहोत्रियों की गृहस्थ में अनेक विघ्नों का नाशक माना गया है। अग्निहोत्री वे व्यक्ति होते हैं, जो विवाह के समय से प्रतिदिन प्रातः सायं वैवाहिक अग्नि में हवन करने का व्रत स्वीकार करते हैं और जीवनपर्यन्त व्रत का पालन करते हैं।

इसी प्रकार से महाकवि कालिदास जी ने महाराज दिलीप द्वारा किये जा रहे अश्वमेधयज्ञ के

---

१. अध्यक्ष संस्कृत विभाग, हे० न० ब० गढ़वाल विश्वविद्यालय, (केन्द्रीय विश्वविद्यालय), स्वामी रामतीर्थ परिसर बादशाहीथौल, टिहरी-गढ़वाल उत्तराखण्ड-२४९१९९
१. रघुवंश महाकाव्य सर्ग ०१. श्लोक ५३
२. रघुवंश महाकाव्य पृ .सं .३५

विषय में सजीव वर्णन को निम्न प्रकार से किया गया है यथा-

नियुज्य तं होमतुरंगरक्षणे धनुर्धरं राजसुतैरनुद्रुतम्।[४]

रघुवंशमहाकाव्य के तृतीय सर्ग के उपर्युक्त श्लोक में महाराज दिलीप के द्वारा किये गये निन्यानवें अश्वमेध यज्ञों को निर्विघ्न रूप से सम्पन्न किये जाने की चर्चा की गयी है। इस अश्वमेधयज्ञ के द्वारा विश्वविजयी क्षत्रियों की समस्त राजाओं को पराजित करने वाली अत्यन्त शक्तिशाली कसौटी माना जाता था।[५] यज्ञ करने के लिए पति-पत्नी दोनों का होना आवश्यक होता था। जिस समय महाराज दिलीप ने अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया था उस समय महारानी सुदक्षिणा महाराज दिलीप के साथ अश्वमेधयज्ञ के यजमान के रूप में उपस्थित थी।

जबकि महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंशमहाकाव्य के चौदहवें अध्याय में महाराज राम द्वारा सीता का निर्वासन दिखाया गया है।[६] फिर सीता की ही अनुपस्थिति में इस प्रसंग में कवि की चिन्तन को यथा सैवासीद्यस्माज्जाया हिरण्मयी[७] सीता की स्वर्णमयी प्रतिमा के साथ ही महाराज श्रीरामचन्द्र जी ने अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया था। इतना ही नहीं महाराज श्री रामचन्द्र स्वर्णनिर्मित सीता की प्रतिमा को ही अपनी सहधर्मिणी के स्थान पर रखकर अन्य यज्ञ के सम्पूर्ण कार्यों को पूर्ण किया था।[८] जिस समय श्रीरामचन्द्र जी ने अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया था उस समय अन्य राजा गण भी तमध्वराय मुक्ताश्वं रक्ष:कपिनरेश्वरा:।[९] सुग्रीव और लंकानरेश महाराज विभीषण भी उस यज्ञ में मेहमान बनकर और अपने साथ लेकर आये उपहार की भेंट प्रस्तुत कर अनुष्ठान की शोभा बढ़ा रहे थे।[१०] यज्ञ करना केवल ब्राह्मणों का ही कर्तव्य कार्य नहीं था, अपितु क्षत्रियों को भी यज्ञकर्म की अनुमति प्राप्त थी।

(२) वर्णव्यवस्था:-

भारतीय संस्कृति की एक विशेषता वर्ण व्यवस्था है। जो वेदों के अनुसार भारतीय समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र चार भागों में विभक्त किया गया था। वर्णों का यह विभाजन मानव के गुण एवं कर्म के आधार पर किया गया था।

कालिदास के ग्रन्थों में वर्ण व्यवस्था का वर्णन पर्याप्त में देखने को मिलता है। समाज का चार वर्गों में विभाजन, ब्राह्मणों का महत्त्व, ब्राह्मणोचित व क्षत्रियोचित कर्म, संस्कार, आचरण इत्यादि के बारे में पर्याप्त जानकारी इन ग्रन्थों में उपलब्ध होती है।

तात्कालिक समाज में ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले ब्राह्मणों के कथन प्रामाणिक माने जाते थे,

---

५. रघुवंशमहाकाव्य ०३.३८
६. रघुवंशमहाकाव्य पृ .सं.९२
७. रघुवंशमहाकाव्य १४.५८
८. रघुवंशमहाकाव्य १५.६१
९. रघुवंशमहाकाव्य पृ .सं.४४८
१०. रघुवंशमहाकाव्य १५.५८
११. रघुवंशमहाकाव्य पृ.सं .४४७

इस विषय में महर्षि वशिष्ठ के विचार राजा दिलीप के लिए सुतां तदीयां सुरभेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचिः। आराधय सपत्नीकः प्रीता कामदुघा हि सा[११]॥महर्षि वशिष्ठ राजा दिलीप और महारानी सुदक्षिणा से कहते हैं कि कामधेनु के स्थान पर उसकी पुत्री को प्रतिनिधि मानकर तुम शुद्ध मन से सपत्नीक उसकी सेवा करो। जब नन्दिनी आपकी सेवा से सन्तुष्ट हो जायेगी। तब समझ लें कि आपकी मनोरथ पूर्ण होने वाली हैं।[१२] जिस देश में विद्वान् ब्राह्मण राष्ट्ररक्षक पुरोहित होता है, वह राष्ट्र सभी पीड़ाओं व आपत्तियों के बन्धन से मुक्त कहा गया है।

ब्राह्मणों का बल वाणी में होता है-**प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथाः स्थितायां स्थितिमाचरेः। निषण्णायां निषीदास्यां पीताम्भसि पिबेरपः॥**[१३] महर्षि वशिष्ठ एक उच्च कोटि के ब्राह्मण हैं, उनके वाणी के कथन मात्र से राजा दिलीप नन्दिनी के पुत्री के पीछे पीछे चलना प्रारम्भ कर देते हैं। उन्हीं के वाणीमात्र के अनुकरण से रानी सुदक्षिणा को पुत्र रत्न की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार से क्षत्रियों का बल भुजाओं में माना गया है- **ततः प्रहस्यापभयः पुरन्दरं पुनर्बभाषे तुरगस्य रक्षिता**[१४] महाराज दिलीप द्वारा किये गये अश्वमेधयज्ञ के घोड़े को महाराज इन्द्र रोक लेते हैं। उस समय राजकुमार रघु इन्द्र से कहता है कि यदि आप घोड़ा नहीं छोडना चाहते हैं तो आपको निश्चय ही युद्ध के लिए तैयार हो जाना चाहिए।

(३) आश्रम व्यवस्था

मानव के जीवन को संतुलित एवं व्यवस्थित बनाने के उद्देश्य से भारतीय संस्कृति में आश्रम व्यवस्था का विधान किया गया था। वर्ण धर्मों के निर्वाह हेतु भी आश्रम व्यवस्था का औचित्य माना गया था। कालिदास के ग्रन्थों में यत्र-तत्र आश्रम व्यवस्था का उल्लेख प्राप्त होता है। महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में ब्रह्मचारियों के उल्लेख से ब्रह्मचर्याश्रम की जानकारी मिलती है।

महाकवि कालिदास जी ब्रह्मचर्याश्रम के विषय में राजा दिलीप के पुत्र रघु के विषय में **अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम्।**[१५] यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न हो जाने के पश्चात् वे अपने गुरुओं के प्रिय होकर रघु शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में वे विद्वत्ता और निपुणता प्राप्त कर रहे हैं।[१६] गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति में वैदिक शिक्षा पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता था तथा इसके साथ साथ अन्य शिक्षा का पठन-पाठन व अध्ययन-अध्यापन कराया जाता था। गुरुकुल में प्रातः सायं वेदों का पाठ कराया जाता था। गुरुकुल को आश्रम व्यवस्था का प्रथम सोपान माना जाता है। यहीं से आश्रम की इतिश्री होती है।

राजकुमार रघु शिक्षा अध्ययन के समय अपनी जिजिविषा को शान्ति हेतु रघुवंशमहाकाव्य के

---

१५. रघुवंशमहाकाव्य ०१.८१
१६. रघुवंशमहाकाव्य पृ .सं .४४
१७. रघुवंशहाकाव्य ०१.८९
१८. रघुवंशमहाकाव्य ०३.५१
२८. रघुवंशमहाकाव्य ०४.२८
२९. रघुवंशमहाकाव्य पृ .सं .८८

पञ्चम अध्याय में अपने गुरु महर्षि कौत्स जी से प्रश्न करते हैं-**कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते।**[१७] वरतन्तु जी भलीभाँति शिक्षा देकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की आज्ञा दी थी, क्योंकि सभी आश्रमों में उपकार करने वाला गृहस्थाश्रम ही है।

(४) संस्कारमूलकता

भारतीय संस्कृति के अपरिहार्य अंग के रूप में संस्कारों की व्यवस्था की गई हैं। संस्कार के विषय में वेदों में कहा है- **जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् जायते द्विजः। मानव जन्म से शूद्र पैदा होता है परन्तु संस्कारित हो जाने पर वह द्विज अर्थात् ब्राह्मण बन जाता है। इसलिए कहा जाता है कि संस्कार ही मानव को सुसंस्कृत एवं सभ्य बनाता है। मानव समाज के सम्मुख उपस्थित होता है तब मानव की मुखाकृति के तुरन्त तत्पश्चात् समाज के सामने उसका संस्कार ही एक दूसरे को**, एक दूसरे से दूर अथवा आकर्षित करने लगता है। महाकवि कालिदास के ग्रन्थ रघुवंशमहाकाव्य में विभिन्न संस्कारों का उल्लेख मिलता है। रघुवशमहाकाव्य में संस्कारों की शृंखला में सर्वप्रथम दिलीप सुदक्षिणा के पुत्र रघु का जातकर्म संस्कार का वर्णन देखने को मिलती है- **स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते। दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ।।**[१८]

दिलीप के कुलगुरु पुरोहित होने के पलस्वरूप आचार्य महर्षि वशिष्ठ ने ही उनके नवजात पुत्र अर्थात् रघु का जातकर्म संस्कार अपने करकमलों से सम्पन्न किया था।[१९] महाकवि कालिदास ने रघुवंश में संस्कारों के माध्यम से वैदिक सभ्यता व परम्परा को दर्शाया गया है। इनका प्रत्येक काव्यकृति चाहे वह महाकाव्य हो, या नाटक हो तथा खण्डकाव्य ही क्यों न हो। इनका एक एक काव्य वैदिक परम्परा को अपने आप में आत्मसात् किये हुए है। इसी प्रकार से कवि ने बालक रघु के चूड़ाकर्म संस्कार व११वें वर्ष में यज्ञोपवित संस्कारों को भी महर्षि वशिष्ठ के द्वारा सम्पन्न कराते हुए दर्शाया गया है।[२०]

(५) व्रतोपवास इत्यादि

भारतीय संस्कृति में ज्ञान की अन्तर्मुखीवृत्ति स्वीकार की गई है तथा उसके द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति को मानवजीवन के मूल्य को लक्ष्य माना गया है। शरीर की क्षणभंगुरता तथा आत्मा की नित्यता के सिद्धान्त ने अध्यात्मवाद को पर्याप्त सबलता प्रदान की है। इसे अध्यात्मवाद के कारण भारतीय संस्कृति में विविध प्रकार के व्रतोपवास प्रचलित होते रहे हैं।

व्रतोपवास के विषय में महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंशमहाकाव्य के प्रथम अध्याय में राजा दिलीप के सन्तानोत्पत्ति के विषय में व्रत व उपवास आदि में आचार्य कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ जी के विषय में **सत्यामपि तपःसिद्धौ नियमापेक्षया मुनिः कल्पवित्कल्पयामास वन्यामेवास्य संविधाम्।।**[२१]

---

३०. रघुवंशमहाकाव्य ०५.१०
४०. रघुवंशमहाकाव्य ०३.१८
४१. रघुवंशमहाकाव्य पृ .सं .८४
४२. रघुवंशमहाकाव्य पृ .सं .८८
४६. रघुवंशमहाकाव्य ०१.९४

आचार्य कालिदास कहते हैं कि महर्षि वशिष्ठ व्रत के प्रयोग को जानने वाले तथा तप और सिद्धि के उपभोग को प्राप्त करने वाले हैं।[२२]

(६) अतिथिसत्कार

भारतीय संस्कृति में भारतीय मानव दृष्टिकोण को व्यापक रूप में व्यक्त किया गया है। संकुचित स्वार्थवृत्ति अभिष्ट न होने से भारतीय मानव समाज में, जो चारित्रिक आदर्शवाद व परार्थवाद की वृत्ति देखी जाती है, उसके साथ ही पर्याप्त उदारता भी देखने को मिलती है। इसी के परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति में अतिथिदेवो भव का सिद्धान्त विकसित हुआ।

अतिथि सत्कार की इसी भावना को महाकविकालिदास ने अपने ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर चित्रित किया है। अतिथि सत्कार पारायण होना एक सद् गृहस्थों का परम धर्म माना गया है। भारत ऋषि व मुनियों का देश रहा है। इसलिए आर्यावर्तीय देश भारत को विश्वगुरु कहलाने का अवसर प्राप्त हुआ था। ऋषि मुनि गण भी अतिथि सत्कार किया करते थे। इसी प्रसंग में महर्षि वशिष्ठ व गुरुपत्नी अरुन्धती के द्वारा किया गया अतिथि सत्कार द्रष्टव्य है-**तमातिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमम्।**[२३]

महर्षि वशिष्ठ व गुरुपत्नी अरुन्धती ये दोनों ऋषि व मुनी होते हुए भी राजा दिलीप व मगध की राजकुमारी महारानी सुदक्षिणा को भव्य अतिथि सत्कार किया था। राजा दिलीप के संतति भी मान सम्मान में किसी प्रकार की कमी नहीं की थी। क्योंकि श्रीराम अपने पूर्वजों के परम्परा के वाहक थे। इसी अतिथिसत्कार के विषय में श्रीरामचन्द्र जी ने स्वयं के राज्याभिषेक के समय कहते हैं- **तथैव सुग्रीवविभीषणादीनुपाचरत्कृत्रिमसंविधाभिः॥**[२४]

---

४७. रघुवंशमहाकाव्य पृ .सं .४८
५१. रघुवंशमहाकाव्य ०१.५०
५२. रघुवंशमहाकाव्य १४.१७

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ0160-174) ISSN 0974 – 8830

कालिदास एवं प्रसाद के काव्य में श्रावण बिम्ब : एक तुलनात्मक विवेचन

डॉ०सत्य प्रकाश[1]

बिम्ब का अर्थ एवं स्वरूप

लालित्य-विधान के प्रमुख तत्त्वों में बिम्ब का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाश्चात्त्य समीक्षा शास्त्र में बिम्ब का अत्यन्त सूक्ष्म, विस्तृत एवं अनेक प्रकार से प्रतिपादन हुआ है। बिम्ब विषयक कुछ पाश्चात्त्य मत प्रस्तुत हैं-सी०डे लेविस के अनुसार बिम्ब एक प्रकार का भावगर्भित शब्द चित्र है।[2] टी०ई०ह्यूम के अनुसार बिम्ब वस्तुओं के आन्तरिक सादृश्य का प्रत्यक्षीकरण है। [3] सूजान के०लैंगर के अनुसार बिम्ब ऐन्द्रिय माध्यम द्वारा आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक सत्यों तक पहुँचने का मार्ग है।[4] जार्ज व्हैले के अनुसार बिम्ब एक अमूर्त विचार अथवा भावना की पुनर्रचना है।[5] स्टीपन जे०ब्राउन के अनुसार बिम्ब किन्हीं अन्य भावों या विचारों के लिए लाया गया ऐन्द्रिय गुणयुक्त वस्तुविधान है, जो शब्दों या वाक्यांशों में प्रकट होता है। बिम्ब वस्तु का क्षणिक स्थानापत्र है जो सादृश्य में भी प्रकट हो सकता है और उसके विना भी।[6] एजरा पाउण्ड के अनुसार बिम्ब वह है जो काल की तात्कालिकता में बौद्धिक और भावात्मक संसृष्टि को उपस्थित करता है।[7]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि पाश्चात्त्य आलोचनाशास्त्र में आलोचकों ने बिम्ब को काव्य के प्राण के रूप में प्रतिष्ठित किया है। मनुष्य का सम्पूर्ण भाव-व्यापार और चिन्तन क्रिया किसी न किसी रूप में बिम्ब से अनिवार्यतः सम्बद्ध होती है।

हिन्दी के समीक्षा-शास्त्र में बिम्ब का प्रयोग पाश्चात्त्य इमेज का पर्याय है। काव्य बिम्ब की स्थिति रस-निष्पत्ति एवं रस-सम्प्रेषण या साधारणीकरण-दोनों के लिए आवश्यक है। अलंकार सम्प्रदाय में औपम्य या सादृश्य का सर्वाधिक महत्त्व होता है। बिम्ब योजना अप्रस्तुत विधान है जिसका उद्देश्य मूलभाव को अधिकाधिक चित्रमयता प्रदान करना है। आचार्यों ने किसी-किसी अलंकार को परिभाषित करते हुए बिम्ब शब्द का उल्लेख भी किया है-

---

१ अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लोहाघाट, चम्पावत (उत्तराखण्ड)
२ दि पोएटिक इमेज (अष्टम संस्करण), पृ०-१९
३ स्पेकुलेशन, पृ०-२८१
४ काव्य बिम्ब : डॉ० नगेन्द्र के पृ०-२ से उद्धृत
५ पोएटिक प्रासेज, पृ०-१४५
६ प्रसाद के काव्य में बिम्ब योजना : डॉ० राम कृष्ण अग्रवाल के पृ०- २२ से उद्धृत।
७ आधुनिक कविता में बिम्ब विधान : डॉ० केदारनाथ सिंह के पृ०- २४ से उद्धृत।

(क) दृष्टान्तस्तु सर्धमस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।[८]

(ख) यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना।[९]

डॉ०नगेन्द्र ने वक्रोक्ति के भेदों उपभेदों में बिम्ब के चमत्कार को ही प्रधान मानकर वक्रोक्ति को काव्य-बिम्ब विधायक शक्ति के समकक्ष प्रतिष्ठापित किया है- कहने का अभिप्राय है कि वक्रता-भेदों में भी बिम्ब-चमत्कार का ही प्राधान्य है।.......वर्णविन्यास वक्रता और पदपरार्द्ध वक्रता में पर्याय, विशेषण, लिंग, कारक, उपचार आदि पर आश्रित रूपों में बिम्बात्मकता पर आधार सर्वथा स्पष्ट है।...... वस्तु वक्रता में वस्तु के रमणीय स्वरूप का कल्पना के द्वारा भास्वर करने में बिम्ब-विधान का आश्रय लेना पड़ता है।..... विशेषकर आहार्य वस्तु का सौन्दर्यविधान प्रायः लक्षित बिम्बों के माध्यम से ही सम्भव होता है। इसी प्रकार प्रकरण-वक्रता और प्रबन्ध-वक्रता के भेदों में भी कुन्तक ने नाना प्रकार के प्रकरण बिम्बों और प्रबन्ध बिम्बों का व्याख्यान किया है।[१०]

डॉ०नगेन्द्र ने ध्वनि और काव्य-बिम्ब का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए लिखा है कि बिम्ब का सम्बन्ध लक्षणा एवं व्यञ्जना अथवा ध्वनि से अपेक्षाकृत अधिक घनिष्ठ है। लक्षणा में मूर्ति विधान की स्वाभाविक क्षमता निहित है। अतः बिम्ब निर्माण उसका सहज गुण है। ध्वनि का मूलाधार वैयाकरणों का स्फोट सिद्धान्त माना गया है। यद्यपि स्फोट का मौलिक सम्बन्ध शब्द के साथ है, फिर भी उसी से संकेत ग्रहण कर आनन्दवर्धन ने ध्वनि की प्रकल्पना की है। मैं समझता हूँ कि स्फोट की प्रकल्पना बिम्ब के मूल रूप के काफी निकट है। प्रत्येक सार्थक शब्द के द्वारा- अथवा वाक्य के द्वारा-जो बिम्ब स्फुटित होता है वह वैयाकरणों के स्फोट से भिन्न नहीं है- और प्रत्येक काव्योक्ति के द्वारा जिस काव्य बिम्ब की उद्बुद्धि होती है उसका अन्तर्भाव भारतीय काव्यशास्त्र की ध्वनि में अनायास किया जा सकता है।[११]

भारतीय काव्यशास्त्र में, यद्यपि बिम्ब के नाम से बिम्ब-विषयक चिन्तन नहीं किया गया है तथापि सादृश्यमूलक अलंकारों, लक्षणा, व्यञ्जना, ध्वनि तथा वक्रोक्ति आदि में बिम्ब की स्वरूपगत सभी विशेषताएँ प्राप्त हो जाती हैं।

आधुनिक भारतीय विद्वानों के बिम्ब विषयक विचार निम्नवत् हैं-काव्य में बिम्ब-स्थापना प्रधान है।[१२] बिम्ब एक प्रकार का चित्र है जो किसी पदार्थ के साथ विभिन्न इन्द्रियों के सन्निकर्ष से प्रमाता के चित्त में उद्बुद्ध हो जाता है।[१३] शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस-छवि है, जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।[१४] बिम्ब वह शब्दचित्र है जो कल्पना के द्वारा ऐन्द्रिय अनुभवों के आधार

---

८ साहित्यदर्पण१०.५१
९ वही१०.५२
१० काव्य बिम्ब, पृ०- १९
११ वही, पृ०१७-१८
१२ चिन्तामणि भाग-२ : रामचन्द्र शुक्ल, पृ०२९२
१३ काव्य बिम्ब : डॉ० नगेन्द्र, पृ०२
१४ वही, पृ०३

पर निर्मित होता है।[१५] बिम्ब भावों को रूप देता है, कारण, वह भाव-जगत् में आई हुई वस्तुओं या उनके आसंगों का कल्पना-शक्ति से निर्मित मानसिक चित्र हुआ करता है।[१६]

काव्यबिम्ब, मनोविज्ञान के बिम्ब के समान ही, एक मानस चित्र है जो मूल उद्दीपन की अनुपस्थित में, कवि द्वारा कल्पना के माध्यम से रूपायित किया जाता है। विशेषता उसकी यह होती है कि वह किसी न किसी राग अथवा संवेदना से लिपटा रहता है तथा उसका सुन्दर, सजीव शब्दों में इस कौशल के साथ अंकन हुआ रहता है कि पाठकों के अभ्यन्तर में वही भाव स्पष्टता के साथ उद्बुद्ध हो जाता है।[१७] वस्तु, भाव या विचार को कल्पना एवं मानसिक क्रिया के माध्यम से इन्द्रियगम्य बनाने वाला व्यापार ही बिम्ब विधान है।[१८] अमूर्त विचार या भावना की ऐन्द्रिय अनुभूति के आधार पर कल्पना के द्वारा पुनर्रचना करने वाले शब्दचित्र को बिम्ब कहते हैं।[१९] प्राय: सभी कलाओं के लिए मूर्ति आवश्यक है। जो भावनापूर्ण सर्वांग सुन्दर मूर्ति खींचने में जितना कृतविद्य है, वह उतना ही बड़ा कलाकार है।[२०]

कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके ऐसे शब्द होने चाहिए, जो बोलते हों, सेब की तरह जिसके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर छलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र और चित्र में झंकार हों।[२१]

उपर्युक्त समस्त पाश्चात्त्य एवं भारतीय विद्वानों के विचारों का अध्ययन करने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि- विचारों, भावनाओं या अनूभूतियों को ऐन्द्रिय अनुभूतियों के आधार पर पुन: प्रत्यक्ष करने वाले शब्दचित्र को ही बिम्ब कहते हैं। बिम्ब एक प्रकार का शब्द चित्र है जिसका निर्माण कल्पना के द्वारा होता है तथा उसके निर्माण का आधार ऐन्द्रिय अनुभव होता है।

मिश्र ऐन्द्रिय बोधों, अमिश्र ऐन्द्रिय बोधों एवं कलात्मकता आदि के आधार पर बिम्बों के अनेक भेद किए गए हैं। यहाँ कालिदास एवं प्रसाद के काव्य में श्रावण बिम्बों का अध्ययन किया जा रहा है-

श्रावण बिम्ब

श्रावण बिम्ब (आडिटरी इमेज) श्रव्य कलाओं के लिए विशेष उत्कर्ष विधायक होते हैं। संगीत-कला की ध्वनियाँ ऐसे ही बिम्बों के अन्तर्गत आती हैं। ये श्रावण बिम्ब, प्राय: ध्वनि-कल्पना से उत्थित होते हैं। विशेषकर काव्य के क्षेत्र में ध्वनि से हमारा आशय है- कविता के श्रव्य-पक्ष की ऐसी योजना अथवा नाद-सौन्दर्य की ऐसी प्रेषणीयता, जो पाठक या श्रोता के द्वारा कविता समझे जाने के पूर्व ही

---

१५ आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब विधान : डॉ० केदारनाथ सिंह, पृ०-२३
१६ छायावाद का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन : डॉ० कुमार विमल, पृ०- १६९
१७ कामायनी महाकाव्य का दर्शन (कामायनी : प्रेरणा और परिपाक) : डॉ० रमाशंकर तिवारी, पृ०४०८-४०९
१८ काव्यशास्त्र : डॉ० भगीरथ मिश्र, पृ०- २५२
१९ महादेवी के काव्य में बिम्ब विधान : डॉ० सुधा श्रीवास्तव, पृ०१५
२० प्रबन्ध पद्य : सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, पृ०-८०
२१ पल्लव : सुमित्रानन्दन पन्त (भूमिका), पृ०२६

सहृदय चित्त में कवि के भाव निवदेन या आकृतियों की व्यञ्जना को प्रेषित कर दे।[२२]

ध्वनि में प्रभाव उत्पन्न करने की शक्ति होती हैं। नाद या ध्वनि काव्य का अनिवार्य तत्त्व है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल बताते हैं कि नाद सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है।[२३] श्रावण बिम्ब में ऐसी ध्वनियों पर विचार किया जाता है जो विभिन्न पदार्थों के सक्रिय होने से उन्पन्न होती हैं। उनमें ऐसी शक्ति होती है कि काव्य-भावन के समय सहृदय के राग-तन्तु झंकृत हो जाते हैं और मानस में उन ध्वनियों का अनुरणन होने लगता है।[२४]

कालिदास एवं प्रसाद जी के काव्य में श्रावण बिम्बों का विधान बहुत ही सटीक एवं सुन्दर है। नैसर्गिक एवं मानवकृत-सभी ध्वनियों में श्रवण-चेतना को प्रभावित करने की सामर्थ्य है। इन कवियों ने भीषण एवं मधुर सभी प्रकार की ध्वनियों को अंकित किया है। श्रावण-बिम्ब-निर्मात्री ध्वनियों को तीन प्रकारों में वर्गीकृत किया जा सकता है-

१. प्रकृति-सम्भूत

२. मानव-सम्भूत, एवं

३. मानव-निर्मित वस्तु सम्भूत।

उपर्युक्त ध्वनियों से निर्मित श्रावण बिम्बों का अध्ययन प्रस्तुत है-

प्रकृति सम्भूत ध्वनियों से निर्मित श्रावण बिम्ब

प्रकृति-सम्भूत ध्वनियों में कोकिल की काकली, भ्रमर के गुंजार, पक्षियों के कलरव, मेघों की गुरु-गम्भीर गर्जना, निर्झरों के नाद, पावस की पुहार, पत्रों के मर्मर, समुद्र एवं सरिताओं की कलकल-छलछल स्वरों की गणना की जाती है। इन ध्वनियों से उत्थित कुछ सौन्दर्यविधायक श्रावण बिम्बों का विवेचन प्रस्तुत है-

पक्षियों में गान के लिए सर्वाधिक प्रसिद्ध कोकिल एवं कोकिला का सुमधुर आलाप है। वसन्त ऋतु में कोकिलालाप की मधुर ध्वनियाँ चित्त को मधुरिम भावनाओं से पूरित कर देती हैं। आलोच्य कवियों के काव्य में कोमल कण्ठ के अर्थ में कोकिल की ध्वनियों की बहुशः आवृत्ति की गई है। कोकिल के कण्ठ से संगीत के पञ्चम स्वर की उत्पत्ति मानी गई है। वसन्त ऋतु में मद-संयुक्त होकर कूजन करना ही कोकिल का गान होता है। इस ऋतु में आम्र वृक्षों की नवीन मञ्जरी के रसपान से उसका कण्ठ-कषाय अर्थात् मधुर हो जाता है और फिर वह अपने मधुर संगीतमय स्वर से वातावरण को मुखरित कर देता है। कोयल का मधुर संगीत ही मानों कामदेव की आज्ञा है जिसे सुनकर मानवती रमणियाँ अपना मान छोड़कर अपने प्रियतम से मिलने के लिए उत्कण्ठित हो जाती हैं। कालिदास लिखते हैं-

चूतांकुरास्वादकषायकण्ठः पुंस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज।

---

२२ सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व डॉ० कुमार विमल, पृ०२३६

२३ रसमीमांसा, पृ०३३

२४ महादेवी के काव्य में लालित्य योजना: डॉ० राधिकासिंह, पृ० २१३

मनस्विनीमानविघातदक्षं तदेव जान वचनं स्मरस्य।। [२५]

कोकिलनाद वसन्त का सहायक है। कामदेव उसे अपने एक वाण के रूप में प्रयोग करता है- रमणियों में कामोद्दीपन के लिए। कोकिलनाद सुनकर रमणियों के मन में मधुर वेदना जाग्रत होती है-

समदमधुकराणां कोकिलानां च नादैः
कुसुमित सहकारैः कर्णिकारैश्च रम्यः।
इषुभिरिव सुतीक्ष्णैमानसं मानिनीनां
तुदति कुसुमासो मन्मथोद्दीपनाय।। [२६]

कालिदास ने काम के संचार के लिए कई स्थलों पर कोकिल कूजन का उपयोग किया है। शंकर के प्रेम में पगी हुई पार्वती अपनी सखी के मुँह से यह (अपने विवाह का) संदेश कहालाती हुई वैसी ही सुशोभित हुई, जैसे कोयल की बोली में वसंत अपना संदेश भेजती हुई आम की डाल शोभा देती है-

तया व्याहतसंदेशा या बभौ निभृता प्रिये।
चूतयष्टिरिवाभ्याशे मधौ परभृतोन्मुखी।। [२७]

प्रसाद जी ने श्रद्धा की वाणी को कोकिल का सन्देश कहा है-

दे रहा हो कोकिल सानन्द
सुमन का ज्यों मधुमय संदेश। [२८]

प्रसाद जी ने अपने काव्य में जगह-जगह पर कोकिल-काकली का प्रयोग किया है। कामायनी के काम सर्ग के प्रारम्भ में शरीर में यौवन के प्रवेश के समय कवि ने मतवाली कोयल के अवलम्ब से ही हृदय के उन्मादक साम्राज्य का परिचय दिया है। जिस प्रकार वसंत ऋतु में कोयल की सुमधुर ध्वनि सारे वातावरण को काममय, मधुर एवं चित्ताकर्षक बना देती है, उसी प्रकार यौवन के प्रवेश से मन में अनेक इच्छाएँ-आकांक्षाएँ उत्पन्न होने लगती हैं-

मधुमय वसंत जीवन वन के बह अन्तरिक्ष की लहरों में,
कब आये थे तुम चुपके से रजनी के पिछले पहरों में।
क्या तुम्हें देखकर आते यों मतवाली कोयल बोली भी।
उस नीरवता में अलसाई कलियों ने आँखे खोली थीं। [२९]

चन्द्रगुप्त नाटक में भी यौवन एवं वसंत के रूप का प्रतीकात्मक वर्णन करते हुए प्रसाद जी कहते हैं। अकस्मात् जीवन कानन में एक राका-रजनी की छाया में छिपकर मधुर वसन्त घुस आता है- शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल-कौन? कहकर सबको रोकने-टोकने

---

२५ कुमारसम्भवम्, ३.३२
२६ ऋतुसंहारम्, ६.२९
२७ कुमारसम्भवम्, ६.२
२८ सम्पूर्ण काव्य (कामायनी), पृ०२२
२९ वही, पृ०२५

लगता है, पुकारने लगता है।[३०] प्रसाद जी ने कई स्थलों पर कोकिल-काकली का वर्णन किया है-

(क) न छेड़ना उस अतीत स्मृति से
खिंचे हुए वीन-तार कोकिल
वरुण रागिनी तड़प उठेगी
सुना न ऐसी पुकार कोकिल।[३१]

(ख) आज इस यौवन के माधवी कुंज में कोकिल बोल रहा है।[३२]

(ग) आज मधु पी ले, यौवन वसंत खिला।
शीतल निभृत प्रभात में बैठ हृदय के कुंज
कोकिल कलरव कर रहा बरसाता सुख पुंज।[३३]

(घ) कल कोकिल कल्पनावती,
मुद में मंगल गान, गा रही।[३४]

(ङ) कोकिल प्राण पंचमी स्वर-लहरी में गाता आज।[३५]

कोकिल के आनन्दोन्मत्त एवं मधुर कूजन संगीत को प्रसाद जी ने कई स्थलों पर प्रस्तुत किया है। कालिदास के काव्य में भी कई जगहों पर कोकिलनाद की गूँज विद्यमान है।[३६]

कालिदास के काव्य में कोकिल की संगीत-प्रियता के अतिरिक्त मयूर, भ्रमर, राजहंस, सारस, क्रौंच, चातक, शुक, सारिका, पारावत, सरिता, समुद्र, मेघ आदि की ध्वनियों का उल्लेख प्राप्त होता है। मयूर हमारे देश का राष्ट्रीय पक्षी है। षड्ज संगीत का आद्य स्वर है, जिसकी उत्पत्ति मयूर से मानी जाती है। कालिदास मयूर को षड्जसंवादिनी कहते हैं-

मनोभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः।
षड्जसंवादिनीः केका द्विधा भिन्नाः शिखण्डिभिः॥[३७]

भ्रमर का गायन कवियों को प्रारम्भ से ही आकृष्ट करता रहा हैं। पुष्पों के पराग का रसपान कर मत्त होकर मधुर गुंजार करता है। इसके गुंजार में ही कवि-गण मधुर संगीत की कल्पना करते हैं। पशु-पक्षियों तथा जन्तुओं की शृंगार-केलियों का मनोरम वर्णन करने में कालिदास अत्यन्त निपुण हैं। कमल पर बैठ कर गुनगुनाते हुए अपनी प्रियतमा का मनभावक कार्य करते हुए यह श्रावण बिम्ब प्रस्तुत है-

---

३० सम्पूर्ण नाटक (चन्द्रगुप्त), पृ०१५७
३१ वही (स्कन्दगुप्त), पृ०१९३
३२ वही, पृ०१२७
३३ सम्पूर्ण नाटक (शाखवि), पृ०४१२
३४ वही, पृ०४०५
३५ सम्पूर्ण काव्य (झरना), पृ०१९८
३६ रघुवंश -९.४७, ९.३४, १८.५३, १९.१८, ९.४३, १२.३९, ९.१२६, कुमारसम्भवम्३.३२, ४.१४, ४.१६, १.४५, ३.३६,ऋतुसंहार-६.१६, ६.३५, ६.३८, ६.२९, ६.२२, ६.२६, ६.२७, ६.२४, ६.३४, ६.३१.
३७ रघुवंश, १.३९

पुंस्कोकिलश्चतूसासवेन मत्तः प्रियां चुम्बति रागहृष्टः।
कूजद् द्विरेपाऽप्ययमुजस्थः प्रियं प्रिपायाः प्रकरोति चाटु॥[३८]

कालिदास ने अधिकतर भ्रमर गुंजार का प्रयोग उद्दीपन रूप में किया हैं। मस्ती से भरे हुए भौरों का गुंजन लाज और मर्यादा के भावों से भरे हुए हृदयों वाली युवतियों को भी अधीर करने के लिए पर्याप्त हैं-

पुंस्कोकिलैः कलवचोभिरुपात्तहर्षैः
कूजद्भिरुन्मदकलानि वचांसि भृंगैः।
लज्जान्वितं सविनयं हृदयं क्षणेन
पर्याकुलं कुलगृहेऽपि कृतं वधूनाम्॥[३९]

प्रेम एवं सौन्दर्य के सभी अवसरों पर कालिदास ने भ्रमर को याद किया है। अभिज्ञानशाकुन्तल में भ्रमर के माध्यम से तत्वान्वेषी एवं कृती में से कृती को श्रेष्ठ सिद्ध किया है-

चलापांगां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥[४०]

दुष्यन्त शकुन्तला के मुख पर मँडराते हुए भौरे को ललचाई नजरों से देखते हए कह उठता है- भ्रमर, तुम सचमुच बड़े भाग्यवान् हो। इधर हम तो सच्ची बात की खोज में ही लुट गये, उधर तुम इसकी चंचल चितवन से देखे जाते हुए इस काँपती हुई बाला को बार-बार छूते जा रहे हो, उसके कानों के पास जाकर ऐसे धीरे-धीरे गुनगुना रहे हो मानो कोई बड़े भेद की बात उसे सुनाना चाहते हो और बारंबार उसके अधर का रस पी रहे हो। हम तो तथ्य के अनुसंधान में ही मारे गये, तुम निश्चय ही कृतार्थ हो।

वसन्त का वर्णन विना भ्रमर के गुंजार के पूर्ण नहीं होता है। ऋतुसंहार के वसन्त-वर्णन प्रसंग में कालिदास ने सर्वाधिक बार भ्रमरों का उल्लेख किया है। कवि ने भ्रमर के लिए भृंग, षट्पद, मधुकर, द्विरेप, अलि एवं मधुप का प्रयोग किया है तथा इनके द्वारा उत्पन्न शब्दों के लिए स्वन, कूजित, नाद, विरुत, निह्रस्वन, उपगीत, गीत का भी प्रयोग किया है।

भ्रमरों का गुंजन प्रसाद जी का भी प्रिय श्रावण बिम्ब है। लहर में प्रसाद जी का एक आत्मकथात्मक गीत है जिसकी शुरुआत वे मधुप के गुनगुनाने से ही करते हैं-

मधुप गुनगुनाकर कह जाता कौन कहानी यह अपनी,
मुरझाकर गिर रही पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी॥[४१]

---

३८ ऋतुसंहारम्, ६.१६
३९ वही, ६.२३
४० अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १.२४
४१ सम्पूर्ण काव्य (लहर), पृ०१२२

प्रसाद जी ने श्रद्धा की स्वर लहरी को मधुकरी के मधु गुंजार सी संगीतपूर्ण और इड़ा के उल्लसित आनन को गुंजरित मधुप से मुकुल सदृश अंकित कर भ्रमर-गुंजार को ध्वनि सौन्दर्य, विशेषत: संगीतपूर्ण कंठ-काकली का आदर्श माना है।[४२]

प्रसाद जी ने कई स्थानों पर भ्रमरोल्लेख किया है-

(क) मैं व्याकुल परिरम्भ-मुकुल में बन्दी अलि-सा काँप रहा।[४३]

(ख) अमृत के सरोवर में स्वर्ण कमल खिल रहा था, भ्रमर वंशी बजा रहा था।[४४]

(ग) मधुपों मुकुलों के चलें घात आता है चुपके मलय बात।।[४५]

कामायनी के अन्तिम सर्ग आनन्द में समरसता जन्य आनन्द की स्थापना में कवि ने श्रेष्ठ श्रावण बिम्ब का सहारा लिया है-

गूँजते मधुर नूपुर से मदमाते होते मधुकर;
वाणी की वीणा ध्वनि सी भर उठी शून्य सी झिलकर।[४६]

हंस शुक्ल वर्ण का पक्षी है जो सरिता, जलाशय में या उसके निकट रहता है। शरद ऋतु में यह अधिक आनन्दित रहता है। मस्त होने पर यह संगीतमय कूजन करता है। हंस के गायन के कई बिम्ब कालिदास एवं प्रसाद के काव्य में विद्यमान हैं। शरद ऋतु में हंसों से व्याप्त सरितायें उनके मधुर कूजन से आनन्दमग्न हो जाते हैं-

(क) कुर्वन्ति हंसविरुतै: परितो जनस्य प्रीतिं सरोरुहरजोरुणितास्तटिन्य:।[४७]

(ख) हंसै: ससारसकुलै: प्रतिनादितानि सीमान्तराणि जनयन्ति नृणां प्रमोदनम्।[४८]

कालिदास ने कई स्थलों पर नायिकाओं की करधनी एवं नूपुरों की ध्वनियों की तुलना हंस के कूजन से की है-

(क) काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।[४९]

(ख) असितनयनलक्ष्मीं लक्षयित्वोत्पलेषु णितकनककांची मत्तहंसस्वनेषु।[५०]

(ग) स्त्रीणां विहाय वदनेषु शशांकलक्ष्मीं काम्यं च हंसवचनं मणिनूपुरेषु।[५१]

प्रसाद जी ने कामायनी में खगकुल एवं हंसों की ध्वनियों से संबंधित अनेक श्रावण बिम्बों का

---

४२ छायावादी काव्य का व्यावहारिक सौन्दर्यशास्त्र : डॉ० सूर्य प्रसाद दीक्षित, पृ०२७४
४३ सम्पूर्ण नाटक (स्कन्दगुप्त), पृ०१९५
४४ वही, पृ०१९५
४५ सम्पूर्ण काव्य (लहर), पृ०१३७
४६ वही, (कामायनी(, पृ०१००
४७ ऋतु संहार, ३.८
४८ वही, ३.१६
४९ वही, ३.१
५० वही, ३.२६
५१ वही, ३.२७

निर्माण किया है। सन्ध्या के समय मानसरोवर सूर्य की रक्तिम किरणों से सुशोभित है। सन्ध्या-सुन्दरी को सरोवर के समीप आया देखकर पक्षी चहचहाकर उसका स्वागत कर रहे हैं। सरोवर में रहने वाले राजहंस मधुर कलरव कर रहे हैं-

संध्या समीप आयी थी उस सर के वल्कल वसना,
तारों से अलक गुँथी थी पहने कदम्ब की रसना।
खगकुल किलकार रहे थे कलहंस कर रहे कलरव,
किन्नरियाँ बनी प्रतिध्वनि लेती थीं तानें अभिनव।।[५२]

महाकवि कालिदास प्रकृति के कवि हैं। प्रकृति में उनका मन अधिक रमता है। सारस, क्रौंच, सारिका, शुक एवं पारावत आदि की सुन्दर ध्वनियाँ उनके काव्य का सौन्दर्य हैं। काव्यजगत् में चातक स्वाभिमानी प्रेमी का प्रतीक माना गया है। वह केवल वर्षा की बूँदों का ही पान करता है। वर्षा का वर्णन चातक के उल्लेख के विना अपूर्ण रहता है। पपीहे की याचना को देख-सुनकर मेघ बरसते हैं-

तृषाकुलैश्चचातकपक्षिणां कुलैः प्रयाचितास्तोयभरावलम्बिनः।
प्रयान्ति मन्दं बहुधारवर्षिणो बलाहकाः श्रोत्रमनोहरस्वनाः।।[५३]

चातक का स्वर मंगलसूचक माना जाता है। मेघदूत का नायक यक्ष संदेश-वाहक यक्ष को अलकापुरी भेजते समय कहता है कि-देखों! सकुन भी सब अच्छे हो रहे हैं तुम्हारी साथी वायु धीरे-धीरे तुम्हें आगे बढ़ा रहा है। इधर अपनी आन का पक्का यह चातक भी बाई ओर अपनी मीठी बोली बोल रहा है-

मन्दं-मन्दं नुदति पवनश्वानुकूलौ यथा त्वां
वामश्चायं नदिति मधुरं चातकस्ते सगन्धः।[५४]

कालिदास के काव्य में बादलों एवं समुद्र की गर्जनाओं के भी कई बिम्ब हैं। राजा दशरथ के पृथ्वी विजय के अवसर पर समुद्र बादल के समान गरजता हुआ उनकी विजय-दुदंभी बजा रहा है-

अवनिमेकरथेन वरूथिना जितवतः किल तस्य धनुर्भृतः।
विजयदुन्दुभितां ययुरर्णवा घनरवा नरवाहनसम्पदः।।[५५]

प्रसाद जी के काव्य में ध्वनि-संवेदना के बिम्ब प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। वे प्रत्यक्ष शब्द-ध्वनियों को भी प्रस्तुत करते हैं तथा कभी-कभी पाठक के मानस में ध्वनि-कल्पना को प्रबुद्ध करते हैं इस प्रकार उनके श्रावण बिम्ब अधिक व्यापक, प्रभावशाली, गहन एवं कलात्मक बन जाते हैं कठिन-भंयकर ध्वनियों वाला यह बिम्ब प्रस्तुत है-

हा-हा-कार हुआ क्रन्दनमय कठिन कुलिश होते थे चूर,

---

५२ सम्पूर्ण काव्य (कामायनी), पृ०-९८
५३ ऋतुसंहार, २.३
५४ पूर्वमेघदूत १०
५५ रघुवंश, ३.११

हुए दिगन्त बधिर, भीषण रव बार-बार होता था क्रूर।।[५६]

उपर्युक्त बिम्ब के विषय में डॉ०रामकृष्ण अग्रवाल का मत है- प्रस्तुत पंक्तियों में हा-हा-कार की ध्वनि की अत्यन्त प्रखर संवेदना उद्बुद्ध होती है। हा-हा और कार के बीच रेखांशों का प्रयोग कर कवि ने हाहाकार ध्वनि की भयंकरता और दीर्घकालीनता को व्यंजित किया है। यहाँ हाहाकार की यह ध्वनि एकाकी नहीं है वरत् उसमें चीत्कार भरा हुआ है जिससे ध्वनि की तीव्रता और अधिक बढ़ जाती है। पुन: उसमें बिजलियों के टूट-टूटकर, क्रन्दन और कठिन कुलिश के चूर होने की सम्मिलित भयंकर ध्वनियों के प्रभाव को भी अंकित किया है- इस ध्वनि से दिशाएँ बहरी हो जाती हैं। किन्तु यह क्रूर ध्वनि केवल एक बार या दो बार नहीं होती वरन् बार-बार होती है। इस बारम्बारता के कारण उसकी भयंकरता और बढ़कर भीषण रव का अत्यन्त प्रभावशाली ध्वनि बिम्ब उपस्थित करती है।[५७]

कवि ने सागर की ध्वनियों के केवल कठोर एवं भयानक बिम्ब ही नहीं प्रस्तुत किए हैं अपुत उसके कोमल बिम्बों का निर्माण भी किया है। कवि सागर की लहरें अपने प्रियतम अम्बर के कानों में निश्छल प्रेम की कथा कह रही हैं-

जिस निर्जन में सागर लहरी, अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो, तज कोलाहल की अवनी रे।[५८]

प्रसाद जी ने अनेक स्थलों पर नादात्मकता के सहारे सुन्दर एवं प्रभावशाली श्रावण बिम्बों की रचना की है। लहर से एक उदाहरण प्रस्तुत है-

खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा।[५९]

प्रसाद जी के काव्य में चातक एवं श्यामा की ध्वनियों के बिम्ब भी उपलब्ध हैं-

चातक की चकित पुकारें श्यामा ध्वनि सरल रसीली
मेरी करुणार्द्र कथा की टुकड़ी आँसू से गीली।[६०]

यहाँ विरही चातक की तरह अपने प्रिय को पुकार रहा है। चातक पीउ-पीउ कह रहा है, जिसमें आश्चर्य है। अपने प्रिय वसन्त के विरह में व्याकुल कोयल भी कुहू-कुहू की ध्वनि करती है जिसमें सरलता के साथ-साथ सरसता भी है। वासन्ती कुंज से आच्छादित झर-झर की मधुर ध्वनि करते हुए झरने का श्रावण बिम्ब दर्शनीय है-

निर्झर सा झिर झिर करता माधवी कुंज छाया में
चेतना बही जाती थी हो मन्त्र मुग्ध माया में।[६१]

---

५६ सम्पूर्ण काव्य (कामायनी), पृ०-१३
५७ प्रसाद काव्य में बिम्ब योजना, पृ०-१५४
५८ सम्पूर्ण काव्य (लहर), पृ०-१२७
५९ वही, पृ०-१२८
६० वही (आँसू), पृ०-१०४

इस प्रकार प्रकृति सम्भूत ध्वनियों से उत्थित बिम्बों के निर्माण में कालिदास एवं जयशंकर प्रसाद दोनों कवि सिद्धहस्त हैं।

मानव सम्भूत ध्वनियों से निर्मित श्रावण बिम्ब

नैसर्गिक ध्वनियों के साथ-साथ आलोच्य कवियों ने मानवीय ध्वनियों रमणी कण्ठ एवं तरल हँसी पर आधारित सुन्दर श्रावण बिम्बों की योजना भी की है। अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अंक में प्रियंवदा, अनुसूया एवं शकुन्तला का परिहासपूर्ण वार्तालाप श्रोता एवं दर्शकों के मन में असीम रस की सृष्टि करने में समर्थ है। पार्वती की स्मिति का सुन्दर वर्णन कालिदास ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

नवपरिणयलज्जां भूषणां तत्र गौरीं, वदनमपहरन्तीं तत्कृता क्षेपमीशः।
अपि शयनसखीभ्यो दत्तवाचं कथंचित् प्रमथमुखविकारैर्हासयामास गूढम्।। [६२]

प्रसाद जी ने रमणी के कलकण्ठ एवं तरल हँसी के मदविह्वल श्रावण बिम्ब प्रस्तुत किए हैं। मनु को श्रद्धा का परिचय कर्णेन्द्रिय से ही प्राप्त होता है। श्रद्धा की वाणी मनु को सुन्दर संगीत के समान प्रतीत होती है-

सुना यह मनु ने मधु गुंजार मधुकरी का सा जब सानन्द,
किये मुख नीचा कमल समान प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छन्द।
एक झिटका सा लगा सहर्ष, निरखने लगे लुटे से, कौन-
गा रहा यह सुन्दर संगीत! कुतूहल रह न सका फिर मौन। [६३]

इड़ा का सौन्दर्य चित्र प्रस्तुत करते समय भी प्रसाद जी ने उसके गान भरे आनन का उल्लेखं किया है-

दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल
गुंजरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान। [६४]

डॉ०सूर्य प्रसाद दीक्षित के अनुसार- प्रसाद को रमणी की वह कण्ठकाकली अभिप्रेत है, जिसमें निर्झर की सी ध्वनि-तरंगें हिल्लोलित हो रही हों, जिसमें श्रुतिमाधुर्य और स्वर-चांचल्य हो और जिसमें नित-नूतन लावण्य लीलाएँ नृत्य कर रहा हो- [६५]

(क) श्रुतियों में चुपके चुपके से कोई मधुधारा घोल रहा। [६६]
(ख) निदय हृदय में हूक उठी क्या, सोकर पहली चूक उठी क्या अरे!
कसक वह कूक उठी क्या, झंकृत कर सूखी डाली को। [६७]

---

६१ वही, पृ०-१०५
६२ कुमारसंम्भवन्, ७.९५
६३ सम्पूर्ण काव्य (कामायनी), पृ०-२१
६४ वही,पृ०-५८
६५ छायावादी काव्य का व्यावहारिक सान्दर्यशास्त्र, पृ०--२८०
६६ सम्पूर्ण काव्य (कामायनी), पृ०-२६

(ग) है ऊँचा आज मगध-सिर-पदतल में विजित पड़ा गिर,
दूरागत क्रन्दन ध्वनि फिर क्यों गूँज रही है अस्थिर।[६८]

(घ) हृदय के कोने-कोने से
स्वर उठता है कोमल मध्यम, कभी तीव्र होकर भी पंचम,
मन के रोने से।[६९]

(ङ.) हँसकर बोले बोलते हुए निकले मधु निर्झर ललित गान।[७०]

कालिदास की तुलना में प्रसाद जी ने उन्मुक्त हास के श्रावण बिम्बों की रचना अधिक की है। इन बिम्बों में खिलखिलाहट से भरी हँसी और किलकारी की ध्वनि को बड़ी सतर्कता के साथ अंकित किया गया है। कुछ उदारहरण प्रस्तुत हैं-

(क) विकल खिलखिलाती है क्यों तू? इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर।[७१]

(ख) वह पूल और रह हँसी रही, वह सौरभ वह निश्वास छना।[७२]

(ग) स्मिति बन जाती तरल हँसी नयनों में भरकर बाँकपना।[७३]

(घ) मादकता-सी तरल हँसी के प्याले में उठती लहरी।[७४]

प्रसाद जी के ध्वनि बिम्बों के सम्बन्ध में डॉ०सूर्यप्रसाद दीक्षित का मत है- तरल-उच्छल और खिलखिलाहट भरी ध्वनियाँ प्रसाद जी को अतिप्रिय हैं। कवि के अनुसार यह अट्टहास उल्लास-भाव का सूचक है और ध्वनि-सौन्दर्य का भी। प्रसाद जी ने मृदु-मंद स्मिति का तो उल्लेख किया है, पर उन्मुक्त हँसी को अपेक्षाकृत अधिक प्रश्रय दिया है। उनके अनुसार यह तरल हँसी तरल आकांक्षा की द्योतक है और इस प्रकार यह व्यक्तित्त्व के खुलेपन एवं उसकी जीवन्त (सरस) भावधारा की वाहक भी है। यही कारण है कि कवि ने इसे द्रव रूप में प्रवहमान और प्रतिध्वनित होते चित्रित किया है। वस्तुतः यह प्रसाद जी का एक रूढ़ श्रौत बिम्ब है।[७५]

मानव निर्मित वस्तु सम्भूत ध्वनियों से निर्मित बिम्ब

मानव निर्मित अनेक उपकरणों से विभिन्न ध्वनियों से अनेक ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। नूपुर, किंकिणी, मुरली, तुरही, वीणा आदि अनेक वस्तुओं से उत्पन्न ध्वनि तरंगे अन्तर को प्रभावित करती है।

तुरही की मंगल ध्वनि का कालिदास के काव्य में कई स्थलों पर निनाद है-

---

६७ वही (लहर), पृ० -१४०
६८ सम्पूर्ण काव्य (लहर), पृ०-१४२
६९ सम्पूर्ण नाटक (विशाख), पृ०-४४३
७० सम्पूर्ण काव्य (कामायनी), पृ०-४८
७१ वही पृ०-२०
७२ वही, पृ०-२५
७३ वही, पृ०-३६
७४ सम्पूर्ण नाटक (स्कन्दगुप्त), पृ०-१९५
७५ छायावादी काव्य का व्यावहारिक सौन्दर्यशास्त्र, पृ०-१८९

(क) ततो गणैः शूलभृतः पुरोगैरुदीरितो मंगलतूर्यघोषः।[७६]

(ख) ध्वनत्सु तूर्येषु सुमन्द्रमंक्यालिंगयोर्ध्वकेश्वप्सरसो रसेन।
सुसन्धिबन्धं ननृतुः सुवृत्तगीतानुगं भावरसानुविद्धं।।[७७]

जब कुश की रत्नानियाँ सीढ़ियों से पानी में उतरने लगीं, उस समय उनके भुजबन्ध एक दूसरे से रगड़ खाने लगे, पैर के बिछुए बजने लगे और इन शब्दों को सुन-सुनकर सरयू के हंस मचल उठे-

सा तीरसोपान पथावतारादन्योन्यकेयूरविघट्टिनीभिः।
सनूपरक्षोभपदाभिरासीदुद्विग्नहंसा सरिदंगनाभिः।।[७८]

मृदंगध्वनि

तस्यामन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसंगीतमृदंगघोषः।
वियद्गतः पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति।।[७९]

शंखध्वनि

व्यधुर्बहिर्मंगलगानमुच्चैर्वैतालिकाश्चित्रचरित्रचारु।
जगुश्च गन्धर्वगणाः सशंखस्वनं प्रमोदाय पिनाकपाणेः।।[८०]

घण्टीध्वनि

खे खेलगामी तमुवाह वाहः सशब्दचामीकरकिंकिणीकः।
तटाभिघातादिव लग्नपंके धुन्वन्मुहुः प्रोतघने विषाणे।।[८१]

कुमार कार्तिकेय के युद्ध-प्रयाण के अवसर पर कवि ने हाथी, घण्टों एवं नगाड़ों की ध्वनियों पर आधारित सुन्दर श्रावण बिम्बों का निर्माण किया है-

उद्दामदानद्विपवृन्दबृंहितैर्नितान्तमुत्तुंगतुरंगह्रेषितैः।
चलद्धनस्यन्दननेमिनिः स्वनैरभून्निरुच्छ्वासमिवा कुलं जगत्।।[८२]

अर्थात् ऊँचे ऊँचे हाथियों की चिग्घाड़ों से, अत्यन्त ऊँचे घोड़ों की हिनहिनाहटों से और चलने वाले रथों की घड़घड़ाहटों से सब ऐसे घबरा उठे मानो सबकी साँस घुटी जा रही हो।

कुमार की सेना के नगाड़ों की जो गम्भीर ध्वनि पहाड़ों की कन्दराओं को भी पोड़ सकती थी उसे सुनकर समुद्र भी हिलोरें लेकर अपने तट से ऊपर उठ आया और आकाशगंगा में भी अचानक बाढ़ आ

---

७६ कुमारसम्भवम्,७.४०
७७ वही, ११.३६
७८ रघुवंश, १६.५६
७९ वही, १३.४०
८० कुमारसम्भवम्, ९.३२
८१ वही, ७.४९
८२ वही,१४.४१

गई-

महीभृतां कन्दरदारणोल्बणैस्तद्वाहिनीनां पटहस्वनैर्घनैः।
उद्वेलिताश्चुक्षुभिरे महार्णवा नभः स्रवन्ती सहसाभ्यवर्धत।।[८३]

इस प्रकार,कालिदास के समग्र काव्य में ध्वनियों से उत्पन्न सौन्दर्य आद्यन्तविद्यमान है। मधुर एवं कठोर सभी प्रकार की ध्वनियों पर आधारित बिम्बों की मोहकता सर्वत्र दर्शनीय है। कटिमेखलाओं की ध्वनि का एक बिम्ब प्रस्तुत है-

पादन्यासैः क्वणित् रसनास्तत्र लीलावधूतै-
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान् प्राप्य वर्षाग्रबिन्दून्
आगोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान्।।[८४]

ध्वनिसौन्दर्य के सन्दर्भ में प्रसाद जी ने भी नूपुरध्वनि का बारम्बार उल्लेख किया है।इनके काव्य में यह ध्वनि सौष्ठव का आदर्ष है। कंकण, किंकिणी एवं नूपुर तीनों की समवेत ध्वनियों का एक उदाहरण प्रस्तुत है, जिसमें कालिदास की उपर्युक्त ध्वनियों से साम्य परिलक्षित होता है-

कंकण णित, रणित नूपुर थे, हिलते थे छाती पर हार;
मुखरित था कलरव गीतों में स्वर लय का होता अभिसार।[८५]

नुपुर ध्वनियों से सम्बन्धित बिम्बों के कुछ उदाहरण निम्नवत् हैं-

(क) नूपुरों की झनकार घुली मिली जाती थी
चरण अलक्तक की लाली से।[८६]
(ख) आने दो मीठी मीड़ों से नूपुर की झनकार।[८७]
(ग) तभी कामना के नूपुर की, हो जाती झनकार।[८८]

मुरली की ध्वनि प्रसाद जी को बहुत प्रिय है। प्रेम के मधुरिम क्षणों का चित्रण करते समय उन्होंने मुरली की ध्वनियों की अनेक आवृत्तियाँ की हैं-

बज रही वंशी आठों याम की।
अब तक गूँज रही है बोली प्यारे मुख अभिराम की।[८९]
कुंज में वंशी बजती है।

---

८३ वही, १५.११
८४ पूर्वमेघदूत३९
८५ सम्पूर्ण काव्य (कामायनी), पृ०-१३
८६ वही (लहर), पृ०-१५०
८७ वही (झरना), पृ०-१७४
८८ वही, पृ० १६७
८९ सम्पूर्ण नाटक (चन्द्रगुप्त), पृ०-१४५

स्वर में खिंचा जा रहा मन, क्यों बुद्धि बरजती है।[९०]

वंशी को बस बज जाने दो,

मीठी मीड़ों को आने दो।[९१]

छायानट छवि परदे में सम्मोहन वेणु बजाता[९२]

मुरली मुखरित होती थी मुकुलों के अधर विहँसते।[९३]

उपर्यक्त अध्ययन से स्पष्ट होता है कि कालिदास एवं प्रसाद का काव्य ध्वनि-सौन्दर्य से मण्डित है। इन्होने नैसर्गिक ध्वनियों पवन, लहर, घन-गर्जन, कल-कल छल-छल नाद, झंझा-झकोर, खग-कूजन, कोकिल की काकली, भ्रमर-गुंजार आदि के ललित श्रावण विम्ब बनाये हैं। मानवीय ध्वनियों में नायक-नायिकाओं के मधुरालाप, गायन एवं मदविह्वल हँसी के बिम्ब इनके काव्य के सौन्दर्य हैं। मानव-निर्मित वस्तु सम्भूत ध्वनियों में नूपुर, किंकिणी, वीणा, वेणु, तुरही आदि ध्वनियों पर आधारित मुंदर श्रावण बिम्ब निर्मित हुए हैं। निष्कर्ष यह है कि इनकी रचनाओं में जो लालित्य एवं माधुर्य दिखाई देता है, उसका एक सशक्त आधार नाद व्यञ्जना के आश्रय से निर्मित श्रावण बिम्ब भी हैं।

---

९० वही (विशाख), पृ०-४१२

९१ वही (स्कन्दगुप्त), पृ०-२३२

९२ सम्पूर्ण काव्य (आँसू), पृ०-१०८

९३ वही,पृ०-१०७

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ0175-180) ISSN 0974 – 8830

शूद्रकविरचित मृच्छकटिकम् एवं मानवाधिकार : विवेचनात्मक अध्ययन

डॉ. डॉली जैन[१]

मानवाधिकार शब्द दो शब्दों मानव व अधिकार की सन्धि है। लॉस्की के अनुसार अधिकार मानव जीवन की ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिनके बिना कोई व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता।[२] मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम १९९३ के अनुसार मानवाधिकार का अर्थ व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता, समानता व गरिमा से सम्बन्धित उन अधिकारों से है, जो संविधान द्वारा प्रत्याभूत हैं या अन्तर्राष्ट्रीय करारों में वर्णित हैं और भारत में न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय हैं।[३] सरल शब्दों में कहा जाए तो ये ऐसे अधिकार हैं जो प्रत्येक मनुष्य को जन्मतः मिले हैं। मानवाधिकार के अन्तर्गत वे परिस्थितियाँ एवं पर्यावरण आते हैं, जो मानव को मानव के रूप में अपने अस्तित्व को कायम रखने और व्यक्तित्व के निर्माण तथा विकास के लिए अनिवार्य होते हैं।

संस्कृत नाटकों में इन मानवाधिकारों से सम्बद्ध अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत शोधपत्र प्राचीन संस्कृत नाटक 'मृच्छकटिकम्' से सम्बद्ध है। इसमें समाज के मध्यम वर्ग से सम्बन्धित कथानक है।

यद्यपि मानवाधिकारों सम्बन्धी प्रकल्पना आधुनिक युग की देन है, अतः प्राचीन संस्कृत नाटक में मानवाधिकारों सम्बन्धी आधुनिक संवैधानिक व्यवस्थाओं की खोज निरर्थक है, परन्तु इस नाटक में मानवाधिकारों से सम्बद्ध विभिन्न सामाजिक समस्याओं का चित्रण किया गया है और इसी रूप में इसमें मानवाधिकारों का उल्लेख प्राप्त होता है।

मानवाधिकार प्रदान करने की पहली शर्त है कि शासन लोककल्याणकारी हो। लोककल्याण की प्रवृत्ति होने पर ही शासन मानव मात्र के अधिकारों के प्रति सजग हो सकता है। इस ग्रन्थ में शूद्रक के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि शासन लोककल्याणकारी नहीं था। लोक मान्य नेता को राजा द्वारा बन्दी बना लिया जाता था।[४] जैसा कि नाटक का एक पात्र शर्विलक भी कहता है कि बिना किसी कारण के अपने मन में शंका मानने वाले दुष्ट शत्रुओं ने मित्र आर्यक को कारागार में डाल दिया है।[५] स्वयं आर्यक के माध्यम से भी अपनी व्यथा को प्रकट किया गया है। वह कहता है कि मैं राजा की कैद के बहाने होने

---

१. ५१२, रामानुजन आवास वनस्थली विद्यापीठ टोंक (राज.) dollykjain@yahoo.com

२ राधाकृष्ण शर्मा, मानव अधिकार एवं कर्त्तव्य, राज्य शास्त्र समीक्षा, राजनीति विज्ञान की अर्द्धवार्षिक शोधपत्रिका, जयपुर, मई, २००४, पृ. सं. ८५

३ राजस्थान मानव अधिकार आयोग, त्रैमासिक पत्रिका, २००५-०६, पृ. सं. ५

४ किं घोषादानीय योऽसौ राज्ञा पालकेन बद्धः। शूद्रकमृच्छ०, पृ. सं. ३८५

५ अपि च प्रियसुहृदमकारणे गृहीतं रिपुभिरसाधुभिराहितात्मशंकैः। सरभसमभिपत्य मोचयामि स्थितमिव राहुमुखे शशांकबिम्बम्॥ शूद्रकमृच्छ०-४/२७

वालीबहुत बड़ी आपत्ति रूपी समुद्र को पार करके, पैरों के अग्रभाग में बँधी हुई बेड़ी रूपी पाश को खींचता हुआ इधर-उधर घूम रहा हूँ।[६]

राजा के सम्बन्धी मनमाना आचरण करते थे, जैसा कि शकार कहता है कि यह बूढ़ा सियार विट, अधर्म से डरता है और यह चेट परलोक से डरता है। मैं राजा का साला किससे डरने वाला हूँ।[७] राजा के सम्बन्धी होने के कारण वे अपने द्वारा किए गए अपराध तक को दूसरे पर मढ़ना चाहते हैं। राजा का साला स्वयं द्वारा की गई हत्या को छिपाने के लिए विट को लालच देते हुए कहता है कि मैं तुम्हें सोने की मोहर दूँगा। कौड़ियों के साथ कार्षापण (तत्कालीन सिक्का) भी दूँगा। अपराध के कारण मेरा यह पराक्रम किसी साधारण मनुष्य पर थोप देना।[८] अन्यत्र भी एक पात्र के कथनानुसार राजा दुराचारी व अविवेकी है।[९] उसके इसी दुराचार व अविवेक के कारण राज्य में विप्लव होता है और अन्ततः सभी नागरिकों की इच्छानुसार लोककल्याणकारी शासक पदस्थापित होता है।[१०]

मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के अनुसार किसी व्यक्ति को दास बनाकर या दासता की स्थिति में नहीं रखा जा सकता है।[११] शूद्रक ने अनेकत्र दास प्रथा का व दासों की बुरी स्थिति का चित्रण किया है। चारुदत्त के घर में चोरी होने पर पत्नी धूता, दासी के साथ प्रवेश करती है। धूता के बेहोश होने पर दासी उसकी परिचर्या करती है।[१२] दासवर्ग सारा समय स्वामी की परिचर्या में ही बिताता था। स्वामी के सोने के बाद सोता था और उसके जागने से पहले ही जाग जाता था।[१३] दासता की पीड़ा को व्यक्त करते हुए स्थावरक कहता है कि दासता ऐसी बुरी होती है कि सत्य कहने पर भी कोई विश्वास नहीं कर रहा।[१४]

दास अपराधी की तरह थे और उन पर स्वामी को क्रोध करने का पूरा अधिकार था। जैसा कि विदूषक के क्रोधपूर्ण कथन से व्यक्त होता है कि हे मित्र! इस समय यह अधम दासी पुत्र होकर पानी

---

६ हित्वाऽहं नरपतिबन्धनापदेश व्यापत्ति-व्यसन्-महार्णवं महान्तम्। पादाग्र-स्थित-निगडैक-पाश-कर्षी प्रभ्रष्टो गज इव बन्धनाद् भ्रमामि॥ शूद्रकमृच्छ०-६/१

७ अधर्मभीरुकौ वृद्ध शृगालः, परलोकभीरुरेष गर्भदासः। अहं राष्ट्रियश्यालः कस्माद्बिभेमि वर-पुरुष-मनुष्यः॥ शूद्रकमृच्छ०, पृ. सं. ४४१

८ अर्धान् शतं ददामि सुवर्णकं ते कार्षापणं ददामि सबोडिकंते। एष दोषस्थानं पराक्रमो मे सामान्यको भवतु मनुष्यकाणाम्॥ शूद्रकमृच्छ०-८/४०

९ नापरीक्ष्यकारी दुराचारः पालक इव चाण्डालः। शूद्रकमृच्छ०, पृ. सं. ५६१

१० हत्वा रिपुं तं वलमन्त्रिहीनं पौरान्समाश्वास्य पुनः प्रकर्षात्। प्राप्तं समग्रं वसुधाधिराज्यं राज्यं बलारेरिव शत्रुराज्यम्॥ शूद्रकमृच्छ०-१०/४८

११ सुभाष शर्मा, भारत में मानवाधिकार, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, २००९, पृ. सं. ३९

१२ ततः प्रविशति चेट्या सह चारुदत्तवधूः। समाश्वसितु आर्या धूता॥ शूद्रकमृच्छ०, पृ. सं. १९५

१३ अस्माकमेतत् प्रभातम्, आर्यायाः पुना रात्रिरेव। शूद्रकमृच्छ०, पृ. सं. २८५

१४ चेटः-हन्त! ईदृशो दासभावः यत्सत्यं कमपि न प्रत्यायति। शूद्रकमृच्छ० पृ. सं. ५८३

डालता है और मुझ ब्राह्मण से पैर धुलवाता है।[१५] दासों के साथ मार-पीट भी की जाती थी। चाण्डाल के कथन से यह व्यक्त होता है।[१६]

दासों का क्रय-विक्रय भी होता था। भिक्षु के कथन से यह ज्ञात होता है। वह कहता है कि दश सोने के सिक्के से तुमने जिसे खरीदा था, उसे आप याद नहीं कर रहीं हैं?[१७] दासों की मुक्ति धन द्वारा होती थी। शर्विलक अपनी प्रेयसी मदनिका से पूछता है कि मदनिके! क्या वसन्तसेना तुमको धन के बदले में मुक्त कर देंगीं?[१८] कुछ स्वामी दयालु भी होते थे जो धन लिए बिना भी दासों को मुक्त देते थे। वसन्तसेना इसी तरह की स्वामिनी है।[१९]

दास-दासियाँ यद्यपि पूर्णरूपेण अपने मालिक के अधीन रहते थे, परन्तु अनेकत्र वे विरोध करने का अधिकार भी रखते थे। जैसे शकार के अनुचित आचरण से खिन्न विट कहता है कि आपकी सेवा करने पर पाप रहित होते हुए भी मुझे ये नगरवासी लोग पापी जैसा ही मानेगें। तुम स्त्री की हत्या करने वाले हो, इसलिए तुम्हारे पीछे मैं कैसे चल सकता हूँ।[२०]दास गलत कार्य में सहयोग भी नहीं करते थे। स्थावरक नामक चेट (दास) हत्या का अपराध करने पर शकार का साथ नहीं देता और अन्त में वही सारे रहस्य का खुलासा करता है।[२१]

दास-दासियाँ अनैतिक कार्य भी नहीं करते थे। जब शकार चेट को वसन्तसेना का वध करने का आदेश देता है तो चेट कहता है कि सब कुछ करूँगा, लेकिन अनुचित कार्य नहीं करूँगा।[२२] वह कहता है कि आपका अधिकार शरीर पर है, व्यवहार पर नहीं।[२३] शकार द्वारा भय का कारण पूछे जाने पर वह कहता है कि मैं पाप से डरता हूँ। उसकी दृष्टि में पाप का फल दूसरों के टुकड़ों पर पलने के रूप में होता है। वह कहता है कि पाप कर्मों के कारण व भाग्य के दोषों के कारण जन्म से ही सेवक बना हूँ,

---

१५ विदूषकः- (सक्रोधम्) भोः वयस्य! एष इदानीं दास्याः पुत्रो भूत्वा पानीयं गृह्णाति, मां पुनर्ब्राह्मणं पादौ धावयति। शूद्रकमृच्छ०, पृ. सं. १६३

१६ चाण्डालौ-(दृष्ट्वा) शोभनं भणति। वितप्तश्चेटः किं न प्रलपति? शूद्रकमृच्छ०, पृ. सं. ५८३

१७ भिक्षुः-किं मां न स्मरति बुद्धोपासिका दश-सुवर्ण-निष्क्रीतम्? शूद्रकमृच्छ०, पृ. सं. ४७२

१८ शर्विलकः-मदनिके! किं वसन्तसेना मोक्ष्यति त्वां निष्क्रमेण। शूद्रकमृच्छ०, पृ. सं. २१४

१९ शर्विलक! भणिता मया आर्य्या, ततो भणति, यदि मम स्वच्छन्दः तदा विना अर्थं सर्वं परिजनमभुजिष्यं करिष्यामि। शूद्रकमृच्छ०, पृ. सं. २१४

२० अपतितमपि तावत् सेवमानं भवन्तं पतितमिव जनोऽयं मन्यते मामनार्यम्। कथमहमनुयायां त्वां हतस्त्रीकमेनं पुनरपि नगरस्त्री-शंकितार्द्धाक्षिदृष्टम्।। शूद्रकमृच्छ०-८/४२

२१ अत्र इदानीं मया पापे प्रवहणपरिवर्तेन पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानं वसन्तसेना नीता, ततो मम स्वामिना, मां न कामयसीति कृत्वा बाहुपाशबलात्कारेण मारिता, न पुनरेतेन आर्येण। शूद्रकमृच्छ०, पृ. सं. ४७२-४७३

२२ चेटः- भट्टक! सर्वं करोमि वर्जयित्वा अकार्यम्। शूद्रकमृच्छ०, पृ. सं. ४३६

२३ चेटः प्रभवति भट्टकः शरीरस्य न चरित्रस्य। शूद्रकमृच्छ०, पृ. सं. ४३७

इसलिए अब अधिक पाप का संचय नहीं करूँगा और अनुचित कार्य भी नहीं करूँगा।[२४]

चारुदत्त के द्वारा स्वेच्छा से स्थावरक चेट की मुक्ति दिखला कर शूद्रक ने दास प्रथा की समाप्ति का संकेत भी दिया है।[२५]

मानवाधिकारों के अन्तर्गत काम का अधिकार, न्यायप्रद एवं सही पारिश्रमिक पाने का अधिकार एवं बेरोजगारों की सुरक्षा का अधिकार भी सम्मिलित है।[२६] शूद्रक ने संवाहक के माध्यम से बेरोजगारी की समस्या का चित्रण किया है। वह पर्यटन करता हुआ पाटलिपुत्र से उज्जयिनी आता है, परन्तु चारुदत्त के गुणों के वशीभूत होकर उसका सेवक बन जाता है।[२७]

भारतीय दण्ड संहिता के अन्तर्गत महिलाओं को कई प्रकार के मानवाधिकार प्राप्त हैं।[२८] मृच्छकटिक में स्त्रियों के यौन शोषण का संकेत शकार व वसन्तसेना के वृत्तान्त से ज्ञात होता है। जहाँ विट, शकार तथा चेट के द्वारा पीछा की जाती हुई वसन्तसेना भाग रही है। विट के द्वारा भागती हुई वसन्तसेना का चित्रण इस प्रकार किया गया है कि हमारे भय के कारण मन्दगति को छोड़ देने वाली, भय से उद्विग्न तथा चंचल कटाक्षों से इधर-उधर देखती हुई तुम बहेलिए के द्वारा पीछा की जाती हुई हरिणी के समान क्यों भाग रही हो?[२९]

शकार के द्वारा किए गए वसन्तसेना के सम्बोधन भी यौन शोषण के परिचायक कहे जा सकते हैं। जहाँ वह उसे कामपिपासा को शान्त करने वाली जैसे सम्बोधनों से सम्बोधित करता है।[३०] वसन्तसेना के रक्षा के लिए चिल्लाने पर उसका उपहास करता हुआ विट कहता है कि क्या जमदग्निपुत्र परशुराम, भीमसेन, अर्जुन अथवा रावण तुम्हारी रक्षा कर सकता है। मैं तुम्हें बाल पकड़ कर दु:शासन का अनुकरण करता हूँ।[३१]

---

२४ येनास्मिगन् भंदासो विनिर्मितो भागधेयदोषैः। अधिकञ्च न क्रीणिष्यामि तेनाकार्यं परिहरामि॥ शूद्रकमृच्छ०-८/२५

२५ चारुदत्त-सुवृत्त अदासो भवतु। शूद्रकमृच्छ०, पृ. सं. ६३६

२६ सुभाष शर्मा, भारत में मानवाधिकार, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, २००९, पृ. सं. ३८

२७ एष निजगृहे आहिण्डकानां मुखात् श्रुत्वा अपूर्वदेशदर्शनकुतूहलेन इहागतः। इहापि मया प्रविश्य उज्जयिनीम् एक आर्यः शुश्रूषितः। शूद्रकमृच्छ०, पृ. सं. १२२

२८ सुभाष शर्मा, भारत में मानवाधिकार, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, २००९, पृ. सं. ८४

२९ किं त्वं भयेन परिवर्तितसौकुमार्या नृत्यप्रयोगविशदौ चरणौ क्षिपन्ती। उद्विग्न-चंचल-कटाक्ष-विसृष्टदृष्टिः व्याधानुसारचकिता हरिणीव यासि॥ शूद्रकमृच्छ०-१/१७

३० एषा नाणक-मोषि-कामकशिका, मत्स्याशिका लासिका निर्नाशा कुलनाशिका, अवशिका कामस्य मञ्जूषिका। एषा वेशवधूः सुवेशनिलया वेशांगना वेशिका, एतस्या दश नामकानि मया कृतानि अद्यापि मां नेच्छति॥ शूद्रकमृच्छ०-१/२३

३१ शकार-वसन्तसेनिके! विलप विलप परभृत्तिकां वा पल्लवकं वा सर्वं वसन्तमासं मया अभिसार्यमाणां त्वां कः परित्रास्यते? किं भीमसेनो जमदग्निपुत्रः कुन्तीसुतो वा दशकन्धरो वा। एषोऽहं गृहीत्वा केशहस्ते दुःशासनस्यानुकृतिं करोमि॥ शूद्रकमृच्छ०-१/२९

समाज में वैश्या प्रथा भी थी। वैश्याओं का जीवन युवकों की सहायता पर आधारित है। विट कहता है कि राह में पैदा हुई लता की तरह तुम अपने आप को समझो, क्योंकि धन से खरीदा जाने वाला शरीर धारण कर रही हो।[३२]

शूद्रक ने स्त्रियों की सामाजिक स्थिति चित्रित करने के साथ ही उसका समाधान भी प्रस्तुत किया है। इन्होंने समाज में वैश्याओं की बुरी स्थिति चित्रित की है, लेकिन दासी मदनिका[३३] व वैश्या वसन्तसेना[३४] इन दोनों को वधू पद पर प्रतिष्ठित करवाकर शूद्रक ने प्रकारान्तर से वैश्याओं को सामाजिक प्रतिष्ठा दिलवाने की माँग की है।

स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका द्वारा निष्पक्ष एवं सार्वजनिक सुनवाई भी एक मानवाधिकार है।[३५] शूद्रक ने शकार के माध्यम से न्यायपालिका पर प्रभावशाली व समृद्धिशाली लोगों के प्रभुत्व का संकेत किया है। शकार न्यायालय में पहुँच कर कहता है कि मेरे पिता राजा के ससुर हैं। राजा मेरे पिताजी के दामाद हैं। मैं राजा का साला हूँ और राजा भी मेरी बहिन के पति हैं।[३६] शकार वसन्तसेना की हत्या करके न्यायालय में पहुँचता है और दण्डाधिकारी को अपने मुकदमे की उसी समय सुनवाई करने के लिए बाध्य करता है। उसे धमकी देते हुए कहता है कि अगर आज विचार नहीं किया गया तो अपने बहनोई राजा पालक और अपनी बहिन से कहकर इस दण्डाधिकारी को हटवा कर इसकी जगह दूसरा नियुक्त करवा दूँगा।[३७] शकार की धमकी को सुनकर अधिकरणिक को उसके मुकदमे पर विचार करने के लिए बाध्य होना पड़ता है।[३८] यद्यपि भयभीत होने पर भी अधिकरणिक शकार से कहता है कि कुल की प्रशंसा करने से क्या लाभ? यहाँ तो मनुष्य का स्वभाव ही परखा जाता है।[३९] उसका यह वाक्य कुछ हद तक न्यायपालिका की निष्पक्षता की सूचना देता है। न्यायप्रक्रिया की निष्पक्षता का प्रतिपादन शकार जैसा खलपात्र भी करता है।[४०]

यद्यपि शूद्रक ने न्यायपालिका पर प्रभावशाली लोगों के प्रभुत्व को दर्शाया है पर वे न्यायपालिका

---

३२ तरुणजनसहायो निश्चन्त्यतां वेशवासो विगणय गणिका त्वं मार्गजाता लतेव। वहसि किं धनहार्यं पण्यभूतं शरीरं समुपचर भद्रे! सुप्रियं चाप्रियं वा।। शूद्रकमृच्छ०-१/३१

३३ सुदृष्टः क्रियतामेष शिरसा वन्द्यतां जनः। यत्र ते दुर्लभं प्राप्तं वधूशब्दावगुण्ठनम्।। शूद्रकमृच्छ०-४/२४

३४ शर्विलक-आर्ये वसन्तसेने! परितुष्टो राजा भवती वधूशब्देनानुगृह्णाति। शूद्रकमृच्छ०, पृ. सं. ५४१

३५ सुभाष शर्मा, भारत में मानवाधिकार, नेशनल बुक ट्रस्ट. इण्डिया, २००९, पृ. सं. ३७

३६ राजश्वसुरो मम पिता राजा तातस्य भवति जामाता। राजश्यालोऽहं ममापि भगिनीपती राजा।। शूद्रकमृच्छ०-९/६

३७ शकारः-(सक्रोधम्) आः किं न दृश्यते मम व्यवहारः? यदि न दृश्यते, तदा आवृत्तं राजानं पालकं भगिनीपतिं विज्ञाप्य भगिनीं मातरं च विज्ञाप्य एतमधिकरणिकं दूरीकृत्य अत्र अन्यमधिकरणिकं स्थापयिष्यामि। शूद्रकमृच्छकटिकम्, पृ. सं. ४१८

३८ सर्वमस्य मूर्खस्य सम्भाव्यते। भद्र! उच्यताम्-आगच्छ, दृश्यते तव व्यवहारः। शूद्रकमृच्छ०, पृ. सं. ४१९

३९ किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम्। भवन्ति नितरां स्फीताः सुक्षेत्रे कंण्टकिद्रुमाः।। शूद्रकमृच्छ०-९/७

४० शकारः किं पक्षपातेन व्यवहारो दृश्यते? शूद्रकमृच्छ०, पृ. सं. ५१४

भी निष्पक्षता से परिचित थे और इसीलिए वे न्यायाधीशों की योग्यता के विषय में कहते हैं कि न्यायाधीश शास्त्र को जानने वाला, वादी-प्रतिवादी के कपट को पकड़ने में कुशल, वक्ता और क्रोधरहित होना चाहिए। मित्र, शत्रु और आत्मीय जनों के बीच में समान भाव रखने वाला, आचरण को देखकर निर्णय देने वाला, निर्बलों की रक्षा करने वाला, दुष्टों को दण्ड देने वाला, धार्मिक, लोभरहित, उपाय के सम्भव रहने पर सच बात का पता लगाने में सावधान तथा राज्य के क्रोध को नष्ट करने वाला होना चाहिए।[४१]

इस प्रकार शूद्रक ने अपने ग्रन्थ में तात्कालिक समाज, राज्य व शासन व्यवस्था का निष्पक्ष चित्रण किया है। आभिजात्य वर्ग की कुलीनता को छोड़कर समाज के निम्न व मध्यम वर्ग की सच्चाइयों को प्रस्तुत करने वाला यह एकमात्र प्राचीन संस्कृत नाटक है। प्रस्तुत शोधपत्र का निष्कर्ष निम्न बिन्दुओं में देखा जा सकता है:-

मृच्छकटिक में शासक वर्ग प्रारम्भ में स्वेच्छाचारी व अविवेकी है परन्तु राज्य विप्लव द्वारा ऐसे शासन का अन्त दिखलाकर शूद्रक ने अन्त में लोककल्याणकारी शासन की प्रतिष्ठा होते हुए दिखलायी है।

शूद्रक ने समाज में दासों की स्थिति व उनकी अन्तर्व्यथा का मार्मिक व मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। अन्त में दासत्व से मुक्ति दिखला कर दास-प्रथा की समाप्ति का भी वे संकेत देते हैं।

समाज में वैश्याओं की बुरी स्थिति चित्रित करने के साथ ही उन्होंने उनकी वधू पद पर प्रतिष्ठा भी दिखलाई है। इस प्रकार स्त्रियों के सम्बन्ध में भी उनका दृष्टिकोण प्रगतिवादी कहा जा सकता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि शूद्रक ने प्रकारान्तर से समाज में मानवाधिकारों के समुचित क्रियान्वयन की माँग की है।

---

४१ अधिकरणिकः -शास्त्रज्ञः कपटानुसारकुशलो वक्ता च न क्रोधनस्तुल्यो मित्र-पर-स्वकेषु चरितं दृष्ट्वैव दत्तोत्तरः। क्लीबान् पालयिता शठान् व्यथयिता धर्म्यो न लोभान्वितो द्वार्भावे परतत्त्वबद्धहृदयो राज्ञश्च कोपापहः।। शूद्रकमृच्छ०-९/५

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ0181-195) ISSN 0974 – 8830

कौसल्या : वाल्मीकि और तुलसी की दृष्टि में

डॉ० मृदुल जोशी[१]

राम कथा में राम की जननी माता कौसल्या का चरित्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वे राजा दशरथ की पट्टमहिषी, चरित नायक राम की माता और अयोध्या के विशाल साम्राज्य की रानी हैं। तुलसी और वाल्मीकि दोनों ने ही इनकी प्रकृति, स्वभाव, गौरव और महनीयता का आकलन अपनी-अपनी दृष्टि से किया है। दोनों ही कवियों के प्रस्तुतिकरण में पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगत होती है। तुलसी के रामचरितमानस में कौसल्या अत्यन्त पुनीता, सदाचारी, धार्मिक, पतिभक्ता, संतुलित व्यक्तित्व की धनी, बुद्धिमती, वात्सल्य से प्रपूरित, श्रेष्ठ आचरण करने वाली एक आदर्श नारी के रूप में प्रस्तुत हैं। वाल्मीकि ने कौसल्या में समस्त गुणों के रहते हुए भी उन सभी दुर्बलताओं को भी उकेरा है जो कि एक सामान्य नारी की स्वाभाविक स्थिति और प्रतिक्रिया हो सकती है। इसलिए तुलसी की कौसल्या और वाल्मीकि की कौसल्या के चरित्र में स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है।

तुलसी ने मानस के प्रथम काण्ड में कौसल्या की अभ्यर्थना की है क्योंकि विश्व को सुख देने वाले राम सदृश पुत्र को जन्म देने का श्रेय उन्हें मिला है।[२] रघुकुल शिरोमणि राजा दशरथ की पट्टमहिषी कौसल्या पति से अनन्य प्रेम करने वाली, पुनीत आचरण रखने वाली, नम्र और प्रभु भक्त हैं।[३] पुत्र कामेष्टि यज्ञ द्वारा प्राप्त हविष्यान्न (पायस) का अर्द्धभाग प्राप्त करने का श्रेय भी कौसल्या को ही है। वाल्मीकि ने भी इस प्रसंग को यथावत् रखा है। वाल्मीकि के अनुसार विष्णु स्वरूप हविष्य के अर्द्ध भाग से प्रकट अपरूप सौन्दर्यवान् राम की जननी बन कौसल्या देवमाता अदिति के समान सुशोभित हैं।[४] तुलसी ने कौसल्या को निष्काम प्रभु भक्त के रूप में स्वीकारा है। उनकी प्रभुभक्ति का ही परिणाम है कि राम ने अपने चतुर्भुज रूप का दर्शन उन्हें और केवल उन्हें ही कराया है।[५] दशरथ की रानियों में कौसल्या ही जानती हैं कि राम उनके पुत्र नहीं, अपितु वेद और पुराणों में अभिव्यक्त गुणातीत परब्रह्म हैं जो भक्तों पर अनुग्रह करने हेतु प्रकट हुए हैं। परम भक्ति से प्राप्त अधिकार ही कौसल्या से अखिल ब्रह्माण्ड नायक,

---

१ असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कन्या गुरुकुल परिसर, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२ बंदउँ कौसल्या दिसि प्राची, कीरति जासु सकल जग माची। प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू, बिस्व सुखद खल कमल तुसारू। रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा सं० १५.४-५

३ कौसल्यादि नारि प्रिय सब आचरन पुनीत। पति अनुकूल प्रेम दृढ़ हरिपद कमल विनीत। बालकाण्ड दो० सं० १८८

४ विष्णोरर्धं महाभागं पुत्रमैक्ष्वाकुनन्दनम्। लोहिताक्षं महाबाहुं रक्तोष्ठं दुन्दुभिस्वनम्। कौसल्या सुशुभे तेन पुत्रेणामिततेजसा। यथा वरेण देवानाममदितिवर्ज्रपाणिना। बालकाण्ड, १८ सर्ग, श्लोक ११,१२

५ हरषित महतारी मुनिमन हारी अद्भुतरूप विचारी। लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुजचारी। भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभा सिंधु खरारी। बालकाण्ड दो० सं० १९१.पंक्ति सं० १-१२

भगवान् से पुत्रवत् आचरण करने का हठ करा सकता है।[६] यही कारण है कि राम भी उन्हें अपना वास्तविक स्वरूप भूलने नहीं देते।[७] यही नहीं, उन्हें जब-तब ज्ञात कराते रहते हैं कि प्रबल माया से पार होने का साधन भक्ति ही है।[८] वस्तुतः कौसल्या को यह दुर्लभ अनुभव इसीलिए प्राप्त हो रहा है क्योंकि वे भक्तिमती हैं, अधिकारी हैं। इन अनुभवों से अन्य रानियाँ कैकेयी और सुमित्रा तक अनभिज्ञ हैं।

रामचरितमानस में कौसल्या की उपस्थिति इसके बाद सद्यः विवाहित राम के अयोध्या लौटने पर है जहाँ वे आनंदित दिखाई देती हैं।[९] यहाँ कौसल्या को अक्षत, अंकुर, गोरोचन, लावा, दही, पत्ती, तुलसी हल्दी, दूब, फूल, पान, सुपारी सदृश मांगलिक वस्तुओं को स्वर्णिम कलश और कनक थाली में सजाकर नव वधू की परछन के लिये अन्य रानियों के साथ एक उमंगमयी माता के रूप में दर्शाया है। वे बार-बार नवल वधूओ पर न्यौछावर करती हुई आरती उतार रही हैं, अत्यन्त प्रमुदित होकर प्रसन्न मना नेग दे रही हैं। यहाँ तुलसी ने राम के आश्चर्यजनक कृत्यों यथा मारीच-सुबाहु की सेना से लोहा लेना, अहिल्या का उद्धार करना और शिव जी के धनुष भंग पर गर्वमिश्रित गोद मानती एक सामान्य माता की तरह सहज स्वाभाव प्रतिक्रिया को अभिव्यक्त करते हुए कौसल्या को चित्रित किया है। इसके सर्वथा विपरीत अयोध्याकाण्ड में ही कौसल्या का डरा-सहमा, अश्रुप्रपुरित स्वरूप आकृति ग्रहण करता है जब राम **पितॉं दीन्ह मोहि कानन राजू** कहकर अपने वनवास की सूचना देते हैं। तुलसी के शब्दों में-

सहमि सूखि सुनि सितलि बानी, जिमि जवास परें पावस पानी।
कहि न जाइ कछु हृदय विषादू, मनहुँ मृगी सुनि केहरि नादू।
नयन सजल तन थर-थर काँपी, माजहि नाइ मीन जनु पापी।[१०]

उनके कण्ठ से भय और दुःख से अवरुद्ध वचन नहीं निकलते। वाल्मीकि ने भी इस प्रसंग में कौसल्या को अत्यन्त दीन-हीन और कातर दिखाया है-

सा निकृत्तेव सालस्ययष्टिः परशुना वने।
पपात सहसा देवी देवतेव दिवच्युता।[११]

वे वन में फरसे से कटी हुई शाल वृक्ष की शाखा के समान पृथ्वी पर गिर पड़ती हैं और जैसे कोई घोड़ी भारी बोझ ढोने के बाद थकावट दूर करने के लिए धरती पर लोट करके उठती हैं, ठीक इसी तरह उनके समस्त अंग धूल में लिपट जाते हैं।[१२] तुलसी की कौसल्या तो पूरा वृतान्त जानने पर पतिव्रत्य

---

६ कीजै सिसुलीला अतिप्रिय सीला यह सुखपरम् अनूपा।
७. देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखण्ड। रोमकोटि ब्रहमण्ड। बालकाण्ड दो-रोम प्रति लागे कोटि-० सं० २०१ खअस्तुति करि न जाइ भय माना ., जगत पिता मैं सुत करि जाना। बालकाण्ड दो० सं० २०१.७
८ देखा जीव नचावइ जाही, देखी भगति जो छोरइ ताही। बालकाण्ड दो० सं ०२०१.८
९. कौसल्यादि राम महतारीं प्रेम विवस तन दसा बिसारीं। रामचरित मानस, बालकाण्ड दो० सं ०३४४.८
१० रामचरित मानस, अयो०काण्ड दो० सं० ५३.२-४
११ वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, २० सर्ग, श्लोक ३२
१२ उपावृत्योत्थितां दीनां बडवामिव वाहिताम्। पांसुगुण्ठित सर्वांगी विममर्श च पाणिना।। वा०रा० अयो०का०, २० सर्ग, श्लोक ३८

धर्म व पुत्र स्नेह के मध्य द्वन्द्वग्रस्त हो जाती हैं। पति की बात टाली नहीं जा सकती और पुत्र स्नेह के कारण वनवास की आज्ञा को स्वीकृति भी तो नहीं दी जा सकती। वे तो परिणाम को भी जान रही हैं। अन्ततः सरल, निष्पाप, विवेकी कौसल्या निर्णय देती हैं-

तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका, पितु आयसु सब धरमक टीका।[१३]

उनकी दृष्टि में पिता की आज्ञा का पालन सब धर्मों में श्रेष्ठ धर्म है। वे यह भी जानती हैं कि राम के जाने पर भरत, दशरथ व प्रजा को बहुत कष्ट होगा।[१४]

लेकिन कौसल्या पुत्र की संस्कारक भी हैं। वे तो कैकेयी के प्रति भी राम के मन में किसी प्रकार का कालुष्य नहीं आने देतीं और कह उठती हैं-

जो केवल पितु आयसु ताता, तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना, तौ कानन सत अवध समाना।[१५]

वात्सल्य से आपूरित मन को समाश्वासित करती हुई वे स्वयं को ही मानो समझाती हैं कि वन देवी व देवता राम के वन में माता-पिता होंगे, पशु-पक्षी सेवा का कार्य करेंगे। वह तो यह भी नहीं कह पातीं कि उन्हें राम अपने साथ ले चलें, क्योंकि कहीं राम इस आग्रह को सुन यह न समझ बैठें कि माता उन्हें रोकना चाहती हैं। बस वे तो यह कह कर ही मन को मना लेती हैं कि बस राम वन में उन्हें भूल न जायें।[१६] अन्ततः जब भावनाओं पर नियन्त्रण नहीं रह जाता तो दीन कौसल्या राम के चरणों में गिरकर विलाप करने लगती हैं।[१७]

तुलसी के सर्वथा विपरीत वाल्मीकि ने कौसल्या द्वारा राम को वन न जाने का आदेश देते दिखाया है-

यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहम्।
त्वां साहं नानुजानामि गन्तव्यमितो वनम्।[१८]

अर्थात् जैसे गौरव के कारण राजा तुम्हें पूज्य हैं, उसी प्रकार मैं भी हूँ। मैं तुम्हें वन जाने की आज्ञा नहीं देती, अतः तुम्हें यहाँ से वन को नहीं जाना चाहिए।

वाल्मीकि की कौसल्या पति की इच्छा को ही अपनी इच्छा नहीं मानतीं। उनकी सर्वथा अपनी भी इच्छा है, जिसे वे स्पष्ट रूप से व्यक्त करती हुई दिखाई देती हैं। यही नहीं वे तो खुलेआम कैकेयी की आज्ञा का विरोध करती हुई भी दिखायी पड़ती हैं-

---

१३ रामचरित मानस, अयो०काण्ड दो० सं० ५४.८
१४ तुम्ह बिनु भरतहि भूपतहि प्रजाहि प्रचंड कलेसु। रामचरित मानस, अयो०काण्ड दो० सं० ५५
१५. रामचरितमानस, अयोध्या काण्ड दो० सं० ५५.१-२
१६ वही, अयोध्या काण्ड दो० सं० ५६
१७ बहु विधि बिलपि चरन लपटानी, परम अभागिनी आपुहि जानी। रामचरितमानस, अयो०काण्ड दो० सं० ५६.६
१८ वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, २१ सर्ग, श्लोक २५

न चाधर्म्यं वचः श्रुत्वा सपत्न्या मम भाषितम्।
विहाय शोकसंतप्ता गन्तुमर्हसि मामितः।[१९]

उनका तो स्पष्ट मानना है कि उनकी सौत की कही हुई अधर्मयुक्त बात सुनकर शोक से संतप्त माता को छोड़कर राम को अयोध्या से नहीं जाना चाहिये। कौसल्या तो राम के वियोग में जीना ही नहीं चाहतीं। वे तिनके चबाकर अर्थात् अत्यन्त दारिद्र्य में जीवन व्यतीत करना श्रेयस्कर समझती हैं, लेकिन राम का वियोग उन्हें असहनीय है।[२०] वे तो मृत्यु तक का वरण करने की चेतावनी देती हुई कह उठती हैं कि यदि राम शोक संतप्त उन्हें छोड़कर वन चले जायेंगे तो वे उपवास कर प्राण त्याग कर देंगी।[२१] यहीं नहीं वे उन्हें ऐसा व्यवहार करना घोर पाप कर्म के समान बताती हैं, जिससे उन्हें ब्रह्महत्या के समान पाप का भागी बनाते हुए नरक तुल्य कष्ट देगा।[२२] वे धर्म की दुहाई देते हुए भाँति-भाँति के तर्क देती हैं कि धर्म और सौहार्द्र के नाते जैसे पिता राम के गुरुजन हैं वैसे ही वे भी हैं। इसलिये उन दुःखिता को छोड़कर राम को वन नहीं जाना चाहिये।[२३] राम के किसी भी प्रकार न मानने पर कौसल्या स्वयं भी उनके साथ जाने का आग्रह करती हैं। वे कहती हैं कि जिस प्रकार बछड़े के पीछे गाय चलती है, ठीक उसी प्रकार राम जहाँ जहाँ जायेंगे वे वहाँ चलेंगी।[२४]

राम के वन जाने के दृढ़ निश्चय को सुनकर कौसल्या की प्रतिक्रिया दृष्टव्य है। वाल्मीकि की कौसल्या तुलसी की कौसल्या नहीं हैं, जो सपत्नियों के साथ कोई भी वैमनस्य की बात नहीं करती हैं। ये तो भयाक्रान्त और संशाकित हैं और एक पल भी अन्तःपुर में नहीं रहना चाहतीं और वन्य मृगी के समान वन जाने को उद्यत हैं।[२५] कौसल्या को आशंका है कि राम के वनगमन के साथ ही उन्हें सौतों द्वारा प्रताड़ना सहनी पड़ेगी। वे भयाक्रान्त हैं कि राम के पास रहने पर भी वे सौतों द्वारा तिरस्कृत रही हैं और

---

१९ वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, २१ सर्ग, श्लोक २२

२० त्वद्वियोगात्र मे कार्यं जीवितेन सुखेन च। त्वया सह मम श्रेयस्तृणानापि भक्षणम्। वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग २१, श्लोक सं० २६

२१ यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा मां शोकलालसाम्। अहं प्रायमिहासिष्ये न च शक्ष्यामि जीवितुम्। वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग २१, श्लोक सं० २७

२२ ततस्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र निरयं लोकविश्रुतम्। ब्रह्महत्यामिवाधर्मात् समुद्रः सरितांपतिः। वही, श्लोक २८ (किसी कल्प में समुद्र ने अपनी माता को दुःख दिया था, उससे पिप्पलाद नामक ब्रह्मर्षि ने उग्र अधर्म का दण्ड देने के लिये उसके ऊपर एक कृत्या का प्रयोग किया। इससे समुद्र को नरकवासतुल्य महान् दुःख भोगना पड़ा था।(

२३ यथैव ते पुत्र पिता तथाहं। गुरु स्वधर्मेण सुहृत्तया च। न त्वानुजानामि न मां विहाय। सुदुःखरिवतामर्हसि पुत्र गन्तुम्। वाल्मीकि रामायण, अयो०का०, २१ सर्ग, श्लोक सं० ५२

२४ कथं हि धेनुः स्वं वत्सं गच्छन्तमनुगच्छति। अहं त्वानुगामिष्यामि यत्र वत्स गमिष्यसि। वाल्मीकि रामायण, अयो०का०, सर्ग २४, श्लोक सं० ९

२५ आसां राम सपत्नीनां वस्तु मध्ये न मे क्षमम्। नय मामपि काकुत्स्थ वनं वन्यां मृगीमिव। वाल्मीकि रामायण, अयो०का०, सर्ग २४, श्लोक सं० १९

यदि वे भी दूर चले जायेंगे तो उनकी दशा मरण से भी बदतर रहेगी।[२६] वाल्मीकि की कौसल्या पति के द्वारा उसी तरह प्रताड़ित होने की बात भी बेहिचक स्वीकारती हैं। भरत के भय से महल के अन्तेवासियों की उपेक्षा पूर्ण प्रतिक्रिया से भी इन्कार नहीं करतीं।[२७] यहाँ कौसल्या का कैकेयी के प्रति घृणा का भाव भी जब-तब सिर उठाता है। कौसल्या महाराज दशरथ के सामने भी इस शंका को व्यक्त करने से नहीं चूकतीं-

राघवे नर शार्दूले विषं मुक्त्वा ह्यजिह्मगा।
विचरिष्यति कैकेयी निर्मुक्तेव हि पन्नगी।
विवास्य रामं सुभगा लब्धकामा समाहिता।
त्रासयिष्यति मां भूयो दुष्टाहिरिव वेष्मनि।[२८]

(अर्थात् नरश्रेष्ठ श्रीराम पर अपना विष उँड़ेलकर टेढी चाल चलने वाली कैकेयी केंचुल छोड़कर नूतन शरीर से प्रकट हुई सर्पिणी की भाँति अब स्वच्छन्द विचरण करेगी। जैसे घर में रहने वाला दुष्ट सर्प बार-बार भय देता है, उसी प्रकार श्रीराम चन्द्र को वनवास देकर सफल मनोरथ हुई सुभगा कैकेयी सदा सावधान होकर मुझे त्रास देती रहेगी।) कौसल्या तो राम को दास बनाकर भी अयोध्या में रखना चाहती हैं, ताकि उन्हें पुत्र दर्शन का लाभ मिलता रहे। इस काण्ड के पीछे वे केवल और केवल कैकेयी को ही कारण मानती हुई स्वयं को प्रताड़ित किये जाने की आशंका से भरी हुई हैं-

अथास्मिन् नगरे रामश्चरन् भैक्षं गृहे वसेत्।
कामकारो वरं दातुमपि दासं ममात्यजम्।
पातयित्वा तु कैकेय्या रामं स्थानादयथेष्टतः
प्रविदो राक्षसां भागः पर्वणीवाहितोग्निना।[२९]

(यदि श्रीराम इस नगर में भीख माँगते हुए भी घर में रहते अथवा मेरे पुत्र को कैकेयी का दास भी बना दिया गया होता तो वैसा वरदान मुझे भी अभीष्ट होता। क्योंकि उस दशा में मुझे राम का दर्शन होते रहता। श्रीराम के वनवास का वरदान तो कैकेयी ने तो केवल उन्हें दुःख देने के लिए दिया है। कैकेयी ने अपनी इच्छानुसार राम को उनके स्थान से भ्रष्ट करके वैसा ही किया है, जैसे किसी अग्निहोत्री ने पर्व के दिन देवताओं को उनके भाग से वंचित कर राक्षसों को वह भाग अर्पित कर दिया हो।) वे तो दशरथ को फटकारने से भी नहीं चूकतीं-

यतत्त्वया करुणं कर्म व्यपोह्य मम बान्धवाः।

---

२६ त्वयि संनिहितेऽप्येवमहमासं निराकृता। किं पुनः प्रोषिते तात, धुवं मरणमेव हि। वाल्मीकि रामायण, अयो० काण्ड, सर्ग २०, सं ०४१

२७ अत्यन्तं निगृहीतास्मि भर्तुर्नित्यमसम्मता। परिवारेण कैकेय्याः समा वाप्यथवावरा। वाल्मीकि रामायण, अयो० काण्ड, सर्ग २० श्लोक सं० ४२

२८ वाल्मीकि रामायण, अयो०का०, ४३ सर्ग, श्लोक सं० २-३

२९ वाल्मीकि रामायण, अयो०का०, सर्ग ४३, श्लोक सं० ४-५

निरस्ता: परिधावन्ति सुखार्हा: कृपणा वने।।[३०]

उनका स्पष्ट मानना है कि दशरथ ने कैकेयी के कहने पर विना सोच विचार कर ऐसा निर्दयता पूर्ण निर्णय लिया है। वाल्मीकि की कौसल्या तो दशरथ के धर्मनिष्ठ होने पर भी उँगली उठाती हैं-

द्विजातिचरितो धर्म: शास्त्रे दृष्ट: सनातनै:।
यदि ते धर्मनिरते त्वया पुत्रे विवासिते।।[३१]

वे दशरथ से पूछती हैं कि उनके द्वारा धर्म परायण पुत्र को देश निकाला दे दिया गया। अब प्रश्न यह उठता है कि सनातन ऋषियों ने वेद में जिसका साक्षात्कार किया है तथा श्रेष्ठ द्विज जिसे आचरण में लाते हैं, वह धर्म दशरथ की दृष्टि में सत्य है कि नहीं? वे तो राजा के निर्णय पर कड़े शब्दों में अपनी असहमति व्यक्त करती हैं-

हतं त्वया राष्ट्रमिदं सराज्यं, हता: स्म सर्वा: सह मन्त्रिभिश्च।
हता, सपुत्रास्मि हताश्च पौरा:, सुतश्च भार्या च तव प्रहृष्टौ।[३२]

कौसल्या का मानना है कि दशरथ ने राम को वन भेजकर राष्ट्र का, आसपास के अन्य राज्यों का भी नाश कर डाला। यही नहीं, उनके इस कृत्य ने मन्त्रियों सहित सारी प्रजा का वध कर दिया है। उनके इस निर्णय ने तो पुत्र सहित कौसल्या को भी जीते जी मार दिया है। यही नहीं, अयोध्या वासी भी मृतप्राय: हो चले हैं। केवल यह निर्णय समूचे राज्य में दो व्यक्तियों को ही प्रसन्नता देने वाला है एक पुत्र भरत को और दूसरी सपत्नी कैकेयी को।

तुलसीकृत रामायण में कौसल्या विवेकी, विनयी, गम्भीर और धैर्यवान् स्त्री के रूप में सामने आयी हैं, जहाँ दशरथ की पट्टमहिषी का उन्हें आदर व सम्मान प्राप्त है। वाल्मीकि रामायण में कौसल्या की स्थिति भिन्न है। राम-वनगमन का समाचार मिलने की प्रतिक्रिया में कौसल्या अपनी दयनीयता को प्रकट करती हैं। यहाँ वे अपने पति द्वारा तिरस्कृत सौतों से सतायी हुई उपेक्षा झेल रही हैं। वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड का बीसवाँ सर्ग कौसल्या की कारुणिक स्थिति का मुँह बोलता चित्रण है। बिलखती हुई कौसल्या के ये वाक्य इस बात का प्रमाण हैं-

न दृष्ट पूर्वं कल्याणं सुखं वा पति पौरुषे।
अपि पुत्रे विपश्येयमिति रामास्थितं मया।
सा बहून्यमनोज्ञानि वाक्यानि हृदयच्छिदाम्।
अहं श्रोष्ये सपत्नीनामवराणां परा सती।
अतो दु:खतरं किं नु प्रमदानां भविष्यति।
मम शोको विलापश्च यादृशोऽयमन्तक:।[३३]

---

३० वाल्मीकि रामायण, अयो०का०, सर्ग ६१, श्लोक सं० १०
३१ वाल्मीकि रामायण, अयो०का०, सर्ग ६१, श्लोक सं० २३
३२ वाल्मीकि रामायण, अयो०का०, सर्ग ६१, श्लोक सं० २६
३३ वाल्मीकि रामायण, अयो०का०, सर्ग २०, श्लोक सं० ३८-४०

वे स्पष्ट स्वीकारती हैं कि पति के प्रभुत्वकाल में एक ज्येष्ठ पत्नी जो कल्याण या सुख प्राप्त कर सकती थी, वे उससे वंचित रही हैं। उन्होंने आशा रखी थी कि पुत्र के राज में वे सब सुख देख लेंगी, लेकिन वह भी पूर्ण नहीं हो पायी। यह स्थिति तुलसी की कौसल्या से सर्वथा भिन्न है। वहाँ तो दशरथ के प्रति कौसल्या के सम्मान के अतिरिक्त कोई भाव प्रदर्शित नहीं होते और न भरत के प्रति किसी प्रकार की शंका या भय का लवलेश भी प्रदर्शित होता है। यहाँ तो पति की ओर से उन्हें सदा अत्यन्त तिरस्कार अथवा कड़ी फटकार ही मिली है। कभी भी प्यार और सम्मान प्राप्त नहीं हुआ है। वे सदा कैकेयी की दासियों के बराबर अथवा उनसे भी गयी गुजरी समझी गयी हैं। वाल्मीकि की कौसल्या स्पष्ट रूप से कैकेयी के प्रति प्रतिकूल भावना रखती हैं। यहाँ वे तुलसी की कौसल्या के समान नहीं दिखाई देती कि यदि माता कैकेयी ने भी राम को वन जाने की आज्ञा दी है तो उन्हें अवश्य जाना चाहिए। तुलसी की कौसल्या में सहज वात्सल्य का रोदन है, जहाँ पुत्र का विछोह उन्हें व्याकुल कर रहा है, लेकिन वाल्मीकि की कौसल्या राम के विना स्वयं को असुरक्षित महसूस करती हैं। अन्तःपुर के द्वेषपूर्ण वातवाण को सामने रखती हुई वे पुत्र के सम्मुख कलपती हुई दिखाई देती हैं-

यो हि मां सेवेते कश्चिदपि वाप्यनुवर्तते।
कैकेय्याः पुत्रमन्वीक्ष्य स जनो नाभिभाषते।[३४]

(अर्थात् जो कोई मेरी सेवा में रहता है या मेरा अनुसरण करता है, वह भी कैकेयी के बेटे को देखकर चुप हो जाता है, मुझसे बात नहीं करता है।) यही नहीं वे कैकेयी से भी भयाक्रांत हैं-

नित्य क्रोधतया तस्याः कथं तु खरवादिवत्।
कैकेय्या वदनं द्रष्टुं पुत्र शक्ष्यामि दुर्गता।[३५]

बेटा इस दुर्गति में पड़कर मैं सदा क्रोधी स्वभाव के कारण कटु वचन बोलने वाले उस कैकेयी जी के मुख को कैसे देख सकूँगी?

तुलसी की कौसल्या जहाँ निःस्पृह भाव से राम के वन-गमन को स्वीकार कर लेती हैं, वहीं वाल्मीकि की कौसल्या तो पुत्र के राज्याभिषेक पर टकटकी लगाती बैठीं थीं। राम का राज्यभिषेक उनका चिरकाल से सँजोये हुए मनोरथ को प्रपूरित करने वाला है-

दश सप्त च वर्षाणि जातस्य तव राघव।
अतीतानि प्रकांक्षन्त्या मया दुःखपरिक्षयम्।[३६]

(रघुनन्दन तुम्हारे उपनयन रूप द्वितीय जन्म लिये यह सत्रह वर्ष बीत गये अर्थात् तुम सताईस वर्ष के हो गये। अब तक मैं यही आस लगाये चली आ रही थी कि अब मेरा दुःख दूर हो जायेगा।)

कौसल्या ने पुत्र राज्याभिषेक की कामना से देवार्चन किया है। राम ने अपनी माता को इसी रूप

---

३४ वाल्मीकि रामायण, अयो०का०, सर्ग २०, श्लोक सं० ४३
३५ वाल्मीकि रामायण, अयो०का०, सर्ग २०, श्लोक सं० ४४
३६ वाल्मीकि रामायण, अयो०का०, सर्ग २०, श्लोक सं० ४५

में देखा है।[३७] कौसल्या की पूजा निष्काम न होकर सकाम है। वे पुत्र के लिये राज्यलक्ष्मी की याचना कर रही हैं राम के द्वारा दशरथ के उन्हें राज्य सौंपने के निर्णय पर उनकी प्रतिक्रिया है–

वत्स राम चिरं जीव हस्तास्ते परिपन्थिनः।
ज्ञातीन् मे त्वं श्रिया युक्तः सुमित्रायाश्च नन्दय।।[३८]
अमोघं बत मे क्षान्तं पुरुषे पुष्करेक्षणे।
येयमिक्ष्वाकुराज्यश्रीः पुत्र त्वां संश्रयिष्यति।।[३९]

उन्होंने राम के चिरंजीवी होने व शत्रु रहित भविष्य की कामना की है। उनका स्पष्ट मानना है कि विष्णु भगवान् की प्रसन्नता के लिये जो व्रत उपवास आदि उन्होंने किया था, वह सफल हो गया। वाल्मीकि की कौसल्या जितनी राज्याभिषेक की सूचना पाकर प्रमुदित थीं, उतनी ही वन-गमन से टूट जाती हैं और अन्तस् के उद्गार अनेक रूपों में फूट पड़ते हैं। वाल्मीकि ने कौसल्या को पुत्र-राज्यार्थ कृच्छ तप करते हुए दर्शाया है।[४०] मनोकामना पूर्ण न होने पर उन्हें पश्चात्ताप है।[४१] उनके लिए सबसे अधिक दुःख की बात तो यह है कि राम के सुख के लिये उन्होंने जो व्रत, दान, संयम किये वे सब निष्फल हो गए। उन्हें इस बात का गहरा संताप है कि उनका सारा का सारा प्रयत्न ऊसर में बोये बीज की तरह निष्फल हो गया।[४२] अन्ततः कौसल्या राम के साथ जाने की हठ करती हैं, क्योंकि वे अन्तःपुर में कुत्सित जीवन नहीं बिताना चाहतीं।[४३]

कौसल्या का यह रूप तुलसी की कौसल्या से सर्वथा भिन्न है, जहाँ अपने वैयक्तिक कष्ट को सहन करती हुई राम को माता कैकेयी की सहमति पर वन जाने की सहजता से आज्ञा प्रदान करती हैं। वे स्पष्ट कहतीं हैं कि मुझसे इन सौतों के बीच में रहा नहीं जायेगा।

वाल्मीकि ने राम-वनगमन के अवसर कौसल्या द्वारा उनके प्रति अनेक प्रकार से मंगल कामना पूर्वक स्वस्तिवाचन करवाया है। तुलसी के मानस में यह प्रसंग शीघ्रता में समाप्त कर दिया गया है।

---

३७ तत्र तां प्रवणामेव मातरं क्षौमवासिनीम्। वाग्यतां देवतागारे ददर्श याचतीं श्रियम्। वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, ४ सर्ग, श्लोक ३०

३८ वा०४.३९अयो०रामा०

३९ वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, ४ सर्ग, श्लोक ३९,४१

४० कौसल्यापि तदा देवी रात्रिं स्थित्वा समाहिता। प्रभाते चाकरोत् पूजा विष्णोः पुत्र हितैषिणी। सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा। अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत् कृतमंगला। -------- ग तां शुक्लक्षौमसंवीतां व्रतयोगेन कर्षिताम्। तर्पयन्ती ददर्शाक्षिभिर्देवतां वरवर्णिनीम्। वाल्मीकि रामायण, अयो०का०, सर्ग ४, श्लोक सं० १४, १५, १९

४१ उपवासैश्च योगैश्च बहुभिश्च परिश्रमैः। दुःखसंवर्धितो मोघं त्वं ही दुर्गतया मया। वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, २० सर्ग, श्लोक ४८

४२ इयं तु दुःखं यदनर्थकानि मे, व्रतानि दानानि च संयमाश्च हि। तपश्च तप्तं यदपत्यकाम्यया, सुनिष्फलं बीजमिवोप्तमूषरे। वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, २० सर्ग, श्लोक ५२

४३ वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग २०, श्लोक ५०,५१,५३,५४

कौसल्या का चरित्र समस्त भवितव्यता को स्वीकार करता हुआ अधिक स्वाभाविक बन पड़ा है। अयोध्याकाण्ड के २५वें सर्ग में वात्सल्य प्रपूरति कौसल्या के मुख द्वारा राम के निरापद वन-प्रवास के लिये बहु प्रकार से मंगलकामनाएँ की गई हैं।[४४] वाल्मीकि ने सुमन्त्र को खाली हाथ लौटने पर एक बार पुनः कौसल्या को विरह विह्वला दिखाया है।[४५] तुलसी व वाल्मीकि की कौसल्या के स्वभाव में पर्याप्त अन्तर है। जहाँ तुलसी की कौसल्या पति के प्रति अनन्य श्रद्धा युक्त पट्टमहिषी की गरिमा से सुशोभित, कैकेयी इत्यादि सपत्नियों के प्रति प्रेमपूर्ण और उदार हैं, राम के समान ही भरत के प्रति अत्यन्त प्रेम वात्सल्य से प्रपूरित एक आदर्श माता हैं; तो वहीं वाल्मीकि की कौसल्या भरत के प्रति सशंकित, पति द्वारा प्रताड़ित व उपेक्षिता तथा कैकेयी द्वारा सतायी गयी हैं। राम का वन-गमन उनके लिये अत्यन्त उद्विग्नकारी है। रामायण की कौसल्या के लिये पुत्र का वन गमन इसलिये अत्यन्त पीड़ादायक है कि उनकी अनुपस्थिति में कौसल्या की राजमहल में और भी अधिक उपेक्षा होगी। जहाँ तुलसी की कौसल्या वात्सल्य और वियोग से कातर तो हैं लेकिन कैकेयी सहित पिता की सम्मति को सहर्ष स्वीकारती हुई अतीव धैर्य का परिचय देती हैं। वाल्मीकि की कौसल्या तो भविष्य के प्रति आशंकित हो मृत्यु को वरण करना अधिक उचित समझती हैं। वे दशरथ को भी उपालम्भ देती हुई दिखायी देती हैं। यही नहीं, वे तो यहाँ तक कहने से नहीं चूकतीं कि राम के लौटने पर भरत उन्हें सहजता से राज्य हस्तान्तरित कर देंगे इसकी भी सम्भावना उन्हें नहीं दिखायी देती।[४६]

रामचरितमानस में राम की माता सदाशयता से भरी हुई अत्यन्त संवेदनशील हैं और वे भरत के दुःख तप्त मानस को भी जानती हैं। भरत को देखते ही व्याकुल होकर उससे मिलने को दौड़ पड़ती हैं।[४७] यहाँ कौसल्या के मन में भरत के प्रति कहीं कोई द्वेष की छाया नहीं दीख पड़ती। यह तो वह सहज प्रतिक्रिया है जो दुःख भार से तप्त व्यक्ति को अपने स्वजन के सन्निकट होने पर उमड़ पड़ती है। पुत्र भरत को व्याकुल देखकर वह अपने को सँभाल लेती हैं और उसे अपने गले लगाकर सान्त्वना देने लगती हैं। निष्कलुष कौसल्या भरत व शत्रुघ्न को हृदय से लगाकर रो रही हैं। यहाँ शोक व स्नेह का सम्मिश्रण है। माता का वात्सल्य ही है कि अपने दुःख को भुलाकर वे शोकाकुल भरत को समझाने लगती हैं।[४८] वे तो कुसमय जानकर शोक को त्यागने को कहती हैं। भरत आत्मग्लानि से पीड़ित हैं तो उन्हें भी यह कहकर समझाती हैं कि काल-कर्म की गति से यह हुआ है अतः उन्हें म्लान मुख नहीं होना चाहिए-

---

४४ वाल्मीकि रामायण, अयो०का०, २५ सर्ग, श्लोक सं० १-४५

४५ नय मां यत्र काकुत्स्थः सीता यत्र च लक्ष्मणः। तान् विना क्षणमप्यद्य जीवितुं नोत्सहे ह्यहम्। निर्वतय रथं शीघ्रं दण्डकान् नय ममपि। अथ तान् नानुगच्छामि गमिष्यामि यमक्षयम्। वाल्मीकि रामायण, अयो०का०, ६० सर्ग, श्लोक सं० २-३

४६ यदि पञ्चदशे वर्षे राघवः पुनरेष्यति। जह्याद् राज्यं च कोशं च भरतो नोपलक्ष्यते। वाल्मीकि रामायण, अयो०का०, ६१ सर्ग, श्लोक सं० १९

४७ भरतहि देखि मातु उठि धाई, मुरुछित अवनि परी झइँ आई। रामचरितमानस, अयोध्या काण्ड,

४८ अजहुँ बच्छ बलि धीरज धरहू, कुसमउ समुझि शोक परिहरहू। जनि मानहु हियँ हानि गलानी, काल करम गति अघटित जानी। रामचरितमानस, अयोध्या काण्ड दो० सं० १६४.५-६

काहुहि दोसु देहु जनि ताता, भा मोहि सब विधि बाम विधाता।[४९] भरत स्वयं को निरपराध सिद्ध करने के लिए भाँति-भाँति की शपथ खाते हैं तो सरल कौसल्या उन्हें ग्लानि मुक्त करते हुए उन्मुक्त कण्ठ से कहती हैं कि तुम मन, वचन और शरीर सहित से ही राम के प्यारे हो।[५०] वे तो यहाँ तक विश्वास रखती हैं कि-

विधु विष चवै स्त्रवै हिमु आगी, होइ बारिचर बारि बिरागी।
भएँ ग्यानु बरु मिटै न मोहू, तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू।[५१]

(अर्थात् चाहे चन्द्रमा विष उगलने लगे और पाला आग बरसाने लगे, जलचर जीव जल में रहना छोड़ दें, ज्ञान होने पर चाहे मोह न मिटे, पर तुम रामचन्द्र के प्रतिकूल नहीं हो सकते।) वे तो मानो प्रजा में फैली अफवाहों पर भी पूर्ण विराम लगाना चाहती हैं-

मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं, सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं।[५२]

(इस कुचक्र में तुम्हारी सम्मति मानने वाले को स्वप्न में भी सुख और शुभ गति नहीं मिल सकती।) लेकिन वाल्मीकि की कौसल्या भरत के प्रति सदय नहीं हैं। वे तो उनसे कठोर वाक्य कहते भी नहीं चूकतीं-

इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तमकण्टकम्।
सम्प्राप्तं बत कैकेय्या शीघ्रं क्रूरेण कर्मणा।[५३]

उनका सीधा-सीधा आरोप है कि भरत राज्य चाहते थे सो उन्हें प्राप्त हो गया। कैकेयी ने क्रूरता से इस राज्य को छीना है। वे भरत के सामने उनकी माता कैकेयी को उपालम्भ देने से भी नहीं चूकतीं-

प्रस्थाप्य चीरवसनं पुत्र मे वनवासिनम्।
कैकेयी कं गुणं तत्र पश्यति क्रूरदर्शिनी।।[५४]

उनका कहना है कि क्रूरदर्शी कैकेयी ने नजाने कौन सा लाभ देखकर उनके बेटे को चीर वस्त्र पहनाकर वनवासी बना दिया। वह स्पष्टतः कहती हैं कि कैकेयी ने राम से छीनकर भरत को राज्य दिया है।[५५] वाल्मीकि रामायण में भरत को स्वयं को निरपराध सिद्ध करने के लिए कौसल्या के समक्ष भाँति-भाँति की सौगन्ध खानी पड़ी है, जबकि मानस में निर्मल मनः कौसल्या भरत के इस षड्यन्त्र में सम्मिलित होने की बात सोच भी नहीं सकती। वे तो राम के द्वारा भरत के भुक्त राज्य को ग्रहण करने के

---

४९ रामचरितमानस, अयोध्या काण्ड दो० सं० १६४.७
५० कहति राम प्रिय तात तुम्ह सदा बचन मन काय। वही, अयो०काण्ड दो० सं० १६८
५१ वही, अयो०काण्ड दो० सं० १६८.२-३
५२ वही, अयो०काण्ड दो० सं० १६८.४
५३ वाल्मीकि रामायण, अयो०काण्ड, सर्ग ७५, श्लोक ११
५४ वही, अयो०काण्ड, सर्ग ७५, श्लोक १२
५५ इदं हि तव विस्तीर्णं धनधान्यं समाचितम्। हस्त्यश्वरथसम्पूर्णं राज्यं निर्यातितं तया। अयो०काण्ड, सर्ग ७५, श्लोक १६

प्रति भी सशंकित हैं-

न परेणाहृतं भक्ष्यं व्याघ्रः खादितुमिच्छति।
एवमेव नरव्याघ्रः परलीढं न मंस्यते।[५६]

जैसे बाघ, गीदड़ आदि दूसरे जन्तुओं के लाये या खाये हुए भक्ष पदार्थ को खाना नहीं चाहता, इसी प्रकार पुरुष सिंह राम दूसरे के भोगे हुए राज्य का भोग स्वीकार नहीं करेंगे। कौसल्या महान् तार्किक हैं और प्रदत्त तर्कों में उसकी ज्ञान की आभा छलकती है-

हविराज्यं पुरोडाशः कुशा यूपाश्च खदिराः।
नेतानि यातयामानि कुर्वन्ति पुनरध्वरे।
तथा ह्यात्तमिदं राज्यं हतसारां सुरामिव।
नाभिमन्तुमलं रामो नष्टसोममिवाध्वरम्।[५७]

हविष्य, घृत, पुरोडाश, कुश और खदिर (खैर) के यूप- ये एक यज्ञ के उपयोग में आ जाने पर यातयाम (उपभुक्त) हो जाते हैं, इसलिए विद्वान् इनका फिर से दूसरे यज्ञ में उपयोग नहीं करते हैं। उसी प्रकार निःसार सुरा और भुक्तावशिष्ट यज्ञ सम्बन्धी सामग्री के समान राम इस राज्य को ग्रहण नहीं करेंगे। कौसल्या का मानना है कि राम में तो विश्व विजय की सामर्थ्य है, लेकिन वे बलात् दूसरे के राज्य को वश में नहीं लाना चाहते। ऐसे पराक्रमी राम को पराजय अपने पिता के हाथों से ही मिली है। दशरथ के इस कृत्य को कैकेयी ने पिता के द्वारा की गई हत्या के समान माना है। जैसे एक मछली का बच्चा अपने पिता मत्स्य के द्वारा खा लिया जाता है, वैसे ही नर श्रेष्ठ वीर पुत्र राम दशरथ के कृत्य से मृतवत् हो गए-

स तादृशः सिंहबलो वृषभाक्षो नरर्षभः।
स्वयमेव हतः पित्रा जलजेनात्मजो यथा।[५८]

रामचरितमानस में कौसल्या का एक बार फिर विवेकी गम्भीर चरित्र सामने आता है, जब वन में वे सीता की माता सुनयना से वार्तालाप करती हैं। दशरथ-मरण व राम-वन-गमन से उत्पन्न विषाद के मध्य भी उनका विवेक कहता है कि संसार में सब कुछ ईश्वर की इच्छा पर है, अतः किसी को भी दोष न देना ठीक नहीं। सब कुछ कर्म व विधाता के अधीन हैं। तुलसी के शब्दों में-

कौसल्या कह दोसु न काहू, करम बिबस दुःख सुख छति लाहू।
कठिन करम गति जान बिधाता, जो सुभ असुभ सकल फल दाता,
ईस रजाइ सीस सबही कें, उत्पति थितिलय विषहु अमी के,
देबि मोह बस सोचिअ बादी, बिधि प्रपंचु अस अचल अनादी।[५९]

---

५६ वाल्मीकि रामायण, अयो०काण्ड, सर्ग ६१, श्लोक १६
५७ वाल्मीकि रामायण, अयो०काण्ड, सर्ग ६१, श्लोक १७-१८
५८ वाल्मीकि रामायण, अयो०काण्ड, सर्ग ६२, श्लोक २२
५९ रामचरितमानस, अयो०काण्ड दो० सं० २८१.३-६

उनका कहना है कि ईश्वरोच्छा सर्वोपरि है। उत्पत्ति, स्थिति, लय तथा अमृत-विष सभी उसके अधीन हैं। मोहवशात् शोक करना व्यर्थ है। विधाता का प्रपञ्च ऐसा ही अचल और अनादि है। कौसल्या तो इतना भी जानती हैं कि हम स्वार्थ वश ही किसी की मृत्यु पर चिन्ता या शोक व्यक्त करते हैं।[६०] रामचरितमानस में कौसल्या का निष्कलुष व सरल व्यवहार प्रशंसनीय है। सुनयना व अन्य रानियों के समक्ष भरत के प्रति अपनी भावना को उन्मुक्त कण्ठ से अभिव्यक्ति देती हैं। उन्हें इस परम विपत्ति की घड़ी में राम से अधिक भरत की चिन्ता है। **मोहि भरत कर सोचु।**[६१] वे राम की सौगन्ध खाती हुई भरत की भूरि-भूरि प्रशंसा करती हैं-

भरत सील गुन बिनय बड़ाई, भायप भगति भरोस भलाई।
कहत सारदहु कर मति हीचे, सागर सीप कि जाहिं उलीचे।
जानउँ सदा भरत कुलदीपा, बार-बार मोहि कहेउ महीपा।
कसे कनकु मनि पारिखि पाएँ, पुरुष परिखअहिं समय सुभाएँ।
अनुचित आजु-कहब अस मोरा, सोक सनेह सयानप थोरा।[६२]

कौसल्या के मतानुसार भरत के शील, गुण, नम्रता बड़प्पन, भातृप्रेम, भक्ति, विश्वसनीयता और अच्छाई का वर्णन करने से तो सरस्वती की बुद्धि भी हिचकती है। जिस प्रकार समुद्र से समस्त सीप उलीचे नहीं जा सकते उसी प्रकार भरत के अनन्त गुणों की थाह नहीं पायी जा सकती। वे भरत को कुलदीपक मानती हैं। भरत की पूर्व-पर स्थिति पर दृष्टि डालती हुई वे कहती हैं कि स्वर्ण की परख जौहरी ही जानता है। वस्तुतः वर्तमान स्थिति में अधिकांश लोग भरत को पहचान नहीं पा रहे हैं। तुलसी की माता कौसल्या खुलकर भरत के पक्ष में दिखाई पड़ती हैं। उनका विवेकी मन लोकापवाद और नगरवासियों की भाँति-भाँति की चर्चा से अनभिज्ञ नहीं है। अतः वे खुलकर भरत को निर्दोष साबित करने से नहीं हिचकतीं। तुलसी की कौसल्या एक अत्यन्त आदर्श स्त्री के रूप में सामने आयी हैं। वरन् राम शोक में निमग्न माँ का इतना तटस्थ रह पाना असंभव सा दिखाई पड़ता है। वे तो भरत के मानस से इतना तादात्म्य स्थापित कर चुकी हैं कि वे भली भाँति जानती हैं कि भरत राम का वियोग न सह पाने के कारण कहीं मृत्यु का वरण न कर लें। इसलिये जनक-पत्नी से उनका निवेदन है कि वे जनक द्वारा राम को समझायें कि लक्ष्मण को घर भेजकर भरत को अपने साथ रख लें-

रानि राय सन अवसरु पाई, अपनी भाँति कहब समुझाई।
रखिअहिं लखनु भरतु गवनहिं बन, जौं यह मत मानै महीप मन।
तौ भल जतनु करब सुबिचारी, मोरें सोच भरत कर भारी।
गूढ़ सनेह भरत मन माहीं, रहें नीक मोहि लागत नाहीं।[६३]

---

६० भूपति जिअब मरब उर आनी, सोचिअ सखि लखि निज हित हानी। रामचरितमानस, अयो०काण्ड दो० सं० २८१.७

६१ रामचरितमानस, अयो०काण्ड दो० सं० २८२

६२ रामचरितमानस, अयो०काण्ड दो० सं० २८२.३-७

कौसल्या को राम की जननी बनने का सौभाग्य प्राप्त है। अत: तुलसी के लिए राम की माता का विनयी व विवेकी होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सुनयना के मुख से उन्होंने कहलाया है-**देबि उचित असि विनय तुम्हारी, दसरथ धरिनि राम महतारी।**[६४] अन्यत्र तुलसी ने कौसल्या की कोई विशिष्ट उपस्थिति दर्ज नहीं करायी है। वन से लौटे हुए राम की आअतुरता पूर्वक अगवानी करने में वे भी अन्य माताओं के साथ हैं-

कौसल्यादि भरतु सब धाई, निराखि बच्छ जनु धेनु लवाई।[६५] वन गमन के समय तुलसी की कौसल्या पुत्र वधू सीता की सुकुमारता देखकर दु:खित हो उठती है-अति **सुकुमारि देखि अकुलानी।**[६६] वे पुत्रवधू की मन: स्थिति जानकर व्याकुल हो उठती हैं। सीता के प्रति उनका प्रेम असीम है। इसकी बानगी देखिये-

नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई, राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई।
कलप बेलि जिनि बहुविधि लाली, सींचि सनेह सलिल प्रतिपाली।
जियन मूरि जिमि जोगवत रहऊँ, दीप बाति नहिं टारन कहऊँ।[६७]

उन्होंने तो सीता को आँखों की पुतली बनाकर प्रेम बढ़ाया है। उन्हें कल्पलता के समान बड़े ही चाव से सींचा है। यही नहीं उनकी सावधानी से देखभाल की हैं कि दीपक बत्ती तक हटाने को नहीं आदेशित करतीं। इतनी कोमलांगी और प्राण-प्यारी सीता की मन: स्थिति भी उनसे छिपी नहीं है। कौसल्या इतनी ममतामयी व संवेदनशील सास हैं कि सीता के अन्तस् के भाव भी वे भली-भाँति जान रहीं हैं, लेकिन वन की भयावहता उन्हें त्रस्त कर रही हैं- **चंद किस रस रसिक चकोरी, रवि रुख नयन सकइ किमि जोरी।**[६८] उनकी चिंता है कि कोमलांगी सीता जो चित्र के वानरों को देखकर भयभीत हो जाती हैं वन में कैसे रहेंगी?[६९] वे सीता के मानस को पढ़ रही हैं अत: भयभीत हैं कि कहीं पुत्रवधू भी उन्हें छोड़कर चली जायेगी। अत: वे राम से ही अनुनय कर बैठती हैं- **ज्यौं सिय भवन रहै कह अंबा, मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा।**[७०] सीता को दृढ़ निश्चय को सुनकर वे भावाकुल होकर संशयग्रस्त हैं कि पुत्र व पुत्रवधू का मुख वे जीतेजी देख भी पायेंगी कि नहीं?[७१] और व्याकुल हो रो पड़ती हैं-

---

६३ रामचरितमानस, अयो०काण्ड दो० सं० २८३.१-४
६४ रामचरितमानस, अयो०काण्ड दो० सं० २८४.२
६५ रामचरितमानस, उत्तर काण्ड दो० सं० ५.९
६६ रामचरितमानस, उत्तर काण्ड दो० सं० ५.९
६७ रामचरितमानस, अयो०काण्ड दो० सं० ५८.२-३,५
६८ रामचरितमानस, अयो०काण्ड दो० सं० ५८.८
६९ सिय बन बसिहि तात केहि भाँति, चित्र लिखित कपि देखि डराती। रामचरितमानस, अयो०काण्ड दो० सं० ५९.४
७० रामचरितमानस, अयो०काण्ड दो० सं० ५९.७
७१ सुदिन सुधरी तात कब होइहि, जननी जिअत बदन विधु जो हहि। रामचरितमानस, अयो०काण्ड दो० सं० ६७.८

बहुरि बच्छ कहि लालु कहि रघुपति रघुबर तात।
कबहिं बोलाइ लगाइ हियँ हरषि निरखिहउँ गात।[७२]

फिर आलिंगन पाश में भारीमन से अनेक प्रकार की सीख देती हुई विदा करती हैं-

बारहिं बार जाइ उर लीन्हीं, धरि धीरजु सिख आसि दीन्हीं।[७३] कौसल्या महज विपत्ति में भी धैर्य धारण करती हैं। तुलसी की कौसल्या एक ममतामयी सास हैं। सीता के प्रति उनका भावनात्मक लगाव है। ऐसा लगाव वाल्मीकि रामायण में कहीं दृष्टिगत नहीं होता। यहाँ केवल वे बस एक बार सीता का स्मरण कर साधारण सी प्रतिक्रिया व्यक्त करती दिखाई पड़ती हैं-

विदेहराजस्य सुता तथा चारुतपस्विनी,
दुःखस्यानुचिता दुःखं वने पर्युद्विजिष्यति।[७४]

वाल्मीकि कि रामायण में कौसल्या राम द्वारा अपने पिता को इंगुदी फल के पिण्ड दान देने पर शोक प्रकट करती हैं। वे शोकाभिभूत हैं कि जो राजा चतुर्दिक् समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का राज्य भोगकर इन्द्र के समान प्रतापी थे वे इंगुदी फल कैसे खा रहे होंगे? यहाँ कौसल्या के मन में राम की विवशता भी स्पष्ट अभिव्यक्ति पा रही है-

अतो दुःखतरं लोके न किंचित् प्रतिभाति मे।
यत्र रामः पितुर्दद्यादिंगुदीक्षोदमृद्धिमान्।।[७५]

तुलसी ने सीता, राम व लक्ष्मण तीनों को सकुशल प्रत्यवर्तित देख अन्तस् के भावों को सरस अभिव्यक्ति दी है। स्वर्ण थाल से आरती उतारते और नाना भाँति न्यौछावर लुटाते वे नाना प्रकार के भावों में आलोड़ित-विलोड़ित हैं। तुलसी के ही शब्दों में-

कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहि, चितवति कृपा सिंधु रघुवीरहि,
हृदयविचारहि बारहिं बारा, कवन भाँति लंकापति मारा।
अति सुकुमार जुगल मेरे बारे, निसचर सुभट महाबल भारे।
लछिमन अरु सीता सहित, प्रभुहि बिलोकति मातु।
परमानन्द मगन मन पुनि पुनि पुलकित गातु।[७६]

वे वानर, भालू आदि सखाओं से भी प्रमुदित मन से मिलते हुए उन्हें भी राम के समान प्रिय मानती हैं-

कौसल्या के चरनन्हि पुनि तिन्ह नायउ माथ।

---

७२ रामचरितमानस, अयो०काण्ड दो० सं० ६८
७३ रामचरितमानस, अयो०काण्ड दो० सं० ६८.७
७४ वाल्मीकि रामायण, अयो०काण्ड, सर्ग ६६, श्लोक ९
७५ वाल्मीकि रामायण, अयो०काण्ड, सर्ग १०४, श्लोक १३
७६ रामचरितमानस, उत्तर काण्ड दो० सं० ६.६-८

आसिष दीन्हें हरषि तुम्ह प्रिय मम जिमि रघुनाथ।[७७]

तुलसी की कौसल्या अत्यन्त संवेदनशील नारी हैं। उनका मन बहुत कोमल है। वे स्वयं से ज्यादा दूसरों की चिंता करती दिखाई पड़ती हैं। इससे हटकर वाल्मीकि की कौसल्या अपेक्षाकृत संकुचित व्यक्तित्व रखती हैं। वे तार्किक हैं, तटस्थ हैं और कहीं-कहीं स्वार्थी भी दिखाई देती हैं।

---

[७७] रामचरितमानस, उत्तर काण्ड दो० सं० ८ क

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ0196-202) ISSN 0974 – 8830

वाल्मीकीय रामायण में वर्णित भू-क्षेत्रों का सर्वेक्षण

प्रचेतस्[1]
ठाकुर शिवलोचन शाण्डिल्य[2]

संक्षेपिका- महर्षि वाल्मीकि रचित रामायण महाकाव्य मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के उदात्त जीवन की कथा है, जो आज भी मानव मात्र के लिये जीवन मूल्यों का आदर्श प्रस्तुत करती है। अयोध्या नरेश दशरथनन्दन श्रीराम का काल अत्यधिक प्राचीन है, तथापि उनकी कथा आज भी जनसामान्य में सर्वत्र प्रसिद्ध है। वस्तुतः मनुष्य की प्रकृति संशयात्मक रही है, यह उसे किसी भी तथ्य को बिना प्रमाण के स्वीकार नहीं करने देती। यही कारण है कि जनस्वीकृति वाले महाकाव्य रामायण की यथार्थता, इसके पात्रों घटनाओं की वास्तविकता पर भी आज सन्देह किया जा रहा है। रामायण की कथा में एक अतिविस्तृत भूभाग का वर्णन है। विभिन्न भूक्षेत्रों में निरन्तर परिवर्तन होते रहे हैं, तथापि उनमें रामकथा, रामायण के चिह्न और स्मृतियाँ कहीं न कहीं आज भी विद्यमान हैं। ये सभी स्थल रामायण की ऐतिहासिकता को प्रमाणित करते हैं। श्रीराम की दोनों यात्राओं में वर्णित विस्तृत भू भाग के कुछ स्थलों को चिह्नित करने तथा वर्तमान में उन स्थलों के क्या नाम हैं तथा वे कहाँ स्थित हैं, यह जानने का प्रयास प्रस्तुत शोध-पत्र के माध्यम से किया गया है।

रामायण के नायक श्रीराम को इतने विस्तृत स्थान भ्रमण का सौभाग्य प्राप्त है। इससे श्रीराम का लोकतन्त्रीकरण (Democretization) हुआ है। श्रीराम को सभी स्थानों की संस्कृति से घुला मिला दिखाया गया है। इससे श्रीराम की लोकस्वीकृति स्पष्ट है। राजा के पुत्र होते हुये भी श्रीराम सभी से घुले मिले दिखाये गये हैं। इससे यह सिद्ध भी होता है कि आदिवासी संस्कृति (Tribe Culture) जैसी शब्दावली पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्मित है। हमारे समाज में इस प्रकार का कोई भेदभाव नहीं था। रामायण में श्रीराम की दो प्रमुख यात्राओं का वर्णन है। पहली विश्वामित्र के साथ अयोध्या से मिथिला तक की तथा दूसरी यात्रा वनवास के क्रम में अयोध्या से लेकर लंका तक की है। इन दोनों यात्राओं के क्रम में अनेक ऐसे स्थल आते हैं, जो रामायण की कथा में वर्णित हैं और आज भी तीर्थस्थल के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

वाल्मीकि रामायण के अनुसार जब महर्षि विश्वामित्र अयोध्या से श्रीराम और लक्ष्मण के साथ चले तो वहाँ से डेढ़ योजन की दूरी पर सरयू नदी के दक्षिण तट पर उन्होंने विश्राम किया। यहीं उन्होंने श्रीराम को बला और अतिबला नाम की दिव्य शक्तियाँ प्रदान की

अध्यर्धयोजनं गत्वा सरय्वा दक्षिणे तटे।

---

१ शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२ शोधच्छात्र, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जे. एन. यू., नई दिल्ली

रामेति मधुरां वाणीं विश्वामित्रोऽभ्यभाषत।।[३]

वर्तमान में यह सरयू नदी का दक्षिण तटवर्ती स्थान उत्तरप्रदेश राज्य का आजमगढ़ क्षेत्र माना जाता है जो अयोध्या से लगभग ४० किलोमीटर की दूरी पर स्थित है।

यात्रा के दूसरे दिन विश्वामित्र सहित श्रीराम और लक्ष्मण ने गंगा और सरयू नदी के संगम पर स्थित पवित्र आश्रम में रात्रि विश्राम किया, जहाँ महर्षि विश्वामित्र ने उन्हें भगवान् शिव द्वारा कामदेव के दहन एवं अंग देश के उत्पत्ति की कथा सुनाई।

तौ प्रयान्तौ महावीर्यौ दिव्यां त्रिपथगां नदीम्।
ददृशाते ततस्तत्र सख्याः संगमे शुभे।।[४]

वर्तमान में उत्तर प्रदेश का बलिया शहर यह क्षेत्र माना जाता है। यहाँ सरयू से गंगा नदी मिलती है। रामायण के अनुसार ताडका के वध के उपरान्त महर्षि विश्वामित्र ने राम को अनेक दिव्यास्त्र और शस्त्र प्रदान किये। इसके पश्चात् विश्वामित्र के साथ राम व लक्ष्मण सिद्धाश्रम पहुँचे। सर्ग २९ में महर्षि विश्वामित्र श्रीराम को बताते हैं कि यह सिद्धाश्रम वामनावतारधारी भगवान् विष्णु का आश्रम था।

तेनैव पूर्वमाक्रान्त आश्रमः श्रमनाशनः।
मयापि भक्त्या तस्यैव वामनस्योपभुज्यते।।[५]

रामायण के सर्ग ३० के अनुसार इसी सिद्धाश्रम में रहकर श्रीराम ने मारीच और सुबाहु आदि राक्षसों का संहार किया था। यह स्थान बक्सर के समीप ही स्थित है। आज भी यहाँ गंगा नदी के किनारे मारीच और सुबाहु के नाम से गाँव बसे हुए हैं। रामायण में वर्णित है कि शोणभद्र नदी को पार करके विश्वामित्र आदि गंगा के तट पर पहुँचे।

ते गत्वा दूरमध्वानं गतेऽर्धदिवसे तदा।
जाह्नवीं सरितां श्रेष्ठां ददृशुर्मुनिसेविताम्।।[६]

यहाँ पर विश्वामित्र जी ने श्रीराम को गंगा की उत्पत्ति की कथा सुनाई। पुनः उस रात्रि को वहीं गंगा तट पर विश्राम के बाद ऋषियों सहित श्रीराम के गंगा नदी को पार करके विशाला नामक मनोहर नगरी में पहुँचने की कथा भी वर्णित है।

उत्तरं तीरमासाद्य सम्पूज्यर्षिगणं ततः।
गंगाकूले निविष्टास्ते विशालां ददृशः पुरीम्।।[७]

यह विशाला नगरी वर्तमान में बिहार राज्य में स्थित हाजीपुर नामक क्षेत्र है। पटना के समीपवर्ती

---

३ वाल्मीकि रामायण १.२२.११
४ वही १.२३.५
५ वही १.२९.२२
६ वही १.३५.७
७ वही १.४५.९

इस क्षेत्र का नाम वैशाली भी है। यहाँ रामचुरा नामक एक स्थान है जिसके विषय में यह कहा जाता है कि श्रीराम ने यहाँ विश्राम किया था।

विशाला नगरी में राजा सुमति से सत्कृत होकर मुनियों सहित श्रीराम मिथिलापुरी की ओर चल दिये। मिथिला में पहुँचते ही उन्होंने सबसे पहले महर्षि गौतम का आश्रम देखा, जहाँ उनकी अभिशप्त पत्नी अहिल्या शिला के रूप में स्थित थी।

मिथिलोपवने तत्र आश्रमं दृष्ट्वा राघवः।
पुराणं निर्जनं रम्यं पप्रच्छ मुनिपुङ्गवम्।।[८]

इसी आश्रम में श्री राम ने अहिल्या का उद्धार किया था और इसमें पुनः चेतना आ गयी थी। वर्तमान में यह स्थान बिहार राज्य के दरभंगा जिले में स्थित है। यहाँ अहियारी नामक स्थान पर अभी भी अहिल्या का आश्रम स्थित है. जो तीर्थ की महत्ता वाला है।

अहिल्या का उद्धार करने के बाद गौतम ऋषि आदि से विदा लेकर श्रीराम लक्ष्मण एवं विश्वामित्र गौतम के आश्रम से ईशान कोण की ओर चलते हुये मिथिला नरेश के यज्ञमण्डप में पहुँचे, जहाँ श्री विश्वामित्र की आज्ञा से श्री रामचन्द्र जी ने डेरा डाल दिया ।

रामस्य वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रो महामुनिः।
निवासमकरोद् देशे विविक्ते सलिलान्विते।।[९]

यहीं पर राजा जनक से उनकी मुलाकात हुई थी तथा शतानन्द ने विश्वामित्र की कथा सुनाई थी। यह स्थान अभी बिहार राज्य के मधुबनी क्षेत्र में है। वर्तमान में यहाँ के बिसौल नामक गाँव में अभी भी विश्वामित्र का आश्रम स्थित है।

राजा जनक विश्वामित्र मुनि को सीता की उत्पत्ति की कथा सुनाते हुए कहते हैं कि एक दिन मैं यज्ञ के लिये भूमिशोधन करते समय खेत में हल चला रहा था। उसी समय खेत के अग्र भाग से जोती हुई भूमि (सीता) से एक कन्या प्रकट हुई। सीता से उत्पन्न होने के कारण इसका नाम सीता रखा गया।

अथ मे कृषतः क्षेत्रं लाङ्गलादुत्थिता ततः।
क्षेत्रं शोधयता लब्ध्वा नाम्ना सीतेति विश्रुता।।[१०]

यह क्षेत्र जहाँ हल द्वारा खींची गयी रेखा से सीता उत्पन्न हुई थी, सीतामढ़ी कहलाता है। यह बिहार राज्य में स्थित है। आज भी जो तीर्थयात्री अयोध्या से जनकपुर की यात्रा करते हैं, वे इस स्थल पर दर्शन के लिये अवश्य आते हैं।

श्रीराम के पिता महाराज दशरथ की राजधानी अयोध्या थी। यह नगरी अत्यन्त ऐश्वर्य सम्पन्न व मनोहारिणी थी। यह नगरी कोशल जनपद में सरयू नदी के किनारे स्थित थी। रामायण के अनुसार स्वयं

---

८. वही १.४८११.
९ वही १.५०.५
१० वही १.६६.१३

महाराज मनु ने इसे बनवाया था।

अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्।।[११]

वर्तमान में यह स्थल उत्तर प्रदेश के फैजाबाद जिले में स्थित है। आज भी यहाँ १२ किलोमीटर के क्षेत्र में वेदीकुण्ड, सीताकुण्ड, जनौरा आदि कई तीर्थ स्थल हैं। श्रीराम ने कोशल जनपद की सीमा को लाँघकर शीतल और सुखद जलप्रवाह वाली वेदश्रुति नदी को पार किया था।

ततो वेदश्रुतिं नाम शिववारिवहां नदीम्।
उत्तीर्याभिमुखः प्रयादगस्त्याध्युषितां दिशम्।।[१२]

यह उत्तर प्रदेश के प्रतापगढ जिले में बहने वाली सरकनी नदी है। यह प्रतापगढ से ८ किलोमीटर पूर्व की दिशा में बहती है। वेदश्रुति नदी को पारकर दीर्घकाल तक चलने के पश्चात् श्रीरामादि ने गोमती नदी को पार किया था।

गत्वा तु सुचिरं कालं ततः शीतवहां नदीम्।
गोमतीं गोयुतानूपामतरत् सागरङ्गमाम्।।[१३]

यह वर्तमान में उत्तर प्रदेश राज्य का सुल्तानपुर जिला है। सुल्तानपुर का प्राचीन नाम कुशनगर था, जो श्रीराम के पुत्र कुश के नाम पर रखा गया था। रामायण में वर्णित है कि शीघ्रगामी घोड़ों द्वारा गोमती नदी को लाँघकर श्रीराम ने मोरों और हंसों के कलरव से व्याप्त स्यन्दिका नदी को पार किया।

गोमतीं चाप्यतिक्रम्य राघवः शीघ्रगैर्हयैः।
मयूरहंसाभिरुतां ततार स्यन्दिकां नदीम्।।[१४]

वर्तमान में यह स्थान उत्तर प्रदेश का प्रतापगढ जिले में है। इस नदी का नाम अब सई नदी है। नदी के तट पर बेल्हा देवी का मन्दिर है। रामायण के अयोध्या काण्ड के अनुसार श्रीराम ने अयोध्या की सीमा से विदा लेकर शृंगवेरपुर नामक स्थान पर त्रिपथगामिनी दिव्य गंगा नदी के दर्शन किये।

तत्र त्रिपथगां दिव्यां शीततोयामशैवलाम्।
ददर्श राघवो गंगां रम्यामृषिनिषेविताम्।।[१५]

यह स्थान उत्तर प्रदेश राज्य के प्रयाग में स्थित है। यह स्थल इलाहाबाद से २० किलोमीटर की दूरी पर स्थित है, इसका वर्तमान नाम सिंगरौली है। इस स्थान से २ किलोमीटर की दूरी पर सीताकुण्ड नामक पवित्र तालाब है। शृंगवेरपुर में रात्रिविश्राम करने के बाद श्रीराम गंगा यमुना के संगम पर स्थित

---

११ वही १.६.६
१२ वही २.४९.१०
१३ वही २.४९.११
१४ वही २.४९.१२
१५ वही २.५०.१२

भारद्वाज आश्रम में पहुँचे।

धन्विज्ञौ तौ सुखं गत्वा लम्बमाने दिवाकरे।
गंगायमुनयोः संधौ प्रापतुर्निलयं मुनेः॥ [१६]

वर्तमान में यह स्थान उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद में स्थित है। यह प्रयाग के नाम से विख्यात है। यहाँ गंगा, यमुना तथा अदृश्य सरस्वती तीनों नदियाँ मिलती हैं। अतः इस स्थान को संगम भी कहा जाता है। यहीं पर प्रसिद्ध प्रयाग मेला कुम्भ लगता है।

रामायण के अनुसार श्रीराम, लक्ष्मण एवं सीता अनेक वर्षों तक दण्डकारण्य में रहे। कथा के अनुसार अनुमान करने पर तथा अन्तर्जालीय स्रोतों के वर्णन के आधार पर दण्डक वन के क्षेत्र में आज का सम्पूर्ण मध्यप्रदेश, गुजरात एवं महाराष्ट्र का पश्चिमी भाग व कर्नाटक का दक्षिणी भाग आता है। दुर्भाग्य से वर्तमान में यह वन्य क्षेत्र नक्सलवाद की गतिविधियों से प्रभावित है।

रामायण के अरण्यकाण्ड की कथा के अनुसार श्रीराम मुनियों को राक्षसों के संहार का वचन देकर सुतीक्ष्ण मुनि के आश्रम पर पहुँचे और वहाँ रात्रिविश्राम किया।

रामस्तु सहितो भ्रात्रा सीतया च परंतपः।
सुतीक्ष्णस्याश्रमपदं जगाम सह तैर्द्विजैः॥ [१७]

वर्तमान में यह स्थल नासिक में स्थित सप्तशृंगी नामक क्षेत्र है, यहाँ माँ सप्तशृंगी का एक अतिप्राचीन मन्दिर स्थित है। जनश्रुति है कि महर्षि मार्कण्डेय ने यहीं पर दुर्गा सप्तशती की रचना की थी। यह भी मान्यता है कि दुर्गा ने यहीं पर पर्वत के पीछे छिपे दैत्य महिषासुर का संहार किया, जिसकी स्मृति आज भी पर्वत के एक छिद्र के रूप में स्थित है।

रामायण की कथा के अनुसार श्रीराम, लक्ष्मण एवं सीता जी महर्षि अगस्त्य के परामर्श पर पुण्यसलिला गोदावरी नदी के तट पर स्थित पंचवटी के अतिरमणीय क्षेत्र में पहुँचे, जहाँ श्रीराम की आज्ञा से लक्ष्मण जी ने सुन्दर पर्णकुटी बनाई।

आगताः स्म यथोद्दिष्टं यं देशं मुनिरब्रवीत्।
अयं पंचवटीदेशः सौम्य पुष्पितकाननः॥ [१८]

यहीं पर लक्ष्मण ने शूपर्णखा के नाक कान काटकर उसे विरूप कर दिया। यहीं से रावण ने सीता जी का अपहरण किया। यहीं पर जटायु की हत्या हुई । इस स्थान को जनस्थान कहते हैं। वर्तमान में यह स्थान नासिक क्षेत्र में तपोवन नाम से प्रसिद्ध तीर्थस्थल है। कहा जाता है लक्ष्मण द्वारा शूपर्णखा की नासिका काटने के कारण इस स्थान का नाम नासिक पड़ा।

रामायण की कथा के अनुसार श्रीराम और लक्ष्मण कबन्ध द्वारा बताये गये पम्पा सरोवर के मार्ग

---

१६ वही २.५४.८
१७ वही ३.७.१
१८ वही ३.१५.२

का आश्रय लेकर चलते हुये पम्पा सरोवर के पश्चिमी तट पर जा पहुँचे, जहाँ उन्होंने मतङ्ग ऋषि की शिष्या शबरी का रमणीय आश्रम देखा।

तौ पुष्करिण्याः पम्पायास्तीरमासाद्य पश्चिमम्।
अपश्यतां ततस्तत्र शबर्या रम्यमाश्रमम्॥[१९]

वर्तमान में यह स्थान कर्नाटक राज्य के बेलगाँव में रामदुर्ग से लगभग १४ किलोमीटर उत्तर की दिशा में स्थित सुरेबन नामक तीर्थस्थल है। यहाँ आज भी शबरी का आश्रम विद्यमान है।

रामायण के किष्किन्धा काण्ड की कथा के अनुसार ऋष्यमूक पर्वत पर श्रीराम को आता देखकर बाली द्वारा निष्काषित सुग्रीव अपने भाई द्वारा शत्रुओं को भेजे जाने की आशंका से डर गया और उसने हनुमान् को श्रीराम और लक्ष्मण के पास भेजा। श्रीराम के पास आकर हनुमान् ने अपना और सुग्रीव का परिचय दिया एवं उनके आगमन का प्रयोजन पूछा।

प्राप्तोऽहं प्रेषितस्तेन सुग्रीवेण महात्मना।
राज्ञा वानरमुख्यानां हनुमान् नाम वानरः॥[२०]

वर्तमान में यह स्थान कर्णाटक राज्य के हम्पी में कोप्पल नामक क्षेत्र में स्थित है एवं हनुमान् हल्ली नाम से प्रसिद्ध है।

रामायण के युद्ध काण्ड की कथा के अनुसार रावण से तिरस्कृत होने के पश्चात् धर्मज्ञ विभीषण श्रीराम की शरण में उस स्थान में आ गये जहाँ श्रीराम ठहरे थे। समुद्र तट का वह क्षेत्र है जहाँ विभीषण श्रीराम से मिले थे। यहीं श्रीराम ने कुश से निर्मित आसन पर धरना देकर तीन दिनों तक समुद्र से मार्ग देने की प्रार्थना की थी।

इत्युक्त्वा पुरुषं वाक्यं रावणं रावणानुजः।
आजगाम मुहूर्तेन यत्र रामः सलक्ष्मणः॥[२१]

वर्तमान में यह क्षेत्र तमिलनाडु राज्य के रामनाथपुरम् नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ दर्वाशयनम् नामक एक क्षेत्र स्थित है, जहाँ श्रीराम ने दूर्वा के आसन पर समुद्र देवता को प्रसन्न करने के लिये शयन किया था। माना जाता है कि समुद्र पर बनने वाले रामसेतु की आधार शिला यहीं के छेडुकरई नामक गाँव में रखी गयी थी। यहाँ आज भी समुद्र के जल में दस फीट की गहराई पर तैरते हुये विशाल प्रस्तर शिलाओं को देखा जा सकता है, जिनसे लंका तक राम सेतु का निर्माण किया गया था। यहाँ समीप में ही श्रीरामकथा से सम्बन्धित कई तीर्थस्थल स्थित हैं। जिनमे से विलुण्डी तीर्थ, एकनाथ राम, अग्नि तीर्थ, राम झरोखा आदि प्रमुख हैं। रामसेतु की वास्तविकता पर सन्देह किया जा रहा था, किन्तु नासा के आधुनिक उपग्रह तकनीक से ली गई तस्वीरों ने समुद्र के अन्दर तैरते सेतु की वास्तविकता की पुष्टि कर

---

१९ वही ३.७४.४
२० वही ४.३.२१
२१ वही ६.१७.१

दी, जो भारत के दक्षिणवर्ती क्षेत्र को लंका से जोड़ता है। इस विषय पर विवाद स्वार्थवश राजनीतिज्ञों द्वारा उत्पन्न किया गया है।

रामायण की कथा के अनुसार समुद्र देव के परामर्श पर श्रीराम की सेना के नल नामक वानर ने प्रस्तर शिलाओं से समुद्र पर विशाल सेतु का निर्माण किया। यह सेतु सौ योजन लम्बा और दस योजन चौड़ा था।

दशयोजनविस्तीर्णं शतयोजनमायताम्।
ददृशुर्देवगन्धर्वा नलसेतुं सुदुष्करम्।। [२२]

यह स्थान तमिलनाडु राज्य के रामेश्वरम में स्थित है। यह द्वादश ज्योतिर्लिङ्गो में से एक है। रामेश्वरम शिवलिङ्ग से २ किलोमीटर की दूरी पर रामसेतु स्थित है।

न केवल भारत में, अपितु श्रीलंका में भी ऐसे अनेक स्थल हैं, जो रामकथा की वास्तविकता की पुष्टि करते हैं। श्रीलंका में तीस से अधिक ऐसे स्थान हैं, जो रामकथा से सम्बन्धित हैं और जनमानस में तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित हैं। लंका के निवासियों को आज भी रामकथा से सम्बद्ध होने का गर्व है, जबकि उन क्षेत्रों में ९० प्रतिशत लोग बौद्ध हैं।

प्रस्तुत शोधपत्र में चिह्नित स्थलों को देखकर यह कहा जा सकता है कि रामायण में वर्णित क्षेत्र आज भले ही हू-ब-हू उस अवस्था में न हों, परन्तु इनकी उपस्थिति को नकारा नहीं जा सकता है। इससे रामायण की ऐतिहासिकता भी पुष्ट होती है। ये भौगोलिक क्षेत्र आज तीर्थस्थल का रूप ले चुके हैं। रामायण को जो तत्त्व जीवन्त बनाता है वह है- उसकी लोकस्वीकृति। इन सभी स्थलों की जनमानस में स्वीकृति है। रामायण की कथा का साहित्यशास्त्रीय विवेचन तो बहुत हुआ है, परन्तु इसमें वर्णित भौगोलिक क्षेत्रों की विस्तृत अनुसन्धानात्मक समीक्षा अपेक्षित है।

---

२२ वही ६.२२.७६

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ0203-210) ISSN 0974 – 8830

व्यापार-प्रबन्धन में नैतिक मूल्यों का महत्त्व

कोविद कुमार गुप्ता[१]

आज व्यापार का तात्पर्य केवल येन-केन प्रकारेण धनार्जन ही मान लिया गया है। उसका परिणाम है श्रमिकों में असन्तोष के कारण विद्रोह, बगावत, उद्दण्डता व हिंसा का वातावरण। व्यापार-प्रबन्धन एक कौशल है, जिसके अभाव में ये विद्रूप घटनायें घट जाती हैं। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में व्यापार-प्रबन्धन के विषय में नाना प्रकार के निर्देशन प्राप्त होते हैं। यद्यपि इक्कीसवीं सदी में विश्व के धरातल पर व्यापार सम्बन्धी विविध कुशलता दिखाई देती है, तथापि यत्र-तत्र बहुधा नैतिक मूल्यों के अभाव के कारण सब कुछ चमकता-दमकता दिखते हुए भी भीतर से खोखला प्रतीत होता है। समाज में भ्रातृत्व का भाव समाप्त हो रहा है। स्वार्थ की सिद्धि करना ही व्यापार नहीं होता, अपितु **वसुधैव कुटुम्बकम्** की भावना के साथ सार्वजनीन व सर्वमंगलकारी धर्मपूर्वक अर्थार्जन का प्रयास ही व्यापार कहलाता है। प्रस्तुत शोध लेख में प्राचीन साहित्य के उद्धरणों के साथ व्यापार-प्रबन्धन को स्पष्ट किया गया है। जिसमें वस्तुओं का मूल्य निश्चित करना, ठीक-ठीक माप-तोल करना, वस्तुओं के विक्रय का प्रकार, मिलावटी को दण्ड देना, उत्पादित वस्तुओं का ठीक-ठीक वितरण करना, जमाखोरी न करना, ऋणदान व ब्याज लेने में नैतिकता, करनीति का निर्धारण आदि विषयों की चर्चा की गई है। इसके समर्थन में स्वामी विवेकानन्द एवं स्वामी दयानन्द के वक्तव्यों, वेद तथा अन्य शास्त्रों के प्रमाणों का भी उल्लेख किया गया है।

आज का युग अर्थप्रधान है और प्रत्येक व्यक्ति अर्थ-परिक्रमा में ही संनद्ध है। एक का दो, दो के चार, चार के आठ के रूप में गुणनफल में ही आबद्ध होकर, निरन्तर वह गलाकाट दौड़ में शामिल हो गया है। अब नैतिकता- अनैतिकता के मायने उसके लिए व्यर्थ हैं। इक्कीसवीं सदी के इस आपाधापी-वातावरण में हमारे व्यवहार मूल्याधारित कैसे हों और कैसे हम एक वैश्विक परिवार के रूप में मिलजुल कर सांसारिक सुखों की प्राप्ति करें? यह एक विशाल और कठिन प्रश्न बन गया है, परन्तु इस प्रश्न का उत्तर हमारे प्राचीन उच्चकोटि के साहित्य में विस्तार से वर्णित है।

हमारी संस्कृति के अनुसार प्रत्येक मानव के जीवन में चार लक्ष्य होते हैं- धर्म का आचरण, अर्थ की प्राप्ति, कामनाओं की पूर्त्ति एवं अन्ततः मोक्षप्राप्ति। वैदिक वाङ्मय में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ-चतुष्ट्य के रूप में प्रतिपादित हैं। परन्तु आज धर्म विकृत है, काम विद्रूप है, मोक्ष विस्मृत है। केवल अर्थप्राप्ति ही एक मात्र लक्ष्य रह गया लगता है। अतः मानव आज अशान्त है और समस्त मानवता त्रस्त है। इस अशान्ति व व्याकुलता के वातावरण को नष्ट करने के लिए हमें नैतिकता को स्वीकार करना ही होगा। निस्सन्देह नैतिकता के साथ यदि अर्थप्राप्ति की कामना की जाती है तो वह एक

१. असिस्टैण्ट प्रोफेसर सिक्किम मणीपाल यूनिवर्सिटी-डी.ई., अर्थप्रकाश इंस्टीट्यूट, सैक्टर-२९, चण्डीगढ़

सुन्दर व सर्वसुखदायक व्यापार-प्रबन्धन कहलाता है।

आज व्यापार हमारे जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। जीवन में जीविका के समस्त साधन व्यापार के अन्तर्गत आते हैं। **'विशेषेण आ समन्तात् पाल्यते पूर्यते येन अथवा पालयति पूरयति यो वा सः व्यापारः** अर्थात् जिस कार्य के द्वारा जीवन का भली -भांति पालन-पोषण होता है वह व्यापार कहलाता है। जीवन में किये जाने वाले आजीविका के सभी कर्म कृषि, पशु-पालन, काम-धन्धे, उद्योग, क्रय-विक्रय लेन-देन, पेशा, रोजगार, वाणिज्य, उत्पादन, संवर्धन, संरक्षण, वितरण, आयात-निर्यात, मूलधन, बैंकिंग (साहूकारी), ऋणदान, कर-ग्रहण, अध्यापन, सुरक्षा-कार्य, सेवा-शुश्रूषा आदि व्यापार के अन्तर्गत आ जाते हैं। अर्थात् जिस कर्म में आय या व्यय के रूप में अर्थ= धन) का निर्धारण सुनिश्चित कर लिया जाता है वे सभी कर्म व्यापार के अन्तर्गत आ जाते हैं।

अतः उपर्युक्त समस्त कार्यों में यदि नैतिक मूल्यों और सच्चरित्र का अस्तित्व विद्यमान होता है तो वह शुद्ध व लोकमंगलकारी व्यापार कहाता है। इसी शुद्ध व्यापार का ही वर्णन हमारे प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता है। वेद, स्मृति, शास्त्र, धर्मशास्त्र व नीतिशास्त्र आदि समस्त ग्रन्थ प्रत्येक व्यवहार में नैतिकता का ही प्रतिपादन करते हैं। वेद में व्यापारी को वैश्य, वणिक् व पणि आदि नामों से वर्णित किया गया है। जो अपने कर्त्तव्य-कर्म को तीव्र तत्परता के साथ करता है, इतस्ततः गमन-आगमन में कुशल होता है, व्यापार योग्य वस्तुओं को शुद्ध रखता है, वह प्रशंसनीय व्यापारी होता है। कहा भी है-**'ऊरू तदस्य यद्वैश्यः'**[२]

तुला (तराजू)

अथर्ववेद के तृतीय काण्ड के पन्द्रहवें सूक्त में ऐसे व्यापारी का वर्णन प्राप्त होता है जो अपना धन प्रजाओं में लगा देता है- **'स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्।'**[३] व्यापारी को वणिक् इसलिए कहा जाता है कि वह व्यापार के योग्य वस्तुओं को शुद्ध रखता है और उन वस्तुओं से समाज व राष्ट्र का पोषण करता है- **वणिक् पण्यं नेनेक्ति।**[४] वस्तुओं का विनिमय, आदान-प्रदान, क्रय-विक्रय आदि व्यापारी के मुख्य कार्य हैं। इन समस्त कार्यों का एकमात्र साधन है- तुला यानी तराजू। तराजू के द्वारा नैतिकतापूर्ण कार्यसम्पादन हो सके, इसलिए व्यापारी की कुशलता को वेद में स्मरण किया गया है- **तुलायै वणिजम्।**[५] भौतिक वस्तुओं को तोलने में तराजू और जीवन-व्यवहार में आय-व्यय का वास्तविक सन्तुलन ही तुला (तराजू) है।

मूल्यनिर्धारण

मूल्यनिर्धारण व्यापार-जगत् का महत्त्वपूर्ण विषय है। अन्न, फल, सब्जी, दूध, घी, वस्त्र व अन्य

२. यजुर्वेद ३१-११.
३. अथर्ववेद ३.१५.१
४. निरुक्त २.५.१७.
५. यजुर्वेद ३०.१७.

उत्पादित वस्तुओं का आदान-प्रदान उचित मूल्य पर हो सके, इसके लिए प्रशासन, व्यापारी एवं ग्राहकों का पारस्परिक ताल-मेल, सहभागिता व सामञ्जस्य अति अनिवार्य है। मूल्यनिर्धारण के प्रसंग में यह प्रावधान होता है कि एक बार विक्रेय वस्तु का मूल्य निर्धारित हो जाने पर उसे मध्य में बारम्बार बदला नहीं जाता। व्यापारी मूल्य विषयक अपनी वाणी पर दृढ. रहे, एक सुनिश्चित समयावधि तक किसी भी वस्तु का मूल्य अधिक न करे और ग्राहक भी सावधान होकर वस्तुक्रयण करें, यही नैतिकता है।

वस्तु विनिमय

क्रय-विक्रय का स्वरूप भी दो प्रकार का पाया जाता है। रुपयों-पैसों के द्वारा मूल्य देकर वस्तुक्रय तथा वस्तु के बदले वस्तु को देकर वस्तु की प्राप्ति।[६] वस्न[७] शब्द और शुल्क शब्द मूल्यवाचक हैं। वहाँ रुपयों-पैसों के द्वारा वस्तुक्रय का उल्लेख है। वस्तु के द्वारा वस्तु विनिमय का वर्णन यजुर्वेद में प्राप्त होता है- **'क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेण ...। परमेण पशुना क्रीयसे सहस्त्रपोषं पुषेयम्।**[८] मैं सोने को सोने से खरीदता हूँ। बने हुए पुराने आभूषणों के बदले नये आभूषणों के क्रय-विक्रय की चर्चा इस मन्त्र में है। ऋग्वेद में उल्लेख है- **क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः।**[९] दश दुधारू गौओं के बदले कौन है जो मेरे इस ऐश्वर्य को खरीदता है? इस प्रकार वेदों के मन्त्रों में पण, प्रपण, प्रतिपण, क्रय, अपक्रय, परिक्रय आदि शब्दों से वस्तुओं के पारस्परिक विनिमय एवं क्रय-विक्रय आदि का भी प्रतिपादन किया गया है।[१०]

मिलावटी व लोभी को दण्ड :-

वस्तु-विक्रय के द्वारा अत्यधिक लाभार्जन सामाजिक अपराध है। अधिक लाभ की आकांक्षा व्यक्ति को लोभी बनाती है। ऐसे व्यापारी की निन्दा समाज में होती है और उसे नियन्त्रण में रखने का अधिकार राजा को दिया गया है- **तत्ते विद्वान् वरुण प्रब्रवीम्यधोवचसः पणयो भवन्तु।**[११] लोभी व्यापारी घातक मिलावट करता है। ऐसे जघन्य अपराधी को दण्डित करने का सन्देश ऋग्वेद में प्राप्त होता है- **'दासं यच्छुष्णं कुयवं न्यस्मा अरन्धय आयर्जुनेयाय शिक्षन्।। '**[१२]

उत्पादन का सम्यक् वितरण :-

खेतों, कारखानों, फैक्टरियों में योग्य पदार्थ उत्पादित किये जाते हैं। ये पदार्थ केवल मालिकों, केवल धनादि साधनों या केवल श्रमिकों व केवल प्रबन्धकों के श्रम से नहीं उत्पन्न होता, अपितु इन सभी के सन्तुलित प्रयासों से ही सम्भव हो पाता है। उत्पादन व वितरण संगठन से ही होता है। संगठित शक्ति

६. अथर्ववेद १२.२.३६.
७. ऋग्वेद ७.८१.६
८. यजुर्वेद ४.२९.
९. ऋग्वेद ४.२४.१०.
१०. अथर्ववेद ४.७.६. तथा ३.१५.४.
११. अथर्ववेद ५.११.६.
१२. ऋग्वेद ७.१९.२.

से व्यापार चलता है। अतः वेदों में इस संगठित शक्ति को नमन किया गया है- **नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमो व्रातोभ्यो व्रातपतिभ्यश्च।**[१३] वेद का तात्पर्य यह है कि व्यापार कार्य संगठित व्यक्तियों के द्वारा ही सम्पन्न हो पाता है। उत्पादित वस्तुओं का वितरण भी संगठित प्रबन्धन के माध्यम से होता है। इस व्यवस्था का संकेत भी वेदमन्त्र में प्रतिपादित है।[१४] समय पर सम्यक् वितरण न होने से जमाखोरी, मुनाफाखोरी जैसी अवांछनीय भावनायें समाज में पनपती हैं। आजकल प्रायः यह देखने में आता है कि आवश्यकता आ पड़ने पर मूल्यवृद्धि कई गुणा कर दी जाती है, जो अनैतिक है। प्रशासन का कर्त्तव्य है कि वह समय पर आवश्यकतानुसार सभी को आवश्यक सामान मुहैया करवाये। ऐसे वितरण-कुशल राजा का आह्वान वेद में किया गया है- **विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः।**[१५] वितरण व्यवस्था में कुशल राजा का यह भी कर्त्तव्य है वह वेतन-व्यवस्था को भी सुधारें। वेतनभोगियों में वेतन-वितरण विसंगत या असंगत न होने पावे, इसका भी ध्यान प्रशासक को रखना चाहिये। स्वामी, श्रमिक व उपभोक्ता तीनों का समान अधिकार व्यापार की वस्तुओं व धन पर होता है, अतः इसी अनुपात से सभी की क्रयशक्ति का ध्यान रखते हुए ही अर्थ, धन, वस्तु व वेतन का सम्यक् वितरण राजा को करना चाहिये। नहीं तो विसंगतिपूर्ण व्यापार अनैतिक कहलाता है और इससे समाज में विद्रोह व उपद्रव उत्पन्न होते हैं। शास्त्रों में दिए गए इस संदेश को हमारा प्रशासन और व्यापार-जगत् अगर अच्छी तरह अपना ले तो व्यापार-जगत् में, जिन नैतिक मूल्यों का अभाव खटक रहा है, उन मूल्यों की पुनः स्थापना हो सकती है।

व्यापार प्रबन्धन के क्षेत्र में नैतिक मूल्यों का अस्तित्व बना रहे, इसके लिए प्राचीनकाल में वस्तुओं के उत्पादन, वितरण, उपभोग व विनिमय पर विशुद्ध ध्यान रखा जाता था। वेद, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र व अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों में विस्तार से इनका विवेचन उपलब्ध है। आचार्य चाणक्य ने कौटिल्य अर्थशास्त्र में दो अध्याय वितरण विषय पर ही लिखे हैं। सर्वप्रथम भूमि वितरण की चर्चा में चाणक्य कृषिकर्त्ता को ही भूमि वितरण की बात करते हैं। भूमि उसकी नहीं मानी जाती, जो कृषि-कर्म न करता हो। कृषक ही आजीवन भूमि का स्वामी माना जाता है। राजा उर्वरा व बंजर भूमि को जनता को निःशुल्क देता है। यदि व्यक्ति उस पर कृषि कर्म नहीं करता है तो उस भूमि को अन्य व्यक्ति को या ग्राम-सहकारी समितियों को सौंप दी जाती है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि जन्म से या पारिवारिक परम्परा से कोई भी भूस्वामी नहीं होता है, अपितु कृषक ही भूस्वामी कहलाता है। उत्पादन के क्षेत्र में नैतिकता का यह प्रथम मानदण्ड है।[१६] दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, बाढ़ व अन्य विपरीत परिस्थितियों से जूझने के लिए राजा कम से कम तीन वर्षों तक अपेक्षित अन्न का संचय लोगों के लिए करता था-

धान्यानां संग्रहः कार्यो वत्सरत्रयपूर्त्तिदः।

---

१३. यजुर्वेद १६.२५.

१४. यथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। यजुर्वेद ४०.८.

१५. ऋग्वेद १.२२.७.

१६. कौटिल्य अर्थशास्त्र २.१.३.१०.

तत्तत्काले स्वराष्ट्रार्थं नृपेणात्महिताय च।।[१७]

व्यक्तिगत रूप में अत्यधिक धनसंग्रह को वेद में नकारा गया है-**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।**[१८] भारतीय अर्थशास्त्र में वैयक्तिक सम्पत्ति स्वीकृत है- उतनी जितनी से जीवन यापन सुख सम्पन्न हो सके। अत्यधिक धन को दु:खद व विषमता का मूल माना गया है।[१९] जितने से पेट भरता है वही अपना है, उससे अधिक संग्रहकर्त्ता चोर कहलाता है। पेट भरना धर्म है, पेटी को भरना चोरी है, अधर्म है। यदि सामाजिक प्राणी उपभोग के क्षेत्र में संग्रही बनता है तो वह नीतिशास्त्रकारों को अमान्य है- **कुसूलधान्यको वा स्यात् कुम्भीधान्यक एव वा। त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा।।** व्यक्ति को आज की, कल तक की या फिर घड़ाभर अन्न की ही चिन्ता रखनी चाहिये, अधिक की नहीं। शुक्रनीतिकार का कथन है कि महाधनी होकर व्यक्ति को स्व की अपेक्षा अपने कुटुम्ब के साथ-साथ समाज के अन्य पोषणयोग्य जनों का भी परिपोषण करना चाहिये- **भूत्वा महाधनः सम्यक् पोष्यवर्गं तु पोषयेत्।**[२०] व्यापार-आचार संहिता की इतनी पुष्ट परम्परा के होते हुए भी यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि भारत का अपना व्यापार और कृषि जगत् ही निजपोषण एवं गिने-चुने धनिकों की आय वृद्धि के अनैतिक सिद्धान्तों पर चल निकला है।

व्यापार व धनार्जन के क्षेत्र में नैतिकता यही है कि स्वधन को भी व्यक्ति अपना न मानकर स्वभोग्य, परभोग्य, कुटुम्बभोग्य राजभोग्य आदि माने। इसी भावना से **वसुधैव कुटुम्बकम्** एवं **'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्'** की उदात्त भावना पनपती है और सर्वत्र चारों ओर नैतिकता का साम्राज्य प्रतीत होता है। इस प्रकार धन के उत्पादन, वितरण, उपभोग व विनिमय से सम्बन्धित नैतिकतापूर्ण विचारों का उल्लेख शास्त्रों में प्रचुरता से पाया जाता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के वेदभाष्यकार स्वामी दयानन्द वेदों के गम्भीर अध्येता व मन्त्रद्रष्टा थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में अर्थ (धनादि) पदार्थों की परिभाषा करते हुए लिखा है- 'धर्मपूर्वक जिन पदार्थों की प्राप्ति होती है, धर्मयुक्त पुरुषार्थ से जो अर्थार्जन किया जाता है, जिस धनैश्वर्यादि पदार्थों से अन्य जनों की सेवा व परोपकार का कर्म हो पाता है, वही धन व अर्थ कहलाता है। अधर्माचरण से युक्त पदार्थ, ऐश्वर्य व धन दौलत अर्थ नहीं कहलाता।''[२१] अर्थार्जन, अर्थोपभोग, अर्थवृद्धि, अर्थवितरण आदि के विषय में ऋग्वेद भाष्य में उन्होंने यत्र-तत्र नैतिकता को अधिमान देते हुए ही अपने मन्तव्य प्रकट किये हैं। धन के त्याग व भोग के सन्दर्भ में उनके विचार उदात्त थे। आर्यसमाज के छठे नियम में उन्होंने स्पष्टतया लिखा है- **संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है। अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।** शारीरिक उन्नति का अभिप्राय आर्थिकोन्नति से ही सम्भव है। अन्नादि पदार्थों के विना शरीर व जीवन की सम्भावना नहीं होती, अतः अर्थ अनिवार्य है। तथापि उनका आग्रह है- **'अर्थः स**

---

१७. शुक्रनीति ४.२१-२२.
१८. ईशोपनिषद्-१.
१९. मनु. ४.७. यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्। ततोऽधिकं यो मन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति।
२०. शुक्रनीति ३.१९९.
२१. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास।

वर्त्तते यो धर्मेण प्राप्यते।' यदि अधर्म से अनेक साधन, राज्यप्राप्ति व स्वकामनाओं की पूर्त्ति होती है तो भी ऐसे अधर्माचरण का पूर्णतः परित्याग करना चाहिये।[२२] जिस शास्त्र में धर्मपूर्वक अर्थ का अध्ययन किया गया है वही वस्तुतः अर्थशास्त्र कहलाता है। मनुस्मृति, शुक्रनीति, विदुरनीति व कौटिल्य अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों के पारायण के पश्चात् ऋणदान व ब्याज के साथ उसके संग्रहण के विषय में महर्षि दयानन्द के अपने स्वविचार अनुपम व अद्वितीय हैं। मनु ने ब्याज- व्यापार को अन्तिम स्थान पर रखा है- **विद्याशिल्पभूतिस्सेवा गौरक्ष्यं विपणिः कृषिः। धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः॥** जीवन-निर्वाह के उपर्युक्त साधनों में कुसीदग्रहण (ब्याजग्रहण) भी एक साधन में रूप में परिगणित है। इस विषय में स्वामी दयानन्द लिखते हैं- 'एक सैंकड़े रुपयें में चार, छह, आठ, बारह, सोलह या बीस आने से अधिक ब्याज और मूलधन से दूना अर्थात् एक रुपया दिया हो तो सौ वर्ष में भी दो रुपये से अधिक न लेना और न देना। वे चार से लेकर अधिकाधिक बीस प्रतिशत तक वार्षिक ब्याज लेने की चर्चा करते हैं, परन्तु ऋण के रूप में दिये गये एक रुपये के बदले सौ वर्ष बीत जाने पर भी ब्याज के साथ मूलधन कुल मिलाकर दो रुपये से अधिक वापिस लेने के समर्थक नहीं हैं। इसे उन्होंने भ्रष्टाचार माना है। इस वक्तव्य में उनके हृदय से नैतिकता छलकती हुई दिखाई पड़ती है। उन्होंने अपने समय में समाज में साहूकारीपन को देखा था और सेठों के द्वारा दरिद्रों के भयंकर शोषण के विरुद्ध उनका यह संदेश था।

इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस आदि सन्तों ने भी अपने वक्तव्यों व प्रवचनों में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नैतिकता की ही दुहाई दी है। स्वामी विवेकानन्द बहुत ही मुखर शब्दों में अपने साहित्य में नैतिकता पर अपने विचार स्पष्ट करते हैं **-नैतिकता की परिभाषा यह है कि - जो स्वार्थी है वह अनैतिक है और जो स्वार्थी नहीं है वह नैतिक है।** स्वार्थहीनता धर्म की परीक्षा है। जो अत्यधिक स्वार्थहीन है वही आध्यात्मिक पुरुष व शिव के अति निकट है। दूसरों के प्रति स्नेह रखना नैतिकता है और घृणा करना पाप है। तुम भगवान् का दर्शन कहाँ करना चाहते हो? क्या सभी गरीब, धनहीन व शक्तिहीन लोग भगवान् नहीं हैं? सबसे पहले उनकी पूजा क्यों नहीं करते?

जो व्यक्ति गरीबों, कमजोरों और रोगियों में शिव का दर्शन करता है वह वास्तव में भगवान् की पूजा करता है और जो केवल मन में ही शिव की कल्पना करता है उसकी भागवत पूजा वस्तुतः प्रारम्भिक पूजा ही है। जिसने जातपात, धार्मिक विश्वास आदि को विना सोचे किसी एक दरिद्रजन में ही भगवान् का दर्शन करते हुए उसकी सेवा व सहायता की है, उस व्यक्ति से भगवान् अधिक प्रसन्न होते हैं बजाय उस व्यक्ति से जो भगवान् का केवल मन्दिर में ही दर्शन करने का प्रयास करते हैं।[२३]

---

२२. संस्कारविधि, गृहस्थाश्रमप्रकरण।

२३. 1- The Only definition that can be given of morality is this : That which is selfish is immoral, and that which is unselfish is moral. (Volume-9 Complete Works of Swami Vivekananda) (CW.1.110.) 2. This unselfishness is the test of religion. He who has more of this unselfishness is more spiritual and nearer to Shiva. (CW.3.143) 3. Loving others is virtue, hating others is sin. (CW.5.419) 4. Where should you go to seek for God-are not all the poor, the miserable, the

त्याग की नैतिकता

धनसंचय करना प्रत्येक प्राणी का स्वभाव होता है। संचय यद्यपि बुरा नहीं है तथापि इसकी अपनी एक सीमा होती है। कितना भोजन, कितने कपड़े, कितने मकान, कितना बैंक-बैलेंस? बड़े-बड़े दिग्गज संचय करके सब यहीं छोड़कर चले गए, साथ नहीं ले जा पाये। अरबों-खरबों रुपयों के पदार्थों का उपभोग जीवन में सम्भव ही नहीं है, फिर भी अन्तहीन ऐश्वर्य-संचय में जुटे रहना, दूसरे के हक को छीनने के समान है। यह जानते हुए भी कि मृत्यु-समय तय नहीं है, पुनरपि थैलियों, पेटियों और तिजोरियों को भरने के पाशविक कर्म में संलिप्त रहना मानवता नहीं है। महर्षि व्यास ने ठीक लिखा है- **दो प्रकार के लोगों के गले में बड़े-बड़े पत्थर बांधकर उन्हें पानी में डुबो देना चाहिये। पहले उसे जो धनवान होकर भी त्याग नहीं करता, दूसरा उसे जो दरिद्र होकर भी परिश्रम नहीं करना चाहता। गरीब पुरुषार्थ करे और धनवान् अपने भण्डार का द्वार खोल देवे, यही आर्थिक जगत् में नैतिकता है।**[२४] अत: वेद में धन का सही-सही बंटवारा कर सकने वाले राजा का आह्वान किया गया है जो अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, झंझावात, चक्रवात, दुर्भिक्ष, अग्निदाह, बाढ़, महामारी, रोग-संक्रमण एवं अन्य प्राकृतिक विपदाओं के कारण उत्पन्न राष्ट्रीय समस्याओं का तत्काल कुशलता पूर्वक समाधान कर सके। कितनी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि नैतिक मूल्यों के इतने सार्थक और व्यावहारिक निर्देशों के बावजूद हमारे व्यापार-प्रबन्ध-प्रशिक्षणों में इन मूल्यों पर आधारित पाठ्यक्रमों का नितान्त अभाव है।

करनीति

व्यापार-प्रबन्धन में केवल प्रजा का योगदान ही नहीं होता अपितु राजा का नियन्त्रण भी होता है। राजा कर-प्रणाली के माध्यम से राष्ट्र की समस्त योजनाओं-प्रयोजनाओं को पूर्ण करता है। वैदिक विचारधारा में करनीति पर भी पर्याप्त विचार-विमर्श किया गया है। नैतिकता को सम्मुख रखते हुए मनु का निर्देश है- राजा, राजपुरुष व प्रजाजन जिस विधि से सुखी रह सकें उसी तरीके से व्यापारियों व प्रजा पर करनीति की स्थापना की जाये। इस कर-प्रणाली में नैतिकता बनी रहे, अत: वे इसके लिए जोंक, बछड़ा व भंवरे का उदाहरण देते हुए लिखते हैं कि जैसे ये प्राणी क्रमशः रक्त, दूध व शहद आदि अपने-अपने खाद्य पदार्थों को थोड़ा-थोड़ा करके ग्रहण करते हैं, वैसे ही राजा भी प्रजा से थोड़ा-थोड़ा ही वार्षिक कर लेवे।[२५]

---

weak, Gods ? Why not worship them first? (CW.5.51) 5.He who sees Shiva in the poor, in the weak, and in the diseased, really worships Shiva, and if he sees Shiva only in the image, his worship is but preliminary. He who has served and helped one poor man seeing Shiva in him, without thinking of his caste, or creed, or race, or anything, with him Shiva is more pleased than with the man who sees Him only in temples. (CW.3.142)

२४. महाभारत द्वावम्भसि प्रवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्। धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्॥

२५. मनुस्मृति यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं ७.१२९ वार्योकोवत्सषट्पदाः। तथाल्पाल्पो गृहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः॥

कर (टैक्स) लगाने वाले राजा का व्यवहार सूर्य के समान होना चाहिये। जैसे सूर्य अपनी किरणों से सब स्थानों से एक समान बराबर मात्रा में पानी को खींचता है, वैसे ही राजा भी करे। जिस प्रकार सूर्य की किरणें लोटों, घड़ों व छोटे-छोटे बर्तनों में रखे पानी के पास न पहुँचकर, उन्हें बचाते हुए, केवल बड़े-बड़े सरोवरों, झीलों, नदी-नालों व समुद्रों से ही अधिक मात्रा में भाप के रूप में पानी को धीरे-धीरे खींचती है, उसी प्रकार राजा भी सेवकों, दरिद्रों, छोटे-छोटे कर्मचारियों व विद्यार्थियों को छोड़कर, मोटे वेतन भोगियों, बड़े व्यापारियों, दुकानदारों, उद्योगपतियों व कार्पोरेट घरानों पर ही यथेष्ट कर लगाये। ऐसा करने से कर-नीति सर्वग्राह्य बनती है। मनु के मत में यदि राजा अति लोभ में डूब कर टैक्स (कर) की कुल्हाड़ी से प्रजारूपी जड़ को ही काटने लगता है तो वह अपने व राष्ट्र के सुख की जड़ का ही छेदन करता है-

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया।
उच्छिन्दन् ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत्॥[२६]

अन्ततः सूर्य के समान अपने लिए जल को न लेकर पृथिवी पर पुनः उलीच देने की भांति राजा भी यदि प्रजा से कर-ग्रहण कर प्रजा के मंगलप्रद कार्यों में ही लगाता है तो यह भी नैतिकता से पूर्ण राजधर्म ही कहलाता है।

वस्तुतः जिस समाज में लोग भूख व अभाव के कारण मर जाते हैं, उस समाज की व्यापार-व्यवस्था दूपित है। जिस राष्ट्र में एक ओर अन्न लाखों क्विंटलों की मात्रा में सड़ जाता है और दूसरी ओर लाखों लोग भूख में तड़प जायें, कपड़ों का अम्बार मार्केट में होते हुए भी लोग फुटपाथों पर सर्दी में ठिठुरते रहें, मकान व फ्लेट हजारों की संख्या में खाली होते हुए भी लोग खुले आसमान में रहने को मजबूर कर दिये जायें तो उस राष्ट्र की दूषित वितरण-व्यवस्था का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। व्यापार व व्यवस्था के क्षेत्र में यह भयंकर अनैतिकता है। अतः वेद में कहा गया है- **'सम्राट् अदित्सन्तं दापयति।'**[२७] राजा दान व कर न देने वाले बड़े-बड़े धन्नासेठों से धन छीनकर उसे प्रजा में जबर्दस्ती वितरण कराता है।

इस प्रकार व्यापार-प्रबन्धन के क्षेत्र में यदि राजा का समुचित हस्तक्षेप हो और सभी व्यापारी, धनिक व सामर्थ्यवान् नागरिक सामान्य जनों के साथ भाई-भाई की तरह रहकर एक-दूसरे के दुःख में सहयोगी बनेंगे तो सम्पूर्ण विश्व एक विशाल परिवार के रूप में परिवर्त्तित हो जाएगा। नैतिकता ही वह अंकुश है जिससे विश्व में सुख-शान्ति का साम्राज्य स्थापित होता है और व्यापार प्रबन्धन एवं व्यापार प्रबन्धन के पाठ्यक्रमों में इसकी गरिमा को पुनः स्थापित करना हमारी सर्वोपरि प्राथमिकता होनी चाहिए।

---

२६. मनुस्मृति ७.१३९
२७. यजुर्वेद ९.२८

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ0211-216) ISSN 0974 – 8830

उच्च-शिक्षा-स्तर : ह्रास के कारक और निवारक

डॉ०गीता शुक्ला[१]

शिक्ष् धातु से निश्पन्न शिक्षा तथा विद् धातु से निष्पन्न विद्या दोनों शब्दों का शाब्दिक अर्थ ज्ञान प्राप्त करना है। शिक्षा को वेद-पुरुष की घ्राण के रूप में स्वीकर कर वेदांगों में स्थान दिया गया है-**शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य।**[२] उपनिषदों में **सा विद्या या विमुक्तये**[३] तथा **विद्ययाऽमृतमश्नुते**[४] तथा **शिक्ष्यते वर्णाद्युच्चारणप्रकारो यया सा शिक्षा**[५] श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है। इतना ही नहीं वैयाकरणों, प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कौटिल्य, वेदान्त दार्शनिक शंकराचार्य, स्वामी विवेकानन्द आदि भारतीय विद्वानों तथा प्रसिद्ध भारतीय व पाश्चात्त्य शिक्षा शास्त्रियों ने शिक्षा को पारिभाषित किया है। उनमें से कतिपय परिभाषाएँ प्रस्तुत की जा रही हैं।

स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का विकास करना शिक्षा है।[६] शिक्षा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का स्वाभाविक समन्वित तथा प्रगतिशील विकास है।[७] अच्छे नैतिक चरित्र का विकास ही शिक्षा है।[८] शिक्षा मानव तथा समाज के लिए निर्माणकारी होनी चाहिए।[९] पौधे कृषि द्वारा विकसित होते हैं और मनुष्य शिक्षा से।[१०] शिक्षा वातावरण से अनुकूलन करने की प्रक्रिया है, के समर्थक बटलर, जेम्स बॉसिंग व हॉर्न हैं। शिक्षा वैयक्तिकता के पूर्ण विकास की प्रक्रिया है के समर्थक पेस्टॉलॉजी, काण्ट व टी०पी०नन हैं। शिक्षा जन्मजात शक्तियों को व्यक्त करने की प्रक्रिया है, का समर्थन एडीसन, प्रॉबेल व सुकरात ने किया है। शिक्षा की आधुनिक परिभाषा संक्षिप्त व सारगर्भित है। तदनुसार- शिक्षा को मनुष्य और समाज का निर्माण करना चाहिए।

इस प्रकार शिक्षा प्रक्रिया उतनी ही प्राचीन है जितनी प्रकृति। इसीलिए आदि काल से अब तक शिक्षा का कोई न कोई स्वरूप अवश्य रहा है। शिक्षा मनुष्य के लिए होती है। जो भी हो शिक्षा एक प्रक्रिया है। प्रक्रिया से तात्पर्य एक ऐसी क्रिया से है जिसके द्वारा मनुष्य में अच्छे परिवर्तन सम्भव हो जाते

---

१ एसो प्रो०, संस्कृत-विभाग, भ०दी०आ०क० स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखीमपुर-खीरी।
२ पाणिनीय शिक्षा ४१.२१
३ कठोपनिषद्
४ ईशावास्योपनिषद्
५ श्रीमद्भगवद्गीता ७.५
६ अरस्तू
७ पेस्टालॉजी
८ हरबर्ट
९ श्री राधाकृष्णन्
१० लॉक

हैं। शिक्षा द्विध्रुवीय,[११] त्रिध्रुवीय,[१२] जीवन पर्यन्त चलने वाली,[१३] गतिशील, संश्लेषित, सचेतन एवं सप्रयोजन प्रक्रिया[१४] तथा मानव के विकास की प्रक्रिया है।[१५] शिक्षा मूल प्रवृत्ति में परिवर्तन है।[१६]

प्रयोजनं विना मन्दोऽपि न प्रवर्तते उद्देश्यहीन होने पर शिक्षा पतवारविहीन नौका की भाँति है। शिक्षा के वैयक्तिक सामाजिक व विशिष्ट आदि उद्देश्य होने पर भी कुछ सार्वभौमिक[१७] उद्देश्य हैं। जैसे- आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, शारीरिक, मानसिक चारित्रिक व व्यावसायिक विकास करना। इस प्रकार शिक्षा के कुछ कार्य मानव जीवन से सम्बन्धित है और कुछ राष्ट्रीय जीवन से सम्बन्धित।

उच्च शिक्षा स्तर पर चर्चा से पूर्व स्तर क्या है? तथा कौन-कौन से हैं, इस पर विचार करना आवश्यक है। स्तर से तात्पर्य केवल उच्च शिक्षा से न होकर प्राथमिक व माध्यमिक जो उच्च शिक्षा के पहले के सोपान हैं, उनसे भी सम्बद्ध होता है। शिक्षा के क्षेत्र में उच्च शिक्षा का एक इतिहास है। ऐतिहासिक विकास का क्रम निम्नवत् है।

१. कॉलेजों का युग	१७५७ - १८५७
२. प्रथम विश्वविद्यालयों का युग	१८५७ - १९१७
३. नवीन विश्वविद्यालयों का युग	१९१७ - १९४७
४. स्वतन्त्रता काल	१९४७ - १९८२

प्राचीन काल में शिक्षा कहते ही नालन्दा, तक्षशिला, वल्लभी, विक्रमशिला आदि का नाम स्वतः जिह्वा पर आ जाता है। १८५७ से १९१७के मध्य केवल ५ विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई थी।[१८] १९१७ से १९४७ के मध्य ३ मुख्य (मैसूर, काशी व पटना) सहित कुछ अन्य विश्वविद्यालय स्थापित हुए। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् से भारत में उच्च शिक्षा प्रणाली में विश्वविद्यालयों की संख्या में १४ गुना तथा महाविद्यालयों की संख्या में ३३ गुना वृद्धि हुई। वर्तमान समय में देश में २६८ राज्य विश्वविद्यालय ४० केन्द्रीय विश्वविद्यालय तथा १२५ सम विश्वविद्यालय हैं।[१९]

भारत एक लोकतन्त्रात्मक गणराज्य है और लोकतन्त्र की सफलता के लिए शिक्षा की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शिक्षा परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। देश की आकांक्षाओं की प्राप्ति में उसके समस्तजनों के ज्ञान, कौशल, हितों और मूल्यों में परिवर्तन निहित हैं।[२०]

---

११ शिक्षा एक द्विस्तम्भीय प्रक्रिया है। एडम्स महोदय
१२ शिक्षा एक त्रिमुखी प्रक्रिया है। जॉन डीवी०
१३ एडरल
१४ ब्राउन
१५ टी रेमण्ट
१६ पावर महोदय
१७ जिन पर देशकाल की परिस्थितियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।
१८ कलकत्ता, मद्रास, बम्बई, पंजाब व इलाहाबाद
१९ जागरण वार्षिकी २०१०
२० कोठारी कमीशन

भारत में प्रजातन्त्र की जड़ें इतनी गहरी हो चुकी हैं कि राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास के मूल में शिक्षा के नवीनीकरण की व्यवस्था अनिवार्य है। हमें अपने शैक्षिक लक्ष्यों में स्पष्ट रहना है, अत: शैक्षिक लक्ष्यों का निर्धारण जितना महत्त्वपूर्ण है, उपलब्धि भी उतनी ही अहम् है।

प्राचीन काल में शिक्षा के उद्देश्यों का आधार आध्यात्मिक व दार्शनिक चिन्तन से युक्त आदर्शवाद था, मध्ययुग में विदेशी आक्रान्ताओं ने शासक बनकर अपने धर्म तथा शासन व्यवस्था के अनुसार शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित किए, आधुनिक भारत में शिक्षा के उद्देश्य क्रमश: राधाकृष्णन् कमीशन, मुदालियर कमीशन तथा कोठारी कमीशन आदि के द्वारा प्रस्तावित किए गए। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है-

राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ बदल गई हैं एवं नवीन समस्याओं का अभ्युदय हुआ है, अत: यह आवश्यक हो गया है कि सावधानीपूर्वक परीक्षण करके प्रत्येक निश्चित स्तर पर शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण हो।[२१]

लोकतन्त्र में शिक्षा के उद्देश्य इस प्रकार निर्धारित किए जाने चाहिए जिनसे छात्र में अधोलिखित गुणों का विकास हो और मेरे विचार से इनसे स्तर में भी अपेक्षित सुधार सम्भव है। व्यक्तिगत व सामाजिक विकास, नेतृत्व, व्यावसायिक कुशलता, सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण तथा हस्तान्तरण, भावात्मक एकता, राष्ट्र विकास तथा विश्व बन्धुत्व की भावना। इस सन्दर्भ में एक अन्य विचार उद्धरणीय है।

शिक्षा का उद्देश्य हर व्यक्ति के ज्ञान, रुचियों, आदर्शों, आदतों और शक्तियों का विकास करना है, ताकि उसे अपना उचित स्थान मिल सके और वह उस स्थान का प्रयोग स्वयं और समाज के उच्च उद्देश्यों की ओर ले जाने के लिए कर सके।[२२] यद्यपि प्राचीन काल से अब तक शिक्षा की प्रत्येक स्थिति, स्वरूप, उद्देश्य व स्तर में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है, परन्तु- सभी प्रकार की शिक्षा का प्रत्यक्ष उद्देश्य चाहे वह साहित्यिक हो अथवा व्यावसायिक, विद्यार्थी को समाज का एक पवित्र तथा लाभप्रद प्राणी बनाना है।[२३]

सन् १९५३ में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अस्तित्व में आया, जो विश्वविद्यालय शिक्षा के समन्वय और उसके स्तरों का निर्धारण और अनुरक्षण करने के लिए सन् १९५६ में संसद् के अधिनियम द्वारा स्थापित एक सांविधिक संगठन बन गया, जो उच्च शिक्षा के विकास के लिए विश्वविद्यालयों व महाविद्यालयों को अपेक्षित परामर्श व अनुदान प्रदान करता है तथा केन्द्रीय व राज्य सरकारों को उन उपायों के बारे में परामर्श देता है, जो उच्च शिक्षा के लिए आवश्यक है। आयोग का मुख्य कार्यालय दिल्ली में है और उसके छ: अन्य कार्यालय बैंगलोर, भोपाल, गुवाहाटी, हैदराबाद, कोलकाता व पुणे में स्थित हैं। परन्तु विडम्बना यह है कि जैसे-जैसे उच्च शिक्षा का विस्तार होता जा रहा है, वैसे-वैसे उसके

---

२१ मुदालियर कमीशन
२२ प्रतिवेदन यू०एस०ए० आयोग द्वारा
२३ ए०एस०अल्तेकर

स्तर में ह्रास होता जा रहा है। जैसा कि पहले उल्लेख हो चुका है, उच्च स्तर से पूर्व अन्य स्तरों में सुधार अपेक्षित है। स्वयं विश्वविद्यालय आयोग के अनुसार-

हमारी शिक्षा-व्यवस्था में हमारी माध्यमिक शिक्षा सबसे निर्बल कड़ी है उसमें तत्काल सुधार किए जाने की आवश्यकता है।[२४] इससे भी पूर्व यदि दृष्टिपात करें तो प्राथमिक स्तर पर भी सरकार की जो योजनाएँ व नीतियाँ हैं, वे संख्या में तो वृद्धि कर रही हैं, परन्तु शिक्षा-स्तर में गिरावट ही ला रही हैं। उच्च शिक्षा की जो समस्याएँ उसमें ह्रास की कारक हैं, उनका समाधान ही निवारक के रूप में सिद्ध हो सकता है।

अनियन्त्रित विस्तार-पञ्चवर्षीय योजनाओं एवं विकास क्रम के अन्तर्गत हुए विश्वविद्यालयों की स्थापना से अनेक दुष्परिणाम सामने आए हैं। जैसे- प्रवेश समस्या, शिक्षित बेरोजगारी, शैक्षणिक प्रशिक्षण का अभाव, उच्च शिक्षा स्तर में ह्रास आदि।

शिक्षा-माध्यम- विदेशी माध्यम ने राष्ट्र की शक्ति को क्षीण कर दिया है, व्यक्तियों की आय को कम कर दिया है, उसने उन्हें जन-साधारण से अलग कर दिया है तथा शिक्षा को अनावश्यक रूप से मँहगी बना दिया है।

सदोष पाठ्यक्रम- पाठ्यक्रम छात्रों की रुचि, मनोवृत्ति और अभिवृत्ति के अनुरूप नहीं है। सच तो यह है पाठ्यक्रम में परम्परागत पाठ्ग्रन्थों के अतिरिक्त वे पाठ्यग्रन्थ निर्धारित किए जाते हैं, जिन पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों का लेखन उपलब्ध हो।[२५]

परीक्षा व्यवस्था व परीक्षा प्रणाली- एक आयोग के अनुसार-यदि हम वि०वि०शिक्षा के मात्र एक विषय में सुधार का सुझाव दें तो वह परीक्षाओं के सम्बन्ध में होगा।[२६]

परामर्श, मार्गदर्शन, निर्देशन व अनुमोदन का अभाव- परामर्श के अभाव में प्रायः विद्यार्थी ऐसे विषयों का चयन कर लेते हैं, जिनमें बाद में असफल होकर निराशा से युक्त हो जाते हैं। हमारे देश में उच्च शिक्षा में ऐसे परीक्षण की सुविधा नहीं है कि कौन सा बालक कौन सा विषय अध्ययन करने की क्षमता रखता है। अभिभावक भी बच्चे की सामर्थ्य को समझे विना ही निश्चित कर लेतें हैं कि वे उसे क्या बनाएंगे और परिणाम यह होता है कि वे न तो वह बन पाते हैं, जो माता-पिता चाहते हैं और न वह, जो वे स्वयं बनना चाहते हैं।

अपव्यय- उच्च शिक्षा स्तर में ह्रास का एक गम्भीर कारक अपव्यय भी है। विश्वविद्यालयों की उपाधियां सरकारी नौकरियों हेतु पासपोर्ट थीं। शिक्षा शिक्षार्थियों को नौकरी हेतु दी जाती हैं, न कि जीवन हेतु तैयार करने के उद्देश्य से।

अनुशासनहीनता- उच्च शिक्षा पर कुछ राजनीतिक तथा सामाजिक वर्गों का प्रभाव पड़ रहा है। जिससे छात्र वर्ग का अन्य वर्ग के साथ संघर्ष बढ़ रहा है, जो घेराव, तोड़-पोड़, आगजनी व हिंसा के रूप

---

२४ विश्वविद्यालय आयोग १९४८ के अनुसार

२५ महात्मा गाँधी

२६ राधाकृष्णन् आयोग

में सामने आ रहा है।

विशिष्टीकरण अथवा सर्वांगीणता की उपेक्षा-उच्च शिक्षा में विभिन्न विषयों में विशिष्टीकरण पर जोर देने से छात्रों का दृष्टिकोण अत्यन्त संकुचित हो जाता है। विज्ञान के स्नातक कलावर्ग के तथा कलावर्ग के स्नातक विज्ञान आदि के विषयों को नहीं समझ पाते।

अनुसंधान की समस्या- वर्तमान समय में प्रत्येक छात्र उच्च शिक्षा से परास्नातक होकर अनुसंधान कार्य करना चाहता है, परन्तु विश्वविद्यालयों व महाविद्यालयों में उच्च स्तरीय पुस्तकालयों, प्रयोगशालाओं व कार्यशालाओं का अभाव है।

छात्रसंघ तथा समितियों का गठन- ये संघ समितियाँ उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अभिशाप हैं क्योंकि ये प्राचार्य व प्रबन्धक के कार्यो में हस्तक्षेप करते हैं।

शिक्षा के स्तर में ह्रास के अन्य कारक- कक्षा में छात्र संख्या की अधिकता शिक्षा में व्यावहारिकता का अभाव शिक्षा केन्द्रों में शिक्षको का अभाव, उपयुक्त शिक्षा, परीक्षा व शिक्षक प्रशिक्षण प्रणाली का अभाव, स्वास्थ्य शिक्षा व चरित्र निर्माण करने वाली शिक्षा का अभाव, आरक्षण तथा जनसंख्या वृद्धि आदि।

उपर्युक्त कारकों जो कि उच्च शिक्षा के क्षेत्र में चुनौती दे रहे हैं, यदि उनका निवारण कर लिया जाय उच्च शिक्षा स्तर में गुणवक्ता की वृद्धि सम्भव है।

१. जैसे माध्यम के विषय में विविध आयोगों द्वारा प्रदत्त सुझावों को प्रयोग में लाया जाये।[२७]

२. पाठ्यक्रम व्यावहारिक लचीला तथा परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तनशील हो।

३. मूल्यांकन की नयी-नयी रीतियों से प्राध्यापकों को अवगत कराया जाये। केन्द्रीय परीक्षा सुधार यूनिट की स्थापना की जाये।

४. निर्देशन व परामर्श की समुचित व्यवस्था हो। उच्च शिक्षा के प्राध्यापकों को मनोविज्ञान का ज्ञान हो ताकि वह छात्रों की अभिरुचि, मनोवृत्ति व सामर्थ्य के अनुसार परामर्श दें।

५. उच्च शिक्षा में उद्देश्यों का निर्धारण परम आवश्यक है। सामाजिक स्थितियों में परिवर्तन के साथ उद्देश्यों में परिवर्तन आवश्यक है, परम्परागत उद्देश्य अब नहीं हो सकते, क्योंकि वे विदेशी शासनकाल में साम्राज्य की नींव दृढ़ करने के लिये थे। देश की स्वतन्त्रता के साथ उच्च शिक्षा केन्द्रों मुख्यत: विश्वविद्यालयों का उत्तरदायित्व पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ गया है। अपव्यय रोकने के लिये विश्वविद्यालय में केवल योग्य विद्यार्थी ही भरती किये जाये।[२८]

६. भाषा विशेषज्ञों के बोर्ड की स्थापना हो जो समस्त देश के लिये वैज्ञानिक शब्दावली निर्मित कर प्रकाशित कराये।

७. अनुशासनहीनता के निवारक के रूप में स्वानुशासन व सकारात्मक अनुशासन के साथ ही

---

२७ श्री सैय्यदेन ने भी इसी प्रकार वाक्य लिखा है कि -'विज्ञान के विद्यार्थियों को कला, कविता, सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं का कोई ज्ञान नहीं होता।

२८ राधाकृष्णन् आयोग, कोठारी आयोग

शिक्षक व शिक्षार्थी के बीच प्रेम व सहयोग की भावना का विकास हो।

८. विशिष्टीकरण को समाप्त करने के लिये ज्ञान की विभिन्न शाखाओं से समन्वय स्थापित करके शिक्षा दी जाये।[२९]

९. शिक्षकों के सेवा प्रतिबन्धों में संशोधन किया जाये, १८ घण्टे प्रति सप्ताह से अधिक कार्य न लिया जाये, शिक्षकों की पदोन्नति का आधार वेतन वृद्धि न होकर कोई योग्यता हो, शिक्षकों के प्रशिक्षण, अभिविन्यास व पुनश्चर्या कार्यक्रम समय समय पर हों। सेमिनार, कॉन्फ्रेन्स कार्यशाला आदि में सुनियोजित व पूर्ण भागीदारी आवश्यक हो। योग्य प्रशिक्षित एवं प्रभावी शिक्षकों की नियुक्ति हो।[३०]

निष्कर्ष रूप में केन्द्रीय तथा राज्य सरकार को शिक्षा के विकास में स्वयं रुचि लेनी चाहिये और उत्तरदायित्व भी वहन करना चाहिये। राजनीति में शिक्षित योग्य तथा निष्ठावान् राजनीतिज्ञों का आविर्भाव होना चाहिये जो स्वयं शिक्षा के महत्त्व से भलीभाँति परिचित हों। शिक्षा की महत्ता को आत्मसात् कर सकते हों, जो स्वार्थ प्रेरित संकीर्ण प्रवृत्तियों को त्याग कर अपनी क्षमता व समय का समुचित प्रयोग करें। भारतीय संस्कृति की वर्ण व्यवस्था को पूर्ण आदर देते हुये शिक्षा नीति निर्धारित हो। मूल्यपरक शिक्षा हो, क्योंकि मानवीय मूल्यों से चरित्र निर्माण होता है और चरित्र निर्माण से उत्तम राष्ट्र का निर्माण होता है। उच्च शिक्षा व्यक्ति के विचारों की संकीर्णता व नकारात्मकता को दूर करके व्यापकता व सकारात्मता लाती है।

इस प्रकार उच्च शिक्षा के सम्मुख आज उपर्युक्त चुनौतियाँ समस्याओं के रूप में विद्यमान हैं, उन्हीं में से एक उच्च-शिक्षा-स्तर में ह्रास भी है, जिसका समाधान व्यक्ति से सरकार तक के सम्मिलित प्रयासों से उच्च-शिक्षा-स्तर में गुणात्मकता के समावेश से सम्भव है।

---

२९ 'ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रम् सुभाषित रत्नसन्दोह। 'शिक्षा के गुणात्मक स्तर तथा राष्ट्रीय विकास में योगदान करने वाले विभिन्न तत्वों मे अध्यापकों के गुण, योग्यता और चरित्र का निस्सन्देह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। (कोठारी आयोग)

३० एस०एन०मुखर्जी

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ0217-223) ISSN 0974 – 8830

वर्तमान समाज में कर्मयोग की उपादेयता

डॉ० सुरेन्द्र कुमार[१]
एवं
रविन्द्र कुमार वर्मा[२]

कर्मयोग की उपादेयता व्यक्ति से लेकर समाज ही नहीं, अपितु राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में भी है; इससे इंकार नहीं किया जा सकता। आज से ही नहीं अपितु पुराकाल से ही समाज के प्रत्येक व्यक्ति को वेदों, आरण्यकों, उपनिषदों पुराणों, महाभारत, रामायण, गीता आदि शास्त्रों एवं दार्शनिक ग्रन्थों द्वारा योग के माध्यम से प्रेरणा दी जाती रही है। जहाँ योग या कर्मयोग व्यक्ति की शारीरिक व आत्मिक क्षमता को पुष्ट करता है वहाँ उसकी आचार-विचार की शक्ति को भी प्रबुद्ध करता है।

सामाजिक क्षेत्र में कर्मयोग की उपादेयता अक्षुण्ण है। व्यक्ति को ऊँचा उठाने के साथ-साथ कर्मयोग समाज को भी उच्च धरातल पर लाकर खड़ा करता है। गीता में वर्णित कर्मयोग समाज का काया-कल्प करता है। व्यक्ति यदि कर्मी (कर्मयोगी) है, अर्थात् कर्मयोग परायण व्यक्ति कर्मयोग के आचरण को जीवन में ढाल ले तो व्यक्ति के आचारवान् बनने के साथ-साथ समाज भी अच्छे आचारों-विचारों से युक्त होता है, क्योंकि जो गुण कर्मयोगी[३] में बताये गए हैं यदि वे जीवन में आत्मसात् हो जाएँ तो फिर समाज से झूठ, कपट, हिंसा, चोरी, असत्यवादिता, अकर्मण्यता, प्रमाद, आलस्य, भीरुता, दीनता सब नष्ट होकर एक स्वच्छ, स्वस्थ व सबल समाज के निर्माण की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है।

मनोगत इच्छाओं का बाहुल्य

आज जो भी प्रतिकूलता या गिरावट समाज में दिखाई पड़ रही है वह सब भौतिक जीवन को सजाने व संवारने में लगे जीवन व्यापार के कारण हैं, क्योंकि मनुष्य को मनोगत कामनाएँ ही अधिक व्याकुल करती हैं[४] ओर जब उन मनोगत कामनाओं पर मनुष्य अंकुश लगा देता है तो उसका मन चलायमान न होकर स्थिर होता है।[५] यदि हमें ऐसे अस्थिर मन वाले, अस्थिर बुद्धि वाले समाज को बदलना हैं तो कर्मयोग को अपनाना ही होगा क्योंकि श्रेष्ठ व्यक्तियों का आचरण ही समाज में परिवर्तन कर सकता है। समाज की दिशा और दशाहीनता को बदल सकता है। गीता कहती है- श्रेष्ठ (पुरुष) जैसा आचरण करता है अन्य (साधारण) जन भी वैसा ही करते हैं, वह (श्रेष्ठ पुरुष) जिसे प्रमाण मानता

---

१. असिस्टेन्ट प्रोफेसर, मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२. गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय(उत्तराखण्ड) हरिद्वार ,
३. देखें गीता द्वितीय अध्याय ४.१९, २३, ३३, ३६, ३७, ४२.अध्याय १२.१३ से २०
४. प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ गीता २.५५
५. गीता २.५२, ५३, ५६

है, संसार उसी का अनुकरण करता है।[६] इसीलिए गीता के कृष्ण समाज को कर्त्तव्य का बोध कराते हैं। वे स्वयं कर्म के प्रेरक हैं। उनका कथन है कि- 'यद्यपि मुझे कुछ भी अप्राप्य नहीं, कर्त्तव्य नहीं, फिर भी मैं लोक कल्याण के लिए कर्मरत हूँ, क्योंकि प्रत्येक उच्च पदस्थ महापुरुष का कर्तव्य है कि वह निष्काम भाव से लोक कल्याणर्थ कर्म करे।[७] कृष्ण कहते हैं कि यह कर्तव्य बोध की भावना आज की नहीं पुराकाल से चली आ रही है, इसी लोकसंग्रह या लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर राजा जनक आदि ने अनुपम सिद्धियाँ प्राप्त की थीं।[८] यहाँ वस्तुतः कृष्ण आज के मानव समाज को यही सन्देश दे रहे हैं कि यदि अधिकार प्राप्त करना चाहते हो तो कर्तव्यनिष्ठ बनो। पाश्चात्त्य और भारतीय विचारधारा में यही कर्तव्य और अधिकार का भेद है।

इस प्रकार कर्मयोग का आचरण व्यक्तिगत आत्मोन्नति करने के साथ-साथ समस्त जन-जन की आत्मोन्नति का भी पाठ पढ़ाता है। योगी के लिए कोई भी प्राणी उसका बैरी नहीं है।[९] कर्मयोग तो समाज में एक प्रहरी का कार्य करता है। जोकि सोते हुए समाज को जगाता है, उसमें नयी चेतना, स्फुरणा प्रदान करता है।[१०] कर्मयोग समाज को अध्यात्म की ओर प्रेरित करता है। कर्मयोगी कहता है- 'खाओ, पिओ और मौज उड़ओ ही जीवन का लक्ष्य नहीं है।'[११] अपितु जीवन का उद्देश्य है- सौ वर्ष जीने की इच्छा करने वाले कर्मशील मनुष्य (क्रतु)! कर्म करते हुए जीवने की इच्छा कर।[१२] अपने कर्तव्य कर्मों को जान। इसके अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है। तेरा कर्म में ही अधिकार है।[१३] बीज बोने में ही तेरी कुशलता है।[१४] उसका फल तो तुझे मिलना ही है, इसलिए फल की आसक्ति में अपने को कृपण मत बना।[१५]

सामाजिक व्यवस्था

इसी सन्दर्भ में प्रत्येक व्यक्ति के जो स्वभावज कर्म हैं, कर्तव्य हैं; वह उन्हें करके समाज को उन्नति के शिखर पर पहुँचा सकता है। गीता में समाज की रचना का जो प्रतिपादन योगेश्वर ने किया है वह कर्म की भित्ति पर ही आधारित है। कृष्ण कहते हैं- 'गुण और कर्मों के भेद से मैंने (मनुष्य समाज को) चार वर्णों में विभक्त कर बनाया है।[१६] इसीलिए भगवान् सभी के कर्मों का लेखा-जोखा भी बता देते

---

६. यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।। गीता ३.२१

७. (क). यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।। गीता ३.२३ (ख). उत्सीदेयुरि मे लोका नु कुर्यां कर्म चेदहम्। संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।। गीता ३.२४

८. कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि।। गीता ३.२०

९. अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।। पा० योगसूत्र २.३५

१०. उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान्निबोधत।। उपनिषद् ११

११. यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।। चार्वाक ११

१२. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।। ईशोपनिषद् २

१३. कर्मण्येवाधिकारस्ते।। गीता २.४७

१४. योगः कर्मसु कौशलम्।। गीता २.५०

१५. कृपणाः फलहेतवः।। गीता २.४९

१६. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।। गीता ४.१३

हैं। ज्ञातव्य है कि मनुष्य को सुखपूर्वक निर्वाह करने के लिए बुद्धि, बल, धन व परिश्रम इन चार की अत्यन्त आवश्यकता होती है। ठीक उसी प्रकार समाज को भी इन चारों पदार्थों को सुचारु रूप से प्रबन्ध की आवश्यकता होती है। इसीलिए प्रत्येक मनुष्य समाज में ऐसे लोगों की आवश्यकता होती है, जो बुद्धि (विद्या), बल, धन व परिश्रम की पूर्ति करते रहें। समाज संगठन के लिए इसे ही प्राचीन काल से वर्ण व्यवस्था का नाम दिया गया है। बुद्धि सम्बन्धी अर्थात् विद्योन्नति के कार्य ब्राह्मणों को, बल सम्बन्धी क्षत्रियों को, धन सम्बन्धी वैश्यों को तथा परिश्रम सम्बन्धी शूद्रों को दिया गया है, यही चार वर्ण हैं। गीता में इन्हें इस प्रकार कहा गया है- 'ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म शम-दम, शुद्धता, शान्ति, सरलता, ज्ञान-विज्ञान, आस्तिक बुद्धि, क्षत्रिय के शूरता, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना और स्वामीपना, वैश्य का कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य; शूद्र का सेवा अर्थात् परिश्रम करना है।'[१७] इस प्रकार अपने-अपने वर्ण धर्म में स्थित मनुष्य सिद्धि को पाता है अर्थात् समाज की उन्नति में हाथ बँटाता है। ये स्वभावज कर्म हैं, जिनके करने से मनुष्य पाप का भागी भी नहीं बनता है।[१८] इस प्रकार गीता में स्वस्थ समाज बनाने के दृष्टिगोण से ही इस चातुर्वर्ण्य का प्रतिपादन किया गया है।

समाज परस्पर के त्याग भाव से ही अक्षुण्ण है

उपर्युक्त चारों वर्ण एक दूसरे से मिलकर, परस्पर आदान-प्रदान की भावना से या त्याग भावना से, एक दूसरे के हित के लिए कर्म करें- तो समाज का रूप और सुन्दर हो जाता है। अपने स्वार्थ में न देखकर परोपकारार्थ भावना से कार्य करें; इसीलिए गीता केवल अपना शरीर पोषण के लिए कर्म करने वाले व्यक्तियों को पापी एवं चोर कहकर निन्दा करती है।[१९] कर्मयोगी की प्रवृत्ति सदा त्याग वृत्ति की होती है। उसे किसी भी प्रकार का लोभ-लालच नहीं होता।[२०] और जिस समाज में गीध की दृष्टि या लोभ-लालच की दृष्टि प्रबल होगी, वह समाज आचार-विचार की दृष्टि से अधःपतन की ओर जाएगा, क्योंकि जो दम्भ, मान और मद से युक्त होकर बुरे कर्म करते हैं, वे समाज को नरक बना देते हैं।[२१] इसलिए लोभ रहित त्याग की भावना से किया गया कर्म आदर्श कर्म होगा; वह कर्म ही गीतानुसार धर्म होगा और मनुष्य समाज को समृद्धि और विकास के शिखर पर पहुँचाने वाला होगा। इसीलिए महाभारत में

---

१७. (क). शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ गीता १८.४२
(ख). शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ गीता १८.४३
(ग). कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्। परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ गीता १८.४३
१८. गीता १८.४५, ४६
१९. (क). इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः। तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥ गीता ३.१२ (ख). भुज्यन्ते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ गीता ३.१३
२०. तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥ ईशोपनिषद् १
२१. (क). काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः। मोहाद् गृहीत्वा सद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ गीता १६.१० (ख). त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ गीता १६.२१

कहा है कि, 'राग के समान कोई दुःख नहीं और त्याग समान कोई सुख नहीं।'[२२]

आसक्ति छोड़ कर कर्म में जुट जाओ

गीता स्पष्ट करती है कि जीव का स्वभाव कर्म है।[२३] इसलिए कर्म ही मनुष्य के सुख-दुःख का कारण होते हैं। किन्तु यदि व्यक्ति आसक्ति को छोड़कर कर्म करें तो उसे जो सफलता व असफलता से सुख-दुःख होता है, वह नहीं होता क्योंकि कर्मयोगी के लिए कहा गया है कि- 'कर्म बुरा नहीं है, कर्म में और कर्म फल में आसक्ति तथा फल की कामना ही जिस फल को प्राप्त करने के लिए मनुष्य मात्र लालायित रहता है, दोष का कारण है। कर्म को कर्म फल से विलग करने पर ज्ञात होगा, अनुभव होगा कि कर्म स्वरूपतः व्यक्ति को ही नहीं, अपितु समाज को भी ऊपर उठाता है तथा निष्काम कर्म को यदि व्यक्ति समस्त परिस्थितियों, सम्पूर्ण व्यक्तिगत हेतुओं को छोड़कर तथा जीवन का बलिदान भी यदि करना पड़; यह सोचकर अपना कर्तव्य समझकर करे तो समाज का ही नहीं, अपितु राष्ट्र का भी प्राण बनकर उसका कल्याण करने में हमारे लिए परम आधार होगा।

कर्मयोग सामाजिक मूल्यों का रक्षक है

वस्तुतः कर्मयोग की जो शिक्षा है वह मनुष्य की स्वाधीनता और स्वतन्त्रता की रक्षा में सहायक सिद्ध होती है, क्योंकि कर्मयोग हमें अन्याय सहकर चुपचाप बैठने के लिए नहीं कहता, वह तो समाज व राष्ट्रहितार्थ कहता है- **युध्यस्व** युद्धकर। और जब-जब समाज में धर्म की हानि अर्थात् जीवन मूल्यों का ह्रास होता है और अधार्मिक प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं, तब कोई न कोई महान् विभूति समाज में उभर कर आती है और समाज को संगठित कर (साधु) सज्जन लोगों की रक्षा तथा दुष्टों का दलन कर सामाजिक मूल्यों का उद्धार करती है।[२४] राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अपने जयद्रथवध महाकाव्य में ठीक ही लिखते हैं-

'अन्याय सहकर बैठ रहना, यह महादुष्कर्म है।
न्यायार्थ अपने बंधु को भी, दण्ड देना धर्म है।'

इसीलिए हमने भारतीय इतिहास के स्वर्णिम पन्नों पर यह देखा कि- 'हमारे राष्ट्र के कर्मयोगियों ने, समाज सेवकों ने जब-जब समाज को चेतना प्रदान की, उसे झकझोरा और कहा उठो और अपनी क्षमता को पहचानो, अपनी अस्मिता को जानो, अपनी आत्मा को पहचानो तब-तब ही राष्ट्र ने, समाज ने नयी करवट ली ओर हिन्दुस्तान का आबाल वृद्ध अपनी स्वतन्त्रता के लिए, प्राणोत्सर्ग करने के लिए, अपना कर्त्तव्य समझ उठ खड़ा हुआ।

यह सब चामत्कारिक दृष्टि या प्रेरणा गीता के द्वितीय अध्याय में वर्णित कर्मयोग के प्रेरणादायी सूत्रों की ही तो थी और है व रहेगी। आज भी गीता की यह कर्मयोग की शिक्षा हमारे समाज को एक नया

---

२२. नास्ति रागः समं दुःखं, नास्ति त्यागः समं सुखम्।। महाभारत

२३. स्वभावस्तु प्रवर्तते।। गीता ५.१४

२४. (क). यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। गीता ४.७
(ख). परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।। गीता ४.८

रूप दे सकती है। आज समाज में कर्मयोगियों की महती आवश्यकता है। तभी हमारा सामाजिक क्षेत्र भौतिक विकास के साथ-साथ आध्यात्मिक विकास की ओर भी अग्रसर होगा। समाज के विकार नष्ट होकर उसका विकास होगा।

स्त्री जाति और समाज

किसी भी समाज की रीढ़, उस समाज की विदुषी नारियाँ हुआ करती हैं। **माता निर्माता भवति** के अनुसार पढ़ी-लिखी आचारवान्-विचारवान् महिलायें समाज को ही नहीं, राष्ट्र को भी उन्नत बना देती हैं। यदि सामाजिक क्षेत्र में कर्मयोगिनी स्त्रियाँ होगीं तो समाज का कायाकल्प होने में कोई देर नहीं हो सकती। गीता की दृष्टि में स्त्री, शूद्र सभी में ईश्वर का स्थान है।[२५] इसलिए इनसे घृणा करने का कोई तात्पर्य ही नहीं है। कृष्ण के समय में एक से एक विदुषी वीरनारी समाज में विद्यमान थीं। समाज में यदि कर्मयोगिनी नारियों का प्राचुर्य हो जाए तो समाज की दशा व दिशा में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। इस प्रकार योगेश्वर समाज की छोटी से छोटी इकाई को इस योग की परिधि में आबद्ध कर देते हैं।

समाज का आहार-विहार

इसी प्रकार आहार-विहार की दृष्टि से भी कर्मयोग के द्वारा समाज में खानेपीने-, सोने, आमोद-प्रमोद तथा कार्य करने की पद्धति में आमूलचूल- परिवर्तन किया जा सकता है। युक्ताहारविहार- एक ऐसी नियमबद्ध पद्धति है, जो व्यक्ति को समस्त कष्टों से, विकारों से, व्याधियों से रोग मुक्त कर सकती है।[२६] आज समाज में न आहार का समय है, न विहार का, न युक्त चेष्टा है, न संकल्प है। मनुष्य समाज पर खानपान- का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है, इसलिये कहा कि जैसा खाओगे अन्न वैसा बनेगा मन। इसीलिए भगवान् कृष्ण ने सात्विक, राजसिक व तामसिक आहार[२७] का उल्लेख कर यह बताया है कि व्यक्ति यदि सात्विक आहार-विहार से रहेगा तो उसकी उन्नति ही होगी, अवनति नहीं और आचारवान् व विचारवान् कर्मशील योगियों से ही राष्ट्र का भी निर्माण सम्भव है।

ज्ञान, कर्म व भक्ति समाजोत्थान में सहायक

गीता में एक तथ्य और प्रतिपादित किया गया है, सभी कर्म ज्ञान में समाप्त होते हैं और ज्ञानाग्नि से सब पाप कर्मों को दग्ध कर देना चाहिए।[२८] योगेश्वर ने यहाँ एक बात बड़ी सुन्दर कही है कि 'इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान को कितने ही काल से

---

२५. मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।। गीता ९.३२

२६. युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। गीता ६.१७

२७. (क). आयुः सत्वबलारोग्य सुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः।। गीता १७.८ (ख). कटुलवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिनः। आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकाभयप्रदाः।। गीता १७.९ (ग). यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्। उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।। गीता १७.९

२८. ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा। गीता ४.३७

कर्म योग के द्वारा शुद्धान्त:करण वाला मनुष्य अपने आप ही आत्मा में पा लेता है।[२९] वस्तुत: गीता का जो यह विचार है, यह मनुष्य समाज के लिए परम अनुकरणीय है, क्योंकि समाज में जितने भी पाप कर्म होते हैं, झगड़े-फसाद होते हैं, वे अज्ञान से ही होते हैं। विवेकहीन और श्रद्धाहीन तथा संशययुक्त समाज परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे मानव समाज से न इस लोक का हित हो सकता है, न अन्यों का।[३०] इसलिए जब मनुष्य के ज्ञाननेत्र खुल जाते हैं तो एक अच्छे मानव समाज का निर्माण होने में कोई देर नहीं होती। इस प्रकार गीता की दृष्टि बड़ी व्यापक है, जहाँ वह मनुष्य समाज के लिए कर्म का निर्धारण करती है, वहाँ ज्ञान दृष्टि का भी निर्देश करती है और साथ ही ज्ञान और कर्म के साथ भक्ति को भी जोड़ती है,[३१] क्योंकि जब मनुष्य सब प्राणियों में उसकी सत्ता का अनुभव करेगा तो कर्म मार्ग के व्यवहार में वह सभी को एक मान देगा।[३२] इस प्रकार के दर्शन में समाज में भेदभाव, कलह, हिंसा, ऊँच, नीच की भावना के लिए स्थान नहीं रहेगा। बल्कि सबके प्रति समानता का भाव आ जायेगा। वस्तुत: समत्व की भावना ही, दृष्टि ही कर्मयोग का आधार है।

यम नियम समाज की आचार संहिता

महर्षि पतञ्जलि ने अपने अष्टांग योग में जिन यमनियमों का उल्लेख किया है, वे भी समाज की एक आचार संहिता ही है। जिनका पालन करने पर समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने नैतिक मूल्यों का सामाजिक आचार का, अपने सच्चे नागरिक होने का कर्त्तव्यपूर्ण कर सकता है।[३३]

मनु महाराज ने भी मनुस्मृति में धर्म के जो दस लक्षण कहे हैं, वे वस्तुत: किसी भी समाज की आचार संहिता ही हैं।[३४] गीता में इन सबको कर्मयोग के सन्दर्भ में यत्रतत्र- उल्लेख किया गया है और इन लक्षणों से युक्त कर्मयोगी समाज का एक मुख्य घटक ही है। गीता के सोलहवें अध्याय में वर्णित तीन श्लोक हमारी बात की पुष्टि करते हैं।[३५] इसलिए सामाजिक क्षेत्र में गीता ने जिन गुणों का प्रावधान किया है, वे समाज की आचार संहिता ही हैं और इसके विपरीत जो दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य और अज्ञान[३६] आदि अवगुण अंकित किये गए हैं, वे समाज में दुराचार व अनाचार को प्रसारित करते हैं।

---

२९. न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।। गीता ४.३८

३०. अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नाऽयं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।। गीता ४.४०

३१. योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंच्छिन्नसंशयम्। आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।। गीता ४.४१

३२. (क) सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।। गीता ६.२९ (ख). गीता ६.३१, ३२

३३. (क). अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।। पा० योगसूत्र २.३० (ख). शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि नियमाः।। पा० योगसूत्र २.३२

३४. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। मनु० ६.१२

३५. (क). अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः। दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।। गीता १७.१ (ख). अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्। दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।। गीता १७.२ (ग). तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता। भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।। गीता १७.३

३६. दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च। अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्।। गीता १७.४

इसलिए जिस समाज में दिव्य गुणों का प्रावधान होगा वह समाज ऊर्ध्वगति को प्राप्त करेगा और जो असुर गुणों से युक्त होगा वह अधोगति को प्राप्त करेगा। इसलिए समाज में आचारवान् श्रेष्ठ व्यक्तियों का प्रादुर्भाव हो, उनकी संख्या में बढ़ोतरी हो ऐसा प्रयत्न होना चाहिए और यह प्रयत्न यम और नियमों के सम्यक् पालन से हो सकता है; तभी समाज से दुर्विचार समाप्त होकर स्वस्थ विचारों का प्रचारप्रसार-होगा। गीता में वर्णित समस्त विचार प्रवाह एक निर्दिष्ट उद्देश्य की ओर इंगित करता है। व्यक्ति की सभी प्रकार की दुर्बलताओं को दूर करते हुए उसे आत्मबल और प्रभुबल से सम्पन्न करता है। व्यक्ति के उत्थान से ही समाजोत्थान हो सकता है और तभी अधर्म पर धर्म की विजय का स्वप्न साकार हो सकता है तथा समाज में श्री, विजय, अचल ऐश्वर्य और नीति (न्याय(का साम्राज्य स्थापित हो सकता है।[३७]

कर्मयोग का मूलमन्त्र है, कर्म का अधिकार। अन्य बातें सब बाद में आती हैं। कर्म करने का सबको अधिकार है, परन्तु जो उसके फल की आसक्ति में पड़कर कर्म करते हैं, वे दु:खी रहते हैं।[३८] समाज में १०० में से ९९ व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जो फल को देखते हैं। फल का प्रभाव मनुष्य पर क्या पड़ता है; इसका हम डाक्टरों के यहाँ व्याधिग्रस्त व्यक्तियों की भीड़ को देखकर अनुमान लगा सकते हैं। इसलिए कर्मयोग कहता है कि कर्मों में ममता और आसक्ति का त्याग करने से समाज का मानसिक सन्तुलन बना रह सकता है। ऐसा कर्म मनुष्य को बन्धन में नहीं डालता, क्योंकि मनुष्य कर्म करने के लिए विवश है।[३९] इसलिए अच्छे चिन्तन के द्वारा मनुष्य समाज को शुभ कर्मों की ओर ले जा सकता है।

कर्तापन का अहंकार समाज के लिए घातक

साथ ही कर्मयोग समाज में उपज रही इस भावना की ओर भी इंगित करता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति यह कहता हुआ या समझता हुआ दृष्टिगत होता है कि मैंने यह किया है। **कर्ताऽहं मन्यते**[४०] यह अहंकार है। समाज में यदि कर्तापन के अहंकार का भाव पनपेगा तो समाज में अनेक बुराईयाँ पनपेंगी। क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष की भावनाएँ प्रबल होकर समाज बिखरने लगेगा। इसलिए कर्मयोग का प्रत्येक आचरण समाज को जोड़ने वाला होता है, तोड़ने वाला नहीं।

सामाजिक क्षेत्र में कर्मयोग का महत्त्व इसलिए भी है कि समाज की इकाई जो व्यक्ति है उसको कर्मयोग से एक स्वस्थ दृष्टि प्राप्त होती है। वस्तुत: गीता के समाजदर्शन में न केवल मनुष्य या व्यक्ति अपितु सम्पूर्ण सृष्टि एक अन्तरंग सम्बन्ध के सूत्र में बंधी हुई है। यहाँ स्वार्थों के लिए कोई स्थान नहीं है। गीता का कर्म सन्देश परस्पर प्रेम तथा सहयोग के सम्बन्ध से सबको जोड़ता है। इसलिए योगेश्वर कहते हैं कि एक दूसरे के साथ यज्ञ की भावना से बरतने से तुम सब परम कल्याण को प्राप्त करोगे।[४१]

---

३७. यत्र योगेश्वर: कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धर:। तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ गीता १८.७८

३८. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोस्त्वकर्मणि॥ गीता २.४७

३९. न हि कश्चिक्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। गीता ३.५

४०. प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश:। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ गीता ३.२७

४१. परस्परं भावयन्त: श्रेय: परमवाप्स्यथ॥ गीता १३.११

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ0224-228) ISSN 0974 – 8830

स्वामी श्रद्धानन्द और गुरुकुल को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ

निशान्त कुमार[1]

जीवन के निर्विघ्न निर्वाह के लिये तीन देवियों की महती आवश्यकता होती है, इनमें से प्रथम सरस्वती, द्वितीय लक्ष्मी और तृतीय देवी शक्ति है। ये तीनों देवियाँ मानव को सब प्रकार का सुख देने में सक्षम हैं।[2]

प्राचीन काल से ही भारत में शिक्षा का जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इसी कारण से पशु द्विज कहलाने योग्य होता है। कहने का आशय यह है कि जब कोई जन्म लेता है, उस समय वह पशु की श्रेणी में होता है और वह शिक्षा के द्वारा ही अपने (पारमार्थिक कल्याण) तथा समाज के लिये उपयोगी बन पाता है।

जहाँ तक शिक्षापद्धतियों का प्रश्न है, आज भी शिक्षाविद् इस तथ्य से सहमत हैं कि प्राचीन गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति का कोई विकल्प नहीं है। आधुनिक युग के पुरोधा महर्षि दयानन्द ने इसी पद्धति को आधार बनाकर नये उदीयमान भारत की परिकल्पना की थी।

महर्षि दयानन्द ने शिक्षा पद्धति के जिस रूप की कल्पना की थी, उसके प्रयोगात्मक रूप को अस्तित्व में आने में कुछ समय लगा। प्रस्तुत निबन्ध के माध्यम से यह जानने का प्रयास किया जा रहा है कि वे कौनसे कारण थे, जिनके कारण लाला मुंशीराम महर्षि प्रतिपादित शिक्षापद्धति को अपनाने को विवश हुए।

श्री मुंशीराम के मन में यह दृढ़ इच्छा थी कि उनकी धर्मपत्नी भी सुशिक्षित हो, उन्होंने इसके लिये प्रयास भी किया। सौभाग्य से उनको जानकारी मिली कि जालन्धर में एक वृद्धा ईसाई स्त्री हिन्दी सिखाया करती है। इस वृद्धा स्त्री से लाला मुंशीराम जी की धर्मपत्नी श्रीमती शिवदेवी ने हिन्दी पढ़ना सीखा था। बाद में वह स्त्री एक क्रिश्चियन स्कूल में नौकरी करने लगी, और पुराने परिचित लोगों के घर जाकर बच्चों का उस स्कूल में प्रवेश कराती थी। लाला मुंशीराम जी की ज्येष्ठ पुत्री वेदकुमारी को भी वह उस स्कूल में ले गयी। यह घटना१६अक्तूबर१८८८की है और स्वयं श्री मुंशीराम ने इस घटना का उल्लेख अपनी पंजिका में किया है। वह लिखते हैं-'कचहरी से लौटकर जब अन्दर गया, तो वेदकुमारी दौड़ी आयी और जो भजन पाठशाला से सीखकर आयी थी, सुनाने लगी-**'इक बार ईसा ईसा बोल, तेरा क्या लगेगा मोल? ईसा मेरा राम रसिया, ईसा मेरा कृष्ण कन्हैया।'** इत्यादि। मैं बहुत चौकन्ना हुआ। तब पूछने पर पता चला कि आर्यजाति की पुत्रियों को अपने शास्त्रों की निन्दा करनी भी सिखायी जाती है, निश्चय किया

---

१. असिस्टेंट प्रोफेसर कम्प्यूटर साइंस, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

२. ऋ०१.१३.९ इडा सरस्वती मही तिस्रो देवी मयोभुवः। बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः।

कि अपनी (आर्यों की) पुत्री-पाठशाला अवश्य खोलनी चाहिये।'[३] इस घटना के तीसरे दिन रविवार को आर्यसमाज का अधिवेशन था, वहाँ रायबहादुर बख्शी से स्त्रीशिक्षा के विषय में बातचीत हुई। उनको भी कन्याशिक्षा के विषय में समस्या आ रही थी, उनकी सहानुभूति मिलने पर उसी रात श्री मुंशीराम ने कन्या-पाठशाला के लिये अपील लिखकर चन्दा भी इकट्ठा करना शुरु कर दिया। परन्तु बीच में 'सद्धर्म-प्रचारक' पत्र निकालने का विचार मन में आगया, इसमें पाठशाला का काम शिथिल हो गया, फिर भी यह कार्य सर्वथा विस्मृत नहीं हुआ। पत्र के प्रकाशन के साथ-साथ पाठशाला के लिये भी वह चन्दा इकट्ठा करते रहे। डी.ए.वी. को लड़कों की शिक्षा का समाधान समझकर सद्धर्म-प्रचारक पत्र के माध्यम से वे कन्या-पाठशाला के लिये जन-जागरण करते रहे। श्री मुंशीराम अपनी धुन के बड़े पक्के थे, उन्होंने जो एक संकल्प एक बार ले लिया, जब तक वह पूरा नहीं होता था, वह शान्त नहीं बैठते थे। फिर यह संकल्प तो मानसिक विचार श्रेणी से बहुत आगे बढ़ चुका था। सम्वत्१९४७में वह पाठशाला खुल गई, जो आज 'कन्या-**महाविद्यालय**' के नाम से भारत की सर्वप्रधान शिक्षा संस्थाओं में से एक है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में भारतीय शिक्षा के प्रति जो रुझान देखने को मिलता है, उसका कारण मैकाले और इसाई मिशनरी द्वारा दी जा रही शिक्षा का उद्देश्य छद्म ढंग से ईसाईयत को बढ़ावा देना रहा है। यदि कदाचित् उस युग में अंग्रेजी राज द्वारा उपलब्ध करायी जा रही शिक्षापद्धति दूषित न होती तो उस युग में गुरुकुल जैसी संस्थाओं के अस्तित्व में न जाने कितना समय और लगता। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि महर्षि दयानन्द के आगमन से इस देश में जो जागृति पैदा हुई थी, उसके कारण पाश्चात्त्य शिक्षा लोगों के मन और मस्तिष्क में कहीं न कहीं कुण्ठा पैदा कर रही थी और वे विवश होकर किसी अन्य विकल्प की तलाश में थे और उनको यह विकल्प महर्षि दयानन्द द्वारा दिखाये रास्ते में दिखायी दिया।

जब एडवोकेट मुंशीराम को यह लगा कि भारत का उद्धार अंग्रेजों द्वारा दी जा रही शिक्षा व्यवस्था से नहीं हो सकता तो उन्होंने पुरातन आर्ष पद्धति को पुनर्जीवित करने का निर्णय किया। इसके लिये उन्होंने आवाज उठायी तो रास्ते पर चलने का दायित्व भी उनके कन्धों पर आगया। पं०सत्यदेव विद्यालंकार इस घटना का उल्लेख करते हुए लिखते हैं-'गुरुकुल की स्थापना का प्रस्ताव आपने ही आर्य जनता के सम्मुख उपस्थित किया था। उस प्रस्ताव को मूर्त रूप देने के लिये आपको ही गाँव-गाँव घूमकर गले में भिक्षा की झोली डालकर चालीस हजार रुपये जमा करना पड़ा। उसके आचार्य और मुख्याधिष्ठाता होकर उसको पालने-पोसने और आदर्श शिक्षणालय बनाने का सब काम भी आपको ही करना पड़ा। हृदय के दो टुकड़े दोनों पुत्र शुरु में ही गुरुकुल के अर्पण कर दिये थे। पलती-पूलती हुई वकालत का हरा पौधा भी गुरुकुल के पीछे मुरझा गया था। पहले ही वर्ष सम्वत्१९५९में आपने अपना सब पुस्तकालय गुरुकुल को भेंट किया। सम्वत्१९६४में लाहौर आर्यसमाज के तीसवें उत्सव पर 'सद्धर्म-प्रचारक' प्रेस भी, जिसकी कीमत आठ हजार से कम नहीं थी, गुरुकुल के चरणों में चढ़ा दिया। तीस हजार से अधिक लगाकर खड़ी की गई जालन्धर की केवल एक कोठी बाकी थी, उसको भी

३. पं०सत्यदेव विद्यालंकार, स्वामी श्रद्धानन्द पृ०१५६

सम्वत्१९६८में गुरुकुल के दसवें वार्षिकोत्सव पर गुरुकुल पर न्यौछावर कर दिया। सभा ने उसको बीस हजार में बेचकर वह रकम गुरुकुल के स्थिर कोष में जमा की। यह सब उस हालात में किया गया था जब कि सिर पर हजारों रुपये का ऋण था और गुरुकुल से निर्वाहार्थ भी आप कुछ नहीं लेते थे।'[४]

कोठी को दान करते हुए सभा के प्रधान को लिखे पत्र में आपने लिखा था-'मुझे इस समय३६००रुपये का ऋण देना है, वह मैं अपने लेख आदि की आय से चुका दूँगा। इस मकान से उस ऋण का कोई सम्बन्ध नहीं है।'[५] उपर्युक्त विवरण यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि इस गुरुकुल की स्थापना के मूल में जो भी कारण रहे हों, परन्तु उसकी स्थापना में जो पवित्र भावना से ओतप्रोत होकर जो बलिदान दिया जा रहा था, वह इतना उदात्त था कि उसको शब्दों की सीमा में बाँधना शायद सम्भव नहीं है। यह पवित्र उद्देश्य के लिये किया गया अपने ढंग का सर्वोच्च बलिदान था। अपने प्राणों का न्यौछावर करना कहीं अधिक सरल है, लेकिन जो सम्पत्ति बच्चों के भविष्य के लिये हो, उसका त्याग करना कितना कठिन हो सकता है, यह एक पिता ही जान सकता है।

अपने पिता की स्मृतियों में गोते लगाते हुए पं०इन्द्र विद्यावाचस्पति लिखते हैं-'पिताजी प्राय: लाहौर जाते रहते थे। अधिकतर आर्यसमाज के काम से और कभी-कभी मुकदमों के प्रसंग में लाहौर जाते थे तो दूसरे या तीसरे दिन वापिस आ जाते थे। वापिस आने की सूचना जाते हुए दे जाते थे। ठीक समय पर घोड़ागाड़ी स्टेशन पर पहुँच जाती थी।- - - - - - -एक दिन हम लोग बहुत आश्चर्यचकित हो गए, क्योंकि पिताजी का सामान गाड़ी से उतारकर घर नहीं लाया गया। कोचवान ने अन्दर आकर कहा कि 'बाबू जी ने अपना सामान समाज-मन्दिर में ही उतरवा लिया है और कहा कि घर पर जाकर खबर कर दो।' बाबूजी घर पर नहीं आये और समाज मन्दिर में उतर गये हैं, इस समाचार ने घर भर में तहलका सा मचा दिया। तायी जी पहले तो स्तब्ध सी रह गयीं, फिर पिता जी के इस कार्य के अनौचित्य पर काफी जोरदार टिप्पणी करने लगीं। हम चारों बच्चे घबराकर तायीजी के चारों ओर इकट्ठे हो गये, नौकर जिसका नाम रणुआ था, एक ओर खड़ा आँखों से आँसू बहा रहा था। हमारे ताया जी, जो परिवार के मौनधारी सदस्य थे, कुछ समय पीछे हाथ में हुक्का लिये हुए ड्योढ़ी से घर के अन्दर आये और तायीजी को दिलासा देने लगे। जहाँ तक मुझे याद है, उनके दिये दिलासे का सारांश है था कि 'मुंशीराम हमेशा से ऐसा ही रहा है। जो दिल में आता है, वही करता है, तुम चिन्ता न करो, अपने-आप घर आ जायेगा।' परन्तु तायीजी घर के मामले में ऐसे वैराग्य से सन्तुष्ट होने वाली नहीं थी। उन्हें संदेह हुआ कि पिताजी किसी बात से नाराज होकर घर में नहीं आ रहे हैं। कुछ समय पश्चात् उन्होंने निश्चय किया कि समाज-मन्दिर में जाकर नाराजगी का कारण पूछा जाये।- - - तायी जी ने नौकर को आर्यसमाज मन्दिर में यह पूछने के लिये भेजा कि हम लोग मिलने के लिये आना चाहते हैं, कोई रुकावट तो नहीं है।- - - वह उत्तर लाया कि में कोई रुकावट नहीं है।'[६] इसके बाद सभी लोग मिलने के लिये पिता जी के पास

४. पं०सत्यदेव विद्यालंकार, स्वामी श्रद्धानन्द पृ०२०९
५. पं०सत्यदेव विद्यालंकार, स्वामी श्रद्धानन्द पृ०२०९
६. इन्द्र विद्यावाचस्पति, मेरे पिता स्वामी श्रद्धानन्द पृ०३८

आर्यसमाज मन्दिर गये। पिता जी मन्दिर के द्वार पर प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने द्वार पर प्रवेश करते ही कहा-'**भाभी मैंने लाहौर में प्रतिज्ञा कर ली है कि जब तक गुरुकुल बनाने के लिये३०हजार रुपया इकट्ठा न कर लूँगा, तब तक घर पर पैर न रक्खूँगा। इसी कारण समाज में ठहरा हूँ, घबराने की कोई बात नहीं है।**'[७]

इस प्रकार जब प्रथम बार आधुनिक भारत में गुरुकुल की स्थापना का वातावरण बनाने में लाला मुंशीराम ने न केवल दयानन्द द्वारा दिये गये बीज को बोया ही, अपितु उसको पल्लवित करने का दायित्व भी उन्हीं के कन्धों पर आगया। यदि एडवोकेट मुंशीराम अपनी धुन के पक्के न रहे होते तो शायद महर्षि के स्वप्न को साकार होने में पता नहीं कितना और समय लगता। आज भी हम उस युग के परिदृश्य पर विचार करते हैं तो यह एक असंभव कार्य प्रतीत होता है।

एक स्थान पर स्वामी श्रद्धानन्द ने लिखा है कि वे शुरु में डी.ए.वी. कॉलेजों को ही लड़कों के लिये गुरुकुल समझते थे।[८] और मानते थे कि इससे महर्षि दयानन्द के स्वप्न को साकार किया जा सकता है। इसलिये प्रारम्भ में लड़कियों के लिये ही शिक्षा व्यवस्था करने की चिन्ता थी। इससे यह बात विदित होती है कि उस युग में डी.ए.वी. के प्रति लोगों की कैसी धारणा थी, लेकिन आर्यजनता के साथ-साथ एडवोकेट मुंशीराम भी कालेज की शिक्षा व्यवस्था से निराश हुए। यद्यपि डी.ए.वी. संस्थानों ने भारत को स्वतन्त्र कराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। निराश हेने का कारण यह था कि इनमें ब्रह्मचर्याश्रम की पद्धति का अभाव था। आश्रमपद्धति की स्थापना के लिये 'प्रचारक' स्वामी श्रद्धानन्द लिखते हैं-'सरकारी कालेजों पर तो हमारा अधिकार नहीं, किन्तु अपने कालेज पर इतना अधिकार हो सकता है कि उसके लिये शहर से दूर जगह ली जाय और कालेज के स्थिर-भवन शहर में न बनाकर दूर बनाया जाये।' प्रचारक नामक पत्र में आप प्रायः लिखा करते थे कि 'आश्रमव्यवस्थ के विना वर्णव्यवस्था कायम नहीं हो सकती। आश्रमों पर ही वर्ण निर्भर हैं। जब गुरुकुल नहीं हैं, तब आश्रम-पद्धति का उद्धार कैसे हो?' गुरुकुल के सम्बन्ध में इस प्रकार की चर्चा तो प्रचारक पत्र में प्रायः शुरु के अंकों से पढ़ने को मिलती है किन्तु उसके लिये स्पष्ट प्रस्ताव८आषाढ सम्वत्१९५३के अंक में किया हुआ मिलता है। उस अंक से 'सन्तान को आर्य क्यों कर बना सकते हो?' के शीर्षक से एक लेखमाला शुरु की गयी थी। शहर के वातावरण के बुरे प्रभाव से पैदा होने वाली बुराइयों का उल्लेख करने के बाद आपने एक स्पष्ट योजना गुरुकुल के सम्बन्ध में पेश की थी। उसका आशय यह था कि२०आर्य पुरुष ऐसे चाहिये जो अपनी सन्तान के लिये१५रुपये मासिक खर्च कर सकें। अमृतसर के पास नदी के किनारे ऐसा प्राकृतिक सौन्दर्य है, जहाँ परीक्षण के लिये गुरुकुल खोला जाये। अपने दो बालकों को उसमें भेजने का निश्चय प्रकट करके अठारह और ऐसे आर्य पुरुषों के लिये अपील करते हुए लेखमाला को समाप्त किया।[९]

उपर्युक्त विवरण से यह पता चलता है कि गुरुकुल खोले जाने में जो प्रमुख कारण रहे हैं, उनमें

---

७. इन्द्र विद्यावाचस्पति, मेरे पिता स्वामी श्रद्धानन्द पृ०३९

८. पं०सत्यदेव विद्यालंकार, स्वामी श्रद्धानन्द पृ०१९७

९. पं०सत्यदेव विद्यालंकार, स्वामी श्रद्धानन्द पृ०१९७-९८

से सर्वप्रथम अंग्रेजी शिक्षा पद्धति रही है, उससे निराश होकर आर्यजनता ने डी.ए.वी. संस्थान खोले और जब इनसे भी अपेक्षित परिणाम हाथ नहीं लगा और महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वर्णव्यवस्था की स्थापना होती दिखायी नहीं दी तो फिर आर्यजनता का गुरुकुल की ओर मुँह मोड़ने के लिये स्वामी श्रद्धानन्द ने गुरुकुल शिक्षा के लाभ तथा अंग्रेजी शिक्षा से होने वाली हानि गिनाते हुए गुरुकुल स्थापना के लिये वातावरण बनाया। अन्त में उसकी स्थापना का श्रेय भी आपको ही है। इस प्रकार एडवोकेट मुंशीराम गुरुकुलीय शिक्षा व्यवस्था के अग्रदूत, संवाहक और पथप्रदर्शक से लेकर स्वप्न को साकार करने वाले युगनिर्माता भी रहे।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ0229-236) ISSN 0974 – 8830

कतिपय वनस्पतियों की आयुर्वेदिक उपयोगिता

डॉ. सत्यवती[1]

वेदों में अध्यात्मशास्त्र का विवेचन प्रचुरता से प्राप्त होता है। आयुर्वेदिक विषय उन्हीं में बिखरे पड़े हैं। आयुर्वेद सम्बन्धी सिद्धान्तों का क्रमबद्ध और सुव्यवस्थित संकलन वेदों में न होने से बाद के ऋषियों ने आयुर्वेद सम्बन्धी विषयों का क्रमबद्ध संकलन कर अनेक संहिताओं का निर्माण किया। वेद सृष्टि ज्ञान के अजस्र स्रोत हैं। सृष्टि की सभी गुत्थियों को सुलझाने हेतु अन्तिम प्रमाण हैं। वेदों से ही सार्वकालिक, सार्वभौमिक शाश्वत सत्यों और समस्याओं का समाधान प्राप्त होता है। वैदिक ऋचाओं को अनादि नित्या वाक् कहा गया है। **'अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयं भुवा'** चारों वेद ज्ञान के अथाह सागर हैं। सभी के विषय भिन्न-भिन्न हैं, जो मानव मात्र के लिये अत्यन्त उपादेय हैं। आचार्यों ने आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना है।[2] आयुर्वेदिक पादप, जड़ी बूटियों व वृक्षों के नाम उनके गुणधर्म व उपयोगिता का वर्णन अथर्ववेद में प्राप्त होता है। अथर्ववेद के अनेक सूक्तों के नामकरण औषधियों के नामों से प्राप्त होते हैं तथा रोग चिकित्सा के विभिन्न प्रकार इसमें उपलब्ध होने से इसे सुश्रुत संहिता में भेषज कहा गया है।[3] आयुर्वेद में प्रशन किया गया है कि **कस्मादायुर्वेदः?** महर्षि चरक उत्तर देते हैं- **'तदायुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः'**[6] जो आयु का ज्ञान कराता है उसे आयुर्वेद कहते है। (Knowledge of life) आयु का लक्षण तथा पर्याय -शरीर, मन और आत्मा के संयोग को आयु कहते हैं। जिस ग्रन्थ में हित आयु, अहित आयु, सुख आयु, दुःख आयु आदि का मान (प्रमाण) और आयु का स्वरूप वर्णित हो उसे आयुर्वेद शास्त्र कहते हैं।[5] चरक संहिता के सूत्रस्थानम् अध्याय ३० के २६ वें सूत्र (श्लोक) में आयुर्वेद के प्रयोजन का वर्णन करते हुए बताया गया है कि 'आयुर्वेद का प्राचीन स्वरूप व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगी व्यक्ति के रोग को दूर करना है।' आयुर्वेद का मुख्य विषय वैसे तो स्वास्थ्य की रक्षा करने और रोगी के रोगों को दूर करने से सम्बन्धित आवश्यक सिद्धान्तों, नियमों और उपायों को प्रस्तुत करना है, पर ऋषियों ने साथ ही साथ जड़ी बूटियों, रस, भस्मों तथा अन्य अनेक द्रव्यों के गुण धर्म की भी जानकारी प्रदान कर प्राणिमात्र पर महती अनुकम्पा की है। जिसके लिये मानव जाति प्राचीन ऋषियों के प्रति सदैव ऋणी व आभारी रहेगी। हमारे देश में अनेक ऐसी गुणकारी जड़ी बूटी पैदा होती हैं जो कुछ देशों में नहीं मिलतीं, जैसे- असगन्ध (अश्वगन्धा)। भारत वर्ष में प्रत्येक ऋतु में भिन्न-भिन्न औषधियाँ,

---

१. व्याख्याता संस्कृत माँ जालपा देवी राजकीय महाविद्यालय तारानगर चूरू (राज.)

२ (क) चरक संहिता सूत्रस्थानम् अध्याय ३०-२१

३ (ख) इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपांगमथर्ववेदस्य। सुश्रुत सूत्रस्थानम् १-६

४ चरक संहिता -अर्थेदिशामहामूलीयाध्याय - सूत्रस्थान -२३ हिताहितं सुखं दुःखं आयुस्तस्य हिताहितम्। मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते।। चरकसंहिता -दीर्घञ्जीवितीयाध्यायः १-४१

५ (ख) इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपांगमथर्ववेदस्य। सुश्रुत, सूत्रस्थानम् १-६

वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं।

जो ऋतु अनुकूल होने से व्याधि (रोग) को शीघ्र समाप्त तथा जड़ से समाप्त करने में समर्थ हैं। सरलता व कम मूल्य में उपलब्ध होने वाली आयुर्वेदिक जड़ी बूटियों के सम्बन्ध में उपयोगी जानकारी के अभाव में हम अपनी औषधि रूपी सम्पदा की समृद्धि से वंचित हैं। यदि हमें इनकी उपयोगी जानकारी व इनके गुणधर्म का ज्ञान हो तो हम आवश्यकतानुसार उपयोग कर स्वस्थ और आर्थिक रूप से समृद्ध बन सकते हैं। वैदिक साहित्य में अनेक जड़ी बूटियों व वनस्पतियों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है, परन्तु यहाँ केवल उन्हीं अपामार्ग, एरण्ड, तुलसी व अश्वत्थ, पीपल आदि की आयुर्वेदिक उपयोगिता का वर्णन कर रहे हैं। जो इस मरुभूमि में सहजता व कम प्रयास से ही उपलब्ध हो सकती हैं तथा जो औषधीय पादप व वृक्ष प्राप्त हैं, उनका हम अनेक भ्रान्त धारणाओं के कारण उचित उपयोग नहीं कर पाते।

अपामार्ग

इन्हीं जड़ी बूटियों में **अपामार्ग** नामक औषधीय पादप जो भारत वर्ष में प्रायः सभी स्थानों पर घास के साथ अन्य पौधों की तरह उगता है। खेतों की मेड़ों पर, रास्तों के किनारे, झाड़ियों में सरलता से पाया जाता है। यह पौधा १ से ३ फुट तक ऊँचा होता है। शीतकाल में फल पक कर गिर जाते हैं। इसकी दो जातियाँ पायी जाती हैं। श्वेत और लाल। श्वेत अपामार्ग औषधि के लिये उत्तम माना गया है। संस्कृत में इसे शिखरी, किणिही, मयूरक, खरमंजरी, अधःशल्य, मर्कटी अपामार्ग (दोषों का संशोधन करने वाला बताया गया है) आदि नामों से अभिहित किया जाता है। भावप्रकाश संहिता के पूर्वार्द्ध भाग (पूर्व खण्ड) गुड़च्यादिवर्ग में इन्हीं नामों का वर्णन प्राप्त होता है।[६] हिन्दी भाषा में इसें चिरचिटा लटजीरा ओंगा तथा मारवाड़ी में बोलचाल की भाषा में आँधीझाड़ा कहते हैं। हरयाणवी में उल्टा काँटा पुटकंडा, बंगाली में अपांग, मराठी में अधाड़ा, गुजराती में अधेड़ा भी कहते हैं। गांवों में निवास करने वाले वृद्ध व्यक्ति इस पौधे को जानते व पहचानते हैं। इसके फल जौ के आकार के कठोर होते हैं। जो हाथ में चुभ जाते हैं तथा कपड़ों से चिपक जाते हैं। अपामार्ग की राख में पोटेशियम की मात्रा बहुत अधिक पायी जाती है। कुछ व्याधियों में इसका प्रयोग अत्युत्तम व जादू जैसा कार्य करता है। पंचांग रूप में प्रयोग में लायी जाने वाली यह औषधि इतनी अधिक उपयोगी है कि अथर्ववेद में इसकी प्रशंसा करते हुए इसे दिव्य औषधि बताया गया है जो सबको नियन्त्रण में करती है।[७] अथर्ववेद में ही अपामार्ग औषधि को भूख को मारने वाली तथा प्यास को शान्त करने वाली वर्णित किया गया है।[८] आयुर्वेदिक ग्रन्थों में भी भस्मक (अधिक भूख लगना) रोग का वर्णन प्राप्त होता है। जिसे अपामार्ग नामक औषधि दूर करने में सक्षम है। अपामार्ग दस्तावर, तीक्ष्ण, बढ़ी हुई भूख (भस्मक) रोग को शान्त करने वाली, प्यास को शान्त करने वाली, कटु चरपरा, पाचक, रुचिकारक, वमन, कफ, मेद, वात अफारा, बवासीर, खुजली, शूल व उदर रोगों को दूर करने वाली

---

६ अपामार्गस्तु शिखरी ह्यधः शलयां मयूरकः। मर्कटी दर्गुहा चापि।। भावप्रकाश सं पूर्व खण्ड श्लोक २१९

७ अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद् वशी। अथर्व ४-१७-०८

८ तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्ष पराजयम्। अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे।। अथर्ववेद ४-१७-०६

है।[९]

यह औषधि विशेष रूप से कृमियों को नष्ट करती है। त्वचा के दोषों को दूर करने वाली एवं रक्त शोधक है। यह एक पंचांग है जिसके जड़ से लेकर पत्र-पुष्प व फल सभी उपयोगी हैं। आधा शीशी (Migrane) नामक रोग आज बहुतायत में दिखायी देता है। जिसका ऐलोपैथी में पूर्ण उपचार उपलब्ध नहीं है, परन्तु यह रोग अपामार्ग के बीजों के चूर्ण को सूंघने से ठीक हो जाता है। अथर्ववेद में इस औषधि को हजारों गुणा शक्तिशाली वर्णित किया है।[१०] अपामार्ग पौधे की जड़ की दातुन करने से दाँत मोती जैसे चमकते हैं। यह दाँतों की पीड़ा, दाँतो का हिलना, मसूड़ों की कमजोरी तथा मुँह की दुर्गन्ध को दूर करती है। अथर्ववेद में इस औषधि को नींद की बैचेनी को दूर करने वाली, जीवन के कष्टों को हरने वाली व दुष्ट वाणियों को नष्ट करने वाली कही गयी है।[११] इतना ही नहीं दोषों को शोधन करने वाली, वंशानुगत व्याधियों व अत्यन्त पीड़ा देने वाली व्याधियों को दूर कर शरीर को शुद्ध करने की प्रार्थना उपलब्ध होती है।[१२] यह औषधि कान के बहरेपन को दूर करती है। इसकी जड़ का रस निकाल कर तिल के तेल में पकाकर २, ३ बूँद गर्म करके कान में टपकाने से कान का बहना व कम सुनायी देने की समस्या से मुक्ति मिलती है। अथर्ववेद के ऋषि ने अपामार्ग को निःसन्तान स्त्रियों के लिये सर्वोतम औषधि माना है।[१३] आज के व्यस्ततम भागदौड़ व श्रम रहित जीवन तथा अधिक आयु में संतान उत्पन्न होने से महिलाओं में प्रसव वेदना की पीड़ा पूर्व की अपेक्षा बढ़ती ही जा रही है। वर्तमान समय में यदि (बच्चा होने में (प्रसव में देर लगे) तो तुरन्त शाल्य क्रिया पर जोर दिया जाता है। जिसकी पीड़ा बहुत लम्बे समय तक उठानी पड़ती है। अपामार्ग दर्द रहित प्रसव के लिये रामबाण औषधि है। जिस स्त्री को पीड़ा अधिक हो रही हो और प्रसव नहीं हो पा रहा हो, उस स्थिति में इसकी जड़ को धागे से बाँधकर पेट पर बाँधने से प्रसव सुखपूर्वक व शीघ्र हो जाता है। ध्यान रहे कि प्रसव होते ही जड़ को उतार देना चाहिए। इसे शरीर में तेज, ओज, कान्ति प्रदान करने वाली रोगाणु रूपी राक्षसों को नष्ट कर पूर्ण रक्षा करने वाली तथा अन्य औषधियों में आगे रहने वाली (उत्तमं) माना गया है।[१४] यह औषधि केवल मानव मात्र के लिये ही नहीं, अपितु खेतों के लिये, गौओं के रोगाणुओं व कीटाणुओं को नष्ट करने में समर्थ है।[१५] ऊपर वर्णित अनेक गुणों वाली औषधि अपामार्ग के सम्बन्ध में उपयुक्त (उपयोगी) जानकारी का अभाव तथा वर्तमान युवा पीढ़ी की युवतियाँ प्रसव के समय उपयोग में लायी जाने वाली जड़ को जादू या टोना न समझकर ऋषियों की अनुभूत विद्या का ज्ञान प्राप्त कर अनावश्यक पीड़ा व आर्थिक हानि से बची रह सकती हैं।

---

९ अपामार्गः सरस्तीक्ष्णोदीपनस्तिक्तकः कटु। पाचनोरोचनशछर्दिकफ भेदोऽनिलापहः।। गुडूच्यादिवर्ग भावप्रकाश २२०, २२२

१० चक्रे सहस्रवीर्यं सर्वस्मा ओषधे त्वा। अथर्ववेद ४-१७-०१

११ दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः। दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि।। अथर्ववेद ४-१७-०५

१२ अपामार्गोऽप मार्ष्टु क्षेत्रियं शपथश्च यः। अपा हं यातुधानीरप सर्वा अराय्यः।। अथर्ववेद ४-१८-०५

१३ अगोतामनपत्यताम्। अथर्ववेद ४-१७-०६

१४ अग्रमेष्योषधीनां ज्योतिषेवाभिदीपयन्। उत त्रातासि पाकस्याथो हन्तासि रक्षसः।। अथर्ववेद ४-१९-०३

१५ अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम्। यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु।। अथर्ववेद ४-१८-०५

एरण्ड

दूसरा औषधीय वृक्ष एरण्ड है। जो सभी स्थानों पर आसानी से उपलब्ध होता है। यह कम पानी वाले स्थान पर भी सरलता से प्राप्य है। इसे एरण्ड, अरण्ड व अण्डी आदि नामों से जाना जाता है। इसकी ऊँचाई ८ से १५ फुट तक जाती है। यह जंगलों में निसर्गत: स्वाभाविक रूप में पाया जाता है तथा औषधीय लाभ के लिये इसे उगाया भी जाता है। यह एक वर्षीय या बहुवर्षीय वृक्ष है। यह ६०० फुट तक की ऊँचाई पर भी मिलता है। इसके पत्ते चौड़े व सात से ११ फाँक वाले होते हैं। इसका वृक्ष कमजोर होता है। संस्कृत में इसे गन्धर्वहस्त, वर्धमान, व्याघ्रपुच्छ, उत्तानपत्रक आदि नामों से जाना जाता है। भावप्रकाश संहिता के गुड्च्यादिवर्ग में इन्हीं नामों का वर्णन उपलब्ध होता है।[१६] यह लाल और सफेद दो रूपों में प्राप्त होता है। इसका तीसरा प्रकार व्याघ्र एरण्ड है। **'आ समन्तात् ईरयति अंगानि'** इस निर्वचन के आधार पर यह वात शमन कर स्तब्धता दूर कर शरीर को गतिशील बनाने से एरण्ड कहलाता है। दोनों प्रकार के एरण्ड गर्म व भारी होते हैं। ये शूल, सूजन, उदर रोग, श्वास, कफ, अफारा, गठिया आदि अनेक रोगों के नाशक हैं।[१७] यह उत्तम वात नाशक औषधि है। पेट के कीड़ों को नष्ट करने वाली है। छोटे बच्चों के पेट में कीड़े होने से गुदा भाग में चुन्ने हो जातें है। (चुर्णियें) यदि एरण्ड के पत्तों का रस २, ३ बार (गुदा पर) लगाये जाने से चुर्णियें समाप्त हो जाते हैं। इसके पत्तों के प्रयोग से किसी भी प्रकार की सूजन हो, चोट से हड्डी आदि की सूजन हो गरम पत्ते तेल में चुपड़कर बाँधने से सूजन व दर्द मिट जाता है। पत्ते की डण्ठल पर थोड़ा चूना लगाकर तिल पर बार-बार घिसने से तिल का निशान मिट जाता है। बवासीर के मस्सों को सुखा कर नष्ट करने के लिये दो प्याज (भूमल) अत्यधिक गर्म राख में गर्म करके काटकर कूटकर शाम को बांधने से मस्से सूख जायेंगे। एरण्ड के पत्ते, मूल, बीज व तेल उपयोग में लिये जाते हैं। इसके बीजों में रिसिन (Ricin) नामक विषैला तत्व रहता है, परन्तु इसके तेल में यह विष नहीं पाया जाता। अण्डी का तेल निरापद (Harmles) जुलाब (विरेचन) है, जिसे बाल, वृद्ध, गर्भवती स्त्री और नव प्रसूता आदि भी इसका प्रयोग बिना किसी भय के कर सकती हैं। एरण्ड तेल अनेक व्याधियों में उपयोगी है। फल की मींगी से सफेद तेल निकालकर और शुद्ध करने पर इसे ही कास्ट्रायल कहते हैं। इसका प्रभाव गर्म व खुश्क होता है। चरक संहिता में इसके तेल को रस में मधुर गुरु, (भारी) कफवर्धक, वातरक्त गुल्म, हृदयरोग और जीर्ण ज्वर का नाशक बताया है।[१८] योग चिन्तामणि में वर्णन प्राप्त होता है कि गौ मूत्र अथवा दूध में अण्डी का तेल डालकर पीने से सब प्रकार के उदर विकार व सूजन दूर हो जाती है तथा कोष्ठ शुद्धि के लिये उत्तम विरेचन है।[१९]

---

१६ शुक्ल एरण्ड आमण्डशिचत्रो गन्धर्वहस्त... पंचाड्गुलो वर्द्धमानो दीर्घदण्डो व्यड्म्बक:।। भावप्रकाश-गुड्च्यादिवर्ग श्लोक -६० (पूर्व खण्ड)

१७ शूलशोथकटीबस्तिशिर:पीडोदरज्वरान्। भावप्रकाश श्लोक -६३

१८ ऐरण्डतैलं मधुरं गुरुश्लेष्माभिवर्धनम्। वातासृग्गुल्महृद्रोगजीर्णज्वरहरं परम्।। चरकसंहिता अभपानदिध्याध्याय: २७ श्लोक २८९

१९ मूत्रेण वा दुग्धसमन्वितं वा सर्वोदरेषु श्वयथौ च शस्तम्। पक्वाशयस्थे पवने प्रयोज्यमेरण्डतैलं हि विरेचनार्थम्।। योगचिन्तामणि: सामान्यकाय चिकित्सा प्रकरण श्लोक -०१

भावप्रकाश संहिता में इसे विषम ज्वर, हृदय रोग, पीठ के दर्द का (शामक) नष्ट करने वाला है।[२०] वात रोग में एरण्ड तेल का प्रयोग अत्युत्तम होने से भावप्रकाश में इसे वातारि संज्ञा दी गई है।[२१] एपेन्डिक्स रोग की प्रारम्भिक अवस्था में इसके तेल की ५-१० ग्राम मात्रा प्रतिदिन लेने से शल्य क्रिया अर्थात आप्रेशन से बचा जा सकता है। मरुस्थल में भी सरलता से प्राप्य है। अनेक औषधीय गुणों से भरपूर इस पौधे से प्राय: सभी परिचित हैं और यह सहज सुलभ है, परन्तु इसके गुणधर्म व उपयोगी जानकारी न होने से इससे मिलने वाले लाभों से वंचित हैं। इसकी कृषि की जाये तो यह आमदनी का एक उत्तम स्रोत बन सकता है। यह वृक्ष बहुत जल्दी फलदायक है। राजस्थान जैसे प्रदेश में जहाँ भूमि का क्षेत्रफल बहुत अधिक है तथा यहाँ पानी की लगभग कमी रहती है, यदि प्रत्येक कृषक थोड़ी-थोड़ी भूमि पर इसकी खेती करे तो समाज व राष्ट्र की समृद्धि में योगदान कर सकते हैं, वहीं अपने परिवार को खुशहाल रखकर स्वस्थ जीवन व्यतीत करते हुये देश को स्वस्थ व सुदृढ़ बनाया जा सकता है।

तुलसी

जब हम औषधीय पादपों की चर्चा कर रहे हैं, तब तुलसी की चर्चा करना आवश्यक हो जाता है। यह जड़ी बूटी अपने कुल की प्रमुख दिव्य बूटी है। इसका पौधा लगभग ३ फुट तक ऊँचा होता है तथा शाखाएँ पतली-पतली छोटी होती हैं। प्राय: शीत ऋतु में पुष्प व फल लगते हैं। सर्वरोग निवारक जीवनीय शक्तिवर्धक इस औषधि को प्रत्यक्ष देवी कहा है। यह भारतवर्ष में प्राय: सर्वत्र उष्ण एवं साधारण प्रदेशों के वनों, उपवनों में स्वाभाविक रूप से उगने वाली एवं घरों मन्दिरों में भी प्रचुरता से पूजा कार्यार्थ एवं मलेरिया आदि रोगों के कीटाणुनाशार्थ वायु शुद्धि के लिये लगायी जाती है। सर्वत्र उपलब्ध सुगन्धित सुन्दर तथा उपयोगी इससे सस्ती औषधि मनुष्य जाति के लिये कोई नहीं है। तुलसी की अनेक जातियाँ पायी जाती हैं। जैसे तुलसी कपूरी, तुलसी बुबई, तुलसी मरूवा, तुलसी दवना आदि-आदि। इनमें श्वेत एवं कृष्णा तुलसी प्रमुख हैं। गुण की दृष्टि से कृष्णा तुलसी श्रेष्ठ है। चरक व सुश्रुत ने सुरस व सुरसा नाम से इनका उल्लेख किया है। भावप्रकाश संहिता में इसे तुलसी, सुरसा, ग्राम्या, सुलभ, बहुमंजरी, वृन्दा एवं देवदुन्दुभि, भूतों को नष्ट करने से भूतघ्नी आदि नामों से अभिहित किया गया है।[२२] ये नाम इसके गुणों की ओर संकेत करते हैं। हिन्दी, बंगाली, गुजराती व मराठी में इसे तुलसी ही कहते हैं। काली व श्वेत तुलसी दोनों के गुण प्राय: समान हैं। ये लघु, रूक्ष, कटु, तिक्त कटु विपाक, कृमिघ्न, स्वेदजनन, कफघ्न व पाचक है तथा रक्त शोधक है।[२३] चरक संहिता में इसे हिचकी, कास, विषविकार दमा और पार्श्वशूल को दूर करने वाली, पित्त कारक, कफ, वात को नष्ट करने वाली और शरीर या भोज्य द्रव्यों की

---

२० एक एव निहन्ताऽयमरैण्डस्नेहकेसरी। विषमज्वरहृद्रोगपृष्ठगुह्यदि शूलान्।। भावप्रकाश तेलप्रकरण श्लोक -२५

२१ व्याघ्रपुच्छश्च वातारिश्चञ्चुरुन्तानपत्रकः। भावप्रकाश-गुडूच्यादिवर्ग श्लोक -६२ (पूर्व खण्ड)

२२ तुलसी सुरसा ग्राम्या सुलभा बहुमंजरी। अपेतराक्षसी गौरी भूतघ्नी देवदुन्दुभिः।। पुष्पवर्ग भावप्रकाश श्लोक ६२

२३ तुलसी कटुका तिक्ता हृद्योष्णा दाहपितकृत्। दीपनी .... शुक्ला कृष्णा च तुलसी गुणैस्तुल्या प्रकीर्तिता।। पुष्पवर्ग भावप्रकाश श्लोक ६३

दुर्गन्ध को दूर करने वाली के रूप में वर्णित किया है।[२४] तुलसी के ताजा पत्तों का रस गरम करके २-२ बूँद कान में टपकाने से कान का दर्द तुरन्त ठीक हो जाता है। तुलसी के पत्ते और काली मिर्च की गोली बनाकर दाँतों के नीचे रखने से दन्त शूल दूर हो जाता है।

तुलसी का पौधा मलेरिया प्रतिरोधी है, इसके सम्पर्क से बहने वाली वायु के प्रभाव से मलेरिया के मच्छर भाग जाते हैं। मलेरिया ज्वर व प्राय: सभी ज्वरों में इसके ताजा पत्ते सम भाग काली मिर्च लेकर बारीक कूटकर गोली बनाकर सेवन करने से ज्वर समाप्त हो जाता है। सर्दी खांसी व कफ को नष्ट करने के लिये इसके पत्तों का क्वाथ (काढ़ा) अत्यन्त उत्तम औषधि है। वर्तमान में भी तुलसी का प्रयोग प्राय: क्वाथ या चाय बनाने के लिये अधिकतर घरों में किया जाता है, परन्तु तुलसी के सम्बन्ध में हमारे समाज में कुछ भ्रान्त धारणाएँ व्याप्त हैं। सांयकाल होने पर तुलसी के पत्तों को न छूना न तोड़ना तथा रजस्वाला स्त्री द्वारा स्पर्श न किया जाना आदि। कुछ व्यक्ति मात्र पूजा के निमित मानकर ही तुलसी (रूपी) पौधे को औषधीय प्रयोग हेतु काम में नहीं लेते। जबकि किसी आयुर्वेदिक ग्रन्थ में ऐसा वर्णन नहीं मिलता, क्योंकि यह अत्युत्तमोपयोगी बतायी गई है। इसलिए रक्षा करना पवित्र कार्य है। औषधीय उपयोग में न लेना उचित नहीं है। प्रत्येक भारतीय तुलसी के पौधे को घर आंगन में लगाकर स्वस्थ व सुडौल रह सकता है।

अश्वत्थ

इतने ही गुणों से युक्त औषधीय वृक्ष अश्वत्थ (पीपल) है। पीपल भी सर्वत्र पाया जाता है। धार्मिक मान्यताओं के अनुसार पीपल की पूजा का भी वर्णन प्राप्त होता है। यह वृक्ष भूमि, पर्वत, घर की छतों व दीवारों पर उग जाता है। खैर के वृक्ष पर उगने से अधिक गुणदायक हो जाता है। खदिर का वृक्ष शीतल, तीखा, कसैला, दांतों के लिये हितकारी कफ विनाशक माना गया है। पीपल का वृक्ष खादिर (खैर) वृक्ष की कोटर (खोखर) में उगता है। तब इसमें भी खैर के गुण आ जाते हैं। यह शुद्ध सात्विक २४ प्रहर विषपान कर प्राणवायु छोड़ने वाला चित प्रसादक व रोगाणुओं को समाप्त करने वाला है। संस्कृत में इसे बोधिद्रु, पिप्पल अश्वत्थ, चलपत्र व गजाशन आदि नामों से अलंकृत किया गया है। भावप्रकाश में इन नामों का वर्णन प्राप्त होता है।[२५] हिन्दी में पीपल, गुजराती में पीपलो, मराठी में पिंपल, बंगाली में अश्वत्थ व पंजाबी में पीपल कहा जाता है। अश्वत्थ को वनस्पतियों का राजा कहा है। तैत्तिरीय ब्राहमण में अश्वत्थ का व्याख्यान मिलता है। अग्नि तत्व अश्वत्थ में सर्वाधिक पाया जाता है। शब्दकल्पद्रुम में इसे मधुर, कसैला, शीतल, कफ, पित्त विनाशक, रक्तदाह, व शान्तिकारक माना गया है। भावप्रकाश में पीपल को शीत, पित व कफ व व्रणों (घावों) का विशोधन करने वाला वर्णित किया है।[२६]

---

२४ तुलसी कटुका तिक्ता हृद्योष्णा दाहपितकृत्। दीपनी .... शुक्ला कृष्णा च तुलसी गुणैस्तुल्या प्रकीर्तिता।। पुष्पवर्ग भावप्रकाश श्लोक ६३

२५ बोधिद्रुः पिप्पलोऽश्वत्थश्चल पत्रो गजाशानः।। भावप्रकाश वटादिवर्ग श्लोक -०१

२६ पिप्पलो दर्जुरः शीतपित्तश्लेषयव्रणास्त्रजित्। गुरुस्तुवरको रूक्षो वर्ण्योयोनिविशोधनः।। भावप्रकाश वटादिवर्ग श्लोक -०३

चरक संहिता में अश्वत्थ को रस में मधुर, विपाक में अम्ल, कफ, पित्त शामक, वातवर्धक माना गया है।[२७] पीपल की ताजी टहनी से प्रतिदिन दातुन करने से दांत मजबूत व मसूड़ों की सूजन दूर होती है। पीपल की कोमल कोंपल खाने से खुजली व त्वचा पर फैलने वाले चर्म रोग नष्ट हो जाते हैं। अश्वत्थ (पीपल) को सबकी रक्षा करने वाला, खैर वृक्ष पर उगकर सब शत्रुरूप व्याधियों को नष्ट करने वाला मानकर व्याधियों से बचने की प्रार्थना प्राप्त होती है।[२८] अथर्ववेद के तीसरे काण्ड के छठे सूक्त में पीपल वृक्ष से प्रार्थना की गई कि वायु जल सूर्यादि से शक्तिप्राप्त (बढ़ा हुआ) शक्तिशाली पीप्पल हमारे सब रोगों को नष्ट करें।[२९] पीपल के बीजों का चूर्ण १-२ ग्राम प्रात: शाम शहद के साथ लेने पर रक्त शुद्ध होता है।

हकलाहट- इसके पक्के फलों का चूर्ण आधी चम्मच शहद के साथ सुबह शाम सेवन करने से हकलाहट में लाभ व वाणी में सुधार होता है। काली खाँसी में छाल का ४० मिलीलीटर क्वाथ या स्वरस दिन में तीन बार देने से लाभ होता है। **अरुचि-** इसके पक्के फलों के सेवन से कफ, पित्त, रक्त दोष, विष दोष, दाह, वमन, तथा अरुचि का नाश होता है। **बांझपन-** इसके सूखे फलों के १-२ ग्राम चूर्ण की फंकी (फाकी) कच्चे दूध के साथ मासिक धर्म के शुद्ध होने के पश्चात् १४ दिन तक देने से स्त्री का बांझपन मिटता है। पीपल के किसी-किसी वृक्ष में जहां से तने अलग होते हैं, वहां से दाढ़ी (जड़) निकलती हैं। जो बहुत प्रयास करने पर ही उपलब्ध होती है। जिसके अनेक लाभ होते हैं। **गर्भ न ठहरना-** यदि गर्भ न ठहरता हो तो माहवारी के बाद दोनों समय सात दिन गौ दुग्ध से लेने पर गर्भ ठहर जाता है। **अत्यधिक रक्त स्राव-** (माहवारी) में सूखी जड़ का चूर्ण एक चम्मच प्रात: शाम पानी से (अधिकतम ३ दिन) लेने पर लाभ मिलता है। **अण्डकोष ऊपर-नीचे होने पर-** उपर्युक्त मात्रा प्रात: शहद से लें। **अण्डकोष वृद्धि-** बड़े होने पर प्रात: शाम १५ दिन तक शहद से चाटें। परहेज - घी, दूध व लस्सी बन्द, चाय ले सकते हैं। रोटी भी सूखी खायें। मिर्च मसाले न लें धुली मूंग की दाल बिना छौंक की लें। वेद में मृत्युरूपी बन्धन व रोग से रक्षा करने की प्रार्थना की गई है। **'एवामे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग् भिन्धि सहस्व च।'** (अथर्व. ३-६-०६) साक्षात् प्राणवायु देने वाले पीपल के वृक्ष के सम्बन्ध में जन सामान्य में कुछ भ्रान्त धारणाएँ पायी जाती हैं। पीपल के वृक्ष को (रसोई घर के अन्दर से आने वाले पानी) अशुद्ध एवं उच्छिष्ट जल से सेचन नहीं किया जाना चाहिए। मंगलवार के दिन इस पवित्र और पूज्य वृक्ष को भूमि खोदकर नहीं लगाया जाना चाहिये। इसकी सूखी लकड़ियों को समिधा रूप में प्रयोग करने से बचना चाहिए। पीपल वृक्ष की परिक्रमा से विशेष पुण्यों की प्राप्ति होती है। बस्ति के पास पीपल वृक्ष को लगाने से भी बचना चाहिए। पीपल वनस्पतियों का राजा है। ऑक्सीजन को प्राणवायु कहा है। प्रत्येक जीवधारी ऑक्सीजन लेता हैं और विषैली कार्बनडाइआक्साईड छोड़ता है। इसकी शीतल छाया चित्त आह्लादक तापरोधक आदि-आदि अनेक गुणों की खान है। पीपल के पत्तों के स्पर्श करने से वायु में मिले संक्रामक वायरस नष्ट हो जाते हैं। **'गुणाः पूजास्थानम्'** की उक्ति के अनुसार पीपल वृक्ष में अनेक गुण विद्यमान होने से तथा

---

२७ अश्वत्थोदुम्बरप्ल........... कषाय मधुरम्लानि वातलानि गुरूणि च।। चरकसंहिता अन्नपान विध्याध्याय: २७ श्लोक -१६४

२८ पुमान् पुंस: परिजातोऽश्वत्थखदिरादधि। स हन्तु शत्रून् मामकान् यानहं देष्मि ये च माम्।। अथर्व .३-६-०१

२९ तानश्वत्थ: नि: शृणीहि शत्रून् वै बाधदोधत:।। अथर्व .३-६-०२

विशेष गुण प्राण वायु देने के कारण यह पूज्य है। अन्य कोई चमत्कार नहीं, अपितु इसमें आयुवर्धक तत्व है। पीपल का वृक्ष बहुत ज्यादा स्थान घेरता है। इसकी जड़े बहुत दूर तक फैलती हैं, इसलिए बस्तियों के पास नहीं लगाया जाना चाहिए, क्योंकि जड़े दीवारों तक पहुँचकर मकानों को क्षति पहुँचा सकती हैं, परन्तु सार्वजनिक स्थानों जैसे चिकित्सालय, विद्यालय, महाविद्यालय, सामुदायिक भवन, चौराहों पर जहाँ स्थान पर्याप्त हो, वहाँ अवश्य लगाया जाना चाहिये।

अन्त में मैं निष्कर्ष रूप में कहना चाहूँगी कि समस्त औषधीय पादपों व वनस्पतियों के अपने-अपने गुण हैं। हमें इनके गुण धर्मों को जानकर उपयोग में लेने चाहिए तथा इनके संरक्षण पर भी विचार करना चाहिए। जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ उपयोगी पौधों की मांग बढ़ती जाती है। ज्यों-ज्यों इनकी मांग बढ़ेगी त्यों-त्यों इनका ह्रास भी होता जा रहा है, अत: आवश्यकता इस बात की है कि लुप्त होते जा रहे पौधों के संरक्षण व संवर्धन पर विचार किया जाना चाहिए तथा औषधीय पौधों का प्रचार-प्रसार होना चाहिए। वैद्यों से अनुरोध है कि इन औषधियों के सम्बन्ध में प्रामाणिक शोध होना चाहिए, क्योंकि उसी भू-भाग पर रहने वालों के लिये उसी भू-भाग की औषधि जितनी गुणकारी हो सकती है, सम्भवत: दूसरी नहीं।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ0237-241) ISSN 0974 – 8830

वेदेतर वैदिक साहित्य के अन्तर्गत ऋत तत्त्व के प्रयोग मूलक सन्दर्भ

(श्रीमती) डॉ० आरती[१]

'ऋत' क्या है?- 'ऋत' मूलतः एक वैदिक अवधारणा है। 'ऋत' शब्द की व्युत्पत्ति- 'ऋ'- गतिप्रापणयोः (स्वादिगण, परस्मैपद) एवं 'ऋ' सृ गतौ (जुहोत्यादिगण, परस्मैपद)[२] से सिद्ध होती है। उपर्युक्त दोनों व्युत्पत्तियाँ गत्यार्थक हैं। **'ये ये गत्यार्थाः ते ते ज्ञान, गमनप्राप्त्यर्थाः'** अतः 'ऋत' शब्द उन सभी अर्थो का बोधक है, जो व्याकरण सम्मत हैं तथा जिनमें ज्ञान, गमन और प्राप्ति सम्भव हैं।

वेदों में तथा परवर्ती वैदिक साहित्य में 'ऋत' का अनेक बार प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में सबसे अधिक तथा यजुर्वेद में सबसे कम। संख्यात्मक दृष्टि से देखे तो ऋग्वेद में- '५२९', अथर्ववेद में '१४८' बार 'ऋत' शब्द आया है। तीसरे स्थान पर सामवेद है। सामवेद में '१७५' तथा सबसे कम यजर्वेद में '७०' बार 'ऋत' शब्द का प्रयोग हुआ है। वेदों में 'ऋत' शब्द का प्रयोग सभी विभक्तियों में मिलता है। महर्षि दयानन्द और उनके अनुयायी वेदभाष्यकारों ने 'ऋत' शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया है। उदारणतः- यज्ञ, सत्य, जल, योगविद्या, ईश्वरीय नियम आदि। वेदों की 'ऋत' सम्बन्धी मौलिक दृष्टि का प्रभाव अन्य परवर्ती वैदिक ग्रन्थों में भी प्राप्त होता हैं। जैसा कि निम्न ग्रन्थों में आये 'ऋत' मूलक सन्दर्भो पर दृष्टिपात करने से विदित होता है। जो क्रमशः संक्षेप में निम्न प्रकार है-

(क(ब्राह्मण ग्रन्थ

ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋत सम्बन्धी निम्न उल्लेखनीय सन्दर्भ यहाँ प्रस्तुत है-**'ऋतमेव परमेष्ठी।**[३] **इयम् (पृथ्वी) वा ऋतम् असौ (द्यौः) सत्यम्।**[४] **ऋते समुद्र आहित ऋते भूमिरियमाश्रिता।**[५]

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अन्तर्गत वरुण का अर्थ- ऋत का संचालक है। वह 'ऋत' के साम्राज्य को व्यवस्थित करता है। यथा- **'ऋतेन मित्रावरुणा सचेथे।'** ऋतस्य योनाविति यज्ञो वा ऋतस्य योनिर्यज्ञे।[६] राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिवम्।[७] वाजिनो नो धनेषु विप्राऽमृताऽऋतज्ञाः।[८]

---

१. गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय.हरिद्वार ,

२. आप्टे - वामन शिवराम- संस्कृतहिन्दी- कोश, नरेन्द्र जैन, मोती लाल बनारसी दास, बंगलो रोड़, दिल्ली, पृष्ठ २२२

३. तैत्ति० ब्राह्मण - १.५.५ द्वारा उद्धृत आर्य, (डॉ०) सोहनपाल सिंह- वेदों में ऋत-तत्व और उसका दार्शनिक स्वरूप एवं वैशिष्टयः गुरुकुल शोध भारती अंक - ७, २००७ गु०कां०वि०वि० (हरिद्वार), पृष्ठ ७०-७९

४. तैत्ति०सं- ५.१.५.८ द्वारा उपर्युक्त - आर्य, (डॉ०) सोहनपाल सिंह, पृष्ठ ७०-७९

५. तैत्ति० - १.५.५.१ द्वारा उपर्युक्त आर्य (डॉ०) सोहनपाल सिंह, पृष्ठ ७०-७९

६. उपाध्याय , पं० गंगा प्रसाद (भाष्यकार) शतपथ ब्राह्मण - १९९८ सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली, सन्दर्भ - १,३,४,१६

७. उपाध्याय, पं० गंगा प्रसाद (भाष्यकार), उपर्युक्त, संदर्भ २,३,४,२९

उपर्युक्त सन्दर्भ 'ऋत' शब्द से अभिप्रेत है- यज्ञ, सत्य, ज्ञान आदि।

(ख(आरण्यक ग्रन्थ:

आरण्यक ग्रन्थों में 'ऋत' सम्बन्धी निम्नलिखित सन्दर्भ उल्लेखनीय हैं। जो विचार हेतु यहाँ प्रस्तुत हैं-'सत्यमेव जयति नानृतम्।'[९] अनृतम्- जो सत्य नहीं है। 'न ही सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।'[१०]

'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।'[११]

ऋतम्-सत्य।

'ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि।'[१२]

ऋतम् - ईश्वर।

'ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने च। सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च।'[१३]

ऋतम् - यथायोग्य सदाचार का पालन।

'ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्।'[१४]

ऋतम् - परमात्मा।

'ऋतं दक्षिण: पक्ष:। सत्यमुत्तर: पक्ष:।'[१५]

ऋतम् - सदाचार का निश्चय।

(ग(षड् वैदिक दर्शन

वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों, एवं उपनिषदों के अतिरिक्त भी 'ऋत' शब्द का प्रयोग वैदिक दर्शनों में मिलता हैं। विशेष कर पतंजलिकृत 'योगसूत्र' इत्यादि ग्रन्थ प्रस्तुत सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं।

'न स्वातन्त्र्यात् तदृते छायावच्चित्रवच्च।'[१६]

---

८. उपाध्याय, पं० गंगा प्रसाद (भाष्यकार) उपर्युक्त, सन्दर्भ ५,१,५,२६
९. हनुमान प्रसाद पोद्दार आदि (सम्पांदक) द्वारा गीता प्रेस, गोरखपुर से मुद्रित तथा प्रकाशित, कल्याण उपनिषद अंक १ वर्ष २३, सन्दर्भ म०डु० ३-१-६, पृष्ठ २८२, सं० २०५७ पाँचवाँ संस्करण
१०. सरस्वती, महर्षि दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश, वि०सं० २०५८, प्रकाशक: आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली-६, पृष्ठ ४०५
११. कठो० ३-१ द्वारा उपर्युक्त हनुमान प्रसाद पोद्दार, पृष्ठ २०६
१२. तैत्ति० शिक्षा वल्ली- प्रथम अनुवाक, द्वारा उपर्युक्त हनुमान प्रसाद पोद्दार, पृष्ठ ३१३
१३. तैत्ति० शिक्षा वल्ली नवम अनुवाक, द्वारा उपर्युक्त हनुमान प्रसाद पोद्दार, पृष्ठ ३२७
१४. तैत्ति० शिक्षा वल्ली द्वादश अनुवाक, द्वारा उपर्युक्त हनुमान प्रसाद पोद्दार, पृष्ठ ३३१
१५. तैत्ति० शिक्षा वल्ली चतुर्थ अनुवाक, द्वारा उपर्युक्त हनुमान प्रसाद पोद्दार, पृष्ठ ३३८
१६. उपर्युक्त, सन्दर्भ ३.१२, पृष्ठ १२१

प्रस्तुत सूत्र में 'ऋते' शब्द का अर्थ 'विना' है।

'नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शादृते विरोचनवत्।[17]

इस सूत्र में भी 'ऋते' शब्द का अर्थ 'विना' ही प्राप्त होता है।

'न रागादृते तत्सिद्धि प्रतिनियतकारणत्वात्।[18]

'युक्तितोऽपि 'न बाध्यते दिङ्मूढवदपरोक्षादृते।[19]

प्रस्तुत दोनों सूत्रों में भी 'ऋते' शब्द का अर्थ 'विना' हुआ है।

योगसूत्र में भी **'ऋत'** से सम्बन्धित निम्न सूत्र प्राप्त होते हैं- **'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'**[20] - यहाँ 'ऋतम्भरा' शब्द अपरिवर्तित/निश्चयात्मक सत्य से परिपूर्ण अर्थ में मिलता है।

उपर्युक्त सन्दर्भों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि- दर्शनग्रन्थों में भी 'ऋत' का वही अर्थ स्वीकार्य है, जो सामान्यत: वेदभाष्यों में दृष्टिगोचर होता है। किन्तु वैसी व्यापक अर्थ की ग्राह्यता दर्शन ग्रन्थों में दृष्टिगोचर नहीं होती। मेरी दृष्टि में ऐसी अपेक्षा वैदिक दर्शनकारों से करना इस कारण भी उचित नहीं, क्योंकि उनके सम्मुख विचार प्रतिपादन का संकुचित, स्पष्ट सन्दर्भ होता है, अत: उस व्यापक/बहु-अर्थी विचारों की सम्भावना क्षीण ही हैं।

(घ(स्मृत्यादि ग्रन्थ

वेदों से अन्य वैदिक साहित्य के अन्तर्गत स्मृति साहित्य का भी उल्लेखनीय स्थान है। स्मृति को धर्मशास्त्र भी कहते है। स्मृतियों में सबसे प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ मनुस्मृति है। मनुस्मृति के अन्तर्गत मनुष्य के व्यक्तिगत और सार्वजनिक विषय से सम्बन्धित सभी प्रमुख विचार सूत्र रूप में मिलते हैं। उदाहरणत:- सृष्टि की उत्पत्ति, वर्णाश्रमधर्म, आपद् धर्म, दण्ड विधान और कर्मफल विधानादि।

जहाँ तक मनुस्मृति में 'ऋत' तत्त्व के प्रयोग का प्रश्न है, इस सन्दर्भ में अनेक 'ऋत' मूलक सन्दर्भ यहाँ विचार हेतु प्रस्तुत है-

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रुरे धर्माधर्मावृतानृते।
यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत्।।[21]

ऋते - सत्य

---

१७. उपर्युक्त, सन्दर्भ ४.१७, पृष्ठ १७७
१८. उपर्युक्त, सन्दर्भ ५.६, पृष्ठ १९८
१९. उपर्युक्त, सन्दर्भ १.२४, पृष्ठ १८
२०. परिव्राजक स्वामी सत्यपति (व्याख्याकार) योगदर्शनम्, २००१, दर्शन योग महाविद्यालय सागपुर (गुजरात), सन्दर्भ १-४८, पृष्ठ ९९
२१. आचार्य (डॉ०) सुरेन्द्र कुमार (भाष्यकार) मनुस्मृति, २००० ई० आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली - ११०००६, सन्दर्भ १.२९, पृष्ठ ४

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः।।[२२]

ऋतम् - सत्य

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन।।[२३]

ऋत - अमृत/सत्य।

ऋतमुंच्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्।।[२४]

ऋत - अन्न।

यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणः।
तादृशान्सम्प्रवक्ष्यामि यथावाच्यमृतं च तैः।।[२५]

ऋतम् - सत्य।

देवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान्।
उदङ्मुखान्प्राङ्मुखान्वा पूर्वाह्णे वै शुचिः शुचिः शुचीन्।।[२६]

ऋतम् - अच्छा।

उपर्युक्त सन्दर्भों पर दृष्टिपात करने से यह पता चलता है कि मनुस्मृति में 'ऋत' का प्रयोग अधिकांशतः सत्य के अर्थ में प्राप्त होता है, इससे भिन्न भी मनुस्मृतिकार को अनेक अर्थ ग्राह्य हैं।

महर्षि मनु ने 'ऋत' शब्द की सप्तमी विभक्ति एक वचन का प्रयोग अव्यय के रूप में भी किया है। जैसा- कि निम्नलिखित श्लोकों पर दृष्टिपात करने से पता चलता हैं-

नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते।
शूद्रेण हि समस्तावद् यावद्वेदे न जायते।।[२७]

ऋते - विना।

ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः।
अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थि संचयनादृते।।[२८]

---

२२. आचार्य (डॉ०) सुरेन्द्र कुमार (भाष्यकार) मनुस्मृति, २.२७, पृष्ठ १३८
२३. आचार्य (डॉ०) सुरेन्द्र कुमार (भाष्यकार) मनुस्मृति, ४.४, पृष्ठ ३२६
२४. आचार्य (डॉ०) सुरेन्द्र कुमार (भाष्यकार) मनुस्मृति, ४.५, पृष्ठ ३२६
२५. आचार्य (डॉ०) सुरेन्द्र कुमार (भाष्यकार) मनुस्मृति, ८.६१, पृष्ठ ६२९
२६. आचार्य (डॉ०) सुरेन्द्र कुमार (भाष्यकार) मनुस्मृति, ८.८७, पृष्ठ ६३८
२७. आचार्य (डॉ०) सुरेन्द्र कुमार (भाष्यकार) मनुस्मृति, २.१४७, पृष्ठ १९१
२८. आचार्य (डॉ०) सुरेन्द्र कुमार (भाष्यकार) मनुस्मृति, ५.६८, पृष्ठ ४२८

ऋते - विना

भगवद्गीता

भगवद्गीताकार का भी इस विषय में निम्न कथन उल्लेखनीय है-

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे।
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।[२९]

इनके अतिरिक्त भी याज्ञवल्क्य स्मृति, गौतम स्मृति आदि ग्रन्थों में भी उपर्युक्त 'ऋत' विषयक दृष्टिकोण स्वीकार्य है। निष्कर्षतः 'ऋत' विषयक जिस अवधारणा का वेदों में प्रतिपादन हुआ है। उसका प्रयोग वेदों से इतर अन्य वैदिक ग्रन्थों में भी यथेष्ट मात्रा में मिलता है।

---

२९. श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस, सन्दर्भ पृष्ठ १६२

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर 2013 अंक 20 (पृ0242-247) ISSN 0974 – 8830

VISION OF MENTAL HEALTH CARE AND SOCIAL WELL-BEING IN VEDIC WISDOM: A STUDY

Dr.Khagendra Patra, Ph.D. (Sanskrit)[१]

The present world is facing innumerable problems including poverty, unemployment, terrorism and various diseases. Modern man has been trying to overcome all such adverse situations with the help of developed Science and Technology. So far as health problem is concerned present Medical Technology guides mankind a lot to cure physical diseases through various medicines and surgical operations etc. But in spite of all such efforts many people in the world are still suffering from mental and social disorders, which prove that the present Medical Science is not self-sufficient for all round health services. As a result it requires some more effective techniques for managing health problem. Indeed, the exponents of Medical Science have realized that without promoting a state of well-being in the individual mind and society, the task of health care will not be completed. So, they have recognized alternative methods of health care, which include Spiritual Therapy. Moreover, the sources of Spiritual Therapy are Vedas, Upanishads, Bhagavadgeeta and other relevant Sanskrit writings. So it is proposed here to throw some light on the "VISION OF MENTAL HEALTH CARE AND SOCIAL WELL-BEING IN VEDIC WISDOM – A STUDY".

Both Medical Science and Vedic Wisdom are equal in providing services to mankind. But there is a difference between them relating to the limitation of service. Medical Science provides service by guiding for health care through scientific devices based on certain bio-ethics; whereas Vedic wisdom guides mankind by prescribing certain ethics relating to all-round development of human being. Indeed, the main purpose of Vedic wisdom is to circulate a cool wave of well-being which can create favorable surroundings for leading a happy, healthy and prosperous life. Thus, with an aim of inviting a state of wellbeing for the benefit of mankind, Vedic Sages used to practise 'Yajna' during which they pray Sun God as follow:

"Oh Sun God, kindly take away from us all sorts of evil elements or harmful thoughts which are the sources of sufferings in the form of stress and strain disorders. And please give us only the thing favorable to our well-being"[1].

The essence of the above mantra indicates about the state of wellbeing which is very much essential to prevent micro-organisms and to strengthen immunity for promoting a state of well-being in mind, body and society.

---

[1] Ex-Chairperson, WSC, University of Leiden, Netherlands, Address : Deptt. of Sanskrit, Qrs.No.A/39, Sector-5, Rourkela-769002, Odisha, India Mobile No.08895832606, E.Mail : drpatra.khagendra@gmail.com

In this way some basic ideas about health care or wellbeing relating to mind and society are available in an abstract form in Vedic Literature. The wellbeing of mankind as mentioned in various Vedic mantras seems to be reflected in the modern concept of Medical Science which defines 'Health' as follows:

"Health is a state of complete physical, mental and social wellbeing and not merely an absence of disease or infirmity".[2]

However, the wellbeing of mind and society in the above definition stands for the mental health and social wellbeing about which a lot of ideas are preserved in Vedic Texts. Let us try to explore something in this regard with a purpose of knowing the applicational value of Vedic wisdom for mental health care and social well-being.

The wellbeing of a society is the sign of social progress or community development, which depends upon several factors like (i) topographical, (ii) financial, (iii) social and others. Social factors include (i) Peace, (ii) Security, (iii) Co-operation, (iv) Business, (v) Intelligence and (vi) Labour etc. Benefits of these factors are based on the mental attitude of social wellbeing which may be considered as one of the components of complete health. Taking into consideration the necessity of social wellbeing in the way of complete health care, the present Medical Science includes it in the definition of health. However, the word "Social wellbeing" as mentioned in the definition of health stands for clarification of sound and developed state of society or community. Moreover, the state of social wellbeing implies harmony and integration among all members of a society in which they live.

The social dimension of health includes some sound attitudes like the feeling of oneness or unity among all individuals in a community which can help in creating a sense of friendship and social security. In order to promote social wellbeing Indian Sages advise mankind to serve for the society unitedly with a sense of fellow feeling and brotherhood. So they say that all human beings should:

(i) go ahead unitedly for the development of the society;

(ii) discuss about any problem with an attitude of social wellbeing and conducive social adjustment; and

(iii) know your mutual mental states with a purpose of helping and serving each other.[3]

However, some positive social attitudes like feeling of (i) oneness, (ii) non-enemity, (iii) non violence, (iv) love and (v) friendship among the members of any community can generate a sense of security in their mind which is one of the vital components or attributes of community development and positive mental health. So both the Sociologists and Psychiatrists have considered 'The Sense of Security' as one of the sources of good mental health and social wellbeing or community development. Thus mental health is defined as the absence of mental illness and well existence of sound attitudes in human mind which include the feeling of security in every respect.[4]

The feeling of Security can be enriched with other positive social attitudes like non-enemity, non-violence, fellow-feeling, love, friendship, likingness and trust upon others, the knowledge of which are found in ancient Sanskrit Literature.

In this way the techniques of mental health care are inter-related with social health care or community development, which depends upon complete wellbeing of each individual mind and community simultaneously.

However, "The State of Security" is an important factor for promoting mental health and community welfare. In other words if the internal and external surroundings of any community are free from social unrest then it will be easy to maintain a state of security in individual mind and society with the support of which various development works in the community can be initiated.

Since 'The Sense of Security' plays a significant role for both mental health care and community development Indian Sages pray God to obtain a sense of fearlessness in mind through a Vedic Mantra which appeals:

"Oh God ! Let us not be afraid:

(i) of both our fellow beings whether friends or foes;

(ii) of known persons or strangers, and

(iii) of night (symbol of darkness or ignorance and poverty) as well as day (symbol of light and wisdom or riches). Moreover, let my social surroundings be friendly or healthy for me.

The message of this Vedic prayer helps in creating a sense of safety and security in human mind. It may also create a state of unaffected, balanced, peaceful and blissful surroundings in individual mind and community. Such a "State of Security" in every respect may help for the growth of community and mental health.

So in order to enrich the sense of security, ancient Indian Sages had created a tradition of inviting and circulating an wave of welfare everywhere in the human society through several Vedic Mantras[6] Yajnas and Transcendental Meditation. Their prayers to Omniscient and Omnipotent God are based on positive scientific thoughts with a sense of human welfare which bear preventive power to save mankind by managing stress and social unrest and by maintaining social or communal harmony, emotional balance and released physique. Their purpose of performing daily Yajnas and meditation was to achieve and to spread the cool wave of wellbeing from the Divine Grace for the development or growth of human community and others in the Universe[7]. Apart from this there is a tradition in India that every work or function either personal or social must be started with the auspicious words which are meant for the wellbeing of every individual in a community with peaceful or healthy environment[8].

However, good mental health of every individual in a community may create a disciplined and friendly surrounding for community development; because positive mental health implies very good social attitudes like fellow feeling, love and friendship among the members of any community. Moreover, Psychiatry branch of Modern Medical Science accepts the fact that the sense of security in human mind can be developed through positive attitudes like non-enemity, friendship, love, kindness, contentment and pleasant behaviours which can cherish a state of happiness in mind. Such a blissful state of mind may be considered as one of immunity or preventive power for promoting positive mental health.

So with a view to developing a sense of true happiness or spiritual bliss in mind, Patanjali, the exponent of Yoga Therapy has prescribed the technique of non-enemity in social behaviours among the members of any community. This technique of social health care can act as immunity to protect any community from the danger of communal struggle or social unrest like unnecessary violence, strife, looting, murder and rape etc. It can also help in protecting peace in the individual mind and community as a whole.

According to this technique of non-enemity any individual should cherish positive attitude if he or she has to deal with the persons like rich, poor, wise and wicked respectively in the community where he/she lives*9. Proper application of this behavioural technique may inspire to promote friendship among the members of any community. This friendly attitude may also help in developing a state of security in individual mind and society. So being aware of the necessity of social wellbeing Vedic Sages of ancient India had created a tradition of friendly attitude for developing a sense of security and harmony in every member of human community. So they used to take resolution to cherish friendly attitude in a mantra which says:

"Let me see all living beings with friendly vision. Let us see each other in the community with friendly eyes"[*10].

With a view to bringing everything in favour of the Community Development Indian Sages suggest to cherish a favorable or peaceful wave in a Mantra which says:

"Oh all protector God! Let the leaders of the community be powerful and let them become founder of peace just like the Fire which can march ahead with upward flame. Let all kinds of airs (Pancha Pranah) of the human body be pleasant. Let the atmosphere and five elements of environment be peaceful"[*11].

When the surroundings of an individual goes in favour of his security then the mood, thinking and action of the mind become equally healthy and balanced automatically. The state of balance in mind acts as a preventive or boarder force of mental health.

However, according to psychiatry branch of Modern Medical Science positive thoughts like equality, honesty and generosity towards other members of the Community can create favorable surroundings for the growth of mental health and community development. In this respect ancient Indian Sages seem to be more conscious. In order to develop an attitude of friendship Vedic Sages have advised mankind to maintain equality in intelligent thoughts and feeling of love for each other in Rig Veda[*12]. Feeling and expression of equality may help to develop positive attitude like brotherhood among all the members of any community.

In addition to 'Equality' some other positive attributes like honesty and truthfulness are essential for promoting a state of wellbeing in individual mind and society. So Patanali has prescribed some preventive devices[*13] for maintaining positive mental health and social wellbeing. All those healthy devices can create a favorable surrounding for the realization of supreme bliss of God. His Yoga Therapy has been well accepted as a complimentary to Modern Medical Technology of the world[*14]. Different aspects of his Astanga Yoga like

'Yama' and 'Niyama' are helpful for promoting positive mental health and social wellbeing. The development of any society is possible when its members follow the social code of conduct strictly. So in order to follow the rules and regulations of the society Indian Sages take a social resolution which says,

"We shall follow the principles and laws of the society just like Sun and Moon rotate on their own axis and offer their light to the Earth for the benefit of all living beings"[15].

Taking into consideration the necessity of social Law for Community Development Manu, a great Indian exponent of Social Science has prescribed certain social code of conduct which is identified as Dharama or principles of sound human life. This Dharma has some positive aspects like cleanliness (Saucham), non-anger (Akrodham), truthfulness (Satyam), control of sense organs (Indriyanigraha), non-stealing (Asteyam) and others[16]. These positive aspects of cultured human life are helpful for attaining higher state of mental bliss and social wellbeing.

However, the development of any community depends upon the positive mental health of its members. Again, a state of happiness in Mind is essential for positive mental health. So with a view to developing a sense of true happiness or spiritual bliss in human life Vyasadeva has also suggested to make the mind free from the attitude of sensual attachment and hatred or enemity. Indicating the technique of achieving bliss he has rightly said that one can experience supreme bliss or Prasada if his/her mind is free from excitement and depression caused by excess sensual attachment and hatred towards others respectively[17].

This unique technique of attaining supreme bliss may be considered as the essence of mental health care and community development. In this way we get a lot of information about the techniques of mental health care and social wellbeing from ancient Sanskrit Literature. So in order to acquire more knowledge in this regard esteemed scholars of the world are invited to go through Vedas and other ancient Indian Sanskrit literature which has been recognized as the vast ocean of wisdom on developed social science and all other branches of learning.

REFERENCES

1 "Aum visvani deva savitarduritani para suva I
Yad bhadram tanna aa suva II" --[Yajurveda-30 I1]

2. World Health Organization (1978), Health for All, Sr.No.1.

3. Samgacchadhvam samvadadhvam sam vo manamsi janatam II [Rgveda – 10 I191 I2]

4. Please see "Concept of Mental Health an Ancient Indian Sanskrit Writings". By Dr.K.Patra, Proceedings of National Seminar on 'Science and Technology in Sanskrit Writings'. Deptt. Of Sanskrit, Madras University, Chennai, Sept'2000, India.

5. "Abhayam mitradabhayamamitrad
Abhayam jnatadabhayam parokshyat I
Abhayam naktamabhayam diba nah
Sarva asha mama mitram bhavantu II --[Athrva Veda – 19 I15 I61]

6. One of the Vedic Mantras for inviting an wave of welfare everywhere is as follow:
"Aum dyauh shantirantariksham shantih
Prithivi shantirapaha shantiroshadhayaha shantihi I
Vanaspatayaha shantirvishve devaha shantir
Brahma shantih sarvam shantih shantireva shantihi

Sa ma shantiredhi ||" Yajurveda – 36 |12]

7. In India there is a healthy tradition of wishing the state of wellbeing for Community Development and positive health of every human being. Such a tradition has been reflected in several Sanskrit Mantras. One popular Sanskrit verse in this context may be presented here as follow:
"Sarve bhavantu sukhinah sarve santu niramayaha |
Sarve bhadrani pashyantu ma kashchid duhkhabhag bhavet ||"
It means, "Let all members of the human community be happy, be free from sufferings and be well-equipp with a vision of welfare. Let nobody be unhappy."
The techniques of Community Development may be traced out from various types of moral teachings whi are available in different branches of Sanskrit Learning. It has been advised in some of the Sanskrit Texts tl every male member of any society shall see other ladies as the form of mother-power. "Matrvat Paradaresh or 'to see other ladies as mother' is one of the sound visions of Indian Culture. This ideal feeling of ownn guides us to pay respect to all females as we see and talk to our own respected mother. In order to establi such a holistic vision towards female members of any community Indian Sages use to worship mother-pov in the following words:
"Ya devee sarvabhuteshu matrrupena samsthita |
Namastasyai namastasyai namastasyai namo namah ||"
In fact, this respectful attitude towards women is helpful for promoting good mental health and Commun Development.

8. There are many auspicious Sanskrit verses which are recited to create a surrounding of wellbeing before starting any function like lying foundation of house, digging well and other activities relating to personal or social life.

9. "Maitrikarunamuditopekshanam sukhaduhkhapunyapunyavishayanam Bhavanatashchittaprasadanam || [Pata. Yoga, Samadhipada – 1 |33]

10. "Mitrasyaham chakshusha sarvani bhtani sameekshe |
Mitrasya chakshusha samikshyamahe ||" [Yajurveda – 36 |18]

11. "Aum sham no agnirjyotiraniko astu
Sham no mitravarunavasina sham |
Sham nah sukrutam sukrutani santu
Sham na isharo abhabatu vatah || [Rgveda – 7 |35 |4]

12. "Samani va akutih samana hrudayani vah |
Samanamastu vo mano yatha vah susahasati ||" [Rig Veda, 10 |191 |4]

13. Patanjali has discovered a healthy technique called as 'Yoga Darshana' for God realization. The first step of this Yoga Therapy is called 'Yama' which deals with some elements of positive health and social wellbeing. Different aspects of this 'Yama' are as follows:
"Ahimsa – satya – asteya – brahmacharya – aparigrahayamah ||" [Pata. Yoga. |Samadhipada – 2 |30]

14. Several studies on the application and effect of Yoga Therapy for healing pain of both physical and mental diseases have been made by the Research Scholars of Modern Medical Science. References in this regard are available in British Medical Journal (1987), Indian Journal of Medical Research (1982) and some Medical Thesis on Yoga Therapy.

15. "Swasti Panthamanucharema Suryachandramasaviva ||" [Rg Veda – 5 |51 |15]

16. "Dhrtih kshama damostyeam shauchamindriyanigraha |
Dhirvidya satyamakrodho dashakam dharmalakshanam ||" [Manusmriti – 6 |92]

17. "Ragadveshavimuktaistu vishayanindriyaishcharan |
Atmavashyairvidheyatma prasadamadhigachchati || [Bhagavadgeeta – 2 |64]

विद्वत्परिचयः

1.	प्रो. सुरेन्द्र कुमार	कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
2.	प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री	प्रोफेसर एवं अध्यक्ष श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
3.	प्रो. विजयपाल शास्त्री	पूर्व प्रोफेसर-दर्शन विभाग, पूर्वसंकायाध्यक्ष, प्राच्यविद्यासंकाय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)
4.	बाबूलाल मीना	संस्कृत-विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, प्रतापगढ (राज.)
5.	डॉ. पुष्पा यादव	एसो. प्रो. एवम् अध्यक्षा संस्कृत विभाग, महिला महाविद्यालय, किदवई नगर, कानपुर
6.	डॉ. सोहनपाल सिंह आर्य	प्रोफेसर एवं अध्यक्ष दर्शनशास्त्र विभाग गु.कां.वि.वि., हरिद्वार, मोबा. 09897273663, ई-मेल sohanpalarya@yahoo.com
7.	डॉ. अनीता जैन	एसोसियेट प्रोफेसर (संस्कृत), 602, रामानुजन्, बनस्थली विद्यापीठ, बनस्थली-304022 जिलाटोंक -(राजस्थान)
8.	डॉ. योगेश शास्त्री	गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
9.	डॉ. सदानन्द झा	अध्यक्ष व्याकरण विभाग, जे0एन0बी0 आदर्श संस्कृत महाविद्यालय, लगमा, दरभंगा, बिहार-847407.
10	डॉ. अमित कुमार चौहान	प्रवक्ता - संस्कृत विभाग, गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)
11.	डॉ.वन्दना शुक्ला	6 एप बैंक रोड टीचर्स कालोनी, इलाहाबाद 211002, पोन नं0 9335157268, 7376383984
12.	डॉ. हरिराम मिश्र	सहायक आचार्य, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय नई दिल्ली-110067
13.	डॉ. दिव्या मिश्रा	पोस्ट् डॉक्टोरल पैलो (यूजीसी), विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067
14.	प्रो. ईश्वर भारद्वाज	प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, मानवचेतना एवं योगविज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
15.	श्री ऊधम सिंह	असिस्टेंट प्रोफेसर, मानवचेतना एवं योगविज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
16.	डॉ. विजय कुमार त्यागी	असि.प्रोफेसर (अतिथि) धर्म, दर्शन एवं संस्कृति, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
17.	विद्यासागर नेगी	बौद्ध विद्या केन्द्र, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, समरहिल, शिमला - 171005
18.	डॉ. योगेश शर्मा	(सहायक आचार्य), संस्कृत, दर्शन एवं वैदिक अध्ययन विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, वनस्थली, निवाई, टोंक (राजस्थान)

19.	डॉ. राकेश शास्त्री	1-जे-38, हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, बांसवाडा (राज.), दूरभाषः 9460308623,
20.	डॉ. उमा जैन	रीडर संस्कृत विभाग, मु0ला0 एण्ड जय ना0 खे0 गर्ल्स कॉलिज (पी0जी0) सहारनपुर।
21.	डॉ.नरेन्द्र कुमार वेदालंकार	अध्यक्ष संस्कृत विभाग, हे0 न0 ब0 गढ़वाल विश्वविद्यालय, (केन्द्रीय विश्वविद्यालय), स्वामी रामतीर्थ परिसर बादशाहीथौल, टिहरी-गढ़वाल उत्तराखण्ड-249199
22.	डॉ.सत्य प्रकाश	अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लोहाघाट, चम्पावत (उत्तराखण्ड)
23.	डॉ. डॉली जैन	512, रामानुजन आवास वनस्थली विद्यापीठ टोंक (राज.) dollykjain@yahoo.com
24.	डॉ. मृदुल जोशी	असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कन्या गुरुकुल परिसर, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
25.	प्रचेतस्	शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
26.	ठाकुर शिवलोचन शाण्डिल्य	शोधच्छात्र, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जे. एन. यू., नई दिल्ली
27.	कोविद कुमार गुप्ता	असिस्टैण्ट प्रोफेसर सिक्किम मणीपाल यूनिवर्सिटी-डी.ई., अर्थप्रकाश इंस्टीट्यूट, सैक्टर-29, चण्डीगढ़
28.	डॉ.गीता शुक्ला	एसो प्रो0, संस्कृत-विभाग, भ0दी0आ0क0 स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखीमपुर-खीरी।
29.	डॉ. सुरेन्द्र कुमार एवं	असिस्टेन्ट प्रोफेसर, मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
30.	श्री रविन्द्र कुमार वर्मा	गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
31	निशान्त कुमार	असिस्टेंट प्रोफेसर कम्प्यूटर साइंस, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
32.	डॉ. सत्यवती	व्याख्याता संस्कृत माँ जालपा देवी राजकीय महाविद्यालय तारानगर चूरू (राज.)
33.	(श्रीमती) डॉ. आरती	गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
34.	Dr.Khagendra Patra	Ex-Chairperson, WSC, University of Leiden, Netherlands, Address : Deptt. of Sanskrit, Qrs.No.A/39, Sector-5, Rourkela-769002, Odisha, India Mobile No.08895832606, E.Mail : drpatra.khagendra@gmail.com

शोधलेख विषयक दिशानिर्देश

गुरुकुल-शोध-भारती गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की षाण्मासिक शोध-पत्रिका है। यह प्रमुख रूप से वेद, वैदिक एवं लौकिक साहित्य, धर्म, दर्शन, संस्कृति, योग, आयुर्वेद तथा अन्य प्राच्यविद्या से सम्बन्धित शोधपरक आलेखों को प्रकाशित करने के लिये कृतसङ्कल्प है।

गुरुकुल-शोध-भारती में शोधनिबन्ध मूल्याङ्कन कराने के पश्चात् प्रकाशित किये जाते हैं। अतः विद्वान् लेखकों से अनुरोध है कि वे वही निबन्ध इस पत्रिका के लिये प्रस्तुत करें, जो सब प्रकार से शोध की कसौटी पर खरे हों।

शोध-निबन्ध मौलिक होना चाहिये। किसी अन्य विद्वान् की पुस्तक अथवा निबन्ध की नकल करके निबन्ध भेजना बौद्धिक अपराध तथा अपनी प्रतिभा का हनन है।

गुरुकुल-शोध-भारती में केवल शोध-निबन्ध ही प्रकाश किये जायेंगे। जिनमें शोध-प्रविधि का प्रयोग नहीं किया गया है, ऐसे लेखों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं होगा।

किसी अन्य पत्रिका में पूर्व प्रकाशित निबन्ध को पुनः प्रकाशित करने के लिये कृपया न भेजें।

शोध-निबन्ध में लेखक का निष्कर्ष सुसङ्गत, प्रमाणिक एवं तथ्यों पर आधारित तथा परम्परा से पोषित होना चाहिये। **साथ ही उसमें अपने कथन या निष्कर्ष को पुष्ट करने के लिये न्यूनतम १५ से अधिक प्रमाण देने चाहिये।**

अन्धविश्वास को बढ़ावा देने वाले निबन्धों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं हो सकेगा, अतः अन्धविश्वास का समर्थन करने वाले निबन्ध कृपया न भेजें।

गुरुकुल-शोध-भारती में प्रकाशन हेतु शोधनिबन्ध की मूलप्रति प्रेषित करें, **फोटो स्टेट प्रति** स्वीकार्य नहीं होगी। साथ ही **हस्तलिखित लेख** भी स्वीकार नहीं होंगे। अतः विद्वानों से अनुरोध है कि टंकण के उपरान्त शोधन करके लेख प्रेषित करें, जिससे लेख शुद्धतम रूप में प्रकाशित किया जा सके।

अधिक उचित होगा कि आप अपना निबन्ध **माइक्रोसोफ्ट वर्ड** डाक्यूमेंट में टाइप करायें और फुटनोट **ALT+CTRL+F** के माध्यम से डालें। इस प्रकार फुटनोट डालने में त्रुटि की सम्भावना नहीं रहती है। यदि उक्त उपाय अपनाना संभव न हो तो **फुटनोट निबन्ध के अन्त में दें,** जिससे उनको यथास्थान प्रस्तुत किया जा सके।

टंकण कराते समय यह ध्यान रखना अपेक्षित है कि निबन्ध **'कृतिदेव ०१०'** अथवा **वॉकमैन चाणक्य** के साइज १४ में टाइप कराया जाए। टंकण के उपरान्त, शोधन करके सी.डी. अथवा ईमेल से प्रेषित करें।

विद्वान् ईमेल से भी अपने निबन्ध प्रेषित कर सकते हैं। ईमेल का पता है- **gyanprakashshastri@gmail.com** or **gyanprakashshastri@live.com**

सी.डी. अथवा ईमेल के साथ-साथ लेखक को अपने शोधलेख की हार्ड कॉपी प्रेषित करना भी आवश्यक है, जिससे मूल्यांकन के लिये शोध लेख प्रेषित किया जा सके।

यह पत्रिका विश्वविद्यालय की www.gkvharidwar की साइट पर देखी जा सकती है। लेखक और पाठक उक्त साइट से पत्रिका डाउनलोड कर सकते हैं।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र के प्रकाशन

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	कीमत रु.
1.	स्वामी श्रद्धानन्द	500 रु.
2.	वेद का राष्ट्रिय गीत	200 रु.
3.	श्रुतिपर्णा	95 रु.
4.	वैदिक साहित्य संस्कृति एवं समाज दर्शन	500 रु.
5.	वेद और उसकी वैज्ञानिकता	300 रु.
6.	शोध सारावली	220 रु.
7.	भारतवर्ष का इतिहास (दो खंडों में)	350 रु. प्रति खंड
8.	क्लासिकल राइटिंग ऑन वैदिक एण्ड संस्कृत लिट्रेचर	80 रु.
9.	दीक्षालोक	500 रु.
10.	स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख	500 रु.
11.	स्वामी श्रद्धानन्द की सम्पादकीय टिप्पणियां	450 रु.
12.	कुलपुत्र सुनें	300 रु.
13.	ग्लिम्पस आर्फ इनवायरमेन्टल परसेप्ट्स ऑफ वैदिक लिट्रेचर	50 रु.
14.	स्वामी श्रद्धानन्द समग्र मूल्यांकन	300 रु.
15.	पं० इन्द्रविद्यावाचस्पति कृतित्व के आयाम	300 रु.
16.	बातें मुलाकातें	125 रु.
17.	वेदों की वर्णन शैलियां	50 रु.
18.	हिन्दी काव्य को आर्यसमाज की देन	400 रु.
19.	श्रुति विचार सप्तक	500 रु.
20.	स्तूप निर्माण कला	55 रु.
21.	ईशोपनिषद्भाष्य	40 रु.
22.	इन्द्रविद्यावाचस्पति	40 रु.
23.	भारतवर्ष का इतिहास (तृतीय खंड)	55 रु.
24.	अग्निहोत्र	25 रु.
25.	वेद विमर्श	25 रु.
26.	आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति	25 रु.
27.	आहार	35 रु.
28.	वैदिक वन्दना गीत	25 रु.
29.	ऋषिदेव विवेचन	25 रु.
30.	विष्णु देवता	25 रु.
31.	सोम	20 रु.
32.	ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार	25 रु.
33.	अध्यात्म रोगों की चिकित्सा	40 रु.
34.	गुरुकुल की आहुति	12 रु.
35.	ब्राह्मण की गौ	25 रु.
36.	ऋषि-रहस्य	25 रु.
37.	धर्मोपदेश (भाग प्रथम और द्वितीय)	25 रु. प्रति खंड
38.	वैदिक कर्त्तव्य शास्त्र	40 रु.
39.	मेरा धर्म	500 रु.
40.	गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय कलेण्डर भाग-1	250 रु.

विश्वविद्यालय से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं का विवरण

1.	गुरुकुल पत्रिका	वार्षिक मूल्य 100 रु.
2.	वैदिक पॉथ	वार्षिक मूल्य 100 रु.
3.	प्राकृतिक एवं भौतिकीय शोध विज्ञान पत्रिका	वार्षिक मूल्य 500 रु.
4.	आर्य भट्ट	वार्षिक मूल्य 100 रु.
5.	गुरुकुल बिजनेस रिव्यू (GBR)	वार्षिक मूल्य 100 रु.

नोट :-ये सभी पुस्तकें कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के नाम ड्राफ्ट भेजकर निम्न पते से प्राप्त की जा सकती है। क्रमांक १ से १२ एवं क्रमांक १८ तथा १९ पर ५० प्रतिशत तथा अन्य सभी पुस्तकों पर २० प्रतिशत की छूट देय है।

पुस्तकें मंगाने का पता :- पुस्तकालयाध्यक्ष/व्यवसाय प्रबन्धक, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४ (उत्तराखण्ड)

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार फोन : 01334-245975, 9837007222